श्रीमद्भगवद्गीता

संस्कृत हिन्दी श्रीराघवकृपाभाष्यसहिता

द्वितीयखण्डः



भाष्यकाराः — जगद्गुरुरामानन्दाचार्य

स्वामी रामभद्राचार्य महाराजाः चित्रकूटीयाः





।।श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्।।

श्रीमद्भगवद्गीता

संस्कृतहिन्दीश्रीराघवकृपाभाष्यसहिता

द्वितीय खण्डः

भाष्याकारः जगद्गुरुरामानन्दाचार्य
स्वामी रामभद्राचार्यजी महाराजाः
चित्रकूटीयाः

प्रकाशक
श्रीतुलसीपीठ सेवान्यास
तुलसीपीठ, आमोदवन
श्रीचित्रकूटधाम, जनपद सतना (म०प्र०)

प्रकाशक :
श्रीतुलसीपीठ सेवान्यास
तुलसीपीठ, आमोदवन,
श्रीचित्रकूटधाम, जनपद सतना (म०प्र०)
दूरभाष : 07670-65478



प्रथम संस्करण : ११०० प्रतियाँ





मूल्यम् : ५००.०० रु. (प्रथम खण्ड, द्वितीय खण्ड)



प्राप्तिस्थान :
तुलसीपीठ, आमोदवन, चित्रकूट जनपद सतना (म०प्र०)
"वसिष्ठायनम्" (रानीगली) ज०गु०रामानन्दाचार्य मार्ग, भोपतवाला, हरिद्वार (उ०प्र०)
श्रीगीताज्ञानमन्दिर, भक्तिनगर सर्कल, राजकोट (गुजरात) पिन— ३६०००२



मुद्रक :
पण्ड्या ऑफसेट,
बैजनत्था, वाराणसी - १०

अनुक्रमणिका

(द्वितीय खण्ड)

।।श्री राघवो विजयतेतराम।।

प्रकाशकीय

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे परमं तपः ।
गीता मे गुह्यमध्यात्मं गीता मे ज्ञानमुत्तमम् ।।

जिस प्रकार वेद अपौरूषेय हैं, उसी प्रकार श्रीमद्‌भगवद्‌गीता जी भी योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमुखकमलसे स्वयं प्रकट होने के कारण अपौरूषेय ही हैं, अर्थात् यह किसी पुरुषके द्वारा निर्मित नहीं की गयीं। श्रीगीता जी को वैदिक वाङ्मयका समग्र व्याख्यान माना जाता है। स्वामी करपात्रीजी के शब्दों में "श्रीगीता जी इसीलिए आदरणीय नहीं हैं कि— उन्हें भगवान्‌ने कहा है, वस्तुतः वे इसीलिये आदरणीय हैं, क्योंकि श्रीगीता जी में भगवान् ने सवकुछ वेद सम्मत कहा है"। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता जी वेदान्त की स्मृति भी मानी जाती हैं, इसीलिये इनपर प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार संस्कृत में भाष्य का प्रणयन किया।

भगवान् श्रीसीताराम जी की कृपा एवं भारतीय सन्तों के स्नेह से चित्रकूट तुलसीपीठ के जगद्‌गुरु रामानन्दाचार्य विद्यावारिधि, वाचस्पति, स्वामी रामभद्राचार्य महाराज, ने भी श्रीरामानन्द सम्प्रदाय परम्परा प्राप्त विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार श्रीमद्‌भगवद्‌गीता जी पर संस्कृत एवं हिन्दी में "श्रीराघवकृपा भाष्य" लिखकर वैदिक आचार्य परम्परा एवं भारतीय मनीषा को गौरवान्वित किया है। इस ग्रन्थ को प्रकाशित करनेका दायित्व देकर आचार्य चरणों ने श्रीतुलसीपीठ सेवान्यास को जो सौभाग्य प्रदान किया है। इसके लिए न्यास एवं समस्त न्यासी आचार्य चरणोंके कृतज्ञ हैं। हम कृतज्ञ हैं पण्ड्या ऑफसेट प्रेस के अधिपति श्रीविपिनशंकर पण्ड्या एवं श्रीमती चन्दना वहिन पण्ड्या के, जिन्होंने इतने अल्प समयमें अहर्निश गहन परिश्रम करके इस ग्रन्थ को सुव्यवस्थित रूप में मुद्रित किया। अन्त में हम समस्त श्रीवैष्णव, सन्तजन, विद्वज्जन, दार्शनिक, समीक्षक, बुद्धिजीवी, विचारक तथा भगवद्‌भक्त सनातन-धर्मावलम्वी महानुभावों से अनुरोध करते हैं कि आप सव इस ग्रन्थका श्रद्धापूर्वक अध्ययन करके आचार्य चरणों के गहन शास्त्रीय परिश्रम एवं प्रतिभाका मूल्याङ्कन करेंगे।

।।श्रीराघवः शंतनोतु।।

कु० गीतादेवी,
प्रवन्धन्यासी
श्रीतुलसीपीठ सेवान्यास
आमोदवन, चित्रकूट।



वाचस्पति, श्री तुलसी पीठाधीश्वर

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज

तुलसीपीठ, आमोदवन, चित्रकूट, जि. सतना (म.प्र.)

द्वित्राः शब्दाः

धृततोत्ररथाश्वरश्मिकं कमहं कारुणिकं कदाचन ।
करवाणि दृशोः पथिस्मृतिं ददतं शाश्वत सव्यसाचिने ।।१।।

गीता नवनीतहृता गीता गीतागमाप्येन ।
प्रीता हृदयं नीता गीता गीता चिरं गेयात् ।।२।।

आमन्त्र्य पण्डितान्सर्वान् श्री श्रीवैष्णवतल्लजान् ।
द्वित्राः शब्दाः निवेद्यन्ते रामभद्रार्यसूरिणा ।।३।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं श्रीगीतासु मया कृतम् ।
विशिष्टाद्वैतमाश्रित्य सम्प्रदायानुसारिणा ।।४।।

चिदचिद्भ्यां विशिष्टं यदद्वैतं ब्रह्मसम्मतम् ।
सीतारामाभिधं तद्धि प्रबन्धेऽस्मिन्निरूपितम् ।।५।।

श्रीगीताशास्त्रतात्पर्यं प्रपत्तिं सोपपत्तिकम् ।
व्याचक्षेस्म विनिश्चित्य रामानन्दमते रतः ।।६।।

नाग्रहान्नैव विद्वेषात् पक्षपातान्न च क्वचित् ।
सर्ववेदान्तशास्त्रार्थः सावधानं निरूपितः ।।६।।

अन्वयार्थः पदच्छेदः समासो वाक्ययोजना ।
पूर्वोत्तरौ तथा पक्षौ सर्वमेतत्प्रभाषितम् ।।८।।

विशिष्टाद्वैतधामेदं विशिष्टाद्वैतदर्पणम् ।
विशिष्टाद्वैतिनां हृत्सु रतिं रास्यति वैष्णवीम् ।।९।।

मण्डिताः शाश्वताः पक्षा अपपक्षाश्च खण्डिताः ।
रञ्जिताः पण्डिताः सर्वे भञ्जिताश्चैव चण्डिताः ।।१०।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं श्रीराघवकृपाफलम् ।
श्रीराघवकृपां देयात् श्रीराघवकृपाकृतम् ।।११।।

इति मङ्गलमाशास्ते जगद्गुरु रामानन्दाचार्यः स्वामिरामभद्राचार्यः ।।

•



दो शब्द

राधाराकामुपेताय ललितानन्द हेतवे ।
नमः श्रीकृष्णचन्द्राय रामाभिन्नाय वेधसे ।।१।।

श्रीसीतानाथ समारम्भां श्री रामानन्दार्य मध्यमाम् ।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे श्रीगुरुपरम्यराम् ।।२।।

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर्नाम वपु एक ।।
इनके पदवन्दन किये नासहिं विघ्न अनेक ।।

श्री सीताराम चरणकमल समुपासक श्री वैष्णवो ! श्रद्धेय सन्तजन, सनातन धर्मावलम्बी मताओ, बहिनो, भ्राताओ एवं बुद्धिजीवी जन !

यह तो आप सबको भलीभाँति विदित ही है कि भारत अध्यात्म प्राण देश है। अध्यात्म में भी वेदान्त दर्शन भारतीय मनीषा की सुनिश्चित और सुनिर्णीत अवधारणा है।

श्रीमद्भगवद्गीता को सार्वभौम होने पर भी विद्वान एकमत से वेदान्त की स्मृति मानते हैं। इसीलिए सभी आचार्यों ने अपनी अपनी आचार्य परम्परा के आलोक में श्री गीता जी पर भाष्य प्रवन्ध प्रस्तुत किये हैं। मैंने भी श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य की सम्प्रदाय परम्परा के अनुसार विशिष्टाद्वैतवाद के आधार पर श्री गीता जी पर संस्कृत और हिन्दी में श्रीराघवकृपाभाष्य नाम से एक सुव्यवस्थित प्रबन्ध प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मीमांसा में निर्णीत षड्लिङ्ग के आधार पर मेरे राम ने गीता जी में प्रपत्तियोग को ही परमतात्पर्य रूप में माना है और प्रभू श्रीराघवसरकार की कृपा से श्रीगीता जी में इतने प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिन्हें देखकर आपका भी मन प्रभु की शरणागति के लिए अवश्य ललचेगा। गीता जी के श्लोक मन्त्र हैं। मेरे राम ने पहले उनका सामान्यार्थ प्रस्तुत करके फिर व्याख्या प्रस्तुत की है। श्रीराघवकृपाभाष्य का प्रारम्भ और द्वितीय अध्याय के सात से तीस तक का प्रकरण आप गम्भीरता से अवश्य पढ़ेंगे।

श्रीसीताराम जी की कृपा से हमने यथासम्भव प्रयास किया है कि श्री गीता जी पर राघवकृपाभाष्य पढ़कर आप श्री रामानन्दायार्य के सम्प्रदाय सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद को एवं गीता जी के गम्भीर रहस्यों को अत्यन्त सुगमता से समझ सकेंगे और लौकिक दृष्टि से इन बन्द नेत्रों में प्रतिबिम्वित प्रभु की कृपा का वहुत अनुभव कर सकेंगे।

आप सबके स्नेह एवं श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य तथा गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज के आशीर्वाद एवं प्रभु श्री चित्रकूट बिहारी बिहारिणी जू के मंगलमय कृपा प्रसाद से सतत बीस बीस घण्टे परिश्रम करके श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, षड्दर्शन, व्याकरण आदि

बहुमूल्य वाङ्मय के उपादानों से मैंने इस राघवकृपाभाष्य को सजाने और सँवारने का प्रयत्न किया है। इस कार्य में अपने स्वत्व आहुति देकर राघव की बुआ जी तथा मेरी अग्रजा श्रीतुलसी पीठ सेवान्यास की प्रबन्धन्यासी श्रद्धेय सुश्री गीता देवी जी ने जिस अभूतपूर्व योगदान से अनुपम सहयोग दिया है, उनके विषय में कुछ भी कहना मेरी अपनी ही प्रशंसा होगी। मेरे सुयोग्यतम शिष्य श्री तुलसीपीठ सौरभ पत्रिका के सम्पादक आचार्य दिवाकर शर्मा जी ने मेरी भाषा को लिप्याकार देने में जिस निस्पृहता के साथ अपना अमूल्य समय दिया है, एतदर्थ उनके प्रति श्रीसीताराम जी की कृपा की अभ्यर्थना करता हूँ। मैं अपने अन्तर्वासी आयुष्मान चन्द्रदत्त सुवेदी एवं दीक्षित शिष्य आयुष्मान राकेश को भी अनन्त-अनन्त आशीर्वाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने मेरे साथ देर रात जग-जगकर मेरे द्वारा बोली हुई इस भाष्य की भाषा को लिपिबद्ध किया।

अन्त में मैं सभी उपादान और उपादेयों के प्रति आभारी हूँ, इस कार्य में मुझे जिन से कुछ भी सहयोग मिला है। अब यह ग्रन्थपुष्प आप सब सनातन धर्मावलम्वी भाई बहिनों के करकमलों में समर्पित है।

सीय राममय सब जग जानी ।
करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी ।।
तजि कुसंग 'गिरिधर' गहहु चरण शरण ब्रजराज ।
बचा न पाये पंचपति द्रुपदसुताकी लाज ।।

श्रीराघवः शन्तनोतु ।

●

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण, विद्यावारिधि, वाचस्पति परमहंस परिव्राजिकाचार्य, आशुकवि यतिवर्य प्रस्थानत्रयी भाष्कार –

श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

पूज्यपाद

श्री श्री १००८ स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज

का

संक्षिप्त जीवन वृत्त

आर्विभाव

आपका अर्विभाव १४ जनवरी १९५० तद्नुसार मकर संक्राति की परम पावन सान्ध्य बेला में वशिष्ठ गौत्रीय उच्च धार्मिक शरयूपारीण ब्राह्मण मिश्र वंश में उत्तर-प्रदेश के जौनपुर जनपद के पवित्र ग्राम शाडीखुर्द की पावन धरती पर हुआ। सर्वत्र-आत्म-दर्शन करने वाले हरिभक्त, या मानवता की सेवा करने दानवीर, या अपनी मातृभूमि की रक्षा में प्राण बलिदान करने वाले शूर-वीर योद्धा देश भक्त, को जन्म का सौभाग्य तो प्रभुकृपा से किसी भी मां को मिल जाता है। परन्तु भक्त, दाता और निर्भीक तीनों गुणों की सम्पदा से युक्त बालक को जन्म देने का परम श्रेय अति विशिष्ठ भगवद् कृपा से किसी विरली मां को ही प्राप्त होता है। अति सुन्दर एवं दिव्य बालस्वरुप आचार्य-चरण को जन्म देने का परम सौभाग्य धर्मशीला माता श्रीमति शची देवी और पिताश्री का गौरव पं० श्री राजदेव मिश्रजी को प्राप्त हुआ।

आपने अपनी शैशव अवस्था में ही अपने रूप, लावण्य एवं मार्धुय से सभी परिवार एवं प्रियजनों को मोहित कर दिया। आप की बाल क्रीड़ाए अद्भुत थी। आपके श्वेतकमल समान सुन्दर मुख मंण्डल पर बिखरी मधुर मुस्कान, हर देखने वाले को सौम्यता का प्रसाद बांटती थी। आपका विस्तृत एवं तेजस्वी ललाट, आपके अपार शस्त्रीय ज्ञानी तथा त्रिकालदर्शी होने का पूर्व सकेंत देता था। आपका प्रथम दर्शन मन को शीतलता प्रदान करता था। आपके कमल समान नयन उन्मुक्त हास्यपूर्ण मधुर चितवन चंचल बाल क्रीड़ाओं की चर्चा शीघ्र ही किसी महापुरुष के प्राकट्य की शुभ सूचना की भान्ति दूर-दूर तक फैल गई, और यह धारणा बन गई की यह बालक असाधारण है। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' की कहावत को आपने चरितार्थ किया।

भगवत् इच्छा

अपने प्रिय भक्त को सांसारिक प्रपन्चों से दूर रखने के लिए विधाता ने आचार्यवर

के लिए कोई और ही रचना कर रखी थी। जन्म के दो महिने वाद ही नवजात शिशु की कोमल आखों को रोहुआ रोग रुपी राहू ने तिरोहित कर दिया। आचार्य प्रवर के चर्म-नेत्र वन्द हो गए। यह हृदय विदारक दुर्घटना प्रियजनों को अभिशाप लगी, परन्तु नवजात बालक के लिए यह वरदान सिद्ध हुई। अब तो इस नन्हे शिशु के मन-दर्पण पर परमात्मा के अतिरिक्त जगत के किसी भी अन्य प्रपञ्च के प्रतिबिम्बिंत होने का कोई अवसर ही नहीं था। आपको दिव्य प्रज्ञा-चक्षु प्राप्त हो गए। आचार्य प्रवर ने भगवद् प्रदत्त अपनी इस अन्तर्मुखता का भरपूर उचित उपयोग किया। अव तो दिन-रात परमात्मा ही आपके चिन्तन, मनन और ध्यान का विषय बन गए।

आरम्भिक शिक्षा

अन्तमुर्खता के परिणामस्वरूप आपमें दिव्य मेधा शक्ति और अद्भुत स्मृति का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप कठिन से कठिन श्लोक कवित्त, छन्द, सवैया आदि आपको एक बार सुनकर सहज कन्ठस्थ हो जाते थे। मात्र पांच वर्ष की आयु में आचार्य श्री ने सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता तथा मात्र आठ वर्ष की शैशव अवस्था में पूज्य पितामह श्रीयुत सूर्यवली मिश्र जी के प्रंयासों से गोस्वामी तुलसीदास जी रचित सम्पूर्ण रामचरितमानस क्रमवद्ध पक्ति, संख्या सहित कण्ठस्थ करली थीं। आपके पूज्य पितामह आपको खेत की मेंढ़ पर विठाकर आपको एक एक बार में श्रीमानस के पचास पचास दोहों की आवृतिकरा देते थे। हे महामनीषी, आप उन सम्पूर्ण पचास दोहों को उसी प्रकार पंक्ति क्रम संख्या सहित कण्ठथ कर लेते थे। अब आप अधिकृत रूप से श्रीरामचरितमानस-सरोवर के राजहंस बन कर श्री सीता-राम के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और ध्यान में तन्मय हो गए।

उपनयन एवं दीक्षा

आपका पूर्वाश्रम का नाम 'गिरिधर-मिश्र' था। इसलिए गिरिधर जैसा साहस, भावुकता, क्रान्तिकारी स्वभाव, रसिकता एवं भविष्य निश्चय की दृढ़ता तथा निःसर्ग सिद्ध काव्य प्रतिभा इनके स्वभाविक गुण बन गये। बचपन में ही बालक गिरिधर लाल ने छोटी-छोटी कविताएँ करनी प्रारम्भ कर दी थीं। २४ जून १९६१ को निर्जला एकादशी के दिन 'अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनयीत' इस श्रुति-वचन के अनुसार आचार्य श्री को वैदिक परम्परापूर्वक उपनयन संस्कार सम्पन्न किया गया तथा उसी दिन गायत्री दीक्षा के साथ ही तत्कालीन मूर्धन्य विद्वान् सकलशास्त्र-मर्मज्ञ पं० श्री ईश्वरदास जी महाराज जो अवध-जानकीघाट के प्रवर्तक श्री श्री १०८ श्री रामवल्लभाशरण महाराज के परम कृपापात्र थे, इन्हें राम मन्त्र की दीक्षा भी दे दी।

उच्च अध्ययन

आपने श्री रामचरितमानस एवं गीताजी के कण्ठस्थीकरण के पश्चात् संस्कृत में उच्च अध्ययन की तीव्र लालसा जागृत हुई और स्थानीय आदर्श श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय

में पाँच वर्ष पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण की शिक्षा सम्पन्न करके आप विशेष अध्ययन हेतु वाराणसी आ गये। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की १९७३ शास्त्री परीक्षा में विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर एक स्वर्ण पदक प्राप्त किया एवं १९७६ की आचार्य की परीक्षा में समस्त विश्वविद्यालय में छात्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर पाँच स्वर्ण पदक तथा एक रजत पदक प्राप्त किया। वाक्पटुता एवं शास्त्री प्रतिभा के धनी होने के कारण आचार्यश्री ने अखिल भारतीय संस्कृत अधिवेशन में सांख्य, न्याय, व्याकरण, श्लोकान्त्याक्षरी तथा समस्यापूर्ति इन पाँच प्रथम पुरस्कार प्राप्त किये, एवं उत्तर प्रदेश को १९७४ की 'चलवैजयन्ती' प्रथम पुरस्कार दिलवाया। १९७५ में अखिल भारतीय संस्कृत वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त कर तत्कालीन राज्यपाल डॉ० एम० चेन्ना रेड्डी से कुलाधिपति 'स्वर्ण पदक' प्राप्त किया। **इसी प्रकार आचार्यचरणों ने शास्त्रार्थों एवं भिन्न-भिन्न शैक्षणिक प्रतियोगिताओं में अनेक शील्ड, कप एवं महत्वपूर्ण शैक्षणिक पुरस्कार प्राप्त किए।** १९७६ वाराणसी साधुवेला संस्कृत महाविद्यालय में समायोजित शास्त्रार्थ आचार्यचरण प्रतिभा का एक रोमांचक परीक्षण सिद्ध हुआ। इसमें आचार्य अन्तिम वर्ष के छात्र, प्रत्युत्पन्न मूर्ति, शास्त्रार्थ-कुशल, श्री गिरिधर मिश्र ने 'अधातुः परिष्कार' पर पचास विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं शास्त्रीय युक्तियों से अभिभूत करके निरुत्तर करते हुए सिंह—गर्जन पूर्वक तत्कालीन विद्वान मूर्धन्यों को परास्त किया था। पूज्य आचार्यश्री ने सं० सं० वि० वि० के व्याकरण विभागाध्यक्ष पं० श्री राम प्रसाद त्रिपाठी जी से भाष्यान्त व्याकरण की गहनतम शिक्षा प्राप्त की एवं उन्हीं की सन्निद्धि में बैठकर न्याय, वेदान्त, सांख्य आदि शास्त्रों में भी प्रतिभा ज्ञान प्राप्त कर लिया एवं 'अध्यात्मरामायणे— अपाणिनीय प्रयोगाणां विमर्शः' विषय पर अनुसन्धान करके १९८१ में विद्यावारीधि (Ph.D) की उपाधि प्राप्त की। **अनन्तर "अष्टाध्याय्याः प्रतिसूत्रं शाब्दबोध समीक्षा" इस विषय पर दो हजार पृष्ठों का दिव्य शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करके आचार्य चरणों ने शैक्षणिक जगत की सर्वोत्कृष्ट अलंकरण उपाधि वाचस्पत्ति" (Dlit) प्राप्त की।**

विरक्त दीक्षा

मानस की माधुरी एवं भागवतादि सद्ग्न्थों के अनुशीलन ने आचार्य—चरण को प्रथम से ही श्री सीताराम—चरणानुरागी बना ही दिया था। अब १९ नवम्ब्र १९८३ की कार्तिक पूर्णिमा के परम—पावन दिवस की श्रीरामानन्द सम्प्रदाय में विरक्त दीक्षा लेकर आयार्चश्री ने एक और स्वर्ण सौरभ-योग उपस्थित कर दिया। पूर्वाश्रम के डॉ० गिरिधर मिश्र अव श्री रामभद्रदास नाम से समलंकृत हो गये।

जगद्गुरु उपाधि

आपने १९८७ में श्रीचित्रकूट धाम में श्रीतुलसीपीठ की स्थापना की। उसी समय

वहाँ के सभी सन्त-महन्तों के द्वारा आपको श्रीतुलसीपीठाधीश्वर पद पर प्रतिष्ठित किया और ज्येष्ठ शुक्ल गंगा दशहरा के परम-पावन दिन वि० सम्वत् २०४५ तद्नुसार २४ जून १९८८ को वाराणसी में आचार्यश्री का काशी विद्वत् परिषद एवं अन्य सन्त-महन्त विद्वानों द्वारा चित्रकूट श्रीतुलसीपीठ के जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पद पर विधिवत अभिषेक किया गया एवं ३ फरवरी १९८९ को प्रयाग महाकुम्भ पर्व पर समागत सभी श्री रामानन्द सम्प्रदाय के तीनों अखाड़ों के श्री महन्तों चतुः सम्प्रदाय एवं सभी खालसों तथा सन्तों द्वारा चित्रकूट सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य महाराज को सर्वसम्मति से समर्थनपूर्वक अभिनन्दित किया।

विलक्षणता

आपके व्यक्तित्व में अद्भुत विलक्षणता है। जिसमें कुछ उल्लेखनीय हैं कोई भी विषय आपको एक ही बार सुन कर कण्ठस्थ हो जाता है और वह कभी विस्मृत नहीं होता। इसी विशेषता के परिणामवरूप जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य जी ने समस्त तुलसी साहित्य अर्थात् तुलसीदास जी के बारहों ग्रन्थ, सम्पूर्ण रामचरितमानस, द्वादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र नारद-भक्तिसूत्र, सम्पूर्ण भगवत्गीता, शाण्डिल्य सूत्र, वाल्मीकीयरामायण व समस्त आर्य ग्रन्थों के सभी उपयोगी प्रमुख अंश हस्ताकमलवत् कण्ठस्थ कर लिये। आचार्यश्री हिन्दी एवं संस्कृत के आशुकवि होने के कारण समर्थ रचनाएँ भी करते हैं। वशिष्ठ गोत्र में जन्म लेने के कारण आचार्यवर्य श्री राघवेन्द्र की वात्सल्य भाव से उपासना करते हैं। आज भी उनकी सेवा में शिशु रूप में श्री राघव अपने समस्त परिकर खिलौने के साथ विराजमान रहते हैं। आचार्यवर्य की मौलिक विशेषता यह है कि इतने बड़े पद पर आकर भी आपका स्वभाव निरन्तर निरहंकार, सरल तथा मधुर है। विनय, करूणा, श्रीराम प्रेम, सच्चरित्रता आदि अलौकिक गुण उनके सन्तत्त्व को ख्यापित करते हैं। कोई भी व्यक्ति एकबार ही उनके पास आकर उनका अपना बन जाता है। हे भारतीय संस्कृति के रक्षक। **आप अपनी विलक्षण कथा शैली से श्रोताओं को विभोर कर देते हैं।** माँ सरस्वती की आप पर असीम कृपा है। आप वेद-वेदान्त, उपनिषद्, दर्शन, काव्य शास्त्र व अन्य सभी धार्मिक ग्रन्थों पर जितना अधिकार पूर्ण प्रवचन करते हैं उतना ही दिव्य प्रवचन भगवान श्रीकृष्ण की वाङ्मय मूर्ति महापुराण **श्रीमद्भागवत पर भी करते हैं।** आप सरलता एवं त्याग की दिव्य मूर्ति है। राष्ट्र के प्रति आपकी सत्य निष्ठ स्पष्टवादिता एवं विचारों में निर्भीकता जन जन के लिए प्रेरणादायक है। आपके दिव्य प्रवचनों में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की त्रिवेणी तो प्रवाहित होती है, साथ ही राष्ट्र प्रेम का सागर भी उमड़ता है। जिसे आप अपनी सहज परन्तु सशक्त अभिव्यक्ति की गागर में भर कर अपने श्रृद्धालु श्रोतागणों को पान कराते रहते है।

आपका सामीप्य प्राप्त हो जाने के बाद जीव कृत्य-कृत्य हो जाता है। धन्य हैं

वे माता-पिता जिन्होंने ऐसे 'पुत्ररत्न' को जन्म दिया। धन्य हैं वे सद्गुरु जिन्होंने ऐसा भागवत् रत्नाकर समाज को दिया। हे श्रेष्ठ सन्त शिरोमणी! हम सब भक्तगण आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गौरवान्वित है।

साहित्य सृजन

आपने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी एवं संस्कृत के अनेक आयामों को महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उपादान भेंट किये हैं। काव्य, लेख निबन्ध, प्रवचन संग्रह एवं दर्शन क्षेत्रों में आचार्य श्री की मौलिक रचनाएँ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

इस प्रकार आचार्य श्री अपने व्यक्तित्व, कृतित्व, से श्री राम प्रेम एवं सनातन धर्म के चतुर्दिक प्रचार व प्रसार के द्वारा सहस्राधिक दिग्भ्रान्त नर-नारियों को सनातन धर्म-पीयूष से जीवनदान करते हुए अपनी यशः सुरभि से भारतीय इतिहास वाटिका को सौरभान्वित कर रहे है। तब कहना पड़ता है कि :—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने ।।

संत सरल चित जगतहित, जानि सुभाउ सनेहु ।
बाल विनय सुनि करि कृपा, रामचरन रहि देहु ।।

धर्माचार्य परम्परा :-

भाष्यकार !

प्राचीन काल में धर्माचार्यों की यह परम्परा रही हैं कि वही व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था, जो उपनिषद् गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार वैदुष्यपूर्ण वैदिक भाष्य प्रस्तुत करता था। जिसे हम 'प्रस्थानत्रयी' भाष्य कहते हैं, जैसे शंकराचार्य आदि। आचार्यप्रवर ने इसी परम्परा का पालन करते हुए सर्वप्रथम नारदभक्तिसूत्र पर "श्री राघव कृपा भाष्यम्" नामक भाष्य ग्रन्थ की रचना की। उसका लोकार्पण १७ मार्च १९९२ को तत्कालीन उप राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा द्वारा सम्पन्न हुआ।

पुज्य आचार्यचरण के द्वारा रचित 'अरुन्धती महाकाव्य' का समर्पण समारोह दिनांक ७ जुलाई ९४ को भारत के राष्ट्रपति महामहिम डॉ० शंकरदयाल शर्मा जी के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

इसी प्रकार आचार्यचरणों ने एकादश उपनिषद् ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर रामानन्दीय श्री वैष्णव सिद्धान्तानुसार भाष्य लेखन सम्पन्न करके विशिष्टाद्वैत अपनी श्रुतिसम्मत जगद्गुरुत्व को प्रमाणित करके इस शताब्दी का कीर्तिमान स्थापित किया है।

आप विदेशों में भी भारतीय संस्कृति का विश्वविश्रुत ध्वज फहराते हुए, सजगता एवं जागरूकता से भारतीयधर्माचार्यों का कुशल प्रतिनिधित्व करते हैं।

आचार्य श्री के प्रकाशित ग्रन्थ

१. मुकुन्दस्मरण् (संस्कृत स्तोत्र काव्य) भाग—१—२
२. भरत महिमा
३. मानस में तापस प्रसंग
४. परम बड़भागी जटायु
५. काका बिदुर (हिन्दी खण्ड काव्य)
६. माँ शबरी (हिन्दी खण्ड काव्य)
७. जानकी-कृपा कटाक्ष (संस्कृत स्तोत्र काव्य)
८. सुग्रीव की कुचाल और विभीषण की करतूत
९. अरुन्धती (हिन्दी महाकाव्य)
१०. राघव गीत-गुन्जन (गीत काव्य)
११. भक्ति—गीता सुधा (गीत काव्य)
१२. श्री गीता तात्पर्य (दर्शन ग्रन्थ)
१३. तुलसी साहित्य में कृष्ण-कथा (समीक्षात्मक ग्रन्थ)
१४. सनातन धर्म विग्रह-स्वरूपा गौ माता
१५. मानस में सुमित्रा
१६. भक्ति गीत सुधा (गीत काव्य)
१७. श्री नारद भक्ति सूत्रेषु राघव कृपा भाष्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित)
१८. श्री हनुमान चालीसा (महावीरी व्याख्या)
१९. गंगा महिम्न स्लोत्रम् (संस्कृत)
२० आजादचन्द्रशेखरचरितम् (खण्डकाव्य) संस्कृत
२१. प्रभुकरिकृपा पाँवरि दीन्ही
२२. राघवाभ्युदयम् (संसकृत नाटक)

आचार्यश्री के शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ :

१. हनुमत्कौतुक (हिन्दी खण्ड काव्य)
२. संस्कृत शतकावली (१) आर्याशतकम् (२) सीताशतकम् (३) राघवेन्द्र शतकम् (४) मन्मथारिशतकम् (५) चण्डिशतकम् (६) गणपतिशतकम् (७) चित्रकूटशतकम् (८) राघव चरणचिह्नशतकम्
३. गंगा महिम्न स्तोत्रम् (संस्कृत)
४. संस्कृत गीत कुसुमाञ्जलि
५. संस्कृत प्रार्थनाञ्जलि
६. श्लोकमौक्तिकम्
७. कवित भाण्डागारम् (हिन्दी)

।। श्री राघवो विजयतेतराम् ।।

आचार्यचरणानां बिरुदावली

नीलाम्बुज श्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ।।
रामानन्दाचार्यं मन्दाकिनीविमलसलिलासिक्तम् ।
तुलसीपीठाधीश्वरदेवं जगद्गुरुं वन्दे ।।

श्रीमद् सीतारामपदपद्मपरागमकरन्दमधुव्रतश्रीसम्प्रदायप्रवर्तकसकलशास्त्रार्थ-महार्णवमन्दरमतिश्रीमदाद्यजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यचरणारविन्दचञ्चरीकः समस्तवैशण-वालंकारभूताः आर्षवाङ्गमयनिगमागमपुराणेतिहाससन्निहित गम्भीरतत्वान्वेषणतत्पराः पदवाक्यप्रमाण पारावारपारीणाः सांख्ययोगन्यायवैशेषिपूर्वमीमांसावेदान्तनारदशाण्डिल्यभक्तिसूत्रगीतावाल्मीकीयरामायणः भागवतादिसिद्धान्तबोधपुरःसरसमधिकृताशेषतुलसीदाससाहित्य सौहित्यस्वाध्यायप्रवचनव्याख्यानपरमप्रवीणाः सनातन-धर्मसंरक्षणधुरीणाः चतुराश्रमचातुर्वर्ण्यमर्यादासंरक्षण विचक्षणाः अनाद्यविच्छिन्न-सद्गुरुपरम्पराप्राप्तश्रीमद्सीतारामभक्ति भागीरथीविगाहनविमलीकृतमानसाः श्रीमद्-रामचरितमानसराजमरालाः सततं शिशुरूपराघवलालनतत्पराः समस्तप्राच्यप्रतीच्य-विद्याविनोदित विपश्चितः राष्ट्रभाषागिर्वाणगिरामहाकवयः विद्वन्मूर्धन्याः श्रीमद्रामप्रेम साधनधनधन्याः शास्त्रार्थरसिकशिरोमणयः विशिष्टाद्वैतवादानुवर्तिनः परमहंस-परिव्राजकाचार्यत्रिदण्डी वर्याःश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठाः प्रस्थानत्रयीभाष्यकाराः श्रीचित्रकूटस्थ मन्दाकिनीविमलपुलिननिवासिनः श्रीतुलसीपीठाधीश्वराः श्रीमद्जगद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्याः अनन्तश्रीसमलंकृतश्रीश्रीरामभद्राचार्य महाराजाः विजयन्तेतराम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।





''श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्''

श्रीमद्भगवद्गीतासु

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-कवितार्किकचूडामणि-वाचस्पति-
जगद्गुरुरामानन्दाचार्य-स्वामि-रामभद्राचार्य-प्रणीतं,
श्रीमज्जगद्गुरु-रामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि-
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादकश्रीराघवकृपाभाष्यम् ॥

उपासनाकाण्डात्मकं तथा ज्ञानकाण्डात्मकञ्च



"श्रीमद्राघवो विजयते"

"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

सप्तमोऽध्यायः

मंगलाचरणम्

जयत्यखिलजन्तुषु प्रथितचेतनश्चेतनो,
हरन्नघमघौघहं पदपयोरुहं पावनम्।
सतां शरणदस्सदा शुभमुपेयुषां विद्विषा-
मरिर्हरिहरार्चितो जनकनन्दिनीवल्लभः ।। १ ।।

नमामि यदुसत्तमं नवलकञ्जकन्दोपमं,
प्रपीतदयिताधरं गिरिधरं सुगीताधरम्।
पुराणपुरुषोत्तमं सुभगसात्वतामुत्तमं,
धनञ्जयसखं सदा परमीश्वरं जित्वरम्।। २ ।।

जयत्यनघसेविता परमहंसहृद्भाविता
भवव्यतिकरार्दिनी सुजनचेतसां चन्दिनी।
मुकुन्दमुखमाधुरी द्रुततुरीयगीश्चातुरी,
हृतप्रणतकातुरी श्रुतिधुरिस्थगीता हरेः ।। ३ ।।

अथ षष्ठाध्याये त्वं पदार्थवर्णनप्रसङ्गेन प्राप्तुःस्वरूपं प्रत्यगात्मतत्त्वं विवेचयता भगवता सोपपत्तिकमुपासनारहस्यं प्रपत्तिबीजभूतं योगिना,

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।। ६-७

इति श्लोकरत्नमभ्यधायि। तेन च तृतीयचरणान्तिमेन द्वितीयान्तेनास्मत्पदार्थेन प्राप्तमपि न्यदर्शि तत्पदलक्ष्म्। तत्र किं नाम लक्ष्यतावच्छेदकम् ? किं तत्तद्रूपम् ताटस्थ्यं वा नैकटस्थ्यं वा तादृशोपेयस्य किं उपायभूतं तच्च सापेक्षं निरपेक्षं वा ? सापेक्षता च पुरोदितयोः ज्ञानयोगकर्मयोगयोः कतरन्निष्ठा ? निरपेक्षा चेत् किं

प्रतिष्ठा ? इति सर्वं पार्थजिज्ञासितपुञ्जं तेनान्तः पृष्टः बहिरपृष्टोऽपि दृष्टोद्देशकः केशवः प्रवक्तुमुपाक्रमत । तदेव द्वितीयषट्कमङ्गलाचरणरूपेण भगवद्वाक्यावतरणिकां समवतारयति धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जयः जनमेजयं प्रति वैशम्पायनः ।

श्री भगवानुवाच

मय्यासक्तः मया पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।। (७-१)

भगः श्रीकाममाहात्म्ये यद्यपि 'भग'शब्दे तु श्रेयोऽन्तर्भावः तथाप्यत्र श्रीः भगवच्छरणागतिमयी परमेश्वरस्य निर्व्याजकरुणाकल्लोलिनीह विवक्षिता श्रीशब्देन । तत्र पार्थ इति सम्बोधनेन परमविशुद्धभक्तिरहस्यं भक्तिकामो मधुसूदनः प्रथमं मङ्गलाचरणरूपेण परमभक्तायाः कुन्त्यपरनामधेयायाः महापातकनाशकतया स्मृतासु पञ्चकन्यासु तुरीयायाः पृथायाः स्मरति या कुटिलकुन्तलं कुन्तीविपद्विश्रामास्पदमपि विपदं याचते,

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनो यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ।। (भागवत् १-८-२५)

षडैश्वर्यसम्पन्नो भगवान् मध्यमेऽस्मिन् षट्के परमपुरुषार्थभूतायाः षड्विधशरणागतिलब्धायाः विशुद्धायाः प्रेमलक्षणायाः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रायाः सर्वदा निरपेक्षायाः भगवत्या भक्तैर्निर्वचनमारभते भक्तवत्सलो भगवान् हे पार्थ ! पर्थयति मद्भक्तिमहिमानं या सा पृथा तस्याः अपत्यं पुमान् पार्थः तत्सम्बुद्धौ हे पार्थ, अत्रेदमवगन्तव्यं यद् समग्रासु श्रीमद्भगवद्गीतासु सकलदुर्लभभक्तिरहस्यप्रतिपादनपरासु नसकृत्त् पार्थेति सम्बोधनं करोति परमप्रियत्वात्—उवाच पार्थ पश्यैताम् (गीता १-२५) "क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ" (गीता २-३) 'सर्वान् पार्थ मनोगतान्' (३-५५) 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' (२-७२) इत्येवमादि । भक्तिशास्त्रं हि स्मरणप्रधानम् । "स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यधीयते" इत्यामनन्ति श्रीमद्रामानुजाचार्यचरणाः । स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते इत्यामनन्ति विवेकचूडामणौ भगवत्पादशङ्कराचार्याः । तत्राद्वैतिनां मते स्वपदमात्मपरकं स्वस्य आत्मनः स्वरूपम् । अस्मन्मते तु स्वपदमात्मीयार्थं ज्ञात्यर्थं धनार्थञ्च । तुष्यतु दुर्जनन्यायेन आत्मार्थमपि तथा हि स्मरति भगवान् पाणिनिः "स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्" (पा.अ. १-२-३५)

चत्वारोऽर्थाः स्वशब्दस्य आत्मा आत्मीयः ज्ञातिर्धनञ्च इति ब्रावोचत् पन्नगपतिः पतञ्जलिर्भगवान् । आत्मार्थे तावत् आत्मशब्दोऽत्र परमेश्वरः परः" आत्मा शरीरे जीवे च जीविते परमात्मानि' इति कोषात्, नन्वस्मिन्नर्थे श्रुतेः किं मानम् ? इति चेत् यजुः संहितैवेति ब्रूमः "तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेति" (शुक्लयजु० ३१-१८) तथा स्वस्य आत्मनः इव प्रेष्ठस्य भगवतः स्वरूपानुसन्धानं भक्तिः अतस्तदीया चर्पटपञ्जरिकापि संगच्छते,

गेयं गीता नामसहस्त्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्त्रम् ।
देयं दीनजनाय च वित्तं नेयं सज्जनसङ्गे चित्तम् ।।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ।।

पुनश्च स्वस्यात्मीयस्य निजपरमप्रीतिभाजनस्य स्वस्य धनस्य परमेश्वरस्य स्वरूपानुसन्धानम् । भूयश्च स्वानां निजज्ञातीनां श्रीवैष्णवानां स्वरूपानुसन्धानम् । इत्क्षलं परोजितव्याख्यानेन । प्रकृते तावत् हे मत्परमप्रेमभाजन पार्थ ! मयि सगुणसाकारे निर्व्याजपरमकरुणाकूपारे निजे सख्यौ भगवति कृष्णे आसक्तं । जगतोऽनासक्तं सत् सकलपुत्रकलत्रादिसकलममताशून्यतया भृङ्गवन्मच्चरणारविन्दे बद्धसङ्गं परमप्रेमलक्षणाभक्तिप्रवणं मनः स्वान्तं यस्य स आसक्तमनाः अहं सर्वसर्वेश्वरो भगवान् कृष्ण एव आश्रयः अवलम्वनं यस्य स मदाश्रयः ! एवंभूतस्त्वं योगं कर्मयोगं युञ्जन् । संशयस्यार्थाभावः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथासंशयम् । अथवासंशयम् इति भगवद्विशेषणमेव । न विद्यन्ते संशयाः यस्मिन् सर्वज्ञत्वात् स असंशयः तमसंशयम् । त्वं ससंशयः अहं तु असंशयः । इत्येव जीवात्मपरमात्मनोर्भिदा । एवंविधं सर्वज्ञं मां निजनाथत्वेन यथा ज्ञास्यसि, ज्ञानपूर्वकनिश्चयविषयं करिष्यसि यथा येन प्रकारेण तत् प्रकारसामान्यं शृणु आकर्णय ।

'मय्यासक्तमनाः इत्यत्र आसक्तपदोपादानेनैव जगद्गुरुश्रीमदाद्यरामानन्दाचार्याभिमतभक्तिव्याख्या प्रदर्शिता, तथाहि—

आसक्तिः परमा भक्तिः सीतापतिपदाम्बुजे ।
रामानन्दमतेनैषा भक्तिरित्यभिधीयते ।।

यथोक्तं भगवता देवर्षिणा नारदेन गुणमहात्म्याशक्तिः, रूपासक्तिः, पूजाशक्तिः, स्मरणासक्तिः, वात्सल्यासक्तिः, दास्यासक्तिः, सख्यासक्तिः, नित्यकान्तासक्त्यात्म-

निवेदनासक्तिः, तन्मयतासक्तिः, परमविरहासक्तिरूपा चैकादशधाप्येकधा भवति (ना०भ० ८२) तथोक्तं मज्जीवनसर्वस्वभूतैः श्रीगोस्वामि श्रीतुलसीदासचरणैः—

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहिं राम ।।

(मानस ७/१३० ख)

एतद् रूपान्तरम्—

यथा कामिनिप्रीयते नव्यनारी यथालोभिने प्रीयते द्रव्यजातम् ।
तथा प्रीयतां मे च नाथो रघूनां सदैवैष मे राम हृद्याभिलाषः ।।श्रीः।।

अथ वक्तव्यविषयं प्रतिजानीते जनार्दनः—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।। गीता ७/२

ज्ञानं नाम स्वस्वरूप-परस्वरूप-तत्सम्बन्ध-याथात्म्यज्ञानम् । विज्ञानं नाम चिदचिद्विशिष्टज्ञानं विज्ञानेन सहितं सविज्ञानम् । अशेषेण इति अशेषतः । हे पार्थ ते तुभ्यं अर्जुनाय सविज्ञानं अनात्म्यज्ञानपूर्वकं ज्ञानं परतत्त्वज्ञानं इदम् एतद् अहं कृष्णः भगवान् अशेषेण सामग्र्येण वक्ष्यामि कथयिष्यामि—यद् विज्ञानसहितं ज्ञानं ज्ञात्वा इह संसारे किंचिदप्यन्यत् ज्ञातव्यं ज्ञातुं योग्यं वस्तु नावशिष्यते नास्ति । एकेन ज्ञातेन सर्वं ज्ञातं भवति इति श्रौतसिद्धान्तानुरोधात् । श्रीः।

इदं ज्ञानं न सर्वसुलभं इत्यत आह—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।। गीता ७/३

सहस्रशब्दोऽत्रानन्तवाची । यतति इति अनुदात्तेत्वलक्षणस्य आत्मनेपदस्यानित्यत्वात् परस्मैपदं तन्मूलक एव यततां इति शता ।

हे पार्थ मनुष्याणां कश्चिदेव एवं भूतो भवति यः सिद्धये यतते । यततामपि यतमानानां यत्नशीलानां मध्ये कश्चित् कोऽपि मां श्रीकृष्णं भगवन्तं तत्त्वतः तत्त्वेन वेत्ति जानाति । अतो ज्ञानमिदं नैव सर्वसुलभम् । यथोक्तं श्री रामचरितमानसे सप्तमे भगवत्यापार्वत्या—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होई धर्मव्रतधारी।।
धर्मशील कोटिक मंह कोई। विषय विमुख विराग रत होई।।
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक् ज्ञान सकृत कोउ लहई।।
ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ।।
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्म लीन विज्ञानी।।
धर्मशील विरक्त अरु ज्ञानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी।।
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मदमाया।।
मानस ७/५४-१-७

रूपान्तराणि

नाराणाञ्च सहस्रेषु पुरारे श्रूयतामथ।
कश्चिदेको भवेत्तेषु धर्मव्रतपरायणः।।

कोटिनां धर्मशीलानां मध्ये कोऽपि भवत्यथ।
विषयेभ्यश्च विमुखो वैराग्यनिरतस्तथा।।

कोटिनां च विरक्तानां मध्ये कथयति श्रुतिः।
सम्यग् ज्ञानं च लभते सकृत् कश्चिन्महामतिः।।

कोटिनां ज्ञानिनां मध्यं कोप्येको भूरिभाग्यवान्।
जीवन्मुक्तदशां याति जगतीह भयावहे।।

तेषां चैव सहस्राणां सुखानां खनिरुत्तमः।
दुर्लभःस्यात् ब्रह्मलीनो विज्ञानी विधिसम्मतः।।

धर्मशीलाः विरक्ताश्च ज्ञानिनो ज्ञानसम्मताः।
जीवन्मुक्ताः ब्रह्मपराः प्राणिनो ब्रह्मचिंतकाः।।

सर्वेषां चैव पञ्चानां स षष्ठो ह्यति दुर्लभः।
श्रीरामभक्तिनिरतो मदमायाविवर्जितः।। इति।।

अतस्त्वं मद्भक्तिनिरतचेतस्तया सुदुर्लभः भक्तोऽसि मे (गीता ४/३) इति पूर्वमेवोक्तत्वात्। श्रीः।

अथ प्रकृतिप्राप्तचिदचिद्विवेकपुरस्सरब्रह्मविवेकं व्यनक्ति। तत्र अचिन्नाम जड-पदार्थः जीवभोग्योपकरणभूतः शरीरादि स च वक्ष्यमाणाना मष्टानां प्रकृतीनां विकारः

एतद्भिन्ना- जीवभूता परा प्रकृतिः द्वाभ्यां व्यतिरिक्तं चिदचिद्विशिष्टमद्वैतं तत्र च मे भिन्ना प्रकृतिः (७/४ गीता)

प्रकृतिं विद्धि मे परां (गीता ४/५) इत्युभयत्र मे इति षष्ठीनिर्देशः। षष्ठ्यन्तश्च विशेषणव्यपदेशः। षष्ठी चात्र सम्बन्धे सम्बन्धश्च शरीरशरीरिभावरूपः। तस्मात् अचिद् विशिष्टं चिद् विशिष्टञ्च सदद्वैतं एकमद्वितीयं सर्वनियन्तृ सत्यसंकल्पं, पूर्णकामं, सर्वरूप-सर्वरस-सर्वगन्धं, सगुणसाकारं, कार्यकारणभेदेन द्विधा वर्तमानं श्रीसीतारामाख्यं ब्रह्म तस्मात् सीतारामविशिष्टद्वैतवादाख्योऽयं श्रीरामानंददर्शन-समाम्नायः। स च गीतासु पदे पदे व्यक्तीभूतो विराजते इत्ययमत्र शास्त्रार्थः। इममर्थं विवेचयति त्रिभिः।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। गीता ७/४०

भूमिः पृथ्वी, आपो जलानि, अनलः, नास्ति अलं पर्याप्तिः यस्मिन् सः अनलः, अग्निः, वायुः, पवनः, वाति सर्वत्र गच्छति, वाति सुगन्धं दुर्गन्धं च सूचयति इति वायुः पवनः, खम् आकाशं, मनः संकल्पात्मकं अन्तःकरणं, बुद्धिः व्यवसायात्मकममन्तःकरणं, अहंकारः अभिमानात्मकमन्तःकरणं, चेतसो मनस्यन्तर्भावात् न पृथक् उक्ति एवं प्रकारिका इयं एषा मे मम भगवतः सम्बन्धभूताष्टधा। संख्याया विधार्थे धा पा०अ० ५/३/४२ इत्यनेन धा प्रत्ययो विधार्थे, अष्टविधा भिन्ना ब्रह्मणो मद्व्यतिरिक्ता प्रकृतिः अचिद्रूपिणी माया मद्विशेषणीभूता। श्रीः।

अथ इतोऽपि भिन्ना काचित् भगवतः प्रकृतिः ? इत्यत आह—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।। गीता ७/५

हे महाबाहो ! महाभुज पार्थ ! विशुद्धनित्यपरिकरप्रत्यगात्मन् ! इयं पुरोदिता दृश्यमाना अष्टविधा प्रकृतिः अपरा अकारः वासुदेवः, परः आधारो, विशेष्यरूपो यस्याः सा अपरा अपरा बहिरंगा अस्ति तु किन्तु इतः एतस्याः अन्यां विलक्षणां जीवभूतां जीवः प्रत्यगात्मभूतं रूपं यस्या सा जीवभूता तां जीवभूतां मे मम मत्सम्बन्ध-प्रतियोगिनीं परन्तरङ्गां प्रकृतिं चिद्रूपां विद्धि जानीहि यया चिच्छक्त्या प्रकृत्या इदं जगत् धार्यते जडरूपमाधारीक्रियते। अत्र जगदिति सभिप्रायं इदमचित् तत्त्वम्। जगत् जायते गच्छतीति जगत् जन्ममरणादिकपरिणामः। अचित् जगत् भवति नवा जीवे नवा

जगदीश्वरे किन्तु इदं मे विशेषणमतो विशेषणांशपरिणामो समुपचर्यते मयि । यथा दण्डे नष्टे तद्धारके दण्डीत्युपचर्यते ।।श्रीः।। एवं चतुर्थेन अचित्तत्त्वम्, पंचमेन च चित्तत्त्वं व्याख्यातम् । इदानीं ताभ्यां परं किन्तु ततो विलक्षणं द्वयोरपि विशेष्यं सकलशेषितया पर्यवसितम् । सकलवेदान्तानां महातात्पर्यं श्रीरामकृष्णाख्यपर तत्त्वं व्याख्यायते षष्ठेन ।

अथ चिदचिती विशेषणे व्याख्याते ते खलु विशेष्यमन्तरेण न स्थातुं प्रभवतः । द्वयोश्च सापेक्षत्वात् । तत् किं विशेष्यं जडं चेतनं वा नित्यमनित्यं वा, इति जिज्ञासां परिहरन्नाह भगवान्—

एतद्योनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।। गीता ७/६

एते अपरापराप्रकृती योनी जन्महेतू एषां तानि एतद्योनी ।

सर्वाणि भूतानि ऐते आधारीकृत्य जायन्ते किन्त्वहं कृत्स्नस्य सम्पूर्णस्य जगतः संसाररस्य प्रभवः प्रभवत्यनेन इति प्रभवः निमित्तकारणं प्रलीयतेऽस्मिन् इति प्रलयः अधिकरणे घः प्रलीयते अस्मिन् इति व्युत्पत्तौ उपादानकारणत्वं तथा तेनैव प्रकारेण इत्यनेन द्वयोरभेदः सूचितः । सर्वाणि भूतानि अपरापराप्रकृतिभ्यां जायन्ते । अहं तु एतस्य जडचेतनात्मकस्य जगतः अभिन्ननिमित्तोपादानकारणम् । एतेन व्याख्या पविना प्रच्छन्नबौद्धानां अद्वैतवादमहाशैलः भूमिसात्कृतः । एतद्व्याख्यानपविनासानन्दं कविना मया अद्वैतवादशैलोऽयं शास्त्रतोधूलिसात्कृतः ।।

हिन्दुत्वरक्षणविचक्षणतीव्रदण्डं
धर्मद्विषां प्रबलतर्जनचण्डदण्डम् ।
नास्तिक्यवादवरुणालयमन्थदण्डं
श्री रामभद्रसुयतेर्जयतात्त्रिदण्डम् ।। श्री ।

संगतिः— एवं त्रिभिः चिदचिद्विशिष्टं वर्णयित्वा भगवतः श्रीकृष्णस्याभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वं साधयित्वा तमेवार्थं भूयोऽभ्यसति भगवान् मधुसूदनः मत्त इत्यादि—

मत्तः परतरं नान्यत्किंञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।। ९/७

धनं जयति इति धनंजयः तत्सम्बुद्धौ हे धनंजय ! मत्तः इति तसिलान्तप्रयोगः तथाहि सूत्रं पञ्चम्यास्तसिल् (पा०अ० ५/३/७) इति मत्तः वासुदेवात् परतरं

व्यतिरिक्तं परतरं सूक्ष्मतरं वा । यद्वा परशब्दोऽत्र इष्टवाची । विप्रतिषेधे परं कार्यम् (पा०अ० १/४/२) इति सूत्रे भगवता पतञ्जलिनैव इष्टवाचित्वे नैव परशब्दस्य व्याख्यानात् । मदभिन्नाद् भगवतः अधिकं किञ्चिदपि इष्टं नास्ति इति वाक्यार्थः । यद्वा परशब्दोऽत्र कारणवाची । अधिकं परं परतरं मत्तः सूक्ष्मं किमपि कारणं नास्ति । ममैव कारणकारणत्वात् । इत्यनेन नैयायिककल्पितानां समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानां कुतर्ककल्पितजल्पनमयः प्रासादः धूलिसात्कृतः । सूत्रे तन्तौ मणिगणा इव मणीनां गणाः मणिगणाः रत्नसमूहा इव इदं सर्वं जडचेतनात्मकं प्रोतं सम्बद्धम् । अत्रोपमानोपमेययोः साधर्म्यमीमांसायां जीवात्मपरमात्मनः स्पष्टं भेदः संकेतितो भगवता । इत्यनेन जीवो ब्रह्मैव नापरः इति कालकूटमुद्वमन्तो निराकृताः । ननु श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः इत्यभियुक्तोक्तिर्व्याकुप्येत् इतिचेत् प्रकामं व्याकुप्यताम्। नैतस्य श्लोकस्य प्रामाणिकत्वे मे प्रत्ययः । पूर्वं कुतस्त्योऽयं श्लोक इति त्वया वाच्यम्। यदि अष्टादशपुराणेषु महाभारते शतकोटिरामायणेषु अपरिगणितासु संहितासु क्वाप्ययमार्षवाक्यत्वेनोपलभ्येत तदा परिहाराय यत्नः क्रियेत यदि नोपलभ्यते तर्हि किमनेन ग्राम्यगीतेन विगीतेन विचारकोटिं नीतेन ।

श्रीगीतासु कुत्रापि जगन्मिथ्यात्वस्य न चर्चा । भवेन्नामानित्यतायाश्चर्चा आगमाऽपायिनोऽनित्यास्तान् तितीक्षस्व भारत । गीता—२/१४।। ननु जगतः सत्यत्वे किम् मानं इति चेत् 'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा' इति स्वेताश्वतरोपनिषदेव प्रमाणम्। तस्मात् सूत्रे मणिगणा इव इति दृष्टान्तानुरोधेन 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इति बालवञ्चनपरं छलनानुविद्धं कपोलकल्पितं न प्रमाणम् । नहि सूत्रेण मणिगणाना मैक्यं द्वयोः स्पष्टं भिदायाः प्रतिपत्तेः । सूत्रमाधारः मणिगणाः आधेयाः तथैव ब्रह्म आधारः जीवा आधेयाः ।।श्री।।

संगतिः—एतावता प्रकरणेन चिदचिद्विशिष्टाद्वैतं साधायित्वा चिदचितोश्च अभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन भगवन्तमेव निश्चित्य तमेव सिद्धान्तव्यासमुखेन सुस्पष्टयति श्लोकषट्केन तत्र प्रथमम्—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।। ७/८

मयि सर्वमिदं प्रोतं इति पूर्वं प्रतिज्ञातं, साम्प्रतं स्पष्टयति वचनरचनानागरः, हे, कौन्तेय ! कुन्तीपुत्र अर्जुन अप्सु जलेषु रसः सारभूतं तत्त्वं अहमस्मि । 'शृङ्गारादौ

रसः स्वादे सारे रागे बले रसे इति कोषात्', शशी च सूर्यश्च शशिसूर्यौ भगवतः चन्द्रवंशप्रसूतत्वाच्चन्द्रस्याभ्यर्हितत्त्वम् । अर्जुनस्यापि तद्वंशत्वेन तथात्वं सुवचमेव । चन्द्रो हि ब्राह्मणानां राजा 'सोमो राजाऽस्माकं ब्राह्मणान'मि'ति श्रुतेः । भगवतश्च ब्रह्मण्यत्वाच्छशिशब्दस्य पूर्वप्रयोगः । अमृतमयत्वेन वा, शशी च सूर्यश्च शशिसूर्यौ तयोः शशिसूर्ययोः सारभूताप्रभाऽहमस्मि । सर्वेषु वेदेषु ऋग्यजुःसामाथर्वसु अहं प्रणवः तत्कारणभूतः ओङ्कारः । खे आकाशे कारणभूतोऽहं शब्दः, नृषु वंशिषु पौरुषं तत् सारभूतं पुरुषत्वमहमस्मि ।।श्रीः।।

संगतिः—गहन विषयाणां शिष्येभ्यो सकृदुपदेशोऽभ्यासः । अस्य सर्वस्य जगतो ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानतागहनतामेव पौनः पुन्येनाभ्यसति शिखिपिच्छ-मौलिर्मधुसूदनः पुण्य इत्यादि—

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसोः ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।। ७/९

पृथिव्यां भूमौ पुण्यो गन्धः पवित्रो गन्धः सुरभिरिति भावः अहमस्मि । पुण्यशब्दो दुर्गन्धं व्यवच्छिनत्ति असुरभेः भूतसम्पर्कजन्यत्वात् गन्धत्वं पृथिव्याः लक्षणं समवाय सम्बन्धेन गन्धवती पृथ्वी पृथ्वीनिष्ठकार्यतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्न कारणतात्वावच्छिन्नकारणतावान् गन्धः स चाहं इति भगवतोऽभिप्रायः । किञ्च विभा प्रकाशः वसुः धनं यस्य स विभावसुः अग्निः तस्मिन् विभावसो रग्नेः तेजः दाहकता-शक्तिः अहमस्मि । अथ च सर्वाणि च तानि भूतानि इति सर्वभूतानि तेषु सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु जीव्यते अनेन इति जीवनं जीवनधारणमाध्यमः प्राणविशेषः अहमस्मि । तथा च तपस्विषु प्रशस्तं तपो येषु ते तपस्विनः "तपःसहस्राभ्यां विनीनी" इत्येन 'विनि' प्रत्ययः तेषु तपस्विषु तपःप्रधानेषु जनेषु तत् सारभूतं तपः अहमस्मि ।।श्री।।

संगतिः—किञ्च सम्बन्धितयापि सारवद् यद्किञ्चिद् भासते तदप्यहमस्मि इति स्फोरयितुं पुनराह चतुर्भिश्चतुरचक्रचूडामणिश्चतुर्थः—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।।

किञ्च, हे पार्थ ! सर्वभूतानां चिदचिदात्मनां सनातनं अविनाशि यद् बीजं कारणं उपादानभूतं तदपि माम् विद्धि जानीहि । बुद्धिमतां प्रशस्तबुद्धिसम्पन्नानां सात्त्विकीबुद्धिरहमस्मि । मतुपः प्राशस्त्यार्थत्वात् अप्रशस्तयोः राजसीता-

मस्योर्निराकृतिः। प्रशस्तं तेजः ब्रह्मचर्यमखण्डितमस्ति नित्यं येषु ते तेजस्विनः अस्मायामेधास्त्रजो विनिः पा०अ० ५-२-१२१ इत्यनेन विनिः प्रत्ययः। तेषां तेजस्विनामस्खलितब्रह्मचर्यवतां तेजः ओजः चरमो धातुः शुक्राख्योऽहमस्मि। तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि इति श्रुतेः॥श्री॥

संगतिः—अपरमपि—

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ७/११

ऋषभः श्रेष्ठः सिंहो वा, भरतेषु ऋषभः भरतर्षभः तत्सम्बुद्धौ हे भरतर्षभ ! हे भरतश्रेष्ठ ! कामोऽभीष्टो लिप्सा रागो रञ्जनात्मिका आसक्तिः कामश्च रागश्च कामरागौ ताभ्यां विवर्जितं कामरागविवर्जितम् एवं भूतं निष्कामं नीरागं बलवतां प्रशस्तबलयुक्तानां बलमात्मबलं सारभूतमहमस्मि। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इतिश्रुतेः।' यथा श्रीहनुमतः। एवं भुतेषु चिदचिन्मयेषु प्राणेषु धर्मेण अविरुद्धः धर्माविरुद्धः शास्त्रविहितधर्मानुमोदितः कामः अभीष्टवस्तुलिप्सा अहमस्मि यद्धर्मविरुद्धं तन्नाऽहमिति भावः। अतएव कामशास्त्रस्य धर्मशास्त्रेण बाधः इति स्मरति याज्ञवल्क्यः। तथाहि

स्मृत्योर्विरुद्धयोर्न्यायो बलवान् व्यवहारतः।
कामशास्त्राद्धि बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ॥

काम इह इच्छा न तु स्त्रीपुंसयोर्व्यवायः। एवं कामस्य धर्मेण नियन्त्रणम्॥श्रीः॥

संगतिः—किम्बहुना, भावानामपि मत्त एव उत्पत्तिः इत्यत आह भगवान् भाववत्सलः—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ ७/१२

स्वस्मिन् पदार्थप्रोततां निगमयन् निगदति निखिलनिगमाचार्यो भगवान्। चकारोऽप्यर्थः। एवकारोऽन्यकारणव्यवच्छेदार्थः। सत्वेभवे सात्त्विकाः, रजसि भवाः राजसाः, तमसि भवाः तामसाः। भावाः दृश्यमानपदार्थाश्चिदचिदामका येऽप्यत्र सत्वगुणोद्भवाः भावाः मनोवृत्तिविशेषाः, ये चान्ये रजोगुणोद्भवाः, ये चापि तमोगुणोद्भवाः भावा तानपि मत्त एव भगवतः श्रीकृष्णस्य सकाशादेव इति अनेन रूपेण विद्धि जानीहि। तेषु अहं न भावातीतत्वात्, किन्तु ते मयि भगवति वासुदेवे

सर्वमयत्वात् । यतोह्यहं निखिलजगदुपादानकारणम्, कार्याणां कारणे वर्तमानतानियमात् । ननु निर्गुणात् भगवतः कथमिमे भगवतः ? निर्गताः गुणाश्च यस्मात् स निर्गुणः इति व्युत्पत्तेः । तद्भवत्वात् भावानामपि गुणत्वावच्छिन्नतया व्यवहारात् । "न त्वहं तेषु ते मयि" इति वाक्येन भगवतैव सत्कार्यवादः प्रमाण्यते ।।श्री।।

संगतिः—ननु विज्ञातमपि समस्तकारणकारणं तत्रभवन्तं भगवन्तं जनाः कथं न भजन्ते ? किञ्च यद्यज्ञानमूलो भजनाभावः तर्हि कथं न जानन्ति ? इति जिज्ञासां परिहरन् प्राह श्रीहरिः—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।। ७/१३

गुणानां विकाराः गुणमयाः । तस्य विकारः पा०अ० १-३-१३४ इत्यनेन मयट् । तैः गुणमयैः सत्त्वरजस्तमोविकारभूतैः त्रिभिः सात्त्विकराजसतामसैः भावैः मनोवृत्तिविशेषैः । एभिः अतिदुरन्तैः भावैः मोहितं मोहमापादितं इदं सर्वं जगत् जड़चेतनात्ममेभ्यः त्रिगुणमयेभ्यो भावेभ्यः परिभूतं मामव्ययं सर्वशरण्यं परमात्मानं न जानाति ।।श्रीः।।

संगतिः—अथ कथं त्रिगुणमयेभ्यो भावेभ्यः परिभूतं भगवन्तं जीवो न जानाति ? क्वत्या इमे भावाः ? कथमिमान् जीवोऽतिवर्तेत ? किममी नाशयितुं शक्याः ? उताहो समुपेक्षितुम् । इति विरोधिस्वरूपपर्यालोचनासम्बन्धिनीं धनञ्जयजिज्ञासां परिहरन् श्री हरिर्हृष्ट उवाच,

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। (गीता ७-१४)

हिः हेतौ यतो हि एषा प्रत्यक्षं दृश्यमाना गुणाः सत्वरजस्तमोनामानः प्राचुर्येण सन्ति यस्यां सा गुणमयी 'तत् प्रकृतिवचने मयट्' पा०अ०५-४-२१ इत्यनेनाधिकरणे मयट् प्रत्ययः 'टिड् ढाणञ्' इत्यादिना ङीप् । अथ च किं भूतेयम् ? नित्या उताहो अनित्या ? अत आह दुरत्यया दुःखेन अत्ययो विनाशो यस्याः सा दुरत्यया जीवेन नाशयितुं न शक्येयं परन्तु तर्तुं शक्या अतएव अतिपूर्वक इण् धातु र्वाच्यतामतिलंघने इति यथाग्रे श्रीगीतासु वक्ष्यते चाष्टमे अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा (गीता ८-२७)।

तस्मात् दुःखं यथा स्यात् तथा अत्ययः अतिलंघनं यस्याः सा दुरत्यया इयमव्यक्ताख्या भगवत एव काचिदघटितघटनापटीयसी पृथीयसी महाशक्तिः वैष्णवी माया नाम यथा श्रीभागवते मृद्भक्षणलीलायाम् । भगवता पृथिव्याननं चुम्बता भक्षितायां मृत्तिकायां श्री यशोदानुरोधेन निजमायाबलेन निजमुखारविन्दे दर्शिते निखिले प्रपञ्चे प्रतिबद्धस्वभावा श्रीयशोदा इमामेव वर्णयति

अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो व्रजेश्वरस्यखिलवित्तपा सती ।
गोप्यश्च गोपाः सहगोधनाश्च मे यन्माययेत्थं कुमतिः स मेगतिः ।।
(भाग १०-८-४२)

अनन्तरञ्च विदिततत्त्वायां तस्यां भगवतैव वैष्णवीमाया वितेने, विस्मारितैश्वर्यज्ञाना मण्डितमाधुर्यविताना च । यथा तत्रैव श्रीशुकः—

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः ।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः ।। (भाग १०-८-४३)

इह वैष्णवीमिति पदं प्रयुञ्जानेन भगवता बादरायणिनैव मायावादिभिः शाङ्करैः कल्पितोऽयं मायामिथ्यावादवालुकाप्रसादो वारिसात्कृतः । अथ तर्हि शास्त्रेषु माया शब्दः कदाचिद् श्रीसीतां श्रीं राधामपि परामृशति कदाचित् भक्तभ्रामकभगवल्लीला-लालित्यमभिधत्ते यथा शिवपुराणादौ नारदमोहप्रसंङ्गे पाद्मादौ च गरुणमोहप्रसङ्गे क्वचिद् भगवद्दर्शनव्यवधायकत्वेनापि मायानुवेधः यथात्रैवाग्रे वक्ष्यमाणम् "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गीता ७-२५) किमिदं यथा श्रीमानसेऽपि,

उभय बीच श्री सोहै कैसी ।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ।। (मानस अरण्यकाण्डे ३)

रुपान्तरम्—

उभयोर्मध्यगा सीता शोभते श्रीश्च कीदृशी ।
माया च यादृशी भाति मध्यस्था ब्रह्मजीवयोः ।।

इति चेत् उच्यते विविधार्थो हि मायाशब्दः "माया कृपायां लीलायां मूलाज्ञाने छले तथा" इति कोषात् । प्रकृते मायाशब्दः कृपार्थः । यथा ब्रह्मजीवयोर्मध्ये माया शोभते तथैव श्री रामलक्ष्मणयोर्मध्ये सीता । अथ कथं तर्हि मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् (भाग १०-१-७), मायामनुष्यं हरिम् (मानस ५ मंगलाचरण १), पुनिमाया

सीताकरहरना (मानस ७-६६-६), मायामृग पाछे सो धावा (मानस ३-२६-१२), मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावत् (भाग० ११-५-३२) इत्यादि तत्र मायामनुष्यं, मायामानुषरूपिणौ इत्यादौ माया कृपार्था, मायाय्यै मनुष्यः मायामनुष्यः। बद्धजीवानाम् उपरि अहैतुककृपां विधातुं भगवान् मनुष्यरूपेण आविर्भवति यथा श्रीभागवते—अनुग्रहाय भूतानां व्यक्तिर्भगवतो नृप। अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्यगुणात्मनः॥ (भाग १०-२२-३८)। माया सीताकर हरना इत्यादौ लीलार्थ मायापदम्। मायामृग-मित्यादौ छलार्थको मायाशब्दः।

माययापहृतज्ञाना (गीता ७-१५) इत्यादौ मूलाज्ञानार्थकोः मायाशब्दः। अतएव—आदिशक्ति जेहि जग उपजाया। सो अवतरिहि मोर यह माया॥ (मानस १-१५२-४)

रूपान्तरम्—

आदिशक्तिर्भगवती जनयामास या जगत्।
एषा मदीया माया वै साप्यत्रावतरिष्यति॥

इत्यत्र भगवतः कृपैव मायापदेन संकेतिता।

अथ प्रकृते का नाम माया ? भगवल्लीलाशक्तिः। तथाहि देवस्य मम श्रीकृष्णस्य इयम्इति दैवी गुणमयी सत्वरजस्तमोबहुला दुरत्यया दुष्पारा एषा माया विराजते। ये मामेव सर्वं सर्वेश्वरं महामायापतिं सर्वनियंतारं परमेश्वरं प्रपद्यन्ते षड्विधशरणागत्या मदेकशरणाः प्रपन्नाः भवन्ति ते परमभागवताः श्रीवैष्णवाः एतां दुर्विभाव्यां मायां महासागरानुभावां तरन्ति तीर्त्वापारं गच्छन्ति। इत्यनेन स्पष्टमेव भगवता मायाया भगवदीयत्वमुक्त्वा प्रछन्नबौद्धकल्पितमिथात्वं निरस्तम्॥श्री॥

संगतिः—अथ ये भगवन्तं न भजन्ते ते के ? कथं तेषां सकलभूतसुहृदि सर्वसवेश्वरे त्रिलोकलावण्यलक्ष्मीलालितपदाम्बुजे परिकलितकोटिकोटिकन्दर्प-दर्पदलनत्रिभुवनमोहनविग्रहे तत्र भवति भगवति नैव रागात्मिका प्रवृतिर्भवति, न वा प्रपीत्सा जागर्ति जगतीपतौ जनार्दने इत्यत आह—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ गीता ७-१५

रा०कृ०भा०—दुष्कृतिनः दुष्कृतानि शास्त्रविरुद्धानि विकर्माणि सन्ति येषु ते दुष्कृतिनः। अतएव मूढाः मोहमहासागरनिमग्नाः, नरेषु नित्यमुक्तबद्धजीवेषु अधमाः,

बद्धाः मच्चरणारविन्दविमुखतया नीचाः, माययाज्ञानेनापहृतं ज्ञानं कर्त्तव्याकर्तव्य-विवेकरूपमेषां ते आसुरं भावम् 'असवः प्राणाः तेषु असुषु रमन्ते इति असुराः तेषामयमासुरः तमासुरं भावं हिंसानृशंसत्वादिलक्षणं कंसादय आश्रिताः, दुर्योधनादयः मां सर्वेश्वरं परंकारुणिकं प्रणतविनतभूतव्रातरक्षैकदीक्षं प्रपन्नपारिजातं कुरुक्षेत्रे तव सारथ्यं वहन्तं करकमलकलितवेत्रतोत्रं पद्मपलाशनेत्रमपि निकटस्थमपि दूरस्थमिव, मित्रमपि शत्रुमिव, निष्पक्षपातमपि सपक्षपातमिव, सकरुणमपि निष्करुणमिव, उदारमप्यनुदारमिव सूरमपि कूरमिव, परमेश्वरमप्यनीश्वरमिव, सर्वसमर्थ-मप्यसमर्थमिव, मन्यामानासाभिमाना न प्रपद्यन्ते । न प्रपन्नाः भवन्ति । श्रीः ।

संगतिः—अथ के सुकृतिनः ? कथं च तेषा सुकृतित्वं कति विधाश्च ते ? इति प्रश्नान् उत्तरयन् प्राह भगवान् वासुदेवः ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। ७-१६

हे अर्जुन, हे भरतर्षभ इति सम्बोधनद्वयेन पार्थस्यमहाकुलप्रसूतत्वं, निर्मलान्तः करणत्वं च सूचितम् । चकारः इत्यर्थः । आर्त्तः शत्रुचौरादिपीडित सन् भयान्मां प्रपन्नः । जिज्ञासुः ब्रह्म जिज्ञासमानः, अर्थार्थी-अर्थः धनम् असन्निहितं प्रयोजनं यस्य सः अर्थार्थी 'अर्थाच्चासन्निहिते' इति वार्तिकपरिशेषेण 'तदन्ताच्च' इति वार्तिकेन अर्थार्थशब्दात् असन्निहितार्थे इनिः प्रत्ययः । ज्ञानी—ज्ञानं अर्थपंचकज्ञानं सेव्यसेवकभावरूपं भगवदीयसम्बन्धज्ञानं, शांतवात्सल्यदास्यसख्यमधुरेषु कतमस्यैकतमस्य यथाभीष्टं परिपालनविधिज्ञानमस्त्यस्मिन् इति ज्ञानी । च—इत्येवं चतुर्विधाश्चतस्रो विधाः एषां तथाभूताः सुकृतिनः, मद्भजनरूपं सुकृतं अस्ति एषु ते सुकृतिनः । जनाः–जनयन्ति मत्प्रपत्तिं ये ते जनाः । मद्भक्ताः मां भजन्ते आत्मतुष्टये मन्नामरूपलीला-धामसमास्वादनरूपरसनात्मकभजनविषयं मामेव कुर्वते इति भावः । तत्र अर्दति याचते भगवन्तं भयात्त्राणं यः स आर्तः । अर्दधातुर्हि याचनार्थः । 'अर्दगतौ याचने च' भ्वादि ५५ । अतएव कालिदासोऽपि रघुकाव्ये रघुं प्रति—

स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं
शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ।। (रघुवंश ५-१७)

तथाहि—

विभ्यद्रिपुभ्यश्चौरेभ्यः संकटेभ्यस्तथापदः ।
याचमानोऽभयं रामं ब्रह्म सैवार्त्त उच्यते ।। (इति मम)

यथा श्रीभद्रामायणे-विभीषण वाक्यम्—

रावणोनाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः ।
तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः ।।१२ वा०रा०

तेन सीता जनस्थानाद्धृता हत्वा जटायुषम् ।
रुद्धा च विवशा दीना राक्षसीभिः सुरक्षिता ।।१३।।

तमहं हेतुभिर्वाक्यैर्विविधैश्च न्यदर्शयम् ।
साधु निर्यास्यतां सीता रामायेति पुनःपुनः ।।१४।।

स च न प्रतिजग्राह रावणः कालचोदितः ।
उच्यमानं हितं वाक्यं विपरीत इवौषधम् ।।१५।।

सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः ।
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ।।१६।।

चकारद्वयेन इतरसम्बन्धित्यागसंग्रहः, यत्तु मधुसूदनसरस्वतीपादेन विभीषणः अर्थार्थिभक्तः प्रण्यगादि । यथा तत्रैव गीतागूढार्थदीपिकायां—"अर्थार्थी इह वा परत्र वा यद्भोगोपकरणं तल्लिप्सुः । तत्रेह यथा सुग्रीवो विभीषणश्च तत्तु अनधीत-श्रीमद्रारामायणनिगूढप्रसंगमायावादकलुषीकृतनिरस्तभगदीयभाववितथप्रभावसकल्मषभाव-मलीमसमानसतया वान्तमिव सर्वथैवोपेक्ष्यम् ।"

विभीषणस्तु आर्त्तः न तु अर्थार्थी यथोक्तम् अस्मत् प्रातःस्मरणीयै-रभिनववाल्मीकिभिः श्रीचरणैः गोस्वामितुलसीदासमहाभागैः—

रावण क्रोध अनल निज स्वांस समीर प्रचंड ।
जरत विभीषण राख्यौ दीन्हेउ राज अखण्ड ।। मानस ५४६ क

एतद्रूपान्तरम्—

क्रोधानले वै दशकंधरस्य स्वासानलेनापि समिध्यमाने ।
विभीषणं रक्षितवान् ज्वलन्तं प्रदत्तवान् राज्यमखण्डमस्मै ।।

अन्यदपि श्रीमद्रारामायणे युद्धकाण्डे सप्तदशस्य षोडशे—

सोऽहं परुषितस्तेत दासवच्चावमानितः ।
त्यक्त्वा दारांश्च पुत्रांश्च राघवं शरणं गतः ।।

इत्यत्र सामान्यमस्तिष्कोऽपि विभीषणत्यागश्रवणेन नैव तमर्थार्थिनं निश्चेष्यति कि पुनः मधुसूदनसरस्वतीसदृशाः सारस्वताः किञ्च मधुसूदनसरस्वत्या यदार्त्तलक्षणं निगदितं तद् यदि विभीषणे न घटेत तदा नासावार्त्तः। यदि घटेत तदा न स अर्थार्थी। लक्षणतावच्छेकन्नाम लक्ष्यतावच्छेकात्यन्ताभावनिरूपितप्रतियोगितानवच्छेदकम्। तथाहि आर्त्त आर्त्या शत्रुव्याध्याद्यापदा ग्रस्तस्तन्निवृत्तिमिच्छन्। विभीषणोऽपि शत्रुग्रस्तः आपदग्रस्तश्च। यदि भीतो न स्यात् तदा भगवता अभयदानार्थं प्रतिज्ञा कथं क्रियेत यथा—

सकृदेवप्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।। वा०रा० युद्ध १८-३३

ननु राज्यं प्रार्थयमानस्तु बुद्धिपूर्वमिहागतः (वा०रा० ६-१७-६५) इत्यस्मिन् हनुमद्वाक्ये विभीषणस्यार्थार्थित्वं परिलक्ष्यत एव इति चेन्न तत्र कस्य राज्यमिति जिज्ञासायां रामस्य राज्यं प्रार्थयमान आगतः यदि चेत् स्वस्य राज्यं प्रार्थितं स्यात् त्यक्त्वा दाराश्च पुत्रांश्च राघवं शरणं गतः इति वाक्य एव नोपपद्येत। नहि राज्यदारत्यागपुरःसरं केनापि राज्ञा राज्यं प्रार्थ्यते। तस्मात् राज्यमित्यस्य—रामराज्यम् अथ गृहीतमिति कथं चेत् प्रसादरूपेण न खलु शरणागतः प्रसादं तिरस्करोति भरत इव। तस्मात् मधूसूदनसरस्वतीपादप्रोक्तं सर्वथैवानर्गलम्। आर्तो यथा रामचरितमानसे विभीषण एव

श्रवण सुजस सुनि आयहुं, प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि-त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुवीर ।।

मानस-५-४५

एतद्रूपन्तरम्—

श्रुत्वा त्वदीयं सुयशःश्रुतिभ्यां, समागतोऽहं शरणं भवन्तम्।
मां पाहि-पाहि स्वजनार्तिहर्तः, सुखप्रदस्त्वं शरणागतानाम्।।

किञ्च, श्रीरामायणे असकृतविभीषणत्राणात् तदार्तत्वं सुरक्षितमेव। ननु यदि विभीषणो गजेन्द्र इव आर्तः तर्हि रावणावमानसमकालमेव कथं नास्मार्षील्लोक-लोचनाभिरामं राममिति चेत् श्रूयताम्। विभीषणः रावणेन तिरस्क्रियमाणः स्मृतवान् भगवन्तं परन्तु प्रभोः पित्राज्ञानियोगेन यावच्चतुर्दशवर्षं गृहीतपुरग्रामनगर-प्रवेशाभावनियमत्वात् मर्यादापुरुषोत्तमो मर्यादारिरक्षया पुरप्रवेशे नियमभङ्गभीतः

परीतोऽपि दशग्रीवभीषणयातनादावाग्निस्फुल्लिङ्गमालाभिः सहमानोऽपि हृदयविदारं तिरस्कारं भजमानोऽपि विगलितमानमवमानं प्रभोः सङ्कोचमसहिष्णुः सोढ्वापि वक्षसि करालप्रहारं नाहूतवान निजरक्षार्थं लङ्कां रघुकुलकैरवशशाङ्कम् । अतएव भगवतापि विभीषणं मित्रं मन्वानेन अधिवानरसभं सुस्पष्टं समुद्घोषि—

मित्रभावेन संप्राप्तं न त्यजेयं कथंचन ।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम् ।। वा०रा० ६-१८-३

मित्रत्वं नाम पापान्निवारकत्वम्—"पापान्निवारयति योजयते हिताय, इत्यभियुक्तोक्तेः ।" यदि विभीषणो रावणावमानसमये श्रीराघवमाहवयेत् तदा चतुर्दशवर्षं यावत् वनवाससेवनरूपपित्राज्ञापरिपालनसमुल्लंघनेन निष्पापोऽपि हृत्प्रपन्नपरितापो धृतमञ्जुलजटाकलापो भगवान् रामोऽपि पापेन युज्येत । अहो ! गजेन्द्र इव विभीषणो नाभवत्,

नाभवद्द्रौपदीर्वासौ नाभवद्गजराडिव ।
तस्माद्विभूषणं मित्रं राघवस्य विभीषणः ।।

जिज्ञासुर्यथा तत्रैव श्रीलंक्ष्मणः । अधिपञ्चवटीं सीताभिरामं श्रीरामं समस्तमर्थपञ्चकं जिज्ञासते—

एकबार प्रभु सुख आसीना । लछिमन वचन कहे छलहीना ।।
सुर नर मुनि सचराचर साईं । मैं पूछऊँ निज प्रभु की नाईं ।।
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा । सब तजि करौ चरन रज सेवा ।।
कहहु ज्ञान विराग अरु माया । कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया ।।
मानस ३-१४-५-६-७-८

ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल कहउ समुझाइ ।
जाते होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ ।। मानस३-१४

रूपान्तराणि—

एकदा सुखमासीनं रामं राजीवलोचनम् ।
लक्ष्मणो ह्यवदत्वाक्यं छलहीनमतन्द्रितः ।।

सुराणाञ्च नराणाञ्च मुनीनां चिदचिञ्जुषाम् ।
स्वामिनं स्वप्रभुं देवमहं पृच्छामि राघवम् ।।

हे देव ! सर्वमाख्यहि बोधयित्वैव मां प्रभो ।
यथा सर्वं विहायैव सेवेयं पदयो रजः ।।

ज्ञानं कथय वैराग्यं मायां मायापते वद ।
सा भक्तिः कथ्यतां देव यया त्वं दयसे जने ।।

ईश्वरस्य च जीवस्य भेदं विस्तरशो वद ।
यया पदे भवेद्भक्तिः शोकमोहभ्रमो व्रजेत् ।।

इत्यनेनार्थ पञ्चकप्रश्ना: व्याख्याता: । अर्थपञ्चकञ्च

दासभूतस्य जीवस्य त्रिभेदप्रत्यगात्मनः ।
स्वरूपपञ्चैव शेषत्वं ज्ञातव्यं प्रथमं जनैः ।।

चिदचिद्भ्यां विशिष्टस्य ह्यद्वैतस्य परेशितुः ।
शेषित्वञ्च स्वतंत्रत्वं गुणित्वं च द्वितीयकम् ।।

भक्तिप्रपत्तिरूपौ द्वौ प्राप्त्युपायौ धनुर्भृतः ।
भजनं रसनं षोढाः प्रपत्तिश्च तृतीयकम् ।।

विरोधिनी स्वरप्राप्तौ माया वै परमात्मनः ।
तस्याश्च सविकारायाः विज्ञानं स्याच्चतुर्थकम् ।।

श्रीरामदर्शनाह्लादसमुत्थं कामवर्जितम् ।
फलं सामीप्यमित्येतदर्थपञ्चकमुच्यते ।।

अर्थार्थी यथा सुग्रीवः । निहते वालिनि राज्यावाप्तिभगवद्विस्मृतिश्च तमेवार्थं प्रमाणयतः । यथा श्रीमद्रामायणे—

न स सङ्कुचितः पन्थाः येन बाली रणे हतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा बालिपथमन्वगाः ।

ज्ञानी यथा श्रीमदञ्जनानन्दवर्धनो हनुमान् । अतएव मानसे सुन्दरकाण्डे ज्ञानिनामग्रगण्यं... । किञ्च सुवेलशिखरे चन्द्रदर्शनप्रस्तावे सर्वेषु यथामति समुत्प्रेक्ष्यमाणेषु सराघवेषु हनुमता ज्ञानिसमुचितेनेव निगदितम्—

कह हनुमन्त सुनहु प्रभु, शशि तुम्हार प्रिय दास ।
तव मूरति विधु उर बसति सोई स्यामता अभास ।।

मानस ६-१२-क

जगाद रामं हनुमान् शृणु प्रभो।
शशी त्वदीयः प्रियसेवको मतः।
तवैव मूर्तिस्तदुरस्यवस्थिता।
चकास्ति सा श्यामलता शशिन्यथ।

अत्र संग्रहश्लोको मामकीनः।

आर्तस्तु भक्तो दशकन्धरानुजोः।
जिज्ञासुभक्तो रिपुसूदनाग्रजः।।
अर्थार्थिवर्यो रविसूनुरुच्यते।
ज्ञानी हनूमान् रघुनाथसम्मतः।।

एवं श्रीभागवतेऽपि आर्तो गजेन्द्रः। स हि ग्राहाद्भीतः त्राणमिच्छन् भयाकुलो भगवन्तं प्रपन्नः। तद्यथा

इत्थं गजेन्द्रः स यदाऽऽप संकटं प्राणस्य देही विवशो यदृच्छया।।
अपारयन्नात्मविमोक्षणे चिरं दध्याविमां बुद्धिमथाभ्यपद्यत।।
भाग० ८-३-३१

न मामिमे ज्ञातय आतुरं गजाः कुतः करिण्यः प्रभवन्ति मोचितुम्।
ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतोप्यहं च तं यामि परं परायणम्।। ३२।।

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात् प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि।। ३३।।

एवं कृष्णचरितेऽपि इन्द्रमखभंङ्गे व्रजवासिनः श्री कृष्णं प्रति—

अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः।
गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः।। भाग० १०-२५-११

शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः।
वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः।। १२।।

कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो।
त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद् भक्तवत्सल।। १३।।

श्री महाभारते यथा कौरवराजसभायां द्रौपदी—

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्याश्चिंततितो हरिः।

महाभारत सभा प०-६८-४१

ज्ञातं मया वशिष्ठेन पुरागीतं महात्मना।
महत्यापदसम्प्राप्ते स्मर्तव्यो भगवान् हरिः।।

गोविन्देति समाभाष्य कृष्णेति च पुनः पुनः।
मनसा चिंतयामास देवं नारायणं प्रभुम्।।

आपत्स्वभयदं कृष्णं लोकानां प्रपितामहम्।
गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्णगोपीजनप्रिय।।

कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ ब्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धारस्व जनार्दन।। ४२।।

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येवसीदतीम् ।। ४३।।

इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रिभुवनेश्वरम्।
प्रारुददद्‌ःखिता राजन् मुखमाच्छाद्य भामिनी ।। ४४।।

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गत्वरितोऽभवत्।
त्यक्त्वा शय्यासनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात्।। ४५।।

कृष्णं च विष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी।
ततस्तु धर्मोन्तरितो महात्मा
समावृणोद् वै विविधैः सुवस्त्रैः।। ४६।।

एवं जिज्ञासुः एकादशस्कन्धे उद्धवः।

अर्थार्थी तत्रैव ध्रुवः, ज्ञानी विदुरः, चकारात् निष्कामप्रेमवान्। तस्य नैव भजकश्रेणी। स तु भगवतैव भज्यते। श्रीमन्मानसे श्रीभरतः तथैव। प्राह वृहस्पतिः—

भरत सरिस को राम सनेही।
जग जप राम राम जप जेही ।। मानस २-२१८-७

रूपनान्तरम्—

क: स्यात् त्रिलोक्यां रघुनन्दनस्य,
स्नेहस्य पात्रं भरतेन तुल्यः।
जगज्जपत्येतदमुं परेशं,
रामोऽपि यं स्नेहयुतो जजाप।।

कृष्णावतारे यथा श्री ब्रजाङ्गनाः—

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं ब्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्।।
भाग १०-४६-४५

समर्थयते च स्वयमेव शिखपिच्छमौलिः भगवान्—

न पारयेहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विवुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहश्रृंखलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना।।
भागवत १०-३२-२२

अत्रापि मम संग्रहश्लोकः

आर्तो गजेन्द्रो द्रुपदात्मजादयो जिज्ञासवश्चोद्धवमुख्यवैष्णवाः।
अर्थार्थिनश्चैव सुनीतिजादयो ज्ञानीजनःश्रीविदुरश्चतुस्सनाः।।

चकारेण विशुद्धभक्तस्य ज्ञानकर्माद्यनावृतभक्तिमतः परमभागवतशिखामणि-श्रीभरतवज्राङ्गनादीनि संकेतयन्त्यपि श्रीगीता भगवतैव तेषां भजनीयत्वात् भजककौटौ न नामागृहयत इति ध्येयम्। ।।श्रीः।।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि हिज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।। गीता ७-१७

संगतिः—अथ द्वाभ्यां ज्ञानिभक्तं स्तौति। यद्यपि चत्वारोऽिप ममप्रियाः किन्तु तेषां चतुर्णां मध्ये नित्येन सेव्यसेवकभावेन युक्तः, नित्येन प्रत्यगातमभावेन वा युक्तः, नित्यं यथा स्यात् तथा कर्मयोगयुक्तः, नित्ये परमात्मनि आश्रयतया युक्तः, नित्याय परमात्मने युक्तः, तत्प्राप्तये विहितकर्मयोगः योगमेव युक्तं नित्यमविच्छित्रं युक्तः कर्मयोगो यस्य स नित्ययुक्तः। एकस्मिन् मयि परमात्मनि भक्तिः परानुरक्तिर्यस्य स एकभक्तिः। मच्चरणाविन्दानन्यनिष्ठः। एवं भूतः ज्ञानी ज्ञानवान् अपि मम भजमानः

विशिष्यते श्रेष्ठो भवति, विशेषेण यद्वा विशिष्यते, विशेषेण शेषतां नित्यपरिकरतामापाद्यते । हि यतोऽहं परमात्मा सगुणसाकारोऽपि ज्ञानिनः विदितसेवकसेव्यभावभक्तिमतः अत्यर्थमधिकं प्रियः स ज्ञानी मम अत्यर्थमधिकं प्रियः ।।।श्रीः।।

ननु ज्ञानिनो विशेषेऽपि किं त्रयो आर्त्तादयो भवता उपेक्ष्यन्ते इति जिज्ञासायामाह—भगवान् वासुदेवः

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।। गीता ७-१८

यद्यपि सर्वे एते आर्त्तजिज्ञासुरर्थार्थिज्ञानिनः, एवकारोऽप्यर्थम्, चत्वारोऽपि उदाराः औदार्यवन्तः सकामा अपि कष्टम् सहमाना अपि मम विरुदं रक्षन्तो नान्यदेवता याचन्ते । स्वामिप्रतिष्ठारक्षणनिष्ठकुशलसेवकवत् इत्येव तेषामौदार्यम्, तु परन्तु ज्ञानी मे आत्मा एव यतो हि स मामपि न याचते । हिं यतः कर्मयोगयुक्तः आत्मा यस्य स युक्तात्मा नास्ति उत्तमः यस्याः सानुत्तमा तामनुत्तमां गतिम्, गन्तव्यै मामेव आस्थितः आस्थया समाश्रितः अयमेवानन्यः । यथोक्तं श्रीरामचरितमानसे—

राम भगत जग चारि प्रकारा ।
चारिउ सुकृती अनघ उदारा ।।

चहूँ चतुर कह नाम अधारा ।
ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा ।। मानस १-२२-६,७

रूपान्तरम्—

चतुर्विधाः रामभक्ताः जगतीह प्रकीर्तिताः ।
चत्वारो वै सुकृतिनः उदाराः अनघास्तथा ।।

चतुर्णां वै सुकृतिनां अधारो रामनाम हि ।
विशेषस्तु प्रियो ज्ञानी प्रभोः सीतापतेः किल ।।

वस्तुतस्तु चतुर्णामपि प्रकाराणां पार्थ एवान्तर्भावः इत्यसकृदवोचाम । तत्र सीदन्ति मम गात्राणि इत्यादौ आर्त्तः, कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः इत्यादौ जिज्ञासुः, यच्छ्रेयःस्यात् येन श्रेयोहऽमाप्नुयाम इत्यादौ अर्थार्थी । दृष्टवान असि मां यथा इत्यादौ विज्ञानी । यत्तु अशुद्धान्तःकरणतया ज्ञाननिष्ठायां नाधिकारः पार्थस्येति प्रच्छन्नबौद्धैर्विजल्पितं तत् अनर्गलं भक्तोसि मे सखा चेति (गीता ४/३), ज्ञानं तेऽहं

सविज्ञानं (गीता ७/२), ज्ञानं विज्ञानसहितं (गीता ९/१), ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् (गीता १४/१), निष्ठाज्ञानस्य या परा (गीता १८/५०), इति ज्ञानमाख्यातं (गीता १८/६३) इत्यादिवचनैर्भगवतैव खण्डितत्वात्। किं सर्वज्ञशिखामणिर्भगवान् अनधिकारिणे पार्थाय ज्ञानमुपदिष्टं भवेत् ? किं भगवतः सखा पार्थः अशुद्धान्तःकरणः ? किं भक्त्यामामभिजानाति (गीता १८/५५), इति वदतो भगवतो दृष्टौ भक्तोऽर्जुनो नशुद्धान्तःकरणः ? किमशुद्धान्तःकरणः मामभिजानाति इति भगवदीयं वाक्यं चरितार्थयिष्यति इत्यादि विपुलविरोधबहुलतया व्याकुलीकृतः शास्त्रार्थः । तस्मात् परमभागवतशिखामणिं पार्थमशुद्धान्तःकरणं ज्ञानानधिकारिणं प्रलपतां स्वयमेवाशुद्धान्तःकरणता प्रमाणिता चन्द्रमसि न्यूष्ठ्यूतं कृतवतः स्वतएव निष्ठ्यूतारोपवत् ॥श्री॥

संगतिः—अथ प्रपत्तिं स्तौति—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ गीता ७/१९

वासुदेवः सर्वम् इति सुदुर्लभः स महात्मा ज्ञानवान् बहूनां जन्मनामन्ते मां प्रपद्यते इत्यन्वयप्रकारः ।

वासुदेवो वासनात् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम् ।
सर्वभूतनिवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तुते ॥

इति स्मार्तवचनानुसारं वासयति संसारं निजमायावसनेनाच्छादयति यद्वा निजप्रभावस्त्रेण आच्छादयति इति वासुः, उणादयो बहुलम् पा०अ० ३/३/१ इत्यनेन उण् प्रत्ययः दिव्यतीति देवः, वासुश्चासौ देवः इति वासुदेवः, एवंभूतः भगवान् श्रीकृष्ण एव सर्वं, सर्वमिति सप्तम्यर्थे प्रथमा, कथमिति चेत् सर्वस्मिन् वासुदेवः इति विग्रहे सुपां सु-लुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः पा०अ० ७/१/३९ इत्यनेन ङि विभक्तेः सु आदेशः तस्य अतोऽम् पा०अ० ७/१/२४ इत्यनेन अम् भावः । तथाहि सर्वस्मिन् चिदचिदात्मके जगति अन्तर्यामितया व्याप्तोऽहं वासुदेवः इत्येव वाक्यार्थः । इत्यनेन सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छान्दोग्य ३-१४-१) इत्यादि व्याख्यातम् । सर्वम् इत्यस्य सर्वस्मिन् जड़चेतनात्मके जगति इदं ज्ञानिभिः कृतसात्क्षाकारं भग्नयोगमायावर्णं ब्रह्म खलु निश्चयेन इति वाक्यार्थः । ननु अस्मिन् व्याख्याने किं मानमिति चेत्? श्रौतं स्मार्तं चेत्युभयं ब्रूमः । श्रौतं तावत् तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (ऐतरेय १/३)। स्मार्तं तावत् व्याख्यातपूर्वमत्रैव पंचमे अष्टादशे षोढा सप्तमीनिर्देशनं तथा हि

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। गीता ५/१८

किञ्च इदमेव समर्थयामासुः अस्मत् प्रातःस्मरणीयचरणकमलाः श्रीरामानन्द पारम्पर्यपारावारपारदृश्वानः हुलसीहर्षवर्धनाः श्रीमद् गोस्वामितुलसीदासचरणाः—

ज्ञान मान जँह एकउ नाहीं।
दीख ब्रह्म समान सब माहीं।। (मानस ३/१५/७)

रूपान्तरम्—

तज्ज्ञानं यत्र मानाद्या नैवैके सन्ति कर्हिचित्।
दृश्यते येन सर्वत्र समानं ब्रह्म सर्वदा।।

एवभूतः आञ्जनेय इव सुदुर्लभः सुतरां दुःखेन लब्धुं शक्यः सततमेकान्तशीलत्वात्। यथोक्तं सुभाषितरत्नभाण्डागारे—

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने।।

सः सर्वकृतभगवत्साक्षात्कारः महात्मा—महान् बुद्धेः परीभूतः अनात्मकज्ञानवर्जितो मच्चरणारविन्दनित्यकिंकरः बुद्धेरात्मात्मा परो महान्। (क० १-३-१०) इति श्रुतेः। महान् आत्मा अन्तःकरणं यस्य स महात्मा, यद्वा महान् देवाधिदेवपूजितः कृष्णो भगवानहं आत्मनि चेतसि यस्य स महात्मा, मच्चरणारविन्दसनाथमनोमंदिरो ज्ञानवान्। अत्र प्राशस्ते मतुप्। प्रशस्तोऽहं दासो हरिः स्वामीत्याकारकं ज्ञानमस्त्यस्मिन् स ज्ञानवान् अर्थपंचकतत्वज्ञः बहूनां यद्यपि बहु शब्दः स्वयमेव बहुत्वावच्छिन्नवाचकः तद् बहुत्वबोधनाय आमिति बहुबचनप्रयोगः उक्तार्थानामप्रयोगः इति सिद्धान्तेनन्याय्य इति चेत्सत्यं तथापि विभक्ति साधुत्वार्थमेतत् न च ङ्सापि निर्वाह इति चेत् आदरार्थतां द्योतयितुं आम् विभक्तिप्रयोगः। न खलु सर्वत्र वासुदेवदर्शनशीलानां ज्ञानवतां नीचानि जन्मानि भवन्ति। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोभिजायते (गीता ६-४२) इति पूर्वोक्तत्वात्। अतएव बहूनां आदरणीयानां वैष्णवकुलेषु गृहीतशरीराणां जन्मनामन्ते अवसाने अन्तिमे जन्मनि वा मां सर्वसर्वेश्वरं अन्तर्यामिणं महाविष्णुं श्री कृष्णं प्रपद्यते षड्विधशरणागत्या प्रपन्नो भवति भुशुण्डिरिव यथा श्री मानसे सप्तमे—

चरम देह द्विज कै मैं पाई।
अति पावन पुरान श्रुति गाई।। मा ७/११०/३

रूपान्तरम्—

पुराणं श्रुतिभिर्गीतं द्विजस्य चरमां तनुम्।
अत्यन्तं पावनं दिव्यमन्तिमे प्राप्तवानहम्।।

अतएव पाद्मे भगवान्—

कीटेषु कोटिशतजन्मसु मानुषत्वं
तत्रापि कोटिशतजन्मषु ब्राह्मणत्वम्।।
तत्रापि कोटिशतजन्मषु वैष्णवत्वं
तत्रापि कोटिशतजन्मषु मत्परत्वम्।।

अतएव हे धनञ्जय ! तवापि बहूनि जन्मानि व्यतीतानि 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन (गीता ४/५) अतएव वहूनां जन्मनामन्ते त्वमपि मां प्रपन्नो भव इति भगवदभिप्रायः। अथवा बहूनां जन्मनामन्ते सर्वं वासुदेवः इति सुदुर्लभः ज्ञानवान् महात्मा सन् मां प्रपद्यते इत्यन्वयप्रकारः। विभक्त्यर्थस्य आदरणीयार्थत्वेन व्याख्यातचरत्वात् कोटि-कोटिजन्मार्जितसुकृतपरिपाकपरिणामेन सर्वस्मिन् चिदचिदात्मके जगति जगदीश्वरः वासुदेवो विराजते इत्यध्यवस्यन् ज्ञानवान् महात्मा मां शरणमागच्छति। ननु अस्मिन् व्याख्याने किं प्रमाणं इति चेत् ? श्वेताश्वतरश्रुतिरेव प्रमाणं 'मुमुक्षुर्वै शरमहं प्रपद्ये'। श्वे० ६/१८। यत्तु प्राचीनाः बहूनां जन्मनामन्ते मां ज्ञानवान् पपद्यते वासुदेनः सर्व इति सः महात्मा सुदुर्लभः इति किञ्च परिवर्त्यान्वयं कथयन्ति तत् निरर्थकं सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न युज्जते इति वचनात् तस्मिन् अन्वये वाक्यद्वयं अपूर्वतानुपलब्धिश्च ।।श्री।।

संगतिः— ननु जानन्तोप्येवंविधं सकलकल्याणगुणगणकल्लोलिनीवल्लभं सकलसुरमुनिदुर्लभमपि स्वजनसुलभं तत्रभवन्तं भवन्तं भगवन्तं त्यक्त्वा कथमितर-देवताः प्रपद्यन्ते पामराः इत्यपेक्षमाणं प्रपद्यमाने पृथापुत्रं प्राह प्रपन्नप्रेप्स्यचिंतामणिः सकलयुद्धकुलशिरोमणिर्भगवान्—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्यानयताः स्वया ।। गीता ७/२०

तैस्तैः तत् तद् बुद्धिस्थित्वावच्छिन्नैः अनेकविधैः कामैः लिप्साभिः हृतं चोरितं ज्ञानं मदनत्वलक्षमेषाम् एवंविधाः स्वया आत्मीयया नियमरहिताः नियंत्रणातीताः वा क्षणभंगुरनिश्चया इतियावत् तं तं तत् तत् कामानुरूपं अनेकविधं नियमं तत्तत् देवताप्रसादानुरूपानुष्ठानम् आस्थाय आस्थया समाश्रित्यान्यदेवताः मत्तोऽन्यसुरान् इन्द्रादीन् प्रपद्यन्ते शरण्यत्वेन गच्छन्ति । नन्वनेन स्मृतिविरोधः पंचदेवोपासना हि स्मार्ति इति चेत् न । अज्ञातमामकीनाभिप्रायं भवान् पृच्छति मयापंचदेवोपासना न निषिध्यते भगवदतिरिक्त प्रपत्तिरेवात्र निराक्रियते । अन्यप्रपत्तौ को दोषइति चेत् ब्रूमः ।

कामानां फल्गुतान्येषां यतोन्ये क्षणभंगुराः ।
श्रुतेस्तत्रनिषेधोऽपि प्रपद्येत ततो हरिम् ।।

तथा च श्वेताश्वतरश्रुतिः 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहणोति तस्मै तं गुहं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वैर्शरणमहं प्रपद्ये (श्वेताश्तर० ६/१८)'

एतन्मन्त्रार्थः—मुमुक्षुरहं कं शरणं प्रपद्ये इति जिज्ञासमानं प्रति प्राह मातुरपि कोटिगुणितवात्सल्यवती परमकारूणिकी भगवती शाश्वती श्रुतिः यः पूर्वं सृष्टिप्रारम्भे ब्रह्माणं विदधाति प्रतिकल्पादौ स्वनाभिपद्मतः विरिञ्चं चतुर्मुखं सम्भावयति पश्चात् प्रतिकल्पादौ स्वनाभिपद्मभुवे चतुर्मुखाय वेदान् प्रहृणोति ऋग्यजुसामाथर्वणः पाठयति साक्षात् कारयति वा इति प्रतिज्ञारूपेण श्रुत्यक्षराणि समनूद्य मुमुक्षुः प्रतिजानीते ब्रह्मणो जनक प्रतिकल्पं ब्रह्मणे वेदं साक्षात्कारयितारं आत्मा च बुद्धिश्च आत्मबुद्धी ते प्रकाशयति प्रत्यगात्मबुद्ध्योरपि प्रकाशकारणं तमेव देवं श्रीरामाख्यं परब्रह्म, ममुक्षुः मोक्तुमिच्छुः अहं साधकः तं देवम् अनन्तकोटिभास्करसदृशप्रकाशं शरणम् आश्रयं प्रपद्ये । इतरदेवानां ब्रह्मणो जनकत्वाभावात् तस्मै च वेदसाक्षात् कारयितृत्वाभावात् यत्तदोर्नित्यसापेक्षत्वात् भगवदतिरिक्तस्मार्त्तदेवानां प्रपतिः श्रुत्यैव निरस्ता इत्यलमतिप्रपञ्चितेन ॥ श्रीः ॥

ननु निजभक्तमपि भगवान् कथं नान्यदेवोपासनातः प्रतिषेधति इत्यत आह द्वाभ्यां—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। गीता ७/२१

यः यः भक्तः यां यां तनुं मच्छरीरभूतां देवतां श्रद्धया श्रुतिविहितत्वेन निर्धिनिर्वाहप्रयोजनः गृहीतास्थया न तु कयाचित् फललिप्सया अर्चितुमिच्छति पूजयितुमभिलषति तस्य तस्य भक्तस्य तामेव तत् तत् देवताविषयिणीम् अचलां श्रद्धां

निश्चलां आस्तिकबुद्धिम् अहं वेदरूपः विदधामि विधियुक्तां अनुजानामि । समस्तदेवतानां मत्तनुत्वेन न ताभ्यः प्रतिषेधामि ।।श्रीः।।

अथ साधकः किं कुर्वते ? इत्यत आह

स तया श्रद्धया युक्तस्तयाराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।। गीता ७/२२

स भक्तः तया मद्विहितया श्रद्धया आस्तिकबुद्ध्या युक्तः तस्य मद्विभूतिभूतस्य देवस्य इन्द्रादेराराधनम् अर्चनम् ईहते घटते तथा च मयैव विहितान् मयैव वेदात्मना तत्तन्मन्त्रेषु विहितान् कथितान् कामान् भौतिकान् इच्छाविषयपदार्थान् तत्परिगणितान् एवं ततः मदन्याभ्यो देवताभ्यो लभते प्राप्नोति । नत्वनन्तान् देवानां सावधिकत्वात् कामानां शान्तत्वाच्च । ।।श्रीः।।

ननु भवतस्तनुत्वे देवतानां प्रपत्तौ विप्रतिपत्तिः का ? इति चेत् उच्यते— विधिनिर्वाहार्थं निष्कामभावनया पूजने भगवद्विभूतिबुद्ध्या नहि काचिदपि किन्तु सकामभावनया पूजने फलानामल्पीयस्त्वात् साधनायां व्यत्यासः इममेवार्थं स्पष्टयति—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।। (गीता ७/२३)

तु किन्तु अल्पा मेधा येषां ते अल्पमेधसः तेषाम् अल्पमेध्साम् "नित्यमसिच्प्रजा- मेधयोः" पा० अ० ५-४-१२२ इत्यनेन असिच् स्वल्पबुद्धीनाम् तेषाम् तत् मदतिरिक्तदेवाराधनजनितं फलं अन्तवत् विनाशशीलं सावधि भवति अन्तशब्दस्य सीमाविनाशयोर्वृत्तेः । देवान् यजन्ते ते देवयजः कर्तरि क्विप् मदतिरिक्तदेवपूजकाः देवान् स्वस्वाराध्यान् यान्ति । माम् भजन्त इति मद्भक्ताः । बाहुलकात् कर्मणि भूते क्तः । मद्भजनशीलाः 'अपि' निश्चयेन 'मां यान्ति' प्राप्नुवन्ति । देवयजां देवप्राप्तौ कदाचित् सन्देहः किन्तु मद्भक्तानां मम प्राप्तौ नैवेत्यपेर्हार्दम् ।।श्रीः।।

अथ कथं सर्वदेवमयं भवन्तं त्यक्त्वा जना इन्द्रादीन् प्रपद्यन्ते इत्यत्त आह—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।। २४ ।।

मम वासुदेवस्य भगवतः परं श्रेष्ठं नास्ति उत्तमं यस्मात् तदनुत्तमम् एवंभूतं भावं सर्वसामर्थ्यरूपं सकलजनवत्सलं त्रिकालसत्यं भावम् अजानन्तः अविद्वासः अतएव नास्ति बुद्धिरेषाम् ते अबुद्धयः बुद्धिरहिताः अव्यक्तम् प्राकृतेन्द्रियागोचरं मां सगुणसाकारं श्रीकृष्णं व्यक्तिमापन्नं मानवशरीरप्राप्तं सामान्यजीवं मन्यन्ते । अतएव मयि जीवबुद्धिं कुर्वन्तः अन्यदेवताः भजन्ते ॥श्रीः॥

किंच सकलेन्द्रियगोचरं मां व्यक्तिमापन्नं कर्मबन्धं संसारिणं मत्वैव मत्तः श्रेयसीं देवतां प्रपद्य लोकोऽयं मां अवजानाति शिशुपालादिरिव अत आह,

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।। (गीता ७-२५)

योगः अघटितघटना तस्मै माया इति योगमाया । अघटितघटनापटीयसी भगवतः काचिद् ज्ञानवलक्रियात्मिका शक्तिः तथा योगमायया समावृतः गृहीत-लीलावपुरहं भगवान् कृष्णः सर्वस्य जनस्य न प्रकाशः प्रकाशते इति प्रकाशः तादृशः नयनगोचरो न भवामि । अतएव अयं सामान्यो मूढः लोकः मम मायामोहितो जनः अव्ययं विनाशरहितम्। अजम् जन्मरहितं परमेश्वरं न जानाति दुर्योधनादिरिव इति भगवतोऽनुक्रोशः । "ये मां प्रपद्यन्ते त एव मायामिमां तीर्त्वा एतस्यावरणं दूरीकुर्वन्ति त एव मां जानन्ति । तस्मात् मत्पदपद्मप्रपत्तिरेव श्रेयः इत्युपदेशार्थः ॥श्रीः॥

अथ किं भवान् सर्वान् जानाति ? इत्यत आह,

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।। (गीता ७-२६)

हे अर्जुन ! अहं तव सखा भगवान् कृष्णः समतीतानि बहुभ्योऽपि कल्पेभ्यः पूर्व भूतानि सम्यगतीतानि च तथा वर्तमानानि वर्तमानेऽपि धृतशरीराणि अनन्तानि भूतानि च तथा यद्वा चकारोऽप्यर्थः भविष्याण्यपि अनागतानि भूतानि वेद जानामि मम कृते भूतभविष्यतोरभावात् निसर्गसिद्धसर्वज्ञत्वधर्मावच्छिन्नत्वात् । तु परन्तु, कश्चन कोऽपि मद्विमुखः मां न वेद न जानाति । अथवा कः ब्रह्मा चकारः अप्यर्थः, नकारद्वयं दृढत्वार्थम् । ब्रह्मा अपि मां न वेद न वेद इति वाक्यार्थः ॥श्रीः॥

ननु जीवो भवन्तं कथं न जानाति तं हेतुं स्पष्टयति,

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ।। (गीता ७-२७)

भरतेषु भवः भारतः तत्सम्बोधने हे भारत । हे परन्तप । शत्रुनाशक सर्वभूतानि मत्प्रपत्तिरहिताः सर्वे जीवाः सर्गे निजजन्मकाले इच्छा च द्वेषश्च इच्छाद्वेषौ ताभ्यां समुत्तिष्ठति इति इच्छाद्वेषसमुत्थः तेन इच्छाद्वेषसमुत्थेन कंचित् प्रतिलिप्सा कंचन प्रति द्वेषः । किंचिद् अनुकूलं किंचिंद् प्रतिकूलं तयोरिच्छाद्वेषयोः परिणामभूतत्वेन द्वन्द्वानां सुखदुःखात्मकानां युग्मानां भावानां मोहेन अविवेकेन हेतुभूतेन सम्मोहं मद्विस्मरणात्मकं अज्ञानं यान्ति । अहं तु निजजन्मकालेऽपि निरस्तइच्छाद्वेष-समुत्थद्वन्द्वमोहत्वात् सम्मोहं न व्रजामि । अतः सर्वान् जानामि । यथा श्रीरामावतारे मद्रूपदर्शनेन भ्रान्तचिन्तां मातरं कौसल्यामबोधयं तथा च श्री मानसे,

ब्रह्माण्डनिकाया निर्मितमाया रोम रोम प्रति वेद कहै
मम उदर सो वासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै
उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत विधि कीन्ह चहै
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै !
(रा० च० मा० १७२-३)

एतद् रूपान्तरम्—

अनन्तब्रह्माण्डं तव लसति मायाविरचितं
यथास्थानं भूम्नो निचितमनघं रोमविवरे ।
स हृदयं देवो वसति मम गर्भे श्रुतमिदं
ह्यसंख्ये यान् धीरान् चलयितुमलं हासविधुरान् ।।
यदा ज्ञानं जातं निजसरसलीलाविकलनं
तदा रामो रम्यो विहसितमुखोऽभूत् स्वकृपया ।
तिरोधानं चक्रे विभवमथ पूर्वां निजकथां
वदन् प्रेमोदृक्तां विगलितभयां चापि जननीम् ।।

श्रीकृष्णावतारेऽपि देवकीसमक्षं मां ज्ञानं यथावदासीत् । यथा तत्र भागवते,

त्वमेव पूर्वसर्गे भूः पृष्णीः स्वायंभुवे सती ।
तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः ।। (भा० १०-३-३२)

तस्मात् शरीरत्यागकाले भयंकरक्लेशात् पूर्ववासनावशात् नरकयातनातः विस्मृतज्ञानाः जीवाः सर्वं पौर्वकालिकं विस्मरन्ति । अतएव श्री भागवते- 'किं किं

न विस्मरन्तीह मायामोहित चेतसः' भगवान् खलु परमेश्वरः मायाक्लेशकर्म-विपाकाशयैः अपरामृष्टस्वभावात् नरकान्तकत्वात् सर्वं स्मरति इति हार्दम् । ।।श्रीः।।

अथ के भवन्तं स्मरन्ति के वा कदाचिदपि श्री चरणं न विस्मरन्ति ? इत्यत आह भगवान्—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।। (गीता ७/२८)

तु परन्तु पुण्यानि कामनावर्जितानि मन्निमित्तानि कर्माणि श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तानि येषां ते पुण्यकर्माणः तेषां पुण्यकर्मणां येषां महाभागवतानां जनानां पापं मद्भजनप्रतिवंधकप्रत्यवायविशेषः अन्तगतं अन्तं विनाशं गतं प्राप्तं ते द्वन्द्वानां मोहात् निर्मुक्ताः सुखदुःखात्मकेषु समभावाः दृढं न केनापि निवारयितुं शक्यं व्रतं प्रपत्तिलक्षणं येषां ते दृढव्रताः, ध्रुवप्रह्लादादय इव भजन्त मां भजन्ते परमानुरक्तिविषयं कुर्वन्ति पापवद्भ्यो हि मम भजनं न रोचते यथोक्तं श्री मानसे—

पापवंत कर सहज सुभाऊ ।
भजन मोरतेहि भाव न काऊ ।। मानस ३/४४/३

रूपान्तरम्—

निसर्गः सहजो ह्येष पापिनो वानरर्षभ ।
तस्मै मदीयं भजनं कदापि नहि रोचते ।। श्रीः ।।

अथ पूवोक्तं निगमयति द्वाभ्यां—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।।
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।
(गीता ७-२९,३०)

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण जरामरणलुप्तस्मृतयो वेदनलक्षणां मम उपासनां न कुर्वन्ति । अतएव ताभ्यां मोक्षः सुतराम् आवश्यकः स च मदधीनः । तस्मात् ये मां परमात्मानम् आश्रित्य अनन्यशरणागत्या प्रपद्य जरावृद्धावस्था मरणं मृत्युं मोक्षो मुक्तिः जरा च मरणञ्च जरामरणे ताभ्यां मोक्षः जरामरणमोक्षः तस्मै जरामरणमोक्षाय ।

वार्धक्यमृत्युविमुक्तये ये यतन्ति प्रयतमानाः भवन्ति ते तद्ब्रह्म कृत्स्नं सम्पूर्णमध्यात्मं अखिलं सकलमपि खण्डरहितं कर्म विदुः जानन्ति । अधिभूतञ्च अधिदैवञ्च अधिभूताधिदैवे ताभ्यां सह वर्तमानः साधिभूताधिदैवः तं साधिभूताधिदैवम् । यज्ञानां अधिष्ठाता इति अधियज्ञः एवं अधिभूताधिदेवाधियज्ञसहितं मां ये विदुः ते मयि युक्तानि चेतांसि येषां तथाभूताः युक्तचेतसः मदनन्यमनसः प्रयाणकाले शरीरत्याग-समयेऽपि मां विदुः जानन्ति उपासते च । यथा श्रीमद्भागवते भीष्मः—

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि,
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ।

(भाग १/९/३२)

एवमत्र भगवता पार्थाय उपेयस्वरूपाङ्गभूतत्वात् सकलोपायचूड़ामणिं प्रपत्तिमेव व्याख्याय उपेयतया ब्रह्माध्यात्मकर्मणाम् अधिभूताधिदैवयज्ञानां प्रयाणकालेपि निजस्य विज्ञेयता स्पष्टमुक्ता इमान्येव प्रश्नबीजानि सप्त पार्थेनाग्रिमेऽध्याये एकेन स्वेन सह प्रश्नविषयीकरिष्यन्ते ।।श्रीः।। इति श्री चित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामा-नन्दाचार्यस्वामिश्रीरामभद्राचार्यप्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासु ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।

सप्तमोऽयं मयाध्यायो प्रपत्तेर्योग उत्तमः ।
उपायो भगवत्प्राप्तेः व्याख्यातः प्रीतये हरेः ।।

सम्पूर्णोऽयं सप्तमोऽध्यायः ।





''श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्''

श्रीमद्भगवद्गीतासु

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-कवितार्किकचूडामणि-वाचस्पति-
जगद्गुरुरामानन्दाचार्य-स्वामि-रामभद्राचार्य-प्रणीतं,
श्रीमज्जगद्गुरु-रामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि-
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादकश्रीराघवकृपाभाष्यम् ।।

उपासनाकाण्डात्मकं तथा ज्ञानकाण्डात्मकञ्च



"श्रीमद्राघवो विजयते"
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

सप्तमोऽध्यायः

मंगलाचरणं

जगत्यखिलजन्तुषु प्रथितचेतनश्चेतनो
हरन्नघमघौघहं पदपयोरुहं पावनम् ।
सतां शरणदस्सदा शुभमुपेयुषां विद्विषा-
मरिर्हरिहरार्चितो जनकनन्दिनीवल्लभः ।। १ ।।

सामान्यर्थ— सम्पूर्ण प्राणियों में जिनकी चेतना प्रसिद्ध है क्योंकि जीवात्मा को परमात्मा से ही चेतना मिली है ऐसे चेतनाघन तथा समस्त पापों को नष्ट करने वाले, शुभ तथा पावन पद कमल की शरण लेने वाले संत पुरुषों के शरदाता एवं उनके पापहारी रावण आदि ब्राह्मण द्रोहियों के शत्रु विष्णु एवं भगवान शंकर द्वारा भी पूजित जनक नन्दिनी श्री सीता जी के पति भगवान श्री राम की जय हो, जय हो ।

नमामि यदुसत्तमं नवलकञ्जकन्दोपमं,
प्रपीतदयिताधरं गिरिधरं सुगीताधरम् ।
पुराणपुरुषोत्तमं सुभगसात्वतामुत्तमं,
धनञ्जयसखं सदा परममीश्वरं जित्वरम् ।। २ ।।

सामान्यार्थ— मैं यदु कुल में श्रेष्ठ, नीले कमल एवं बादल के समान श्री विग्रहवाले, ब्रजाङ्गनाओं के अधरामृत के पान में निरत, पुराण पुरुषोत्तम, श्रेष्ठ वैष्णवों के अन्धकार को दूर करने वाले, विजयशील, गोवर्धन को भी उठाने वाले, परमेश्वर, अर्जुन के मित्र भगवान श्रीकृष्ण को प्रणाम करता हूँ ।

जयत्यनघसेविता परमहंसहृद्भाविता,
भवव्यतिकरार्दिनी सुजनचेतसां चन्दिनी ।
मुकुन्दमुखमाधुरी द्रुततुरीयगीश्चातुरी,
हतप्रणतकातुरी श्रुतिधुरीह गीता हरेः ।। ३ ।।

सामान्यार्थ— निष्पाप महापुरुषों द्वारा सेवित एवं परमहंसों के हृदय में सम्मानित तथा संसार के विघ्नों को नष्ट करने वाली एवं सज्जनों के चित्तों को आनन्द देने वाली, भगवान श्री कृष्ण के मुखारविन्द की मधुरता से युक्त, तथा द्रवीभूत तुरीय चैतन्य भगवान श्रीकृष्ण की वाणी की चतुरता से युक्त, तथा प्रणत जनों की कुत्सित आतुरता को दूर करने वाली, वेद के अन्त अर्थात् वेदान्त भाग में स्थित भगवान श्री कृष्ण के द्वारा गायी हुई श्रीमद्भगवत् गीता की जय हो, जय हो ।

संगति— छठें अध्याय में 'त्वम्' पदार्थ के लक्ष्यभूत स्वस्वरुप प्रत्यगात्मतत्व का विवेचन करते हुए योगीश्वर भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अध्याय के अन्तिम श्लोक के तृतीय चरण से और द्वितीय चरण में स्थित मद्गतेन शब्द से जीव के लक्ष्य रूप "तत्" पद का संकेत किया है । तो वहाँ शंका यह होता है कि 'तत्' पदार्थ क्या है ? उसका लक्ष्यतावच्छेदक क्या है ? वह तटस्थ है या निकटस्थ, उसके पाने का उपाय क्या है ? उस उपाय का स्वरुप क्या है ? वह सापेक्ष है या निरपेक्ष, यदि सापेक्ष है तो किसके सापेक्ष है ? यदि कहें कि पहले कहे हुए ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग के तो इन दोनों में वह किसमें प्रतिष्ठित है । यदि निरपेक्ष है तो उसका क्या स्वरुप है ? इन सब अर्जुन की अनेक जिज्ञासाओं का समाधान करने के लिए भगवान उपक्रम करते हैं । यद्यपि अर्जुन ने भगवान से बाहर कुछ नहीं पूँछा परन्तु अन्दर सब कुछ पूँछ लिया । इस प्रकार भावी उद्देश्यों का दर्शन करके भगवान ने द्वितीय षट्क में विशुद्ध भक्ति शास्त्र के निरूपण का उपाय किया है । इस षट्क के मंगलाचरण के रूप में भगवान नाम संकेतक वाक्य को संजय धृतराष्ट्र के प्रति और वैशम्पायन जनमेजय के प्रति अवतारित करते हैं ।

श्री भगवानुवाच

संगति— नित्य श्री सम्पन्न समग्रतया ऐश्वर्य, धर्म, यशः श्री, ज्ञान एवं वैराग्य के निधान तथा निरतिशयज्ञान, अतुलनीय बल, अव्याहत ऐश्वर्य, सर्वशक्ति, अनभिभवनीय तेज, एवं अप्रधर्षणीय वीर्य से समयुक्त एवं हेय गुणों से निर्मुक्त मुक्त महानुभावों के आश्रय सर्वसर्वेश्वर भगवान श्रीकृष्ण बोले—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।। ७।१

सामान्यार्थ — हे पृथापुत्र अर्जुन ! मुझ सगुण साकार निरतिशय कल्याण गुणगण निलय परमात्मा भगवान कृष्ण में जिसका मन आसक्त हो चुका है, अतः जिसने मुझे ही अपना आश्रय मान लिया है ऐसे तुम अर्जुन निःसन्देह रूप से मुझ परिपूर्णतम परब्रह्म परमात्मा को जिस प्रकार से अर्थात् जिस उपाय का अनुष्ठान करके जानोगे अर्थात् अपने

स्वामित्य रुप में निश्चित स्वीकार करोगे वह प्रकार अर्थात् मेरी प्राप्ति का उपाय सावधान होकर सुनो ।

व्याख्या— यद्यपि कोष के अनुसार "भग" 'शब्द' काम, श्री और महात्म इन तीन अर्थों में प्रसिद्ध है इसलिए भगवान शब्द में ही 'श्री' शब्द का अन्तर्भाव हो जाता है। तथापि यहाँ भगवान की निर्व्याज करूणा कल्लोलिनी को सिद्ध करने के लिए 'श्री' शब्द का प्रयोग किया गया है । इस मध्यम षट्क में छह शरणागतियों से प्राप्त भगवती भक्ति का वर्णन किया गया है । इसी अभिप्राय से यहाँ षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान शब्द का प्रयोग हुआ । यहां पार्थ शब्द भी बडा महत्वपूर्ण है । "प्रथयति भक्तिमहिमानं या सा पृथा तस्याः अपत्यम् पुमान पार्थः' तत्सम्बुद्धौ हे पार्थ ! अर्थात् तुम मेरी शक्ति महिमा की परम प्रचारिका पृथा के पुत्र हो । इसलिये तुमसे भक्ति रहस्य कहने में कोई संकोच नहीं होगा । अथवा भगवान द्वितीय षट्क का प्रारम्भ कर रहे हैं । अतः मंगलाचरण के रूप में पार्थ शब्द के व्याज से पृथा का स्मरण करते हैं पृथा पञ्च कन्याओं में चतुर्थ हैं । जिनके स्मरण से महापातक भी नष्ट हो जाते हैं । जैसे- अहिल्या मन्दोदरी तारा कुन्ती द्रौपदीस्तथा। पंचकन्या स्मरेन्नित्यं महापातक नाशनम् ॥

अत्र भगवान उन्हीं कुन्ती का स्मरण कर रहे हैं जिन्होंने समस्त विपत्तियों के विश्राम स्थान कुटिल कुन्तल भगवान से विपत्ति ही मांगी ।

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगदगुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भव दर्शनम् ।। (१/८/२५)

अर्थात हे प्रभु ! हमें सर्वत्र विपत्तियां ही दें उन्हीं से हमें आपके दर्शन होते रहेंगे। ऐसी कुन्ती का स्मरण मंगलमय है । यहाँ ध्यान रहे कि श्री गीता भक्ति शास्त्र है इसीलिए गीता जी में अनेक बार अर्जुन को पार्थ शब्द से सम्बोधित किया है । 'मयि' मुझ सगुण परमात्मा में 'आसक्त मनः' अपने मन को आसक्त कर लो आसक्ति ही वैष्णव शास्त्र में परमभक्ति कही गयी है । यद्यपि शंकराचार्य ने स्वस्वरुपानुसाधनं भक्तिरित्य भिधीयते" विवेक चूड़ामणि यहां 'स्व' शब्द के चार अर्थ कहे गये हैं आत्मा आत्मीय ज्ञाति और धर्म । यहाँ चारो ही संगति हो जायेंगे । आत्मा पक्ष में आत्मापद भगवान का वाचक है । 'स्व' अर्थात् आत्मा के वाच्य परमात्मा उनके स्वरुप का चिन्तन ही भक्ति है । अथवा 'स्व' का अर्थ है आत्मीय, जीव मात्र के आत्मीय भगवान ही है । उनके नाम रूप, लीला, धाम का चिन्त न अथवा भगवान के नाम का जप, भगवान के रूप का ध्यान, भगवान की लीलाओं का गान और भगवान के धाम में स्थान यही भक्ति है । इसीलिए शंकराचार्य ने चर्पटपंजरिका में गोविन्द के भजन का विधान किया है । जैसे- गेयं गीता नाम सहस्रं

ध्येयं श्रीपतिरुप महिम्नं । देयं दीन जनाय च वित्तं नेयं सज्जन सङ्गे चित्तम् भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दंभज मूढ़मते ॥

अस्तु श्री रामानुजाचार्य चरणों ने स्नेह पूर्वक भगवान के अनुध्यान को शक्ति माना है । "अनुध्यान" शब्द यहाँ सतत् स्मृति का वाचक है । किन्तु जगद्गुरू श्रीमदाद्य रामानन्दाचार्य के मत में भगवान के श्री चरण कमलों में परम आसक्ति ही भक्ति है ।

आसक्तिः परमा भक्तिः सीतापतिपदाम्बुजे ।
रामानन्दमतेनैव सर्ववेदानुमोदिता ।।

इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास ने श्री राम चरितमानस के अन्त में प्रार्थना करते हुए कहा—

कामिहिं नारिपियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ।।
(भा० ७/१३० ख)

गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका में और विस्तार से कहा है—

राम कबहुँ प्रिय लागिहौं जैसे नीर मीन को
सुख जीवन ज्यों जीव को, मनि ज्यों फनि को,
हित ज्यों धन लोभ-लीन को ।।
त्यों मेरे मन लालसा करिए,
करूनाकर पावन प्रेम पीन को,
मनसा को दाता कहैं श्रुतिप्रभु प्रवीन को ।
तुलसीदासको भावतो बलि जाऊँ,
दयानिधि दीजै दान दीन को ।।
(विनय पत्रिका २६९)

देवर्षि नारद ने आसक्ति को ही परमभक्ति माना है । जैसे- गुण महात्म्या- सक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, वात्सल्यासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, नित्तकान्तासक्ति, आत्मानिवेदनासक्ति, तनमयतासक्ति, परमविरहासक्तिरूपा एकादशधाप्येकधा भवति (ना०भ० ८२) इस प्रकार गीता ७/१ में प्रयुक्त आसक्त पद इसी आसक्ति की ओर संकेत कर रहा है । हे अर्जुन! अपने मन को मुझ में आसक्त करो। "मदाश्रयः" संसार के सभी आश्रयों को छोड़कर मुझी को आश्रय मान लो ।

इसी प्रकार 'योगं' निष्काम कर्म योग करते हुये 'असंशयं' यहाँ अर्थाभावः में अव्ययीभाव है । संशायस्य अर्थाभावः असंशयम् । अथवा असंशयं द्वितीयान्त बन कर भगवान् का विशेषण है । अर्थात् भगवान् कहते हैं कि— तुम ससंशय हो और मैं असंशय हूं । यथा- यहाँ प्रकार वचन में थाल् प्रत्यय हुआ है । 'प्रकार वचने थाल' पा०अ०५/३/२३ अर्थात जिस प्रकार से तुम मुझे जानोगे तच्छृणु वह उपाय सुनो! यहाँ भगवान् अपनी प्राप्ति का उपाय बता रहे हैं ।

संगति — अब भगवान जनार्दन अपने वक्तव्य विषय की प्रतिक्षा करते हैं-

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।। ७/२

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ — हे अर्जुन मैं परमात्मा श्री कृष्ण तुम्हारे लिए विज्ञान के सहित यह ज्ञान पूर्ण रूप से कहूँगा । जिसे जानकर इस संसार में कुछ भी जानने योग्य नहीं रह जाता ।

व्याख्या—स्वस्वरूप और परस्वरूप का यथार्थ बोध ही ज्ञान है । चिदचिद् के साथ परमात्मा का विशेष्य विशेषण बोध विज्ञान है । "विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं" 'यत्' जिस विज्ञान सहित ज्ञान को जानकर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता । वह अशेषतः पूर्ण रूप से कहूँगा । अंशतः नही । ।।श्री।।

संगति—यह ज्ञान सर्व साधारण के लिए सुलभ नहीं है । यही बात भगवान अगले श्लोक में कह रहे हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।। ७/३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! सहस्रों मनुष्यों में से एक मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है । मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करने वाले सभी साधकों में कोई एक मुझे तत्त्व से जानता है ।

व्याख्य— यहाँ सहस्र शब्द अनन्त का वाचक हैं । 'यतति' शब्द अनुदात्तेत्त्व लक्षण आत्मनेपद की अनित्यता से परस्मैपद में प्रयुक्त हुआ है । इसीलिए 'यततां' यह परस्मैपदमूलक शतृ प्रत्यय से ही बनकर सिद्ध होता है । तत्वतः का तात्पर्य है कि कोई ही मुझे तत्त्व से जानता है । जैसे गोस्वामी तुलसीदास जी रामचरितमानस में कहते हैं—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोऊ एक होइ धर्म व्रतधारी ।
धर्मशील कोटिक महँ कोई । विषय विमुख विराग रत होई ।।

हे त्रिपुरारि! सुनिये हजारों मनुष्यों में कोई एक धर्म के व्रत का धारण करने वाला होता है, और करोडों धर्मात्माओं में कोई एक विषय से विमुख (विषयों का त्यागी) और वैराग्य परायण होता है । ॥१॥

कोटि विरक्त मध्यश्रुति कहई । सम्यक् ज्ञान सकृत कोउलहई ।
ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ । जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ ।।

श्रुति कहती है कि करोड़ों विरक्तों में कोई एक सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान को प्राप्त करता है । और करोड़ों ज्ञानियों में कोई एक ही जीवनमुक्त होता । जगत् में कोई विरला ही ऐसा (जीवनमुक्त) होगा ॥२॥

तिन्ह सहस्त्र महँ सब सुखखानी । दुर्लभ ब्रह्मलीन विग्यानी ।
धर्मशील विरक्त अरु ज्ञानी । जीवनमुक्त ब्रह्मपरप्रानी ।।

हजारों जीवनमुक्तों में भी सब सुखों की खान ब्रह्म में लीन विज्ञानवान् पुरुष और भी दुर्लभ है । धर्मात्मा, वैराग्यवान, ज्ञानी, जीवनमुक्त और ब्रह्मलीन- ॥३॥

सब ते सो दुर्लभ सुरराया । राम भगति रत गत मद माया ।।

इन सब में भी हे देवाधिदेव महादेव जी । वह प्राणी अत्यन्त दुर्लभ है जो मद और माया से रहित होकर श्रीराम जी की भक्ति के परायण हो । (मानस-७/५४/१-७)

इसलिए तुम सहस्त्रों मनुष्यों में एक बनकर मेरी भक्ति पाने का प्रयास करो ॥

संगति — अब भगवान प्रकृति प्राप्त चिदचिद् विवेकके साथ ब्रह्म विवेक की चर्चा कर रहे हैं । उनमें सबसे पहले अचिद् की चर्चा है । जीव के भोग का उपकरण जड़ पदार्थ ही अचिद् है । वह आगे कही जाने वाली भूमि आदि प्रकृतियों का विकार है । उससे अतिरिक्त पराप्रकृति कहा जाने वाला जीव है । ये दोनों भगवान के विशेषण हैं। और भगवान इन्हें भिन्ना और परा प्रकृति के नाम से कहते हैं । "में भिन्ना प्रकृति:" गीता ७/४ "प्रकृतिं वद्धि मे परां " गीता ७/५ इन दोनों स्थलों में 'षष्ठ्न्त मे ' शब्द का प्रयोग हुआ है । 'षष्ठ्यन्त षष्ठी सम्बन्ध में होती है और षष्ठ्यन्त विशेषण होता है, इस प्रकार दोनों ही प्रकृतियां भगवान की विशेषण और सम्बन्धिनी हैं । यहां भिन्ना प्रकृति: अचिद् तत्व है तथा परा प्रकृति चितत्व और दोनों से विरक्त और विलक्षण अद्वैत तत्व भगवान् श्री सीताराम जी हैं । इस प्रकार श्री सीताराम विशिष्टाद्वैतत्व ही जगद्गुरु श्री मदाद्यरामानन्दाचार्य जी दार्शनिक आम्नाय है । इसी रहस्य को स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो-वायुः खं मनो-बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।। ७/४

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन! भूमि, जल, अग्नि, वायु आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार इस प्रकार आठ विधाओं वाली यह मेरी भिन्ना प्रकृति है—

व्याख्या—जिसमें "अलम्" अर्थात् प्रर्याप्ति नहीं होती जो भी डालो जला देता है उसी अग्नि को अनल कहते हैं। संकल्पात्मक अन्तःकरण को मन कहते हैं व्यवसाय अर्थात् निश्चयात्मक अन्तःकरण को बुद्धि कहा जाता है अभिमानात्मक अन्तःकरण ही अहंकार है। चित्त का मन में ही अन्तर्भाव है। 'भिन्ना" अर्थात् यह जड़ होने से मुझसे भिन्न है। मे मेरी विशेषण है।

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं कि प्रभो! क्या इससे भी भिन्न आपकी कोई प्रकृति है ? इस पर प्रकृतीश्वर भगवान कहते हैं -

अपरिमेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। ७/५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे महाबहो अर्जुन! आठ भेदों वाली यह दृश्यमान प्रकृति अपरा अर्थात् बहिरंग है। किन्तु इससे विलक्षण मेरी परा प्रकृति ही जानो, जीव ही जिसका स्वरूप है तथा जिसके द्वारा यह अचित् तत्वात्मक जगत् धारण किया जा रहा है।

व्याख्या— भगवान् कहते है भूमि आदि आठ भेदों वाली यह प्रकृति अपरा है। 'अः वासुदेवः परं विशेष्यं यस्याः' सा अपरा। अर्थात् अकार का वाच्य मैं वासुदेव ही 'पर' जिसका विशेष्य हूँ, वही यहाँ अपरा कही गयी है। अचित होने पर भी यह मेरा विशेषण है किन्तु इससे अन्य एक मेरी 'परा' प्रकृति है। परः अस्ति अस्याः। मैं परब्रह्म जिसका विशेष्य हूँ। उसका स्वरूप क्या है ? इस पर कहते है 'जीवभूतां' यहाँ 'भूत' शब्द स्वरूप के अर्थ में प्रयुक्त है। जीवः भूतं यस्याः सा ताम्। अर्थात् उसे 'परां' प्रकृतिं विद्धि उसी को मेरी अन्तरङ्ग प्रकृति समझो। वह करती क्या है ? इस पर कहते हैं ययेदं। जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है। जगत् का तात्पर्य यह है— जायते गच्छतीति जगत्। अर्थात् जो जन्म लेता है और मरता है उसे जगत् कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मुझमें और मेरी परा प्रकृति में जन्म-मरणादि परिणाम नहीं होते। परिणाम अचित् तत्वात्मक जड़ जगत् के हैं। किन्तु वह मेरा विशेषण है इसलिए मुझ में परिणामवाद व्यवहृत होता है। जैसे दण्ड के नष्ट होने पर दण्डनष्ट कहा जाता है।

संगति— इस प्रकार भगवान् ने चतुर्थ श्लोक से अचित् तत्त्व की तथा पंचम श्लोक से चित् तत्त्व की व्याख्या की। अब छठें में दोनों से विलक्षण दोनों के विशेष्य सर्ववेदान्तों के महातात्पर्य रूप श्री राम और तदभिन्न श्री कृष्ण रूप परमतत्त्व की व्याख्या की जाती है। यहाँ अर्जुन को जिज्ञासा होती है— हे परमेश्वर ! आपने चतुर्थ और पंचम श्लोक में 'मे भिन्ना' 'मे परां' शब्दों से चित् और अचित् दोनो तत्वों को विशेषण कहा है। विशेषण अन्य सापेक्ष होता है। अतः इन दोनों का विशेष्य कौन है, वह जड़ है या चेतन ? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् मदन मोहन कहते हैं—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। ७/६

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! सभी प्राणी इन्हीं अपरा और परा प्रकृतियों को जन्म का हेतु मानकर ही उत्पन्न होते हैं, मैं तो इस सम्पूर्ण जगत् का प्रभव और प्रलय अर्थात् अभिन्न निमित्तों का उपादान कारण हूँ, इस प्रकार हृदय में निश्चित कर लो।

व्याख्या—यहाँ योनि शब्द जन्मदाता के रूप में रूढ़ है। 'ऐते योनी येषां तानि एतद्योनीनि' अर्थात् ये दोनों जीवों के जन्म में कारण बनती हैं। किन्तु चेतन होने के कारण मैं ही इसका निमित्त हूँ। 'प्रभवति अनेन' और मै उपादान। अर्थात् जीव मुझसे जन्म लेता है मुझमें ही प्रलय में विलीन हो जाता है। तथा शब्द दोनों का अभेद वाचक है।

सभी भूत प्राणी अपरा परा नामक प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। मैं तो इस जड़चेतनात्मक जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण हूँ। इस व्याख्यानवज्र से प्रच्छन्न बौद्धों का अद्वैतवाद-रूप महाशैल भूमिसात् कर दिया गया।

एतद्व्याख्यानपविना सानन्दं कविना मया।
अद्वैतवादशैलोऽयं शाश्वतो धूलिसात्कृतः।।

हिन्दुत्वरक्षणविचक्षणतीव्रदण्डम्
धर्मद्विषां प्रबलतर्जनचण्डदण्डम्।
नास्तिक्यवादवरुणालयमन्थदण्डम्,
श्रीरामभद्रसुयतेर्जयतात्त्रिदण्डम् ।।श्रीः।।

संगति—इस प्रकार पूर्व के तीन श्लोकों में चिदचिद् विशिष्टाद्वैततत्त्व की सिद्धि तथा जगत् के प्रति परमेश्वर के अभिन्ननिमित्तोपादानत्व को सिद्ध करके भी विषय की गहनता के कारण भगवान् फिर उसी तथ्य का अभ्यास कर रहे हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।

रा०क०भा०—हे धनंजय अर्जुन! यहाँ मुझसे अधिक सूक्ष्म अथवा मुझसे अधिक श्रेष्ठ अथवा मुझसे अधिक श्रेष्ठ कारण अन्य कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार धागे में मणिगण आधारित अर्थात् स्थित रहते हैं, उसी प्रकार यह चराचर जगत् मुझ परमात्मा में ही गुँथा हुआ है।

व्याख्या—यहाँ 'मत्तः' शब्द तसिल् प्रत्ययान्त है। और दिग्योग में पञ्चमी है। भगवान् कहते हैं कि भूम्यादि से पर अर्थात् सूक्ष्म जीव और उससे पर यानी सूक्ष्म मैं हूँ। अर्थात् भूम्यादि की अपेक्षा परतर मैं ही हूँ। अब मुझ से पर कोई नहीं है। अथवा पाअ. १/४/२ के महाभाष्य के अनुसार पर शब्द इष्टदेव का वाचक है। अतः वही इष्टदेवार्थक पर शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है। यहाँ भगवान् का आशय यह है कि सम्पूर्ण संसार का पर अर्थात् इष्ट तो मैं ही हूँ। यदि कोई मुझसे श्रेष्ठ इष्ट की कल्पना करता हो तो वह उसकी भूल है। क्योंकि—

'राम एक देवता पुजारी सारी दुनियाँ'। 'मत्तः परतरं नान्यत्' यहाँ पर शब्द का कारण भी अर्थ है। क्योंकि कार्य को अपर और कारण को पर कहते हैं। भगवान् कारण ब्रह्म हैं इसलिए उन्हें परब्रह्म करते हैं। यहाँ श्रीकृष्णचन्द्र का आशय यह है कि सारे संसार का अभिन्न निमित्तोपादनकारण मैं हूँ। जो नैयायिक की कल्पना में ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण और परमाणुओं को उपादान कारण मान लिया गया है, वह उनकी भयङ्कर भूल है। क्योंकि - मत्तः परतरं नान्यत्।

सबका सूक्ष्म कारण मैं ही हूँ। मुझसे सूक्ष्मतराकारण कोई है ही नहीं। इस व्याख्यान से नैयायिकों का कुतर्ककल्पित जल्पनामय कारणवाद्प्रासाद भगवान् के द्वारा ढहाकर धूलिसात् कर दिया गया। 'सूत्रे मणिगणा इव' इस वाक्य खण्ड की उपमानोपमेय मीमांसा से जीव और ब्रह्म का भेद बहुत सुस्पष्ट रूप में सिद्ध हो जाता है। जैसे तागे में मणिगण पिरोए जाते हैं इसी प्रकार जीव ब्रह्म में पिरोया हुआ है। जीव में छिद्र है इसलिए उसे मणि की उपमा दी गई है। धागा एक है और मणिगण अनेक हैं। इसी प्रकार ब्रह्म एक है जीव अनेक हैं। धागा स्वतन्त्र है और मणिगण उसमें गूँथे जाने से परतन्त्र हैं। उसी प्रकार ब्रह्म स्वतंत्र है, जीव परतन्त्र हैं। मानस में भुशुण्डि जी गरुड से कहते हैं—

परबस जीव स्वबस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता।।

मानस ८/७८/७

इस व्याख्यानदावानल से भगवान् ने स्वयं अभेदवादरूप भयङ्कर सागर सुखा डाला। यहाँ प्रश्न होता है कि—

श्लोकार्थेन वक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।।

यह श्लोक तो कुपित हो जायेगा ?

उत्तर— कुपित होता रहे। कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि पहले तुम्हें यह बताना पड़ेगा कि यह श्लोक है कहाँ का ? अठारह पुराण, लक्षश्लोक महाभारत, शतकोटि रामायण, साहित्य या अन्य किसी आर्षग्रन्थ से क्या तुम इसे प्रमाणित कर सकोगे ? यदि नहीं, तो इसके हर्ष या कोप की क्या चिन्ता। ऐसे तो बहुतेरे आयँ बाँय, साँय बकते हैं।

वस्तुतः सम्पूर्ण गीताशास्त्र में 'जगन्मिथात्व' की कहीं चर्चा उपलब्ध नहीं होती। हाँ! नित्यता और अनित्यता की चर्चा उपलब्ध है। इसलिए 'सूत्रे मणिगणा इव ' इस पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि सारे संसार के आधार भगवान् हैं। श्री।

संगति—इस पूर्वप्रकरण से चिदचित् से विशिष्ट तत्त्व का निरूपण करके चित् और अचित् के अभिन्ननिमित्तोपादकारण के रूप में परमेश्वर को ही सिद्धान्त रूप में स्वीकार करके फिर व्यास परम्परा से परमेश्वर की अभिन्न निमित्तोपादानता को ही छः श्लोकों में विस्तार से समझा रहे हैं। उसका यह प्रथम श्लोक है—

"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।। ७-८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मैं जल में रस अर्थात् स्वाद, चन्द्रसूर्य में प्रभा, वेदो में ओङ्कार, आकाश में शब्द तथा पुरुषों में पुरुषत्व हूँ।

व्याख्या—भगवान् ने "मयि सर्वमिदं प्रोतं" कहकर जो पहले प्रतिज्ञा की थी, उसे और स्पष्ट कर रहे हैं। रस जल का कारण है, "रसः सारे बले द्रवे" यह कोष का वचन है। अथवा "शृङ्गारादौ रसः स्वादे सारे रागे बले रसे" इस कोष के प्रमाण से भी रस जल का सारतत्त्व है। चन्द्रमा भगवान् के वंशधर हैं, और अर्जुन के भी, इसीलिये "शशि" शब्द का पूर्व प्रयोग किया गया। चन्द्रमा ब्राह्मणों के राजा हैं, "सोमो राजा अस्माकं ब्राह्मणानाम्" और भगवान् स्वयं ब्राह्मणभक्त हैं। चन्द्रमा में अमृत है, और चन्द्रमा भगवान् के प्रिय भक्त हैं, "शशि तुम्हार प्रिय दास" इनकी प्रभा मैं हूँ। वेदों का सारभूत प्रणव है, आकाश का शब्द गुण है, और सारतत्त्व भी इसी प्रकार पुरुषत्व मनुष्य का सार है। इस प्रकार भगवान् रस-प्रभा-प्रणव शब्द और पौरुष के रूप में स्वयं को सिद्ध करके उपादानता का संकेत कर रहे हैं ॥ श्री ॥

संगति— गहन विषयों का शिष्यों को बार बार उपदेश करना ही अभ्यास है, इसीलिये मयूरमुकुटधारी प्रभु इस जगत् के प्रति ब्रह्म की अभिन्न निमित्तोपादानता को ही बार बार अभ्यास कर रहे है ।

"पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु" ।। ७/९

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! पृथ्वी में पवित्र गन्ध अर्थात् सुगन्ध तथा अग्नि में तेज मैं हूँ । सम्पूर्ण प्राणियों में जीवन धारणा का साधन आयु अथवा प्राण औह प्रशस्त तपस्वियों में सारभूत तप मैं हूँ ।

व्याख्या— गन्धः कहने से दुर्गन्ध का भी ग्रहण हो जाता, अतः उसका वारण करने के लिए "पुण्यः" शब्द का प्रयोग करते हैं । भगवान् का अभिप्राय यह है, कि मैं दुर्गन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह जीवों के सम्पर्क से होती है । पृथ्वी में समवाय सम्बन्ध से गन्ध रहता है, इसीलिये पृथ्वी का कारणभूत गन्ध सुगन्ध ही हो सकता है, दुर्गन्ध नहीं । "विभा वसु यस्य स विभावसुः" जिसका विभा अर्थात् प्रकाश, वसु अर्थात् धन है, उस अग्नि को विभावसु कहते हैं । उसका सारभूत तेज मैं हूँ । जिसके द्वारा प्राण धारण किया जाता है उस आयु को जीवन कहते हैं, वह मैं हूँ । तपस्वियों का सारभूत तप मैं हूँ ॥ श्री ॥

संगति—और भी प्राणियों के सम्वन्धिरूप में जो भी सार वस्तु है, वह मैं ही हूँ। इसी तथ्य को चार श्लोकों में चतुरचक्रचूडामणि भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हुए कहते हैं । इसीलिये अगले चार श्लोकों में षष्ठ्यन्त की चर्चा की गई है ।

"बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।। ७।१०

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे अर्जुन! सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज अर्थात् उपादान कारण मुझे ही जानो । बुद्धिमान् प्राणियों की सात्विक बुद्धि मैं हूँ । और तेजस्वियों का अस्खलित ब्रह्मचर्यव्रत से युक्त तेज अर्थात् शुक्र मैं हूँ ।

व्याख्या—"सनातन बीज" का उपादान कारण अर्थ है, वह भगवान् ही हैं । "बुद्धिमतां" यहाँ मतुप् प्रत्यय प्राशस्त्य अर्थ में है, और प्रशस्त बुद्धि, सात्विक बुद्धि ही हो सकती है, राजसी और तामसी नहीं । "तेजस्विनां" तेजस्वियों का प्रशस्त तेज अच्युत ब्रह्मचर्य शुक्र ही हो सकता है, इसीलिये श्रुति भी "तेजोऽसि शुक्रमसि" कहकर उसकी स्तुति करती है ॥ श्री ॥

संगति— भगवान् और भी कहते हैं।

"बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।। ६।११

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे अर्जुन! काम और राग से रहित प्रशस्त बल वाले महानुभावों का सारभूत आत्मबल मैं हूँ । और प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध अर्थात् धर्मानुमोदित काम भगवत् दर्शनादि महनीय वस्तु विषयक मनोरथ मैं हूँ ।

व्याख्या— यहाँ "बल" शब्द आत्मबल के लिए अभिप्रेत है । जो काम धर्म से विरुद्ध होता है, उसका धर्मशास्त्र बाध कर देता है । याज्ञवल्क्य के मत में जब दो स्मृतियों में परस्पर टकराव हो तव व्यवहार से न्याय को बलवान् मान लेना चाहिए । और काम शास्त्र से धर्मशास्त्र को बलवान् मानकर उसके अनुसार कार्य करना चाहिये । तुमतो भरतकुल में श्रेष्ठ हो, इसीलिये तुम्हारी युद्ध से पलायन की इच्छा धर्मविरुद्ध थी और धर्माविरुद्ध नहीं ॥ श्री ॥

संगति—बहुत क्या कहूँ, भावों की भी मुझ से ही उत्पत्ति होती है, यही बात अगले श्लोक में भाववत्सल भगवान् स्पष्ट करते हैं ।

"ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ।। ७।१२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— और हे अर्जुन! अन्य भी जो सात्विक-राजस- तथा तामस ये तीन प्रकार के पदार्थ दिखाई पड़ते हैं, अथवा जो सत्वरजस्तमोमय मनोवृत्तियों के व्यापार हो रहे हैं, उनको भी पूर्वोक्त कारणवाद के प्रकार से मुझ भगवान् कृष्ण से ही उत्पन्न हुआ जानो । परन्तु भावातीत होने के कारण मैं उनमें नहीं हूँ, प्रत्युत वे मुझमें हैं ।

व्याख्या—सम्पूर्ण निगमों के आचार्य भगवान् अव पूर्वप्रतिज्ञात कारणवाद का निगमन करते हुए कहते हैं । यहाँ 'चकार' अपि के अर्थ में है, और "एवंकार" अन्य की कारणता का व्यवच्छेद करता है । सत्त्व में उत्पन्न होने से सत्त्वसम्बन्धि भावों को सात्त्विक कहते हैं, उसी प्रकार रजोगुण से उत्पन्न भाव राजस, तथा तमोगुण से उत्पन्न हुए भाव तामस कहलाते हैं । यहाँ "भाव" शब्द दृश्यमान पदार्थ और मनोवृत्तियों के लिये प्रयुक्त हुआ है, मैं उनमें नहीं हूँ क्योंकि मैं भावातीत हूँ, वे मुझमें हैं, क्योंकि मैं उनका उपादान कारण हूँ । कार्यकारण में रहते ही हैं, इसी वाक्य से भगवान् सत्कार्यवाद को प्रमाणित करते हैं । ।श्री । ।

संगति—अव अर्जुन प्रश्न करते हैं, हे राजीवलोचन श्रीहरि ! इस प्रकार जगत के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण के रूप में आपको जानकर भी लोग भजन क्यों नहीं करते

हैं? यदि भजन का अभाव ही अज्ञान का मूल है, तो आपका भजन करके लोग ज्ञानवान् क्यों नहीं हो जाते? अर्जुन की इस जिज्ञासा का सामाधान करते हुये श्रीहरि कहते हैं —

"त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।। ७/१३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे अर्जुना! सत्वरजस्तमस् से उत्पन्न हुए विकाररूप इन अत्यन्त दुरन्त सात्विक, राजस, तामस मनोवृत्तिरूप भावों से मोहित हुआ यह जगत् इन तीनों भावों से परे मुझ परमात्मा श्रीकृष्ण को अभीष्ट रूप से नहीं जान पाता।

व्याख्या— गुणों के विकार को ही गुणमय कहते हैं, इनसे मोहित हुआ जीव मेरे सच्चिदानन्द रूप को नहीं जान पाता। ।श्री ।।

संगति— अब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं, हे भक्तवाञ्छाकल्पतरो ! इन भावों से परे आपको जीव क्यों नहीं जान-पाता, इनका जन्म कहाँ होता है, इनका विनाश कैसे किया जाये, इनको जीव कैसे पार कर सकता है? अथवा इनकी कैसे उपेक्षा की जाये? इस प्रकार अर्जुन की विरोधिस्वरूप के सम्बन्ध में उठी हुई अनेक जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए श्रीहरि प्रसन्न होकर बोले—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। ७/१४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे अर्जुन! क्योंकि यह तीनों गुणों से युक्त मेरी दैवी अर्थात् दिव्यगुण सम्पन्न अघटितघटनापटयसी माया बहुत ही दुरत्यय है। अर्थात् इसका लाँघना बहुत कष्टसाध्य है। जो साधक मुझको ही प्रपन्न होते हैं अर्थात् (मेरी शरण में जाते हैं) वे इस माया को लाँघ जाते हैं।

व्याख्या— यहाँ "हि" हेतु में है, क्योंकि यह माया अर्थात् प्रत्यक्ष दिखाई पड़ेवाली मेरी योगमाया गुणमयी प्रचुर गुणवाली है। इसमें सत्व-रज-तम प्रचुर मात्रा में रहते हैं। यहाँ प्राचुर्य अर्थ में "मयट्" प्रत्यय है। "टिड्ढाणञ्" से ङीप प्रत्यय हुआ। इसका आकार क्या है? यह नित्य है, अथवा अनित्य? इस पर भगवान् कहते हैं, "दुरत्यया" इसका विनाश सहजता से नहीं किया जा सकता,यह जीव के द्वारा नष्ट नहीं की जा सकती, पर लाँघी जा सकती है। इसीलिए "अति" पूर्वक "इण्" धातु का अतिलङ्घन अर्थ माना गया है। इसीलिये गीता (८-२७) में भगवान् कहते हैं, "अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा" इसीलिये इसका अतिलङ्घन कष्ट साध्य है। यह अव्यक्त नाम की अघटितघटना घटाने वाली भगवान् की ही कोई अपूर्व शक्ति है, जिसे माया कहते हैं। जैसा कि भगवान् में मृद्-भक्षण लीला में, पृथ्वी का मुख चूमते समय भगवान् के द्वारा मीट्टी खा लेने पर,

श्री यशोदा के कहने पर, अपनी माया के वल से अपने मुखारविन्द में सम्पूर्ण प्रपञ्च के दिखा देने पर, भयभीत स्वभाव वाली यशोदा इसी माया का वर्णन करती हैं।

''अहं ममासौ पतिरेष में सुतो
व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती।
गोप्यश्च गोपाः सह गोधनाश्च मे
यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः ।। भागवत १०-८-४२

अर्थात् मैं यशोदा नन्दराय के सम्पूर्ण धन की रक्षिका गृहलक्ष्मी हूँ, नन्दराय मेरे पति एवं कन्हैया मेरे पुत्र हैं, गोपियाँ गौयें और गोपाल सब मेरे ही हैं। इस प्रकार की मेरे मन में जिसकी माया से कुमति उत्पन्न हुई है, वही भगवान् मेरे गन्तव्य आश्रय हैं। इसके अनन्तर यशोदा जी के भगवततत्त्व जान लेने पर भगवान् ने स्वयं उन पर वैष्णवी माया का प्रयोग किया। उस माया के प्रयोग से यशोदा जी भगवान् का ऐश्वर्य भूल गयीं और उनके मन में भगवान् के प्रति माधुर्य आ गया जैसा कि भगवान् शुकाचार्य कहते है—

इस प्रकार यशोदा जी के द्वारा भगवत्तत्व जान लेने पर सर्वसमर्थ परमात्मा ने उन पर वैष्णवी माया का प्रयोग कर दिया। यहाँ वैष्णवी शब्द का प्रयोग करके भगवान् शुकाचार्य ने शंकराचार्य के अनुयायियों द्वारा कल्पित मायामिथ्यावाद रूप बालू का महल जलमग्न कर दिया। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि माया का प्रयोग कहीं तो भगवान् की लीला के लिए, कहीं भगवत् दर्शन के लिये और कहीं अज्ञान के लिए देखा जाता हैं और कहीं भगवती सीता जी एवं कहीं भगवती राधा जी के लिए भी उपलब्ध होता है। जैसे मानस में ही—

अभयबीच श्री सौहै कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ।। (मा.अ. ६/३)

उत्तर—वास्तव में माया शब्द विविधार्थक है। 'माया-कृपायां, लीलायां मूलाज्ञाने छले तथा' परन्तु 'ब्रह्म जीव विच माया जैसी'। यहाँ माया शंब्द कृपा के अर्थ में है। अर्थात् श्री राम लक्ष्मण के बीच में भगवती सीता उसी प्रकार सुशोभित हो रही है जैसे ब्रह्म जीव के बीच में भगवान् की कृपा विराजती है।

अब प्रश्न है कि माया मनुष्यस्य वदस्व विद्वन् (१० ।१ ।६) माया मनुष्यं हरिम् (मानस ५ मंगलाचरण १) पुनि मायासीता कर हरना (मान० ६ ।६६ ।६) माया मृग-पाछे सो धावा (मा० ३ ।२६ ।१२) मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावत् (भाग० ११ ।५ ।३३)। यहाँ 'माया मनुष्यस्य' 'मायामनुष्यं हरिं' इत्यादि स्थलों में माया शब्द कृपार्थक है और 'पुनि माया सीता कर हरना' शब्द में माया शब्द लीलार्थक है और 'माया मृग पाछे सो धावा' इत्यादि स्थलों में माया शब्द छल के अर्थ में है। तथा ''मैं अरु तोर,

तोर तैं माया'' आदि स्थलों में माया शब्द अज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गीता ७।१५ में भी माया शब्द अज्ञान के अर्थ में है। अब प्रश्न है कि इस श्लोक में माया शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है?

उत्तर— यहाँ भगवान् की लीला शक्ति ही माया है। इस पक्ष में अर्थ इस प्रकार होगा। "दैवी" परम देवता मुझ श्रीकृष्ण की सत्त्व, रज, तमोगुण से युक्त यह माया बड़ी ही दुस्तर है। जो लेग षड्विध शरणागति से मुझ परमात्मा को ही प्रपन्न अर्थात् शरणागत होते हैं, वे सागर के समान अपार इस माया को मेरी कृपा रूप नौका से पार हो जाते हैं।

संगति— अब अर्जुन प्रश्न करते हैं कि- हे कोटि-कोटि कन्दर्प दर्प दलन ! जो आप का भजन नहीं करते वह कौन हैं और त्रोलोक लावण्य लक्ष्मी द्वारा जिनके श्रीचरण का लालन किया जा रहा है, जिसके रूप को निहार कर करोड़ों काम मोहित हो जाते हैं, ऐसे सर्वभूत-सुहृद् त्रिभुवन पति आपमें उनका अनुराग क्यों नहीं उमगता ? इस पर भगवान् कहते हैं—

''न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।। ७ ।१५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे अर्जुन! अज्ञान से जिनका कर्त्तव्याकार्त्तव्य ज्ञान नष्ट हो चुका है, ऐसे असुरोचित भाव का आश्रय किये हुए शास्त्र विरुद्ध दुष्कर्म करने वाले मूढ़, जीवों में सबसे नीच प्रकृत के लोग मुझे प्रपन्न नहीं होते अर्थात् मेरी शरण में नहीं आते।

व्याख्या—'नराधमः' नरेषु अधमः' अर्थात् नित्यमुक्त, बध्य इन दोनों प्रकार के जीवों में जो अधम हैं। जो असुर अर्थात् अपने प्राणों में ही रमण करने वाले कंस आदि के स्वभाव को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे दुर्योधन आदि मुझ परम कारुणिक, सर्वसमर्थ, पार्थसारथी, कमलनेत्र, कोटि-कोटि काम मद भंजन, प्रणतमनोरंजन परमात्मा को भी निष्पक्षपात होने पर भी सपक्षपात, उदार होने पर भी अनुदार, करुण होने पर भी निष्करुण, शूर हने पर भी क्रूर तथा परमेश्वर होने पर भी अनीश्वर मानते हुए मेरी शरण में नहीं आते ।।श्री।।

संगति—अर्जुन प्रश्न करते हैं- हे अशरण शरण! कौन सुकृती हैं उनका सुष्कृत कैसा है वे कितने प्रकार के हैं? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण कहते हैं—

''चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतवर्षभ।। ७।१६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे भरतवंश में श्रेष्ठ, निर्मल स्वभाव वाले अर्जुन! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी इस प्रकार चार विधाओं से युक्त सुकृतीजन अपने आनन्द के लिए मुझे भजते हैं ।

व्याख्या— यहाँ अर्जुन के लिए भगवान् ने दो सम्वोधनों का प्रयोग किया है । प्रथम सम्वोधन से उनके अन्त:करण की शुद्धता और द्वितीय सम्वोधन से उनका महाकुल में उत्पन्न होना सूचित किया । अभिप्राय यह है कि तुम जन्मना और कर्मणा दोनों प्रकार से मेरे भजन के योग्य हो । तुम अर्जुन अर्थात् ऋजु होने से बहुत सुन्दर स्वभाव के हो । नारद के शाप से वृक्ष बने हुए यमलार्जुन का उलूखलबंधलीला में मैंने उद्धार किया था । तुम तो एकल अर्जुन हो । तुम वृक्ष नहीं बने हो, प्रत्युत तुम्हें संसार वृक्ष का छेदन करना है । इस बार मैं भी उलूखल में नहीं बँधा हूँ, तुम्हारे प्रेम की डोरी से अवश्य बँधा हूँ । यमलार्जुन पतित थे । तुम एकलार्जुन प्रपन्न हो । पुनश्च यमलार्जुन को नारद का शाप था और तुम्हारे लिए तो नारद के भी सेव्य नारायण का आशीर्वाद है । यमलार्जुन स्त्रियों के साथ निर्वस्त्र जल क्रीड़ा कर रहे थे और तुम तो उर्वशी जैसी अप्सरा के भी प्रेमपाश में नहीं बँधे । तुम भरतर्षभ हो । भरतवंशियों में ऋषभ अर्थात् सिंह हो । भरत ने सिंह के बच्चे के दाँत गिने थे तुम्हें माया हस्तिनी का गण्डस्थल भेदन करना है । चोर आदि दुष्टों से एवं शत्रुओं से भयग्रस्त होकर जो रक्षा चाहता है उसे आर्त कहते हैं । ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाला ही जिज्ञासु है । जिसका अर्थरूप प्रयोजन उससे बहुत दूर है वही अर्थार्थी है । यहाँ 'अर्थाच्चासन्निहिते' इस वार्तिक के परिशेष्य रूप "तदन्ताच्च' इस वार्तिक से अर्थार्थ प्रथमान्त प्रातिपदिक से असन्निहित अर्थ में 'इनि' प्रत्यय हुआ । यानी जिसका अर्थ रूप प्रयोजन उसके निकट नहीं है वह अर्थार्थी है । यहाँ प्रथम अर्थ धन के अर्थ में और द्वितीय अर्थ प्रयोजन के अर्थ में है । इस शव्द की व्युत्पत्ति होगी 'अर्थ: द्रव्यं स एव अर्थ: प्रयोजनं असन्निहितं दूरस्थं यस्य स अर्थार्थी' । यहाँ ज्ञान शब्द अर्थपञ्चकज्ञान अथवा शान्त, वात्सल्य, दास्य, सख्य और मधुर इनमें से किसी भी एक भाव के आधार पर परमेश्वर के साथ जोड़े हुए अपने भजन सम्वन्ध का ज्ञान जिसके पास हो उसे ज्ञानी कहते हैं । 'च' ये चार ही 'जना:' अपने हृदय में मेरी शरणागति का भाव उत्पन्न करते हैं । जयन्ति शरणागतिभावं इति जना: । 'सुकृतिन:' इन्हीं में मेरा भजनरूप सुकृत विद्यमान है । अत: चतुर्विधा: चतस्र: विधा येषां ते चतुर्विधा: 'अर्थात्' ये एक हैं केवल भजन की विधाएँ चार हैं । यहाँ निष्काम कर्मयोगी प्रेमी भक्त की चर्चा नहीं की गई । क्योंकि भगवान् का अभिप्राय है कि भजते मुझे चार ही हैं । निष्काम कर्मयोगी प्रेमी को तो मैं स्वयं भजता हूँ । अत: 'भजन्ते' यहाँ आत्मनेपद का प्रयोग है । भगवान् कहते हैं - ये चारों मुझे अपने लिए भजते हैं । अर्थात् इनके भजन का विषय मैं बनता हूँ फल इन्हीं को मिलता है । जैसे रसगुल्ला खाने वाले को ही स्वाद की अनुभूति होती

है खाया जाता है रसगुल्ला। उसी प्रकार भजन का विषय मैं बनता हूँ पर स्वाद लेता है भक्त। इसलिए आनन्दवृन्दावनचम्पू में कहा गया है—

मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तल्लालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः ।।

अर्थात् मुक्तमुनियों के द्वारा भी अन्वेषणीय एक ऐसा अपूर्व फल है जिसे फलती है देवकी, पालती हैं यशोदा और स्वाद लेती हैं गोपियाँ। भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम का रसन आस्वादन ही भजन है।

अर्दति याचते भयात्त्राणं भगवन्तं यः स आर्तः। आर्त शब्द 'अर्द' धातु से बनता है। अर्द धातु याचनार्थक है। अर्द गतौ याचने च (भ्वादि ५५) इसीलिए महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश ५।१७ में कहा है—

शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि।

अर्थात् चातक भी शरद् ऋतु के घन से नहीं माँगता। अतः जो भगवान् से भवभय से रक्षा की याचना करता है उसे आर्त कहते हैं। यहाँ आङ् उपसर्ग अर्द धातु क्त प्रत्यय और पृषोदरादित्वात् द का लोप करके आर्त शब्द सिद्ध हो जाता है। इस पर मेरा श्लोक निम्नाङ्कित है—

बिभ्यद्रिपुभ्यश्चौरेभ्यः सङ्कटेभ्यस्तथापदः।
याचमानोऽभयं रामं ब्रह्म सैवार्त उच्यते ।।

अर्थात् शत्रु, चोर, सङ्कट एवं विपत्ति से डरकर जो परब्रह्म परमात्मा श्रीराम से रक्षा की याचना करता है वही आर्त है। जैसे वाल्मीकिरामायण में विभीषण कहते हैं—

रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः।
तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः।। १२ ।।

रावण के द्वारा अपमानित होकर सागर के उत्तरी तट पर आकाश में उपस्थित विभीषण बानरों से कहते हैं—

दुष्ट चरित्र वाला, राक्षसों का राजा, रावण नाम का जो राक्षस है, मैं उसी का छोटा सौतेला भाई हूँ। मेरा नाम विभीषण है ऐसा आप लोगों ने सुना भी होगा।

येन सीता जनस्थानाद्धृता हत्वा जटायुषम्।
रुद्धा च विवशा दीना राक्षसीभिः सुरक्षिता।। १३ ।।

मैं उस रावण का भाई हूँ जिसने जटायु को मारकर जनस्थान से सीता जी का हरण किया। और अशोक वाटिका में बन्दिनी बनाकर रखा है तथा सीता जी दीनदशा में राक्षसियों द्वारा सुरक्षित हैं।

तमहं हेतुभिर्वाक्यै र्विविधैश्च न्यदर्शयम्।
साधु निर्यास्यतां सीता रामायेति पुनः पुनः ।। १४ ।।

श्रीराम को भगवती जानकी जी को समर्पित कर दो, इस प्रकार मैंने बार बार हेतुपूर्ण अनेक वाक्यों से उस रावण को समझाने का प्रयास किया।

स च न प्रतिजग्राह रावणः कालचोदितः।
उच्यमानं हितं वाक्यं विपरीत इवैषधम्।। १५ ।।

परन्तु जिस प्रकार आसन्नमरण व्यक्ति औषधियों को ग्रहण नहीं करता उसी प्रकार काल से प्रेरित रावण ने मेरे द्वारा कहे हुए हितकर वाम्य को भी ग्रहण नहीं किया।

सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः।
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ।। १६ ।।

वही मैं न्यायवादी विभीषण रावण के द्वारा कठोर वचन कहकर लात मारकर दास की भाँति अपमानित किया गया, अत: मैंने सोचा कि दास ही बनना है तो राम जी का ही दास बनूँ रावण का क्यों बनूँ। इसलिए पत्नी और पुत्रों को छोड़कर राघव श्रीराम की शरण में आया हूँ। यहाँ दो 'च' का प्रयोग करके विभीषण द्वारा उनके अन्य सम्वन्धियों का त्याग भी समझना चाहिए। जो कि मधुसूदन सरस्वती पाद ने गीता जी की सुप्रसिद्ध टीका 'गीतागूढार्थदीपिका' में श्री विभीषण को अर्थार्थी भक्त कहा जैसा कि प्रकृत श्लोक की व्याख्या करते हुए मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि अर्थार्थी भक्त वही है जो लोक और परलोक में भोगों की इच्छा करके भगवान् का भजन करता है। जैसे श्री रामायण में सुग्रीव और विभीषण। वास्तव में गम्भीरता से श्री वाल्मीकिरामायण का अध्ययन न करने के कारण और रामायण के प्रसङ्गों पर मायावाद के चिन्तन से मलिन एवं भगवदीय भाव से शून्य झूठे प्रभाव वाले पाप से पूर्ण भाव से युक्त मलिन मन होने से मधुसूदन सरस्वती का वह कथन वमन की भाँति उपेक्षणीय है। विभीषण आर्त ही हैं अर्थार्थी नहीं। जैसा कि हमारे प्रात:स्मरणीय अभिनव वाल्मीकि गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

रावण क्रोध अनल जिन स्वास समीर प्रचण्ड।
जरत विभीषण राखेउ दीन्हेउ राज अखण्ड ।। मानस ५।४९। क

और भी— वाल्मीकिरामायण के युद्धकाण्ड के १७वें सर्ग के सोलहवें श्लोक में विभीषण स्वयं कहते हैं—

मैं पत्नी और पुत्रों को छोड़कर श्रीराम की शरण में आया हूँ। इस प्रकरण में विभीषण के त्याग को सुनकर सामान्य मस्तिष्क का व्यक्ति भी विभीषण को अर्थार्थी नहीं मानेगा फिर मधुसूदन सरस्वती जैसे सारस्वतों की बात ही क्या? इतना ही नहीं। यदि मधुसूदन सरस्वती द्वारा कहा हुआ आर्त का लक्षण विभीषण में न घटे तब विभीषण आर्त नही है। यदि वह लक्षण विभीषण में घटता हो तब वे अर्थार्थी नहीं। जैसे—लक्षणतावच्छेदकलक्ष्यतावच्छेदक के अत्यन्ताभाव से निरूपित प्रतियोगिता का अनवच्छेदक होता है। अर्थात् लक्ष्य और लक्षक को समान होना चाहिए। जैसा कि मधूसूदन सरस्वती आर्त का लक्षण करते हैं—आर्त उसे कहते हैं जो आर्ति से शत्रुओं तथा आधिव्याधि विपत्तियों से ग्रस्त होकर उनसे छुटकारा पाने के लिए भगवान् की शरण में जाता है। मधुसूदर सरस्वती का यह लक्षण विभीषण में शतप्रतिशत घटता है। विभीषण भी विपत्तिग्रस्त हैं और शत्रुग्रस्त भी। यदि विभीषण डरते न होते तो भगवान् विभीषण के अभयदान की प्रतिज्ञा क्यों करते? जैसा कि वाल्मीकि ६।१८।३३ में भगवान् स्वयं कहते हैं कि जो मुझे प्रपन्न होकर मुझसे अपनी रक्षा की याचना करता है उसको मैं सम्पूर्णभूतों से अभयदान दे देता हूँ।

यदि कहें (वा.रा. ६।१७।६५) में हनुमान् जी स्वयं कहते हैं कि - विभीषण राज्य की इच्छा करते हुए आपकी शरण में आये हैं। इससे तो विभीषण का अर्थार्थित्व प्रकट हो जाता है, तो ऐसा नहीं कहना चहिए। क्योंकि वहाँ किसके राज्य की विभीषण इच्छा कर रहे हैं ऐसा कुछ नहीं कहा गया। विभीषण को रावण का राज्य तो अभीष्ट है नहीं और अपना राज्य उन्हें इसलिए अभीष्ट नहीं है क्योंकि "त्यक्त्वा दारांश्च" श्लोक में वह पत्नी और पुत्र छोड़ने की बात कर रहे हैं। यदि विभीषण को स्वयं राजा बनना होता तो वे पत्नी और पुत्रों को छोड़कर क्यों आते? क्या कोई रानी और युवराज के बिना राजा बनता है? इसलिए विभीषण श्रीराम के राज्य की ही इच्छा करके आये हैं। इसलिए मधुसूदन सरस्वती का वक्तव्य सर्वथा अनर्गल है।

श्रीरामचरितमानस में भी गोस्वामी जी विभीषण को आर्त ही कहते हैं जैसे-

श्रवन सुजस सुनि आयहुँ प्रभुभंजनभवभीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुवीर॥ मानस ५।४५

और भी श्रीराम कथा में प्रभु द्वारा विभीषण की बार बार रक्षा करने से ही उनका आर्तत्व सुरक्षित है। अब फिर प्रश्न होता है कि - यदि विभीषण गजेन्द्र की भाँति आर्त हैं तो रावण के द्वारा किये हुए अपमान के समय ही लोक लोचनाभिराम श्रीराम का स्मरण क्यों नहीं किया विभीषण ने? उत्तर—तो सुनो! रावण द्वारा अपमानित होते हुए विभीषण ने भगवान् का स्मरण किया था। परन्तु भगवान् श्रीराम का वनवास की अवधिपर्यन्त

अर्थात् चौदह वर्ष के काल में श्रीदशरथ द्वारा ग्राम, नगर एवं पुर में श्रीराम के प्रवेश पर प्रतिवन्ध के कारण मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम ने उस नियम की रक्षा की, 'इच्छा से ही मेरे बुलाने से प्रभु के लङ्का में प्रवेश करने पर उनका नियम टूट जायगा' इसी भय से भीत होकर विभीषण ने रावण की भीषण यातना रूप अग्नि ज्वालामाला से घिरे होकर भी, हृदय विदारक तिरस्कार को सहते हुए भी, सम्मान को नष्ट करने वाले अपमान को स्वीकार करते हुए भी, रावण की भयङ्कर लात के प्रहार को सहकर भी, प्रभु का संकट न सहने के कारण ही अपनी रक्षा के लिए रघुकुल कैरव श्रीरामचन्द्र को लङ्का में नहीं बुलाया। इसलिए भगवान् ने भी वानर-सभा के बीच विभीषण को मित्र कहकर सम्बोधित किया। जैसा कि वाल्मीकिरामायण ६।१८।३ में भगवान् श्रीमुख से कहते हैं—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥

अर्थात् भले ही विभीषण में दोष हो परन्तु मित्रभाव से मेरे पास आये हुए विभीषण को मैं किसी भी प्रकार नहीं छोड़ सकता। यही पक्ष सन्तों के लिए प्रशंसनीय होगा। मित्र उसे कहते हैं जो अपने मित्र की पाग से रक्षा करता है। जैसा कि नीतिशास्त्र कहता है—

'पापान्निवारयति योजयते हिताय'

आज विभीषण ने भगवान् को बहुत बड़े पाप से बचा लिया। यदि विभीषण रावण से अपमान के समय ही भगवान् श्रीराम को बुला लेते तब तो निष्पाप धृतमञ्जुलजटाकलाप हृतप्रपन्नपरिताप, करतलकृतशरचाप भगवान् श्रीराम भी चतुर्दशवर्षपर्यन्त वनवास सेवनव्रत का उल्लंघन करके एक बड़े पाप से जुड़ जाते। अहा! विभीषण गजेन्द्र जैसे स्वार्थी नहीं बने। इस प्रसंग पर मेरा यह अनुष्टुप् द्रष्टव्य है—

नाभवद् द्रौपदीवासौ नाभवद् गजराडिव।
तस्माद् विभूषणं मित्रं राघवस्य विभीषणः॥

सहके भी लात का अघात दशकन्धर का,
द्रौपदी समान प्रभु टेर न लगाया है।
रावन सरिस मत्तग्राह से भी ग्रस्त होके,
गजराज सा न आर्तवचन सुनाया है।
सात सात बरिस अवधि वन सेवन की,
ताहि की सकोच प्रभु लंक न बुलाया है।
पाप से बचाया पापहारी को विभीषण ने,
ताते यह मित्र रामभद्र को भी भाया है॥

जिज्ञासु — जैसे श्रीरामायण में कुमार लक्ष्मण । पञ्चवटी की पर्णकुटी में सुखासीन प्रभु से कुमार लक्ष्मण ने अर्थपञ्चक विषयक पाँच प्रश्न किये-

एक बार प्रभु सुख आसीना । लछिमन बचन कहे छल हीना ।।
सुरनरमुनि सचराचर साईं । मैं पूछऊँ निज प्रभु की नाईं ।।
मोहि समुझाई कहहु सोई देवा । सब तजि करौं चरन रज सेवा ।।
कहहु ज्ञान विराग अरु माया । कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ।।
(मानस ३/१४,५,६,७८)

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाई ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाई ।। मानस ३/१४

इस प्रसंग से अर्थपञ्चक सिद्धान्त की व्याख्या की गई । अर्थपञ्चक के सम्बन्ध में मेरे प्रणीत पांच श्लोक द्रष्टव्य हैं -

स्वस्वरूप—

दासभूतस्य जीवस्य त्रिभेदप्रत्यगात्मनः ।
स्वरूपं चैव शेषत्वं ज्ञातव्यं प्रथमं जनैः ।। १ ।।

नित्य, मुक्त, बद्ध इन तीन भेदों वाले भगवान् के दासरूप प्रत्यगात्मजीव का स्वरूपज्ञान और उसका शेषत्व ज्ञान अर्थज्ञान अर्थपञ्चक का प्रथम भेद है । इसी को दार्शनिक भाषा में स्वरूप कहते हैं । सर्वप्रथम वैष्णव को इसका ज्ञान करना चाहिये ।

परस्वरूप—

चिदचिद्भ्यां विशिष्टस्य ह्यद्वैतस्य परेशितुः ।
शेषित्वं च स्वतन्त्रत्वं गुणित्वं च द्वितीयकम् ।। २ ।।

चित् और अचित् से विशिष्ट अद्वैत परमेश्वर के सर्वांशित्व, स्वतन्त्रत्व और सगुणत्व का ज्ञान ही द्वितीय अर्थात् परस्वरूप ज्ञान है ।

उपायस्वरूप—

भक्तिप्रपत्तिरूपौ द्वौ प्राह्युपायौ धनुर्भृतः ।
भजनं रसनं षोढा प्रापत्तिश्च तृतीयकम् ।। ३ ।।

भगवान् की प्राप्ति के भक्ति और प्रपत्ति ये दो उपाय हैं । भगवान् के नामरूप लीलाधाम का आस्वादन ही भक्ति है और प्रपत्ति ६ प्रकार की होती है । यही तृतीय अर्थात् उपायस्वरूप है ।

विरोधिस्वरूप—

विरोधिनी स्वरप्राप्तौ माया वै परमात्मनः ।
तस्याश्च सविकारायाः विज्ञानं स्याच्चतुर्थकम् ।। ४ ।।

भगवान् की प्राप्ति में जो विरोधिनी वृत्ति होती है वही माया है । वह भगवान् की ही आश्रित शक्ति है । विकार सहित उसका ज्ञान करना चतुर्थ अर्थात् विरोधी स्वरूप है ।

फलस्वरूप—

श्रीराम दर्शनाह्लादसमुत्थं कामवर्जितम् ।
पलं सामीप्यमित्येतदर्थपञ्चकमुच्यते ।। ५ ।।

श्रीराम के दर्शनाह्लाद से उत्पन्न सम्पूर्ण कामनाओं से वर्जित परमात्मा के श्री चरण कमल का सामीप्य ही फल है । इस प्रकार स्वरूप, परस्वरूप, उपायवरूप, विरोधीस्वरूप, फलस्वरूप इनका समूह अर्थपञ्चक कहा जाता है ।

अर्थार्थिकोटि के भक्त श्रीसुग्रीव हैं । बालि के मर जाने पर राज्य को प्राप्त करना फिर भगवान् को भूल जाना उसी सत्य को प्रमाणित कर रहे हैं, जैसा कि वाल्मीकि रामायण में भगवान् राम कहते हैं—

हे सुग्रीव! जिस युद्ध में बालि को मारा था वह मार्ग अभी सँकरा नहीं हुआ है । इसलिये अपनी प्रतिज्ञा का पालन करो । यहाँ ज्ञानी हैं अञ्जनानन्दवर्धन श्रीहनुमान् । इसीलिए मानस सुन्दरकाण्ड में उन्हें 'ज्ञानिनामग्रगण्यं' कहा है । और समुमेरु पर्वत पर चन्द्रशर्दन प्रकरण में चन्द्रमा की कालिमा के सम्बन्ध में सुग्रीव, विभीषण, अंगद तथा भगवान् श्रीराम द्वारा स्वयं भी भिन्न भिन्न प्रकार से उत्प्रेक्षा किये जाने पर अन्त में हनुमान् जी का उद्‌गार उनकी अद्वितीय ज्ञाननिष्ठा का परिचायक है । जैसे—

कह हनुमन्त सुनहु प्रभु, शशि तुम्हार प्रिय दास ।
तव मूरति विधु उस बसति सोई स्यामता अभास ।। मानस ६/१२ क

यहाँ मेरा संग्रह श्लोक इस प्रकार है—

आर्तस्तु भक्तो दशकन्धरानुजो,
जिज्ञासुभक्तो रिपुसूदनाग्रजः ।
अर्थार्थियर्यो रविसूनुरुच्यते,
ज्ञानी हनूमान् रघुनाथसम्मतः ।।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में भी चारों भक्तों की चर्चा है। गजेन्द्र आर्तभक्त है। वह ग्राह से भयभीत होकर उससे रक्षा पाने के लिए भगवान् की शरण में आया था। जैसा कि भागवत से स्पष्ट है - जब गजेन्द्र ग्राह से युद्ध करते करते थका, तुरन्त उसके मन में यह विचार आया कि "आज मुझ आतुर गजेन्द्र को इस विपत्ति से बचाने में मेरी पत्नियाँ, बन्धु बान्धव कोई भी समर्थ नहीं हो रहे हैं। इसलिए मैं उस प्रभु की ही शरण में जा रहा हूँ जो इस प्रचण्डवेगशाली, समक्ष आते हुए मरण से मुझे बचा सके।

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात् प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद् भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि।।

इस प्रकार कृष्ण चरित में भी इन्द्र यज्ञ भङ्ग के समय इन्द्र को असामयिक वर्षण करते हुए देख भयभीत व्रजवासी आर्तस्वर से बोल उठे—

कष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो।
त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद् भक्तवत्सल।।

श्री महाभारत में भी कौरवराजसभा में दुःशासन द्वारा निर्वस्त्र की जाती हुई द्रौपदी आर्त भक्त हैं। जैसे—

गोविन्द द्वारिकावासिन् कृष्णगोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किन्न जानासि केशव।।

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन।।

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्।।

इस प्रकार उद्धव जी जिज्ञासु हैं। उनकी जिज्ञासा का भागवत एकादशस्कन्ध ही उदाहरण है। अर्थार्थी हैं ध्रुव महाराज। और ज्ञानी हैं श्री विदुर यद्यपि 'ज्ञानी च मे' चकार से निकाम प्रेमी महानुभावों का सङ्केत है। परन्तु वे भजक की श्रेणी में नहीं हैं। वे तो भगवान् के भजनीय हैं जैसे श्रीमानस में भरत। उनके सम्बन्ध में बृहस्पति कहते हैं—

भरत सरिस को राम सनेही। जग जप राम राम जप जेही।
मानस २/२१८/७

इसी प्रकार कृष्णावतार में निष्काम भक्त हैं गोपियां। जिनके सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या मा भजन दुर्जनगेहश्रृंखलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ।।
भागवत १०/३२/२२

भगवान् कहते हैं हे व्रजरमणियों देवता का आयु पाकर भी मैं निर्दोष भाव से समागत आप लोगों के साधुकृत्य का प्रतिदान नहीं कर सकता । जिन आप लोगों मे अत्यन्त कठिन गृहस्थी की शृंखला तोड़कर मेरा ही भजन किया । ऐसी आप लोगों की साधुता ही मुझे उन्नृण करे तो ठीक नहीं तो अनन्तकाल तक मैं ऋणी ही रहूँगा ।

इस प्रसंग में भी मेरा संग्रह श्लोक है—

आर्तो गर्जेन्द्रो द्रुपदात्मजादयो जिज्ञासवश्चोद्धवमुख्यवैष्णवाः ।
अर्थार्थिनश्चैव सुनीतिजादयो ज्ञानीजनः श्रीविदुरश्चतुस्सनाः ।।

इस प्रकार चकार से निष्काम कर्मयोगी का संकेत करके भी भगवान् ने अपने भजनीय होने के कारण इनको भजक श्रेणी में नहीं रखा । श्री ।

रा०कृ०भा०समान्यार्था— हे अर्जुन ! उन आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी, ज्ञानी नामक चारों भक्तों में मुझ नित्य परमात्मा में युक्त तथा मुझ एक परमात्मा में ही परम प्रेम लक्षणा भक्ति रखने वाला ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ होता है । क्योंकि सेव्य सेवक भाव रुप ज्ञान सम्पन्न ज्ञानी भक्ति को मैं बहुत प्रिय लगता हूँ तथा मुझ सगुण साकार परमात्मा को ज्ञानी भक्त बहुत प्रिय लगता है ।

व्याख्या—भगवान् का अभिप्राय यह है कि यद्यपि आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चारों भक्त मुझे प्रिय हैं । परन्तु ज्ञानी इन्न सबसे श्रेष्ठ भी है और इन सबसे अधिक प्रिय भी है । अब श्रेष्ठता और प्रियता के लिए प्रत्येक के एक-एक हेतु प्रस्तुत करते हैं -श्रेष्ठ इसलिए है वि क्योंकि 'नित्ययुक्तः' वह निरन्तर मुझ परमात्मा में ही युक्त रहता है । अथवा नित्य अर्थात् सेव्य सेवक भाव से निरन्तर युक्त रहता है । अथवा निरन्तर कर्मयोग से युक्त रहता है अथवा उसका कर्मयोग कभी विच्छिन्न नही होता अथवा नित्य स्वरूप मुझ परमात्मा की प्राप्ति के लिए यत्न करता रहता है । इसलिए वह श्रेष्ठ होता है । 'विशिष्यते' अर्थात् मेरा विशिष्ट परिकर हो जाता है । अब प्रियता का कारण कहते हैं - एक भक्ति उसकी मुझ परमात्मा में ही भक्ति होती है इसलिए वह मुझे अधिक प्रिय होता है और मैं उसे प्रिय होता हूँ ।।श्री।।

संगति— अब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि हे प्रणत-वत्सल भले ही ज्ञानी आपको अधिक प्रिय है तो भी क्या आर्त, आदि तीनों भक्तों की आप उपेक्षा करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।। ७/१८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— यद्यपि ये चारों ही उदार हैं क्योंकि कष्ट सहते हुए भी मेरे अतिरिक्त और किसी देवता से कुछ नही माँगते फिर भी ज्ञानी मेरी आत्मा ही है। क्योंकि वह मुझसे भी नहीं माँगता क्योंकि मेरे सेव्य सेवक भाव से युक्त मनवाला मुझको ही श्रेष्ठ गन्तव्य मानकर आस्थापूर्वक मेरे ही श्री चरणों में रम जाता है।

व्याख्या— 'सर्व एव' इस खण्ड में 'एव' शब्द अपि के अर्थ में है। भगवान् का आशय है कि यद्यपि, आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी ये चारों ही उदार हैं। स्वामि-भक्त कुशल सेवक की भाँति मेरे यश की रक्षा करते हैं जैसे निष्ठावान् सेवक अपने स्वानी के यहाँ कष्ट सहता हुआ भी उसके अपयश के डर से दूसरों से कुछ नही कहता उसे यह लगा करता है यदि मैं किसी दूसरे से कुछ मागूँगा तो उसे लगेगा कि इसका स्वामी बहुत ही ह्रदय हीन है। इसी प्रकार से सभी भक्त मेरी प्रतिष्ठा बचाते हैं। जो कुछ माँगना होता है मुझसे माँगते हैं। परन्तु ज्ञानी तो मुझसे भी नही मांगता इसलिए मैं इसकी कानि मानता हूँ।

'सेवक सेवकाई जानि जानकी से माने कानि।' (हनुवाहुक-१२)

अथवा 'आत्मैव' शब्द का 'आत्मा अ इव' इस प्रकार पदच्छेद समझना चाहिए। यहाँ आत्मा शब्द जीवात्मा परक है। अर्थात् जीव और सारा संसार मेरा शरीर है। 'जगत् सर्वं शरीरं ते' (वा०रा०-६/११६/२७) परन्तु ज्ञानी मेरी आत्मा है। क्योंकि वह मुझ पर आस्थावान् है। 'अनुत्तमां' 'नास्ति उत्तमः यस्याः' सा अनुत्तमा' जिससे बढ़कर कोई गति नही हो सकती। इसी सन्दर्भ में श्रीराम चरित मानस में गोस्वामी जी आज्ञा करते हैं—

राम भगत जग चारि प्रकारा। चारिउ सुकृती अनघ उदारा।।
चहूँ चतुर कहं नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहि विशेष पियारा।।
(मा० १/२२/६,७)

वास्तव में पूर्वोक्त चारो भक्तों के लक्षण अर्जुन में ही घटते हैं क्योंकि अर्जुन नित्य परिकर होने से समस्त भक्तों के प्रतिनिधि हैं। जैसे- गीता १/१९ से गीता १/४६ तक आर्त्त २/५ से २/७ के पूर्वार्ध तक जिज्ञासु 'यच्छ्रेयः स्यात्' 'येन श्रेयोहऽमाप्नुयाम्' अर्थार्थी तथा विराट् रूप दर्शन के अनन्तर ज्ञानी। यहाँ जो प्रच्छन्न बौद्धों ने अर्जुन को अशुद्धान्तःकरण कहकर ज्ञान का अनधिकारी कहा वह उनकी कोरी बकवास है। यदि अर्जुन ज्ञान के अधिकारी नही हैं तो ४/४१ में उनके लिए ज्ञानसंछिन्नसंशयः क्यों कहा गया ? यदि अर्जुन ज्ञान के अधिकारी नही हैं तो फिर भगवान् 'उपदेष्यन्ति ते ज्ञानं '

४/३४ 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं' ७/२ 'परं भूयः प्रवक्ष्यामि' 'ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमं' १४/१ 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा' गीता १८/५० इतिते ज्ञानमाख्यातं-१८/६३ इत्यादि वचन कैसे संगत होंगे। क्या भगवान् ने किसी अनधिकारी को ज्ञान देकर शास्त्र की मर्यादा का उल्लघंन किया। वास्तव में इस प्रकार के परम भागवतों के प्रति आक्षेपपूर्ण व्याख्यान से प्रच्छन्न बौद्धों द्वारा शास्त्रार्थ को व्याकुलित कर दिया गया।

संगति—अव भगवान् शरणागति प्रशंसा करते हैं।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। ७/१९

भा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! सम्पूर्ण चराचर जगत् में एक मात्र भगवान् वासुदेव ही व्याप्त हैं। इस प्रकार चिन्तन करने वाला अत्यन्त दुर्लभ महान् आत्मावाला अथवा मैं ही जिसके आत्मा में विराजमान हूँ ऐसा ज्ञानवान बहुत से जन्मों के अन्त में मुझ सर्वसर्वेश्वर परमात्मा को प्रपन्न होता है। अथवा बहुत से जन्मों के अनन्तर सेव्य सेवक भाव रूप प्रशस्त ज्ञान प्राप्त करके इस चराचर जगत में दही में घी की भाँति भगवान् वासुदेव व्याप्त हैं, इस प्रकार चिन्तन करने वाला एकान्त सेवन के कारण बहुत जटिलता के पश्चात् लोगों के सम्पर्क में आने वाला महान् आत्मा वाला महापुरुष शास्त्र विहित षड्विधि शरणागति के द्वारा मुझ परमात्मा को प्रपन्न होता है।

व्याख्या— इस श्लोक का दो प्रकार से अन्वय किया जाता है।

१. सर्वं वासुदेवः इति सुदुर्लभः महात्मा ज्ञानवान् बहूनां जन्मनामन्ते मां प्रपद्यते।

२. बहूनां जन्मनामन्ते वासुदेवः सर्वं इति ज्ञानवान् सुदुर्लभः महात्मा मां प्रपद्यते।

यद्यपि दोनों अन्वयों के अनुरूप दो अर्थ श्लोक के सामान्यार्थ में ही दे दिये गये हैं तथापि यहाँ पदो की भी गम्भीर नवीन एवं शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

यहाँ विषय को स्पष्ट करने के लिए गीता प्रेस का भी बहुचर्चित अर्थ दिया जा रहा है जिससे सुधी जन मेरे और अब तक के विचारकों के वैचारिक वैलक्षण्य को समझ सकेंगे—

बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में तत्त्व ज्ञान को प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है— इस प्रकार मुझकों भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। (गीता ७/१९ गीता प्रेस)

इस अर्थ में कितने दोष है इसका अनुमान आप लगा सकते हैं। क्या आपने 'प्रपद्यते' क्रिया पद का भजन करना अर्थ कहीं देखा है। और तत्त्व ज्ञान के पश्चात् भी यदि भजन

का सिद्धान्त स्वीकारा गया तो प्रकारान्तर से हमारा ही पक्ष स्वीकृत हुआ यहाँ दो वाक्यों की कल्पना की गयी और शास्त्र विरोध भी हुआ। "भक्षितेऽपि लहसुने न शान्तो व्याधिः" लहसुन खाने पर भी व्याधि की शांति तो हुई नही अर्थात् शास्त्र विरोध भी हुआ फिर भी शांकर सिद्धान्त की रक्षा नही की जा सकी।

अतः मेरी व्याख्या ही सनातन धर्मियों को स्वीकार करनी चाहिए। 'सर्वं' यह पद सप्तम्यन्त हैं। अर्थात् 'सर्वस्मिन्' इस विग्रह में 'नि' विभक्ति को सुपां सु-लुक्पूर्व सवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः पा०अ०७/१/३९ सूत्र से 'सु' आदेश होकर फिर उसको अतोऽम् ७/१/२४ सूत्र से 'अम्' आदेश होकर सर्वं हो गया। इस चिदचिदात्मक चराचर जगत् में भगवान् वासुदेव अन्तर्यामी रूप में व्याप्त हैं यह वाक्यार्थ हैं।

प्रश्न—इस व्याख्यान में कोई श्रौत प्रमाण भी है ?

उत्तर—हाँ ! बृहदारण्यक का सम्पूर्ण अन्तर्यामी ब्राह्मण ईशावास्य का प्रथम मंत्र "तिलेषु तैलं दध्नीव सर्पिः" यह मंत्र और इस प्रकार के बहुत से मंत्र है स्मार्त वचनों में गीता ५/१८ वहाँ छे वार सप्तम्यन्त का प्रयोग करके भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है कि सम्पूर्ण इस चराचर जगत् में षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान् मैं सदा व्याप्त हूँ। इसकी व्याख्या पहले विस्तृत की जा चुकी है। वासुदेव शब्द भी वासु और देव दो शब्दों के संयोग से बनता है। वसु धातु आच्छादनार्थक अर्थात् ढंकने के अर्थ में है। वासयति इति वासुः' दीव्यति देवः, वासुरेव देवः इति वासुदेवः अर्थात् जो चराचर जगत् को अपने योग माया के अंचल से ढंककर उसे प्रकाशित कर रहे हैं उन्हें वासुदेव कहते है। इसी व्याख्यान से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ० ३/१४/१) इस सूत्र की व्याख्या कर दी गयी। श्री रामचरित मानस में भी भगवान् राम श्रीलक्ष्मण से कहते हैं—

ज्ञानमान जह एकउ नाहीं।
दीख ब्रह्म समान सब माहीं।। (मा० ३/१५/७)

अब सम्पूर्ण वाक्यार्थ इस प्रकार हुआ कि इस सम्पूर्ण चराचर जगत में सर्वाच्छादक, सर्व प्रकाशक भगवान् वासुदेव व्याप्त हैं 'इति' इस प्रकार चिन्तन करता हुआ। 'सुदुर्लभः' तात्पर्य यह है कि भगवत्साक्षात्कार करने वाला सन्त एकान्त सेवी होकर जनसम्पर्क से दूर हो जाता है। 'अरतिर्जनसंसदि' उसे जनता से चिढ़ हो जाती है। अतः वह किसी एकान्त में छिप जाता है। वैराग्य संदीपिनी में गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं—

तुलसी ऐसे सीतल संता।
रहहि सदा एहि भाँति एकंता ।। (वैराग्य सं० ५०)

'स' महात्मा बुद्धि से सूक्ष्म होने से आत्मा को कहा है। "बुद्धेरात्मा परो महान्" (क०उ०३/१०) ऐसा महान् है आत्मा जिसका अथवा सबसे पूज्य होने के कारण परमात्मा को भी महान् कहा जाता है। 'महान् आत्मनि यस्य' स महात्मा जिसके हृदय में सबके पूज्य परमात्मा निवास करते है वह महात्मा है। ऐसा ज्ञानवान् प्रशस्त ज्ञान से युक्त मैं दास हूँ भगवान् स्वामी है यही इस ज्ञान का प्राशस्त्य है। महर्षि हारीत कहते हैं— "दासभूतास्तु वै सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः। अहं दासो हरिः स्वामी स्वभावश्च सदा स्मरः" ऐसे ज्ञान से सम्पन्न साधक। "बहूनां" 'बहु' शब्द स्वयं बहुत्व का वाचक हैं फिर 'आम्' विभक्ति से क्या लाभ ?

उत्तर—शब्द साधुत्व के लिए ही आम् विभक्ति का प्रयोग हुआ है तो एकवचन से ही कार्य चल जाता है ? यहा आदरार्थ बहुवचन हैं। क्योंकि ज्ञानवान् किसी ऐरू गैरू के यहाँ जन्म नहीं ले सकता। वह तो किसी सम्भ्रान्त कुलीन किसी वैष्णव के यहाँ जन्म लेगा।

'अन्ते' 'समाप्ति' में अथवा अथवा अन्तिम जन्म में 'मां' मुझ सगुण साक्षात्कार परमात्मा को 'प्रपद्यते' प्रपन्न होता है अर्थात् शरणागत होता है। अथवा द्वितीय अन्वय में केवल वाक्य बदल गया है व्याख्या प्रायः समान ही है। अर्थात् बहुत से जन्मों के अन्त में अनन्त जन्मों के पुण्यों के फलस्वरूप सर्वत्र भगवान् ही है इस प्रकार ज्ञानवान् सुदुर्लभ महात्मा मुझे शरणागत होता है। जैसा कि पद्मपुराण में भगवान् कहते हैं—

कीटेषु कोटिशतजन्मसु मानुषत्वं
तत्रापि कोटिशतजन्मसु ब्राह्मणत्वम् ॥
तत्रापि कोटिशतजन्मसु वैष्णवत्वं
तत्रापि कोटिशतजन्मसु मत्परत्वम् ॥

भगवान् कहते हैं कि करोडों जन्मों के पश्चात् जीव मनुष्य बनता है, करोड़ो बार जन्म लेकर मनुष्य ब्राह्मण बनता है। करोड़ों बार ब्राह्मण जन्म लेकर मेरे चरणों में प्रेम का अधिकार प्राप्त करता है। इस प्रकार भगवान् ने शरणागत को ज्ञान से भी उत्कृष्ट कहा ॥ श्री ॥

संगति :—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे प्रपन्नप्रेत्स्यचिन्तामणे यदुकुलसिरोमणे प्रभो ! आपको इस प्रकार समस्त कल्याण गुणगणों के महासागर सुरमुनियों के लिए दुर्लभ होकर भी स्वजन सुलभ जानते हुए भी पामर लोग अन्य देवताओं की शरण में क्यों जाते हैं ? इस प्रकार प्रश्न करते हुए अपने प्रिय परिकर पार्थ के प्रति पार्थ सारथी भगवान् बोले—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।। ७/२०

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! भिन्न भिन्न कामनाओं से जिनका अनन्यत्व लक्षण ज्ञान नष्ट हो चुका है । तथा जो अपनी चंचल प्रकृति के कारण अनियत नियम से चूक गये हैं । अथवा अनियन्त्रित हो चुके हैं, वे अपनी कामनाओं के अनुरूप भिन्न भिन्न नियमों पर आस्था रखकर अन्य देवताओं के शरणागत हो जाते हैं ।

व्याख्या—अन्य देवताओं की शरणागति में मनुष्यों का कोई दोष नहीं होता, भिन्न भिन्न कामनायें ही उनके अनन्यता के ज्ञान को चुरा लेती हैं । जैसे किसी को विद्या की कामना है, उसने "विद्याकामः शिवं जपेत्" यह शास्त्रीय वचन देखा, तो स्वभाव से उसकी अनन्यता टूट जाती है । किसी को दाम्पत्य जीवन सुन्दर चाहिये, उसने "दाम्पत्यार्थमुमां सतीम्" वचन देखकर भगवान् का भजन छोड़कर उमाका भजन करने लगा, क्योंकि अपने स्वभाव से वह चंचल है ।।श्री।।

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं कि, हे लीलापुरुषोत्तम ! आप अपने भक्तों को अन्य देवताओं की उपासना से क्यों नहीं रोकते ? इस पर भगवान् कहते हैं—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। ७/२१

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—मेरा जो जो भक्त मेरे स्वरूपभूत वेदवचनों पर श्रद्धा करके मेरे शरीर अर्थात् विभूतिरूप जिस-जिस देवता की पूजा करने की इच्छा करता है । मैं वेदात्मनारायण उस-उस भक्तकी उस-उस देवता विषयक श्रद्धाको वेदकी विधेयता के आधारपर अचल कर देता हूँ ।

व्याख्या—यहाँ भगवान् का आशय अत्यन्त निगूढ़ है, इसे गम्भीरता से समझना होगा । सभी देवता भगवान् की विभूति होने के कारण भगवान् के शरीर ही हैं । यदि कोई भक्त वेदवचनों पर श्रद्धा करके देवता को तत्तत् कामना की सिद्धि के लिये भगवान् का शरीर मानकर पूजना चाहता है, तो भगवान् उसका निषेध नहीं करते । प्रत्युत उसकी श्रद्धा को अचल कर देते हैं । जैसे किसी ने शिवी की पूजा की, पर शङ्कर के रूप में नहीं, विराट् भगवान् के अहङ्कार के रूप में तथा भगवान् राम के सेवक एवं सखा के रूप में, तो इससे अनन्यता की रक्षा भी हो जायेगी, वेदवचनों का उल्लङ्घन भी नहीं होगा । और जिस कामना के लिये पूजा की है वह कामना भी पूर्ण हो जायेगी ।।श्री।।

संगति—अब अर्जुन को जिज्ञासा होती है, कि साधुजन क्या करते हैं ? इस पर भगवान् कहते हैं—

'स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।। ७/२२

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—वह श्रद्धालु भक्त मुझ परमात्मरूप वेद के वचनपर आस्तिक बुद्धि से युक्त होकर मेरी विभूतिरूप उस देवता की आराधना करता है। और उस देवता के मन्त्र में वेदरूप से मुझ नारायण द्वारा कहे हुये उन्हीं सीमित काम्य पदार्थों को अपने द्वारा पूजित उस देवता से प्राप्त करलेता है।

व्याख्या—जैसे वेदने किसी देवता के पूजन के मन्त्र में जिन दो चार फलों को गिनाया उन्हीं सीमित फलों को देवता अपने आराधक को देते हैं। क्योंकि देवताओं की भी एक सीमा है, और श्रुतिविहित पदार्थों का भी कोई न कोई अन्त है। भगवान् का आशय यह है कि सभी कामनाओं के पूर्ति एक ही देवता से नहीं हो सकती, वह सामर्थ्य तो केवल मुझमें है ॥ श्री ॥

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते है, हे सर्वदेवतात्मन्। यदि कोई आपकी विभूति श्रुतिविहित वचन की रक्षा के लिये, आपसे अतिरिक्त किसी देवता की पूजा करे तो आपत्ति क्या है ? इस पर भगवान् कहते हैं, यदि कोई वेद विधि का निर्वाह करने के लिये, देवताओं को मेरी विभूति मानकर निष्काम भावना से उनकी पूजा करता है, तो कोई आपत्ति नहीं। किन्तु यदि कोइ सकाम भावना से मुझ से भिन्न तत्तद् देवताओं की उपासना करता है, तो उसे सीमित और नाशवान् फल प्राप्त होता है, अन्त में मेरा लोक भी नहीं मिलता, मेरा लोकतो उसी को मिलता है, जो मुझे भजता है। इसी बात को अगले श्लोक में में स्पष्ट कर रहे हैं—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।। ७/२३

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! किन्तु उन अल्पबुद्धि वालों को मुझसे अतिरिक्त देवपूजन से सीमित और नाशवान् ही फल प्राप्त होता है। देवताओं को पूजनेवाले अन्त में देवताओं को प्राप्त करते हैं। परन्तु मेरे भक्त तो अन्त में मुझे ही प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या—भगवान् सकाम देवोपासकों को अल्पमेधा कह रहे हैं, "अल्पा मेधा येषाम् ते अल्पमेधसः तेषाम् अल्पमेधसाम्'यहाँ "नित्यमसिच्प्रजामेधयोः" पा०अ०५-४-१२२ इस सूत्र से असिच् प्रत्यय हुआ। भगवान् कहते हैं, सकाम उपासकों की मेधा अल्प होती है, क्योंकि देवताओं की उपासना में कही हुई श्रुतियों का वे केवल वाच्यार्थ ले लेते हैं, उसके लक्ष्यार्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ पर विचार नहीं करते। देवता सीमित हैं इसी लिये उनके

फल और उनके लोक सीमित हैं। श्रुति मुझे अनन्त कहती है- "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" तै० उ० १-१,

"अपि" का तात्पर्य है कि देवताओं की उपासना में विधि से चूक जाने पर उनके लोक की प्राप्ति में सन्देह हो सकता है। पर मेरे भक्त के लिये विधि का प्रतिबन्ध नहीं है, यहाँ तो "मरा" जपकर भी वाल्मीकि सिद्ध हो गये -

"उलटा नाम जपत जग जाना।
वालमीकि भये ब्रह्म समाना ।। मानस २-२९५-७

इसीलिये मेरे लोक प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं, यही "अपि" का तात्पर्य है ।।श्री।।

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं, हे सर्वसर्वेश्वर ! जब देवताओं से प्राप्त होने वाली कामनाओं का अन्त हो जाता है, तो आपको छोड़कर लोग इन्द्रादि देवताओं की उपासना क्यों करते हैं ? इस पर भगवान् कह रहे हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।। ७/२४

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मेरे सबसे उत्तम तथा अविनाशी सर्वोत्कृष्ट भक्तवात्सल्यादि असंख्य कल्याण गुणगणो से युक्त प्रभाव को न जानते हुये, बुद्धिहीन लोग मुझ अव्यक्त अर्थात् प्राकृत इन्द्रियों से परे चिन्मय शरीरधारी परमात्मा श्रीकृष्ण को "व्यक्तिमापन्नं" साधारण इन्द्रियों से देखा जानेवाला साधारण मनुष्य मान लेते हैं।

व्याख्या—जिसकी अपेक्षा कोई उत्तम न हो उसे अनुत्तम कहते हैं, भगवान् के प्रभाव का कभी व्यय अर्थात् विनाश नहीं होता। "व्यक्तिमापन्नं" भगवान् को अति साधारण मानकर ही शिशुपाल ने उन्हें गालियाँ दी, अतः मुझमें जीवबुद्धि नहीं करना चाहिए ।। श्री ।।

संगति—और भी लोग मुझे सामान्य मनुष्य मानकर मुझसे श्रेष्ठ किसी भी देवता की कल्पना कर लेते हैं, और शिशुपाल दुर्योधनादि की भाँति मेरा अपमान करते हैं। इसी तथ्य को और स्पष्ट कर रहे हैं—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।। ७।।२५।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! योगमाया के अञ्चल से पूर्णरूपेण ढका हुआ मैं सबके लिये प्रकाशित नहीं होता। इसलिए यह मूर्ख संसार मुझ अजन्मा अविनाशी परमात्मा को अपने अभीष्ट के रूप में नहीं जानता। यहाँ भगवान् को अज्ञ जीवों पर दया आ रही है।

व्याख्या—अघटित घटनाको "योग" कहते हैं, उसे सफल करने के लिये भगवान् की जो शक्ति प्रकट होती है, उसे योगमाया कहते हैं। "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" श्वे०-उ० यहाँ योगमाया भगवान् को अञ्चल से समावृत करती है, यही "सम" उपसर्ग का तात्पर्य है। "प्रकाशते इति प्रकाश:" कर्ता में अच् प्रत्यय ॥ श्री ॥

संगति—अब अर्जुन की जिज्ञासा होती है कि हे देवकीनन्दन ! क्या आप सभी को जानते हैं? इस पर भगवान् कहते हैं—

"वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।। ७/२६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं अत्यन्त पूर्व जन्मे हुये, तथा वर्तमान में शरीर धारण किये हुये और भविष्य में शरीर धारण करने वाले सभी प्राणियों को जानता हूँ। किन्तु मुझे कोई भी नहीं जानता, अथवा मुझे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा भी नहीं जानते।

व्याख्या—"च" कार अप्यर्थक है, भगवान् के लिये भूत और भविष्यत् काल नहीं होते, इसीलिये वे सब कुछ जानते हैं। "कश्चन" जो भगवद् भक्ति रहित है, वह भगवान् को नहीं जानता। अथवा 'क' शब्द ब्रह्मा के अर्थ में है, और च अप्यर्थक, एवं नकार द्वय दृढ़ता के लिये। अर्थात् मुझे ब्रह्मा भी नहीं जानते, नहीं जानते ॥श्री॥

संगति—अर्जुन जिज्ञासा करते हैं, जीव आपको क्यों नहीं जानता ? भगवान् उस कारण को स्पष्ट कर रहे हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ।। ७/२७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे भरतवंश में उत्पन्न शत्रुनाशक अर्जुन ! सभी जीव इच्छा और द्वेष से उत्पन्न सुख दुखादि द्वन्द्वों के अविवेक से जन्म के समय सम्मोह अर्थात् विस्मरण को प्राप्त करके पूर्वका सब कुछ भूल जाते हैं, पर मैं नहीं भूलता।

व्याख्या— प्रत्येक जीवकी किसी वस्तु के प्रति इच्छा और किसी वस्तु के प्रति द्वेष होता है, इसीलिये वह सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से मोहित हो जाता है। अत: जन्म के समय असह्य पीड़ा के कारण पूर्वका सब कुछ भूल जाता है, इसीलिये भागवत में शुकाचार्य कहते हैं—

"किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः।

किन्तु भगवान् इच्छा और द्वेष से परे हैं, इसीलिये जन्मकाल में भी उन्हें सम्मोह नहीं होता। श्रीरामावतार में प्रभु श्रीकौसल्या जी को पूर्वजन्म की कथा सुनाते हैं, जैसे—

''ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रति वेद कहैं।
मम उदर सो वासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै।।

उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत विधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै।।
मानस १-२९२-३

इसी प्रकार कृष्णावतार में भी प्रभु ने देवकी जी को पूर्वजन्म की कथा सुनाई

''त्वमेव पूर्वं सर्गे भूः, पृष्णीः स्वायंभुवे सती।
तदायं सुतपानाम प्रजापतिरकल्मषः।।
भागवत १०-३-३३ ।।श्री।।

संगति—अव अर्जुन प्रश्न करते हैं, कि प्रभो! कौन लोग आपको निरन्तर स्मरण करते हैं और कौन आपके चरणों को कभी नहीं भूलते ? इस पर भगवान् कहते हैं—

''येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।। ७/२८

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन! किन्तु जिन पुण्यकर्मा महानुभावों का पाप नष्ट हो गया होता है। वे सुख दुःखादि द्वन्द्वों के मोह से मुक्त हुये प्रपत्तिलक्षण व्रतको दृढ़ता से धारण करके मुझे भजते हैं।

व्याख्या— भगवद् भजन प्रतिबन्धक प्रत्यवाय विशेष ही पाप है, श्रुतिस्मृति पुराणोक्त भगवत् प्रीति के लिये किया हुआ कर्म पुण्यकर्म है। पापी व्यक्तिको भगवान् का भजन नहीं भाता। यथा—

''पापवन्त कर सहज सुभाऊ।
भजन मोर तेहि भाव न काऊ।। मानस ५-४४-३

इसीलिए शास्त्रविहित कर्म करके निष्पाप मनसे मेरा भजन करो, यही सारांश है ।।श्री।।

संगति— अब भगवान् पूर्वोक्त प्रकरण का दो श्लोकों से उपसंहार कर रहे हैं।

''जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।। ७/३०

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो साधक वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्ति पाने के लिये मुझ परमात्मा को प्रपन्न होकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को सम्पूर्ण अध्यात्मको तथा सम्पूर्ण कर्म को जान जाते हैं ।

जो लोग अधिभूत अधिदैव और अधियज्ञ के साथ मुझ परमात्मा को जान लेते हैं। वे मुझमें अपना चित्त लगाकर प्राण के प्रयाण के समय भी मुझे जानते ही रहते हैं । अर्थात् जन्ममरण की पीड़ा उनके मनसे मुझे नहीं विस्मृत करती वे मुझे नहीं भूलते ।

व्याख्या—जरा और मरण ये ही दोनों जीव को भगवान् का विस्मरण कराते हैं, और इनसे मोक्षपाना केवल भगवत्कृपा से सम्भव है । इसीलिये परमेश्वर शरणागति से जीव जरामरण से मुक्त भी हो जाता है । तथा ब्रह्म अध्यात्म-कर्म-अधिभूत-अधिदैव- और अधियज्ञ और उनके साथ सगुण साकार भगवान् इन सातों को जानकर प्रयाण के समय भी प्रभु को नहीं भूलता, यह उपेयका स्वरूप है । इसकी चर्चा भगवान् आठवें अध्याय में करेंगे ॥ श्री ॥

राघव कृपावर भाष्य सुन्दर
शास्त्र सम्मत बुद्धिसे
शाश्वत विशिष्टा द्वैत मण्डित
दिव्यभाव विशुद्धि से ।
अध्याय सप्तम दिव्यगीता
भक्ति विशद सुधा भरी
श्रीरामभद्राचार्यने अति
ललित शुभ व्यख्या कही ।।

श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामीरामभद्राचार्यप्रणीत श्री राघवकृपाभाष्य श्रीमद्भागवतगीतासु ज्ञानविज्ञानयोगोनाम् सप्तमोध्यायः ॥

'श्री राघवः शन्तनोतु'

"श्रीमद्राघवो विजयते"

"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

अथाष्टमोऽध्यायः

मंगलाचरणं

नवीननीलोत्पलदामसौभगो गभीरपाथोनिधितुल्यसाहसः ।
धनुर्धरश्चण्डशिलीमुखाकरस्तनोतु शं धर्मरथस्थराघवः ।। १ ।।

धनञ्जयस्यन्दननूलरत्नं कंसार्णवोच्छोषणसत्प्रयत्नम् ।
नवाब्दरम्यं जगतां प्रणम्यं गीतां गृणन्तं प्रणमाम्यनन्तम् ।। २ ।।

विधुमुखकमलमरन्दितनन्दितविबुध कैरवा गीता ।
वेदेन्दुयोत्स्नेयं विजयत ईड्यचरित्रचारुगीता ।। ३ ।।

संगतिः—अथ सप्तमाध्यायस्य चरमश्लोकयोः श्री कृष्णार्पितचेतसां तद्ब्रह्माध्यात्मसकलकर्माधिभूताधिदैवाधियज्ञज्ञानस्य प्रयाणकाले च स्वज्ञेयत्वस्य सौलभ्यमुक्तं स्वयमेव भगवता । तान्येव सप्तज्ञेयानि प्रश्नबीजीकृत्य पार्थः परमात्मानं अष्टमाध्याये द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां पृच्छति—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्मपुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।। ८/१

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।। ८/२

रा० कृ० मा—पुरुषेषु क्षराक्षराक्षरपरेषु-उत्तमः श्रेष्ठः तत् सम्बुद्धौ हे पुरुषोत्तम ! अथवा सान्ता अजन्ता इति नियमात् अजन्तोऽपि तमशब्दः क्लीबे । उत्क्षिप्तं तमं येन स उत्तमः । पुरुषाणामुत्तमः पुरुषोत्तमः। पुरुषाणां स्वं शरणागतानां जीवानां उत्तम अज्ञानध्वान्तनाशक इति भावः । परं सर्वज्ञवात् न किमपि तवाविदितमिति भावः। भवता पूर्वोक्तं तद् प्रसिद्धं ब्रह्म किम् ? एवमेव भवता संकीर्तितपूर्वमध्यात्मं किम् ? तथाखिलमखण्डितं कर्म किम् ? यतो हि चतुर्थे कर्म

व्याख्यातम्, तृतीयेऽपि। किन्तु अखिलं कर्म न व्याख्यातम् । सप्तमे च ऊनत्रिंशे कर्म चाखिलम् इत्युक्तम् । अतोऽखिलं कर्म जिज्ञासते । एवं अधिभूतं भूतानि अधिकृत्य वर्तते-इत्यधिभूतम् । देव एव दैवम् । स्वार्थेऽण् । तत्किं उच्यते कथ्यते भवता इतिशेषः । दैवमधिकृत्य इति अधिदैवम् । चकारः समुच्चायार्थः । हे मधुसूदन !

अधियज्ञः—यज्ञाधिष्ठाता कः ? अत्र देहे कथम् ? तिष्ठति एवम् प्रयाणस्य सत्कर्मपूर्वकशरीरत्यागस्य काले समये नियतः वशीकृतः आत्मा मनः येषां ते नियतात्मनः तैः नियतात्मभिः । वशी कृतान्तःकरणैः कथं ज्ञेयोऽसि । एवं सप्तप्रश्नबीजानि समाधातुं भगवान् प्रार्थितः पार्थेन ।

इह यद्यपि पूर्वाचार्याणां मते सप्तप्रश्नाः पार्थस्य, कथमिति प्रश्नबीजस्य षण्ठेऽन्तर्भावात् । परन्तु मम मते अत्राष्टौ प्रश्नाः । तथाहि तद् ब्रह्म किम् ? इति प्रथमः । अध्यात्मं किम् इति द्वितीयः । कर्म किम् इति तृतीयः । प्रोक्तं अधिभूतं किम् ? इति चतुर्थः । अधिदैवं किमुच्यते ? इति पञ्चमः । अधियज्ञः कः ? इति षष्ठः । अधियज्ञः अत्र देहे कथम् ? इति सप्तमः प्रयाणकाले नियतात्मभिः कथं ज्ञेयः असि ? इत्यष्टमः । एवमष्टकृत्वः किम् शब्द प्रयोगे कथं सप्तैव प्रश्नाः इति त एव जानन्तु। तथा हि- अष्ठौ प्रश्नान् पर्यपृच्छत्—

पार्थोऽष्टप्रकृतिज्ञतः अष्टमेऽष्टौ जिघांसन् हि देवक्या अष्टमं हरिम् । एवं अष्टौ प्रश्नान् यथा क्रमं विवृणोति भगवान् वासुदेवः ।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ८/३

षडैश्वर्यसम्पन्नो भगवान् उवाच हे पार्थ ! अश्नुते सर्वं व्याप्नोति इत्यक्षरम् । 'सर्वव्यापी सर्वभूतेषु गूढः ॥' कठ·उ० १/३/१२ इति श्रुतेः । न क्षरति न क्षीयते वा इत्यक्षरम् । 'अविनाशी अरेऽयमात्मा' इति श्रुतेः । अक्षाणि इन्द्रियाणि राति जीवाय ददाति इत्यक्षरम् । एवं भूतं परमं पराः परमात्मपदकमलपरायणाः मा जीवाः यस्य तत्परमम् ! परा उत्कृष्टा मा शक्तिः यस्य तत्परमम् एवम् परमम् अमरं ब्रह्म इति प्रश्नोत्तरम्। यद्यपि जीवोऽपि अक्षरः कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ गीता १५/१६ ॥ परमात्मापि अक्षरः। त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ गीता ११/३७॥ किन्तु अक्षरादुत्तमत्वेन उक्तत्वात् परमात्मा जीवतोऽपि ज्यायान् अक्षरादपि चोत्तमः ।।गीता १५/१८ ॥ अतः अक्षरं ब्रह्म इत्युक्ते जीवात्मन्यपि-अतिव्याप्तिः स्यात् तद्वारणाय

परममक्षरं ब्रह्म इत्यक्तं परमत्वं चेह पूज्यमानत्वम् । "सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः" इति पाणिनीयानुशासनात् । जीवापेक्षया परमात्मनि उत्तमत्वं उत्कृष्टत्वञ्च । न खलु सर्वे जीवाः पूजार्हाः गुणदोषमयत्वात् । परमात्मा निर्दोषत्वात् सर्वेषां पूज्यः । यथोक्तं श्रीमद्भागवते-उद्धवेन—

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः
किरीटकोट्येडितपादपीठः ॥ भागवत ३/२/२१

यत्तु केचनाक्षरपदेन जीवात्मनस्तात्पर्यमिच्छन्ति 'अव्यक्तमक्षरे लीयते' इत्यादि श्रुतेः तदसंगतम् । इह प्रयुक्तस्य परमशब्दस्य जागरूकत्वात् । जीवात्मनश्च न च क्वापि ब्रह्मत्वेन अप्रसिद्धत्वात् । यदि अक्षरं जीवार्थकमेव विवक्षितं स्यात् तदा परममिति विशेषणं न दीयेत । अक्षरत्वमुभयोः समानं जीवब्रह्मणोः परन्तु परमत्वं ब्रह्मणि विशेषः । अत एव बृहदाख्यके याज्ञवल्क्यगार्गीसंवादे—

श्रुत्यैव अक्षरस्य प्रकामं प्रशस्तिः कृता । यथा—
सहोवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्व-
ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽपाटवमनाकाशमसङ्ग-
मरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवाङ्मनोऽतेजस्कमप्राणम-
मुखममात्रमनंतरमवाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन
(बृहदारण्यक ३/८/८)

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गर्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गर्गी निमेषा मुहूर्ता अहो रात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सराः इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीचोऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोन्वायत्ताः ॥ ३/८ वृहदराण्य कोपनिषद् ॥

पूर्वं प्रथमः प्रश्नः उत्तरितः । यत् परमत्वे सत्यक्षरत्वं ब्रह्मत्वं इत्यमेवमादिः । इदानीमध्यात्मं निरूप्यते आत्मनि जीवात्मनि अधिकृतं तिष्ठति इत्यध्यात्मम् । यद्वा अधिकृतौ आत्मा तौ जीवात्मपरमात्मानौ येन तदध्यात्मम् । स च स्वभावः । स्वभाव-शब्दे न कर्मधारयः प्रत्युत षष्ठीसमासः । स्वशब्दोऽत्र सेवकवाची । तथाहि—

पूर्वोक्तस्य परमस्याक्षरस्य ब्रह्मणा निरस्तसमस्तहेय-गुणप्रत्यनीकस्य स्वेतरसकलविलक्षणलक्षणस्य निरवधिक-निरतिशयसकलकल्याणगुणगणैकनिलयस्य परम व्योमभूतसाकेतलोककृत-मंगलमयनिवासस्य सीतापतेः श्रीवत्सलाञ्छनधनुर्बाणादिव्याचिन्त्यविचित्रायुधोपेतस्य लक्ष्मणभरतशत्रुघ्नवायुपुत्रप्रभृतिनिरस्तसकलपुंदोषशंकापङ्कलङ्कावकाशदूरतोऽपास्तसमस्तविषमविषविषयाभिलाषशुचिररूचिरसदयहृदयनिहितपद्माभ्यर्चित-पदपद्मपरमपावनपरागानुरागरोलम्बकदंबोचितप्रणतिपिपासनित्यकैंकर्यपरायण-कोटिकोटिपरमहंसपरिव्राजकाचार्यविमलात्ममहात्मतोष्टूयमाननिरभिमानपरम-भागवतसंकीर्तितभववारिधिवहित्रचारुचरित्रनितान्तनिर्मलविगतकश्मलसजलनयननीरन्धनीराजितनीरजनयननिटिलनयननिपुणनिरीक्षमाणप्रणतप्रतिक्षणप्रतीक्षमाणपरमेश्वर-पदपद्मपरिचरणपरमप्रियपरिकरपरिलाल्यमानश्रीमच्चरणकमलयुगलस्य श्रीसीताभिरामस्य रामस्य स्वः सेवकः तस्य भावः स्वभावः । तस्यैव जीवात्मपरमात्मनोरपि समधिकृतत्वात् । इदमेव अध्यात्ममुच्यते ।

यत्तु, सो भावः स्वभावइति कैश्चिदुक्तं तन्न । अध्यात्मस्य तथात्वेनाप्रसिद्धत्वात् । ब्रह्मणः जीवभावः अज्ञानम् । त्वन्मते न खलु कोऽपि मनीषी अध्यात्मज्ञानत्वेनाध्यवस्यति यदि चेत्, स्वः प्रकृतिः तदभावः अध्यात्मं इत्यपि न । श्रीगीतायामपि अध्यात्मस्य ज्ञानरूपेणैव चर्चिष्यमाणतत्वात् । मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ॥ गीता । ११/१

न खलु प्रकृतिः मोहं व्यपोहितुं प्रभवति, न खलु प्रकृतिज्ञानं विद्या कथञ्चित् स्यादपि तथापि न सा भगवदि विभूतिः । अध्यात्मस्य च भगवद्विभूति त्वं अत्रैव श्रीगीतासु दशमे चर्चयिष्यते—

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।। (गीता १०/३२)

तस्माद् स्वभावः सेव्यसेवकभावः । अतएव हारीतः—

दासभूतास्तु वै सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः ।
अहं दासो हरिः स्वामी स्वभावश्च सदा स्मर ।। इति ॥

राद्धान्तयां बभूवुश्च अस्मद् पूज्यचरणाः कविचक्रचूणामणयः हुलसी हर्षवर्धनाः श्रीगोस्वामितुलसीदासमहाराजाः मानसे सप्तमे ।

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजिय रामपदपंकज, अस सिद्धान्त बिचारि ।।

मानस ७/११९ क

एतद्रूपान्तरम्—

तरेद्भवाब्धिं न कदापि कोऽपि,
जनो विना सेवकसेव्यभावम्।
विचार्य चैतं भुजगेन्द्रशत्रो,
भजस्व सीतेशपदारविन्दम्।।

एतेन स्वभावशब्दमन्यथाव्याचक्षाणाः परास्ताः। अथ कर्म व्याचष्टे भवन्ति इति भूतानि, भवनधर्मीणि जीवजातानि। भवः उत्पतिः उत्कृष्टा भवः उद्भवः वृद्धिः भावश्च उद्भवश्च भवोद्भवौ, भूतानां भवोद्भवौ इति भूतभावोद्भवौ तौ करोति तद्धेतुः इति भूतभवोद्भवकरः । कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु पा. अ. ३/२/२० इत्येतेन हेत्वर्थेऽच् प्रत्ययः। जीवोत्पतिवृद्धिहेतुरिति यावत्। एवं भूतो विसर्गः तद्तद्देवोद्देशेन अग्नौ आहुतिप्रक्षेपः विसर्जनाख्यो विसर्गः हविष्त्यागः कर्म संज्ञितः कर्मसंज्ञावान् जीवोत्पत्तिः, वृद्धिहेतुभूतम् अग्नौ विर्विसर्जनं तद्तद्देवतोद्देशकं कर्म विवक्षितम्। यथा भगवान् मनुः—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायतेवृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।। गीता ३/७६

यत्तु जीवानां उत्पत्तिर्वृद्धिकारणं योषिति गर्भाधानरुपेण पुरूषद्वारकं शुक्रविसर्जनं विसर्गः तदेव कर्मेति कैश्चिद् व्याख्यातं तत् अशास्त्रीयम् अनर्गलं च वासनामयत्वात् न वैष्णवैः ग्राह्यम्। तेन योषिति तेजोविसर्जनेन भूतानां सत्यामप्युत्पत्तौ वृद्धेरनिवार्यता दुर्योधनादीनामेवकुपुत्राणामुत्पत्तौ तु पराभव एव नैवोद्भवः । यथा गोस्वामि तुलसिदासैः श्रीमानसे भणितम्—

उदय केतु सम हित सबही के,
कुंभकरण सम सोवत नीके ।(भा० १/४/६)

एतद्रूपान्तरम्—

नैव श्रेयान् सर्वेषां तेषां केतुरिवोदयः।
कुंभकर्णायिता नूनं स्वपन्तो भान्ति दुर्जनाः।।

एवं विधविसर्गस्तु सूकरकूकराणामपि सुलभः । अत्यन्तमप्राप्तौ हि विधिर्भवति तस्माद्यथोक्तं ज्यायः । श्रीः ॥

अथ चतुर्थपञ्चमषष्ठप्रश्नानां समाधानानि चिकीर्षन् आह भगवान्—

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ।। ८/४

भूतेषु इति अधिभूतं अव्ययीभावो विभक्त्यर्थे । यद्वा अधिकृतानि पृथिव्यपतेजोवाय्वाकाशानि येन तदधिभूतम् । क्षरतीति क्षरः, भवतीति भावः, क्षरविनाशशाली अचिद्वर्गः भावः पदार्थः अधिभुक्तं अष्टप्रकृतिविकारात्मकं जगत् पाञ्चभौतिकं च तथा देवता एव दैवतानि स्वार्थे अण् । देवतानि इन्द्रादीनि अधिकृत्य वर्तते इति अधिदैवतम् देवतानामधीश्वररूपं पुरुषः जीवात्मा इह जात्यर्थे एकवचनम् । विनाशशीलस्य चैतस्याचिद्वर्गस्य नियन्ता प्रतिशरीरं निवासी जीवात्मभूतः शरीरिणां प्राणिनां मध्ये वर श्रेष्ठ हे पार्थ अहं परमात्मा श्रीकृष्णः अधियज्ञः । अत्र देहे अस्मिन् शरीरे निजेनैश्वर्येण तिष्ठामि । यज्ञो वै विष्णुः इति शरीरे निजेनैश्वर्येण तिष्ठामि । यज्ञो वै विष्णुः इति श्रुतेः इह कथमित्यस्यापि समाधानं कः इत्यस्यान्ते, कथं इत्यस्यापि, अयं भावः निजेनैश्वर्येण भगवान् सर्वेषु शरीरेषु अन्तर्यामितया तिष्ठति । अतएव काठकाः पठन्ति 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' ॥श्रीः॥

अथाष्टमं प्रश्नं उत्तरयति त्रिभिः—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्रसंशयः ।। गीता ८/५

चकारः समुच्चयार्थः प्रश्नक्रमरक्षणसूचनार्थश्च । तथा च अन्तकाले प्रारब्धक्षयानुकूलसत्कर्ममंडितशरीरावसानसमये, मां निरस्तसमस्तानुपादेयगुणं सततसन्निहितनिखिलनिरतिशयनिरवधिककल्याणगुणैकनिलयं दत्तप्रपन्नाभयं विगतामयं सगुणं साकारं विशदाकारं नवजलधरसुकुमारं हृतभूरिभूमिभारं मनुजावतारं परमोदारं सकलभुवनसौन्दर्यसारं, विशदवपुर्विभाविजितकोटिकोटिमारं परमकरुणाकूपारं भगवतमनन्तं श्रीकृष्णं एवं न तु मदन्यं देवं स्मरन् मनसानुध्याय कलेवरं मद्भजनमहिम्ना क्षीणप्रबन्धं षड्विकारैरविप्रलब्धं मद्भावभाविततया निर्दोषं अतएव पूजितम् । कलेवरशब्दो हि पूजितशरीरार्थे प्रयुज्यते । भगवत्स्मरणेन साधकस्य शरीरमपि भगवदीयतया पूजितं भवति । यथा श्रीमानसे श्रीभुशुण्डिदेवः गरुडं प्रति—

सोइ पावन सोइ सुभग शरीरा।
जो तनु पाइ भजई रघुबीरा ।। मानस ७/९६/२,३

रामविमुख लहि विधिसम देही।
कवि कोविद न प्रसंसहिं तेही ।।

रूपान्तरम्—

तदेव पावनं दिव्यं शरीरं सुभगं हि तत्।
यत्प्राप्य भजते लोको रघुवीरमनामयम्।।

लब्ध्वा विधिसमं देहं श्रीरामविमुखो यदि।
कवयः कोविदास्तं वै न प्रशंसन्ति कर्हिचित्।।

तथाभूतं मत्सेवासमुपयुक्तंकलेवरं मुक्त्वा, सर्पकंचुकमिव विगतमरणजनितक्लेशः निष्प्रयासं विसृज्य भगवत्भजनरसिको हि जननमरणजनितक्लेशैरबाधितत्वादनायासं प्रारब्धजीर्णशरीरं निर्ममः सहजं त्यजति यथा श्री भागवते भीष्मः—

विशुद्धया धारणया हताशुभस्तदीक्षयैवाशुगतायुधव्यथः।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रमस्तुष्टाव जन्यं विसृजन् जनार्दनम्।।
भाग १/९/३२

यथा च श्रीमानसे बाली

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग।।मानस ४/११

रूपान्तरम्—

प्रीतिं विधाय रघुनन्दनपादपद्मे
बाली तथैव विजहौ निजदेहमीड्यम्।
रम्यां यथासुमनसां महनीयमालां
कण्ठान्न वेद मदयुग्द्विरदः पतन्तीम्।।

यः प्रयाति सत्कर्मकृतयथावर्णाश्रमपरिपालितसमस्तवैदिकमर्यादः प्राकर्षेण-निजजीवनयात्रां समाप्य गच्छति स साधकः। 'मद्भावम्'- मम भावः मद्भावः तं मद्भावं ननु यदि जीवो भगवत्सादृश्यमेतीति विवक्ष्यते भगवता तदा—

श्री ब्रह्मजीवयोरभेदः साधितः, यदि चेद्, ब्रह्मजीवयोरभेदः तदा समुपस्थितोऽयं परपक्षः इति चेन्मैवम्—ब्रह्मजीवयोरभेदस्तु ब्रह्मणापि न साधयितुं शक्यः श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासविरुद्धत्वात्। का नाम युष्माकं कथा, वस्तुतस्तु जीवो ब्रह्मणो विशेषणमिति स्थितिः। तर्हि मद्भावमित्यस्य का गतिः यथा भावः भवनम्, भवनं च सत्ता यथा ब्रह्मणो भावं ब्रह्मत्वं यदि भगवता मद्भावं याति इति कंठरवेणोच्यते मद्भावशब्दस्य च मत्वमर्थः यथा घटस्य भावः घटत्वं, पटस्य भावः पटत्वं, घटत्वं यातीति कथने घटो भवति इत्यर्थः आयातः पटत्वं यातीति कथने पटत्वावच्छिन्नः पटो भवति इति सुतराम् स्पष्टं एवं मद्भावं याति मत्वं याति अहं भवतीति भगवतैव उच्यते तर्हि भवतां का शिरःपीडा इति चेत्। नहि मे शिरःपीडा किन्तु मनःपीडा प्रकामं कथं तावत् भवदपलापनस्य। श्रुतिस्मृतिविरुद्धत्वात् इति चेन् मैवं भांणीत् असंज्ञातश्रुतिरहस्यो भवान् न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति इति श्रुतिः ब्रह्मभूयाय कल्पते (गीता १८/५३), इति स्मृतिश्च इति चेत् व्यलीकमवादीः, न तत् प्राणाः उत्क्रामन्ति इत्यस्य तात्पर्यं यन्मदीयस्य जनस्य केनापि प्राणाः नैव ह्रियन्ते न वा परमात्मनः पद-कमलं व्यक्त्वा क्वापि गच्छन्ति। किं बहुना राक्षसानामपि रावणादीनां प्राणाः भगवन्तं विहाय न क्वापि गच्छन्ति। इति श्री रामायणादौ बहुत्र दृष्टम् यथा तत्रैव श्री मानसे—

तासु तेज प्रभु बदन समाना।
सुरमुनि सबहिं अचम्भव माना ।। मानस ६/७०/८

रूपान्तरम्—

कुम्भकर्णस्य तत्तेजो रामस्यमुखमाविशत्।
सर्वे सुराः तथा विप्राः विस्मयं परमं ययुः ।।

यथा तत्रैव रावणस्य—

तासु तेज समान प्रभु आनन।
हरषे देखि संभु चतुरानन ।। मानस ६/१०८/८

रूपान्तरम्—

तेजो रावणदेहोत्थं श्रीरामाननमाविशत्।
दृष्ट्वा चैतज्जहृषतुर्महेशचतुराननौ ।।

यथा च श्री भागवते अघासुरवधप्रसङ्गे—

पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं महज्जयोतिः स्वधाम्ना ज्वलयद्दिशो दश ।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् ।।
भाग १०/१२/३३

एवमेव ब्रह्मभूयाय कल्पते इत्यत्र ब्रह्मत्वाय कल्पते इति नार्थः । इह भुवो भावे पा० अ० ३/१/१०७ इति सूत्रेण भू धातोर्भावे क्यप् प्रत्ययः । तथाहि भवनं भूयं ब्रह्मणि भूयं ब्रह्मणि भूयं ब्रह्मभूयं तस्मै ब्रह्मभूयाय ब्रह्माधिकरणकसत्तायै इति भावः । किञ्च जीवस्य ब्रह्मतादात्म्यव्याख्याने वक्ष्यमाणगीताग्रन्थविरोधः । तथाहि—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।। गीता १४/२

इह साधर्म्यमागता इत्यनेन ब्रह्मणः प्रत्यगात्मभेदः सिद्ध एव । साधर्म्यं नाम-समानधर्मत्वं, समानत्वं नाम तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्वं तथा मम साधर्म्यमागताः इत्यस्य मद्भिन्नत्वे सति मन्निष्ठभूयोधर्मवत्वमागताः इति भावः ।

जीवो भगवतः स्वारूप्यं न प्राप्नोति । अतएव ब्रह्मसूत्रम्—

जगद्व्यापारवर्ज्यं प्रकरणादसन्निहितत्वात् च न खलु क्षोदिष्टो ब्रह्मसूत्र-४/४/१८ । जीवः श्रीवत्सलाञ्छनं प्राप्तुं शक्नोति । सीतापतित्वं हि श्रीराघवस्य ब्रह्मणः साधारणेतरो धर्मः । युक्तं केनचिदुक्तं—

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धृतधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रुप्रलपितम् ।
कृता लंकाभर्तुर्वदनपरिपाटीषुघटना,
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता नत्वधिगता ।।

ननु यदि भवता जीवस्य ब्रह्म तादाम्यं प्रतिसिद्ध्यते तर्हि कथं जटायुषा भगवतश्चतुर्भुजरूपमधिगतं यथा चाध्यात्मरामायणे—

इत्युक्त्वा राघवो प्राह जटायो गच्छ मत्पदम् ।
मत्सारूप्यं भजस्वाद्य सर्वलोकस्य पश्यतः ।।

ततोऽनन्तरमेवासौ दिव्यरूपधरः शुभः ।
विमानंवरमारुह्य भास्वरं भानुसन्निभम् ।।

शंखचक्रगदापद्मकिरीटवरभूषणैः ।
द्योतयन्स्वप्रकाशेन पीताम्बरधरोऽमलः ।।
चतुर्भिः पार्षदैर्विष्णोः स्वादृशैरभिपूजितः ।
स्तूयमानो योगिगणैः राममाभाष्य सत्वरः ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा तुष्टाव रघुनन्दनम् ।।
अध्यात्म रामायण-३/८/४०,४१,४२,४३

तथैव श्रीमानसे—

गीध देह तजि धरि हरि रूपा ।
भूषन बहुपट पीत अनूपा ।।
श्यामल गात विसाल भुजचारी ।
अस्तुति करत नयन भरि वारी ।। मानस ३/३२/१,२

रूपान्तरं—

गृद्धदेहं परित्यज्य धृत्वा रूपं रमापतेः ।
बहुभिर्भूषणैर्युक्तः पीतानुपमवाससा ।।
श्यामगात्रो विशालैश्च चतुर्भिः संयुतो भुजैः ।
वारिविभ्रन्नयनयोः स्तौति रामं खगोत्तमः ।।

इति चेत् समाधीयते । इह भगवता जटायुषे सारूप्यमनुज्ञातं न तु स्वारूप्यं मत्सारूप्यं भजस्वाद्य (अ० रा० ३/८/४०) सारूप्यं नाम समानरूपता, स्वारूप्यं नाम निजरूपता । यदि जटायुः श्रीरामरूपं गृह्णियात् तदा जीवब्रह्मणोरभेदः स्यात्, किन्तु भगवता तस्मै सःरूप्यमनुज्ञातं, समानरूपता वैष्णवं चतुर्भुजरूपं इति शास्त्रे प्रसिद्धम् । तत्र चतुर्भुजे रामभिन्नत्वे सति रामगतभूयोधर्मवत्तया भेदघटितत्वेन समानरूपता निर्विवादा । अतएव परमेष्ठित्रिदैवतकाण्डे- "स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं, सूक्ष्मं प्रोक्तं चतुर्भुजम् । द्विभुजं परात्परं प्रोक्तं तद्रामे परमेश्वरे ॥" अतएव सारूप्यमुक्तिं भजमानेऽपि पीताम्बरधरे विष्णूभूते जटायुषि ब्रह्मतादात्म्याभावादेव जीवभावस्य नित्यत्वात् स्तुतिः संगच्छते, 'तुष्टाव रघुनन्दनम्' (अध्याय रामायण ३/८/४३)

अस्तुति करत नयन भरि बारी (मानस ३/३२/२) इत्यादि संगतं, त्वद्रीत्या जीवब्रह्मतादात्म्ये जटायुषि सजलनयनत्वं स्तुतिकृतत्वञ्च कथं संगच्छेत् । न च भवदभिमतं साधर्म्यं प्राप्तवतः पश्चात् तदाम्यम् इति वाच्यं मैवम्, 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' इत्यादौ बहूक्तिदर्शनात् ब्रह्मणः प्राचुर्येण प्रत्यगात्मभेदसिद्धये वस्तुतस्तु-शंखचक्रादिमत्वं नैव भगवतो साधारणो धर्मः इतरनिष्ठत्वात् । अतएव मानसे-श्री रामरूपस्य इतरधारणा शक्तियुक्तमुक्तम् एकत्वं च—

पूजत प्रभुहिं देव बहु वेषा ।
राम रूप दूसर नहिं देखा ।। मानस १/५५/३

बहुवेषधरा देवा पूजयन्तः प्रभुं मुदा ।
रामरूपं द्वितीयं तु नादृश्यत तदा क्वचित् ।।

वस्तुतस्तु भावः प्रकारः ममभावं मत्प्रकारं विशेषणतां याति इति सर्वं समञ्जसम् । अथवा मयि कृष्णे भगवति भावं परमानुरक्तिरूपं प्रेमप्रसादं याति अथवा भवः भवनं स्थितिः मायि भगवति भावं स्थितिं याति सामीप्यमुक्तिं लभत इति भावः । अत्र विषये संशयो विचिकित्सा वा नास्ति । ।।श्रीः।।

ननु अन्ते या मतिःसा गतिः इत्येष समभियुक्तवादः । तत्र किं मूलम् ? कथं वा अन्ते काले भवन्तं स्मरन् अग्रिमे जन्मनि भवद्भावम् एव प्राप्नोति ? विकल्पेऽस्मिन् अस्ति कश्चननियमः कामचारो वा । इत्यत आह—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।। ८/६

हे कौन्तेय ! यं यं वा भावं अन्ते स्मरन्कलेवरं त्यजति तं तमेव इति । सदा तद्भावभावितः । कुन्त्याः अपत्यम् पुमान् कौन्तेयः । तत्सम्बुद्धौ हे कौन्तेय त्वं परं भक्तःकुन्त्याः पुत्रोऽसि । अतः मम स्मरणे तावकी रूचिर्भविष्यति । इत्यभिप्रायः अन्ते शरीरावसाने यं यं यत् यत्प्रकारकं भावं पदार्थं स्मरन् चिन्तयन् कलेवरं प्रारब्धोपात्तं शरीरं त्यजति तं तं तादृक् प्रकारकं भावम् एति प्राप्नोति । पूर्वार्धे वा शब्दः एवार्थः । सचासौ भावः भगवति भावितः भावः येन स तद्भावभावितः । आहिताग्न्यादित्वात् भावितशब्दस्य परनिपातः एवं भूतः सदैव भवति । यद्वा तस्मिन् स्मृतपूर्वे पदार्थे भावितो भावः येन । यद्वा स एव भावः स्मृतपदार्थभावितः भावः कोडे कृतः येन । एवं भूतः सदैव भवति । अर्थात् यं स्मरन् शरीरं त्यजति तेन भावेन भावितः सन् तमेव प्राप्नोति । ।।श्रीः।।

अथ विषयं उपसंहरन् निष्कर्षं प्राह—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। ८/७

तस्मात् शरीरस्य प्राक्तनजन्मभावमूलकत्वात् सर्वेषु कालेषु अत्र आदरार्थे वहुवचनं सर्वस्मिन् समये मां सर्वभूतहितैषिणं सर्वज्ञं परमेश्वरम् अनुस्मर आनुकूल्येन ध्यानविषयं कुरु च तथा युध्य युद्धस्व । युद्धं कुरु । मयि भगवति अर्पिते मनो-वुद्धी यस्य सः एवं भूतः असंशयं निःसंदेहं मां परमात्मानमेव एष्यषि प्रास्यसि । एकोऽपि क्षणः मत्स्मरणविहीनो न नेयः । अत एव विल्वमंगलेनोक्तम्—

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपंजरान्तस्त्व-
द्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ।।

यः सर्वेषु कालेषु इत्यनेन पवित्रस्यापवित्रस्य पवित्रापवित्रस्य च अवस्था—विशेषस्य ग्रहणं कश्चित् कालः पवित्रो भवति । यथा पर्वसम्वन्धिकालः प्रातः कालो मध्याह्नकालः कश्चिच्चापवित्रः यथा शौचकालः यथा वा निशीथादि कश्चिच्च पवित्रापवित्रः उभयधर्मसंयुक्तः यथा-अभ्यवहारकालः गृहमेधिनां व्यवायकालश्च । किन्तु भगवत् स्मरणं पवित्रे चापवित्रे पवित्रापवित्रे च सर्वेषु कालेषु कर्तव्यमेव । अतएव पौराणिकाः आमनन्ति—

ओम् अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थाङ्गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ।।

भगवत्समरणे हिं कालो न नियमितः यथा प्राहुः परिकलितभावनाभूमयः श्रीकृष्णप्रेमावतारभूताः श्रीचैतन्यमहाप्रभुचरणाः शिक्षाष्टके—

नाम्नामकारिबहुधा निज सर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि जनिनानुरागः ।।

एवम्अनुस्मरः आनुकूल्येन स्मर यथा व्रजगोपिकाः यथोक्तं माथुरनागरीभिः—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भररुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरूक्रमचिन्तयानाः ।।

भागवत १०/४४/६५

तथा च मयि भगवति बासुदेवे मनश्च बुद्धिश्च मनोबुद्धी अर्पिते मनोबुद्धी येन स अर्पितमनोबुद्धिः । मयि समर्पितमनोबुद्धिर्व्यापारः मां परमात्मानमेव एष्यसि प्राप्स्यसि असंशयं अस्मिन् पक्षे नास्ति कश्चित् संशयः ।।श्रीः।।

अथ कथं भवन्तं भगवन्तं जीवः स्मरन् स्मरप्रपञ्चविमुक्तो भवन्तमुपैतु इति जिज्ञासायामाह—त्रिभिः—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।। ८/८

हे पार्थ ! यथा तव माता पृथा मां स्मरति अभ्यासयोगेन तथैव पार्थ इति संबोधनस्याभिप्रायः । अभ्यासः मम नामरूपलीलाधाम्नाम् पौनःपुन्येन चेतसि चिन्तनम्, स एवं योगः इति अभ्यासयोगः । तेन तस्मिन् वा युक्तं इति अभ्यासयोगयुक्तम् । तेन अभ्यासयोगयुक्तेन । अन्यद् गन्तुं तच्छीलमित्यन्यगामी न अन्यगामी नान्यगामी नैकधा इत्यादिवत् सहसुपेति समासः । न च न लोपो कथं न स च नञ् समासे भवति न लोपो नञः पा० अ० ६/३/७३ इति-अनुशासनात् । नलोपाभावे समासे को विशेषः इति चेत् ? संधेरनिवार्यता स्वरवैलक्षण्यमिति गृहाण यथोक्तं पातञ्जलभाष्ये—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ।।

एवं भूतेन चेतसा आनुकूल्येन अनुक्षणं वा चिन्तयन् दिव्यं-दिवि साकेतलोके वर्तमानं दिव्यं, दिवि साकेतलोके दृष्टं वा दिव्यम्, द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् । पा० अ० ४/२/१०१ इत्यनेन शैषिको यत् प्रत्ययः । एवं परमं क्षराक्षरविलक्षणं पुरुषं पुराणं पुरुषोत्तमं परमात्मानं श्रीरामं कृष्णसंज्ञं याति प्राप्नोति ।।श्रीः।।

कीदृशः सः परमपुरुषः इति श्लोकद्वयेनाह—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।। ८/९ गीता

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।। गीता ८/१०

प्रयाणकाले भक्त्या युक्तः योगबलेन भ्रुवोः मध्ये प्राणं सम्यक् आवेश्य अचलेन मनसा कविं पुराणं अनुशासितारं अणोरणीयासं सर्वस्य धातारम् अचिन्त्यरूपम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् यः अनुस्मरेत् स दिव्यं तं परमं पुरुषमुपैति इति अन्वयाकारः। प्रयाणस्य शरीरावसानस्य काले समये भक्त्या मत्परमानुरक्तिरूपया मत्परमाशक्तिरूपया वा परमप्रेमलक्षणया वा भजनाकारया युक्तः योगस्य अभ्यासयोगस्य बलेन महिम्ना पद्धत्या वा भ्रुवोः भ्रकुट्योर्मध्ये प्राणं प्राणवायुं सम्यक् पूरकद्वारा आवेश्य अचलेन निर्मलेन मनसा अचलेन न चलति इत्यचलम् अथवा अकारो वासुदवः तस्मै तदाश्रयाय तद्दर्शनाय चलति व्याकुलीभवति इत्यचलम्। तेन अचलेन मद्दर्शनाय परिकलित व्याकुलताभावेन मनसा चेतसा कविं क्रान्तद्रष्टारं कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः । ईशावास्योपनिषद् इति श्रुतेः । पुराणं पुराणानि शरीराणि आनयति जीव्यति इति पुराणम्। अथवा पुरा वर्तमानं पुरातनं पुरातनमेवपुराणं पृषोदरादित्वात् तकारस्य लोपो णत्वम्। यद् वा पुराणि नवं इति पुराणं पृषोदरादित्वात् वकारलोपः णत्वम्, अनुशासितारं अनुशासकं सर्वजगन्नियन्तारं अणोः सूक्षाज्जीवात्मनोऽपि अणीयांसम् । अतिशयेन अणुं द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ इत्यनेन ईयसुन् प्रत्ययः सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः धातारं पोषणकर्तारं धारणकर्तारं वा-'सूर्या चन्द्रमसौ धाता' इति श्रुतेः । अचिन्त्यम् इन्द्रियमनोबुद्ध्यतर्क्यम् रूपं कृष्णाद्युपलक्षणं यस्य तमचिन्त्यरूपम्। यद्वा अचिन्त्यानि चिन्तयितुमशक्यानि रूपाणि मत्स्यकूर्मबाराहनृसिंहवामनभृगुवररघुबरयदुवनृपवर-विप्रवरमयानि यस्य स अचिन्त्यरूपस्तम्चिन्त्यवर्णं अथवा आदित्यदैवतेन गायत्रीमन्त्रेण वर्ण्यते स्तूयते सः आदित्यवर्णः तम् आदित्यवर्णम्। अथवा आदित्यं

वर्णयति निजजन्मना प्रशंसति इत्यादित्यवर्णः तम् आदित्यवर्णम्। तमसः अविद्यायाः परस्तात् तमसोऽन्धकारात् परस्तात् परिभूतं एवंविधमनन्तगुणगणनिलयं यः साधकः अनुस्मरेत् आनुकूल्येन स्मरति स्मरिस्यति वा सः तम् अष्टविशेषणयुक्तं दिव्यम् अलौकिकं परमपुरुषं चित्रविशिष्टं मायातः परं पुरुषं भगवन्तं मामुपैति उपैष्यति। अत्र किमपि नवीनमुच्यते। अस्याध्यायस्य नवमदशमयोरेकान्वयवतोः श्लोकयोः विशेषणाष्टकं दत्तं भगवते। कविमारभ्य यावत् तमसः परस्तात्। इदं छान्दोग्योपनिषदि श्रीप्रजापतिना प्रोक्तात्मलक्षणाष्टकेन समं संगच्छते। तथाहि-छान्दोग्ये प्रजापतिरिन्द्रविरोचनसम्वादे कथयति—एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युरविशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामःसत्यसङ्कल्पः। तस्यैव लक्षणाष्टकस्य दोहं कृत्वा गोपालनन्दनेन भगवता दुग्धरूपं विशेषणाष्टकं समुपहृतं पार्थवत्साय। यतोऽयमपहृतपाप्मा अतः कविः-निष्पापः क्रान्तं पश्यति यतोऽयं विजरः जरारहितः अतः पुराणि नवा। यतोऽयं विमृत्युः मृत्युरहितः अतोऽयमनुशासिता। मृत्युमप्यनुशास्ति। यतोऽयं विशोकः अतः अणोरणीयान्। अणोः जीवात्मनोरपि सूक्ष्मतरः जीवात्मा कदापि अज्ञानेन कलितशोकः शोचति न खलु परमात्मा विशोकधर्मत्वात्। यतो ऽयमविजिघित्सः अतः सर्वस्य धाता। न खलु जिघित्सावान् सर्वान् दधीत। यतोऽयमपिपासः अतोऽयमचिन्त्यरूपः। अचिन्त्यानि मत्स्याधिवतारभूतानि यस्य तथाभूतः। यतोऽयं सत्यकामः सत्ये कामः इच्छा यस्य तथाभूतः सदा सत्यमेव कामयते अतः हरितवर्णः। सूर्य इव प्रकाशमानः। यतोऽयं सत्यसङ्कल्पः सत्यमेव सङ्कल्पयते नासत्यम् अतस्तमसः परस्तात् अविद्यातः परीभूतस्य इत्येवात्र श्रीकृष्णस्य गोपालनन्दनत्वम्॥ श्रीः॥

अथ ब्रह्मपदस्य महत्वं वर्णयति—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशान्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तन्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ गीता ८/११

विष्णुपदप्रवचनप्रतिज्ञानमाह- वेदान् विदन्ति, विन्दन्ति वा इति वेदविदः। यदक्षरं वेदविदः वदन्ति कथयन्ति सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् क० उ० २/१५ इति श्रुतेः। यतयः यत्नशीलाः वीतरागाः वीतः विशेषण इतः गतः रागः येषां येभ्यो वा ते वीतरागाः। यद्वा विः विष्णु विर्विहगस्तथा विष्णुः इति कोषात्।

तस्मिन् वौ अथवा तं विं विष्णुं मामेव इतः प्राप्तः रागः येषां ते बीतरागाः एतस्य वाऽक्षरस्य गार्ग्यप्रशासने विधृतौ सूर्याचन्द्रमसौ तिष्ठतः वृ० उ० ३/८/९ इति श्रुतेः। यत् पदम् इच्छन्तः अभिलषन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति। अशास्त्रीयाष्टविधमैंथुनं परिहरन्ति शास्त्रीयेषु स्वपत्न्यां विहितेष्वपि स्मरणादिषु ब्रह्मचर्याक्षतेः। अतएव श्रीसीतासहायस्यापि भगवतः श्रीरामस्य ब्रह्मचर्यं प्रसिद्धम्। यथोक्तम् श्रीरामरक्षासु बाल्मीकीय रामायणे च—

फल मूलाशिनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
पुत्रौ दशरथस्यैतौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥

तदेव-तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

दिवीव चक्षुराततं इति श्रुतप्रसिद्धं वैष्णवपदं वस्तु मदभिन्नं ते तुभ्यं अर्जुनाय संग्रहेण उद्देश्यलक्षणपरीक्षामयेन संक्षिप्तवचनेन प्रवक्ष्ये वर्णयिष्यामि—॥श्रीः॥

तत् किं पदं ? तस्य स्मरणस्य प्रकारश्च कः ? इत्यत आह द्वाभ्याम्—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरूध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ ८/१२

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ ८/१३

सर्वाणि नव यानि ऊर्ध्वाधस्तराणि द्वाराणि संयम्य नियम्य हृदि सहस्रकमले मनः संकल्पात्मकमन्तःकरणं निरुध्य कुम्भकेन वशीकृत्य मूर्ध्नि ललाटे आत्मनः निजस्य प्राणं कुम्भकेनाधाय धारयित्वा योगस्य धारणं योगधारणम् आस्थितः समादरेण आश्रितः ओम् इत्येकाक्षरं ब्रह्म प्रणवाकारं वेद व्याहरन् निगदन् मां श्रीकृष्णं आनुकूल्येन स्मरन् चिन्तयन् यः देहं पञ्चभौतिकं त्यजन् विसृजन् प्रयाति देवपथेन गच्छति। स साधकः परमां मम साकेताख्यां गोलोकादिलक्षणां गतिं गम्यते या सा गतिः तां गतिं मम धामात्मिकां याति प्राप्नोति॥।श्रीः॥

अथ परमप्रेमलक्षणस्य अनन्यस्मरणस्य परिणाममाह—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ ८/१४

पार्थेति सम्बोधनं पृथायाः अनन्यचेतसः कृते स्वसौलभ्यसूचनार्थम् । हे पार्थ ! यथानन्यचेतसः स्मरन्त्याः त्वन्मातुः पृथाया अहं सुलभः तथैव, यः कश्चिद् अपि जनः मास्त्यन्यस्मिन् मदतिरिक्ते चेतः चित्तं यस्य एवंविधः साधकः यः मां सततं परमं प्रेमप्रवणेन अनन्यचेतसा स्मरति माम् सकल सौन्दर्यनिकेतं शक्तिसमेतं कोटि कोटि कंदर्पदर्पदलनं प्रणत जनभञ्जनम् स्मरति निरन्तरं ध्यायति तस्य नित्ये युक्तः नित्ययुक्तः । तस्य नित्ययुक्तस्य, यद्वा योगः युक्तं भावे क्तः नित्यं निरन्तरं योगः युक्तं यस्य स नित्ययुक्तः । तस्य नित्ययुक्तस्य योगिनः अभ्यासयोगिनः कृते अहं नित्यशः निरन्तरं सुलभः सुखेन प्राप्तुं शक्यः । केचन नित्यशः इत्यस्य स्मरणे अन्वयमिच्छन्ति सततमित्यस्यापि तन्न मह्यं रोचते । द्वयोरेकार्थत्वे एकेन कार्यसिद्धे इतरस्य वैयर्थ्यात् । तस्मात् स्मरणे सततम् इत्यस्य नित्यशः इत्यस्य च सौलभ्ये अन्वयो न्यायः । शस् प्रत्ययस्त्वत्यन्तस्वार्थिकः । एकैकशः इति भाष्यप्रयोगात् । एकैकशोप्यनर्थाय इति नीतिवचनाच्च । तस्य सुलभः इत्यत्र कर्तृकर्मणोः कृति पा० अ० २/३/६५ इत्यनेन कर्मणि षष्ठी । न लोका व्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम् इति षष्ठी निषेधः इति चेत् ? विवक्षाधीनानि कारकाणि भवन्ति इति नियमात् शेषविवक्षायां षष्ठी । एवं यः अनन्यः इति नियमात् शेषत्वविक्षायां षष्ठी । एवं यः अनन्यः सततं स्मरति तस्याहं नित्यः सुलभः इति श्लोकार्थः । ।।श्रीः।।

अथ भगवत्प्रपत्यनन्तरं किं पुनर्जन्म भवति उताहो न इति जिज्ञासां परिहरति—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।। ८/१५

मां सगुणसाकारं जगदधिष्ठातारं परमेश्वरं तूपेत्य उप शब्दस्य सामीप्यमर्थः । इण् धातुर्हि गत्यर्थः । उपसामीप्येन इत्वा सामीप्यमुक्त्या मां प्राप्यं दुःखानाम् आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानाम् आलयं गृहं अथवा दुःखानि आ समन्तात् लीयन्त्ये श्लिष्यन्ति इति दुःखालयम् । अथ च अशाश्वतम्, क्षणभङ्गुरं पुनर्जन्म संसारे पुनः शरीरग्रहणं नाप्नुवन्ति न लभन्ते । परमां संसिद्धिं वैष्णवपदलक्षणां सामीप्यमुक्तिनाम्नीं गताः अधिगतवन्तः महात्मानः महान् पूज्यः आत्मा मनः येषाम् एवंभूताः जनाः मां कृष्णं प्राप्य क्षणभङ्गुरं सकलदुःखनिकेतनं पुनर्जन्म नाप्नुवन्ति न लभन्ते मया सहैव तिष्ठन्ति ! सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता इति श्रुतेः ।। श्रीः ।। (पृ० १/१)

अथ के-के भवदन्यं प्राप्य कथं जीवाः पुनर्जन्म लभन्ते । इत्यत आह—

आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।। ८/१६

तु हेतौ, हे अर्जुन ! भवन्ति जीवा यस्मिन् तद् भुवनं ब्रह्मणः भुवनं ब्रह्मभुवनम् । ब्रह्म भुवनभभिव्याप्य आब्रह्मभुवनात् पञ्चम्यपाङ्परिभिः पा० अ० २/३/१० इत्यनेन आम् योगे पञ्चमी ब्रह्मभुवनमभिव्याप्य सर्वे लोकाः पुनरावर्तिनः पुनः पुनः आवर्तन्ते तच्छीलाः यद्वा आवर्तनं आवर्तः जीवानां पुनरावर्तः येषु ते पुनरावर्तिनः पुनरावर्तशब्दात् मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः । पुनरावर्तनवन्त इति भावः । ब्रह्मभुवनमभिव्याप्य सर्वेऽपि चतुर्दशलोकाः अतलवितलसुतलतलातलरसातलपातालमहापाताल भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्याः सर्वेष्वपिजीवानां पुनर्जन्म भवति । कर्मचितौ हि लोकः क्षीयते इत्यादिश्रुतेः । नाहं कर्मचितः अत एव मामुपेत्य प्राप्य पुनर्जन्म न विद्यते न भवति न वर्तते नास्ति इति ये व्याचख्युः मत्पूर्वे आचार्याः व्याचक्षते तथैवाधुनिका अपि । अहन्तु लाभार्थकविद्लृ धातोः निष्पन्नं विद्यते इति वर्तमानकालिककर्मवाच्यप्रयोगं स्वीकरोमि । तथा हे कुन्तीपुत्र । मां कृष्णं प्राप्य साधकेन पुनर्जन्म न लभ्यते यद्वा मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते विद्ज्ञाने इत्यस्मात् कर्मवाच्ये पुनर्जन्म न ज्ञायते शरीरधारणं कृत्वाऽपि भगवदवतारकाले भगवल्लीलोपकरणभूतत्वात् भगवता सहचरित्वाच्च लब्धनित्यकैंकर्यपरभागतया सततं सामीप्यमुक्तिमत्वात् भगवत्पार्थक्यभूतपुनर्जन्मानुभूर्तिर्न क्रियते । यथोक्तं रामचरितमानसे जाम्बवता अंगदं प्रति—

निज इच्छा प्रभु अवतरइ महिसुर गोद्विज लागि ।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोक्ष सब त्यागि ।। मानस ४/२७

निजेच्छयैवावतरत्ययं प्रभुः भूमेस्तथा गोद्विजसाधुशर्मकृत् तेनैव साकं सगुणार्चने रताः विहाय मुक्तिं प्रभुसन्निधौ स्थिताः । अथवा हे कौन्तेय ! मामुपेत्य साधकेन पुनर्जन्म न विद्यते न विचार्यते विद् विचारणम् इत्यस्मात ।।श्रीः।।

अथ कियत्कालपर्यन्तः पुनरार्तक्रमः कियत्परिमाणमायुः ब्रह्मणः इत्यत आह त्रिभिः—

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।। गीता ८/१७

यच्छन्दो यथार्थः, तच्छब्दस्याध्याहारः तथार्थस्य यत्तदौर्नित्यसापेक्षत्वात् ते अहोरात्रविदः अजनाः इति पदच्छेदः, अन्वयार्थस्तु ते अहोरात्रविदः अजनाः यत् सहस्रयुगपर्यन्तं ब्रह्मणः अहः विदुः तत् सहस्रयुगपर्यंतां ब्रह्मणः रात्रिं विदुः । ते आदरणीयाः सनकादिमनुपर्यन्ताः महर्षयो राजर्षयश्च, श्रौताः स्मार्त्राः । अहानि च रात्रयश्च तेषां समाहारः अहोरात्राः अहोरात्रान् विदन्ति इति अहोरात्रविदः दिनरात्रि-संख्यापरिमाणज्ञाः । अजनाः अकारोऽहं वासुदेवः तस्यैव ममास्य जनाः वैष्णवाः मदीयाः परमभागवताः । यत् येन प्रकारेण सहस्रं युगानि कृतत्रेताद्वापरकलिनामानि पर्यन्तः अवसानं यस्य तत् सहस्रयुगपर्यन्तं सहस्रचतुर्युगीपर्यवसानं ब्रह्मणः पद्मयोनेः मम पुत्रस्य अहरहः दिनं विदुः जानन्ति तथैव ते ब्रह्मणःरात्रिमपि निशां युगानां चतुर्युगानां सहस्राणि युग-सहस्राणि अंतः यस्याः सा युगसहस्रन्ता तां युगसहस्रान्तां चतुर्युगीसहस्रपर्यन्तां विदुः जानन्ति । अथवा सहस्रयुगपर्यन्तं ब्रह्मणः यथादिनं तथैव युगसहस्रां रात्रिं ये विदुः ते अहोरात्रविदः ॥श्रीः॥

अनन्तरं भाविनीं प्रक्रियामाह—

अयक्तादद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।। गीता ८/१८

अकारः वासुदेवः तस्मात् व्यक्तः गृहीतजन्मा इति अव्यक्तः विष्णुलब्धजन्मा ब्रह्मा इत्यर्थः । अव्यक्तो नारायणः व्यज्यन्ते नामरूपाणि याभिः ताः व्यक्तयः सम्पूर्णप्राणिनः अहरागमे अह्नः दिनस्य आगमः उदयः इति अहरागमः तस्मिन् अहरागमे ब्रह्मणः दिनोदये मद्भिन्नविष्णुजन्मब्रह्मणः सकाशात् सर्वाः व्यक्तयः प्रभवन्ति प्रगटितनामरूपाः मूर्तयः प्रादुर्भवन्ति पुनश्च रात्रेः सहस्रचतुर्युगीपर्यन्तायाः ब्रह्मनिशायाः आगमे आरम्भे सर्वाः व्यक्तयः चिदचिदात्मकमूर्तयः अस्मदादयः तत्रैव तस्मिन् एव अव्यक्तसंज्ञके न व्यक्तानि जीवजगतां नामरूपाणि यस्मिन् सः अव्यक्तः ब्रह्मा अव्यक्तसंज्ञा यस्य स अव्यक्तसंज्ञः तस्मिन् अव्यक्तसंज्ञके शेषाद्वि विभाषा पा० अ० ५/४/१५४ इत्यनेन कथ् प्रत्ययः अव्यक्ते नारायणे वा । प्रलीयन्ते प्रलीनाः भवन्ति ॥श्रीः॥

अथ विषयमुपसंहरति—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।। ८/१९

स एव पूर्वोक्तः अयमेषः भूतानां प्राणिनां ग्रामः समूहः अहरागमे भूत्वा भूत्वा जनित्वा जनित्वा रात्र्यागमे अवशः कर्मविवशः सन् प्रलीयते प्रलीनो भवति । एवमेव

अह्नः ब्रह्मणः दिनस्यागमे प्रभवति आविर्भवति पार्थ इति संबोधनेन संबन्धसूचनमेवं क्रमेण ब्रह्मणः सहस्रयुगपर्यन्तं दिनं सहस्रयुगपर्यन्ता च रात्रिः तन्मानेनैव पक्षाः पञ्चदशदिवसात्मकाः ततो द्विगुणतो मासः, ततो द्वादशगुणितः संवत्सरः ततः शतं संवत्सरं यावत्, ब्रह्मणः आयुः । अस्यां कालव्यवस्थायां सर्वे पुनरावर्तनशीलाः किन्तु ये खलु संसारसागराज्जातनिर्वेदाः परिकलिते इन्दीवरश्यामत्रिभुवनललाम-पूर्णकामसरयूतरलतरंगप्रक्षालितपादारविंदनिष्यन्दमानप्रेममकरन्दपतितपावनपादार-विन्दकोटिकोटिकन्दर्पकमनीयस्वाभिरामरमणीयश्रीमन्मैथिलीरमणमञ्जुलमुख-चन्द्रस्मितचारुचन्द्रिकानिरस्तनिखिलतमस्तोमसुधासन्धुक्षितहृदयसमुल्लसितभीषण-भवभोगभुजङ्गभयघ्नभगवद्भक्तिभागीरथीपरमपावनतरलतरतरुणप्रवाहपरिवर्तनविस्मृत-जगतीतलस्त्रीपुत्रकलत्रधनधान्यस्मरणकृतश्रीमत्सीतापतिचरणसरसीरुहपरमपावन-परिष्वङ्गचिकीर्षामंगलमयमनोरथमहोदधिनिमग्नसंसारसंकल्पकल्पास्तान्नायं कालो बाधते । अत एव मानसे गरुणप्रश्नमुत्तरयता भगवता भुशुण्डिनाप्युक्तम्—

काल धरम नहिं व्यापै ताही ।
रघुपति चरण प्रीति अति जाहीं ।। मानस ७/१०३/६

रूपान्तरम्—

कालस्य किल धर्मोऽयं तं नैव बाधते क्वचित् ।
यस्य चेतसि श्रीरामचरणे प्रीतिरुत्तमा ।।श्रीः।।

अथ इतो विलक्षणपरमतत्त्वं वेदान्तवेद्यं चिदचिद्विशिष्टाद्वैतं सर्वभूतशरण्यं यद् जिज्ञास्यं तद् विवृणोति त्रिभिः—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।। ८/२०

तस्मात् क्षरभूताद् व्यक्तात् अन्यः विलक्षणः सनातनः सदा वर्तमानः अव्यक्तः आत्मतत्त्वरूपः कश्चन् भावः पदार्थः । काचिद् नित्यसत्ता यः स एव सर्वेषु भूतेषु क्षरेषु नश्यत्सु पूर्वोक्तकालक्रमविवशत्वात् नश्यत्सु नाशं गच्छत्सु न विनश्यति न नाशमेति । इत्यनेन चित्सत्ता प्रमाणिता । अयमेव प्रत्यगात्मा । प्रमाता स्वस्वरूपभूता यस्य द्वितीयाध्याये श्लोकविंशत्या विवरणमकारि ।।श्रीः।।

अथ प्रत्यगात्मना सह स्वसम्बन्धं व्याचष्टे—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। ८/२१

अथ स एव प्रत्यागात्मा अव्यक्तः अवाङ्मनसगोचरः तामेव परमां गतिं परमगन्तव्यमाहुः। यत् प्राप्य जीवा न निवर्तन्ते तन्मम परमं धाम। इदं प्राचामनुरोधेन व्याख्यातम्। वस्तुतस्तु तस्माद् देहविशिष्टजीवात्मनः परः अव्यक्तः भावोऽन्यः विलक्षणः स चाहं परमात्मैव। स एव मद्रूपः परमात्मा सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु नाशं गच्छत्सु न विनश्यति। ननु अस्मिन् व्याख्याने द्वितीयाध्यायप्रोक्ता विंशतिश्लोकी व्यर्था? नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि इत्यादिनां का गतिः? इति चेद्? मैवम्! विशेषणनाशेन विशिष्टनाशः इति शास्त्रीयव्यवस्था। यथा दण्डे नष्टे दण्डी नष्ट इत्युच्यते। अतएव देहे नष्टे तद् विशिष्टो देही नष्ट इति व्यवह्रियते। 'नैनं छिन्दन्ति' इत्यादि देहानवच्छिन्नजीवात्मनः कृते इह देहविशिष्टजीवात्मनो नाशः इति सर्वं समञ्जसम्। तस्मात् देहविशिष्टाज्जीवात्मनः नामरूपात्मनाव्यक्तात् विलक्षणः देहानवच्छिन्नः देह-देहि-विभागवर्जितः परिकलितस्वेच्छामयसच्चिदानन्दशरीरः व्रीडितकालिन्दीनीरः सनातनः सदैव वर्तमाने भावः, यः विशेषणनिरपेक्षः- उपाधिनिरपेक्षत्वात् सर्वेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि नैव नाशमेति। भगवतो देहस्य पञ्चभूतव्यतिरिक्ते नाशासम्भवात्। स एव अव्यक्तः चर्मचक्षुर्म्याम् अगोचरः स एव अक्षरः अक्षाणि इन्द्रियाणि राति इति तथाभूतः तमेव परमां गतिमाहुः कथयन्ति वेदाः। स चाहमिति तात्पर्यम्।

भवान् कुत्र तिष्ठतीति इत्यत आह—

यत्प्राप्य प्रकर्षेण गत्वा न निवर्तन्ते जीवाः संसारं न गच्छन्ति तत्परमं पूज्यं परमपरमात्मानं मां मापयति स्वस्मिन् विवेशयति एवंभूतं मम धाम साकेताख्यं गोलोकसंज्ञं धाम। ।।श्रीः।।

स भवान् कथं प्राप्यते इत्यत आह—

पुरुषः स परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।। ८/२२

पार्थ! हे पृथापुत्र! सः पुरुषः परः सर्वतः सूक्ष्मः यथोक्तं कठोपनिषदि—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धि बुर्द्धेरात्मा परो महान् ।।

महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।।

कठोपनिषद् १/३/२/३

सः कथं प्राप्यते इत्यत आह-भक्तेत्यादि । तु शब्दो पक्षान्तर व्यावृत्तये । नास्ति अन्यः आश्रयः यस्यां सा अनन्या तथा अनन्यया परमप्रेमलक्षणया मयि परमानुरक्तिरूपया भक्त्या परमासक्त्या लभ्यः । न त्वन्येन मार्गेण । अतएवोक्तम्—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जाया:किमतीव रूपमतुलं किं वा सुदाम्नो धनम् ।
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरूषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न तु गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ।।

सः कीदृशः पुरुषः । यस्य यत्सम्वन्धावच्छिन्नानि अथवा यस्य अन्तः शरीरे भूतानि स्थितानि यद् वा भूतानि देहविशिष्टानि आत्मजातानि यस्यान्त:स्थानि यस्य अन्तस्तिष्ठन्ति तथाविधानि येन परमात्मना इदं सर्वं चिदचिदात्मकं जगत् ततं व्याप्तं एवं भूतः परः पुरुषः अहं श्रीकृष्णः अनन्ययैव भक्त्या लभ्यः । इति श्लोकहार्दम् ॥श्रीः॥ अथ पञ्चभिः अनावृत्या वृत्तिकालं विवृणोति- इतः पूर्वं जीवितावस्थायां भगवतद्दर्शनमुक्तम् अधुना शरीरत्यागान्तरं भगवत्प्राप्तिरुच्येते । इयान् विशेषः—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।। ८/२३

रा० कृ० भा०—भरतेषु भरतवंशेषुं ऋषभः श्रेष्ठः । इति भरतर्षभः । तत्सम्बुद्धौ हे भरतर्षभ ! यस्मिन् काले प्रयाताः योगिनः शरीरं त्यक्त्वा-अनावृत्तिं नास्ति आवृत्तिः पुनरावर्तनं यस्मिन् सः अनावृत्तिः मम साकेताभिन्नो गोलोकः । तं शरीरं त्यक्त्वा यान्तिप्राप्नुवन्ति यस्मिन् काले च प्रयाता आवृत्तिं ब्रह्मलोकपर्यन्तं पुनरावर्तनं लोकं प्राप्तनुवन्ति । तं उभयमपि कालं त्वां वक्ष्यामि श्लोकचतुष्टयेन कथयिष्यामि । जीवस्य मार्गों द्विविधो भवति देवयानः पितृयाणश्च । देवयानेन गताः मां प्राप्नुवन्ति पितृयाणेन गताः चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य निवर्तन्ते ॥श्रीः॥

तत्र तावत् प्रथमं अर्चिमार्गनामकं देवयानं वर्णयति—

अग्नि ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।। ८/२४

यत्र यत्रेति-अध्याहार्यम् । यत्राग्निः यस्मिन् काले अग्न्यः अभिमानिदेवता योगिनो उपतिष्ठेत ज्योतिः प्रकाशो विलोक्येत अहः दिनावच्छिन्नः कालः स्यात् यद् वा दिनाभिमानीदेवता शुक्लः शुक्लपक्षः उत्तरायणम् उत्तरायणविशिष्टाः षण्मासाः मकरमारभ्यमिथुनपर्यन्ताः एवं विधेकाले प्रयाताः शरीरं त्यक्त्वा ब्रह्म परमात्मानं मां विदन्ति इति ब्रह्मविदः जनाः मद्भक्ताः ब्रह्म परब्रह्मभूतं मामेव गच्छन्ति । अयमर्चिमार्गपरिणामः ।।श्रीः।।

अथ पितृयाणं वर्णयति—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्यातिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।। ८/२५

रा० कृ० भा०—यत्र काले धूमः दृश्येत रात्रि-अभिमानिनी देवता स्यात् दक्षिणायनं कर्कतः धनुपर्यन्तं षड्मासाः श्रावणतः पौषपर्यन्ताः एवं विधे काले शरीरं त्यक्त्वा चन्द्रमसः इदं चान्द्रमसं चन्द्रसम्बन्धिज्योतिः प्रकाशं प्राप्य योगी निवर्तते ।।श्रीः।।

उपसंहरति—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः ।। ८/२६

रा० कृ० भा०—हि निश्चयेन शुक्लकृष्णे प्रकाशाप्रकाशरूपे जगतः संसारस्य शाश्वते नित्ये । ननु शाश्वती समाः इतिवत् कथं न ङीप् । अण् प्रत्ययान्तत्वात् । तस्मात् अत्र शाश्वत्यौ इत्यनेन भवितव्यम् इति चेन्न ? शाश्वतः परमात्मा आश्रयो ययोः ते शाश्वते इति व्याख्याने न दोषात् । एवं विधे गम्यते याभ्यां ते गती गमनपद्धती मते स्वीकृते । एकया शुक्लया गत्या देवपथरूपया करणीभूतया गतः अनावृत्तिं अपुनर्भवं याति । अन्यया पितृयाणरूपया पुनः आवर्तते । पुनरागमनवान् भवति ।।श्रीः।।

निगमयति—

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तत्स्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।। ८/२७

रा० कृ० भा०—स्त्रियते याभ्यां ते सृती एते पूर्वोक्ते शुक्ल कृष्णे सृती गती जानन् कश्चन कोऽपि योगी न मुह्यति अर्जुन ! इति सम्बोधनम् । हे अर्जुन !

द्रोणपरीक्षायां यत्र पक्षिणो नेत्रं त्वया लक्ष्यं कृतं तथैवास्मिन् लक्ष्येऽपि सावधानो भव। हे पार्थ ! तस्मात् सर्वेषु कालेषु जाग्रतस्वप्नसुषुप्तिषु पवित्रापवित्रपवित्रापवित्रेषु प्रातर्मध्याह्नसायाह्ननिशीथप्रत्यूषेषु योगयुक्तो भव। मदाराधनलक्षणसमाधिमान् भव।

अथ फलं निर्दिशति— ॥श्रीः॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ ८/२८

रा० कृ० भा०—वेदेषु ऋग्यजुःसामाथर्वसु वेदपारायणेषु वा यज्ञेषु श्रौतस्मार्तेषु तपःसु चान्द्रायणादिषु दानेषु सात्विकेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टं श्रुतिभिः सेचनार्थं न्यगादि। इदं विदित्वा मदुक्तं पञ्च विंशतिश्लोक्या ज्ञात्वा सम्पूर्णं फलं तत् अत्येति। अतिक्रामति। चानन्तरं योगी मच्चरणारविन्दनिरुद्धचित्तवृत्तिकः आद्यम् अद्वितीयं परमं स्थानं उपैति। सामीप्यभक्त्या प्राप्नोति। विक्लिन्नचित्तस्य अष्टमप्राप्तये यतः अष्टमं मामकं दुष्टं अष्टमोहक ताद्रुतम्।

इति श्री चित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरश्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्यस्वामिरामभद्राचार्य-प्रणीतेश्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासु अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः।

श्री राघवः शन्तनोतु।



"श्रीमद्राघवो विजयते"
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

अथाष्टमोऽध्यायः

मंगलाचरण

नवीननीलोत्पलदामसौभगो गभीरपाथोनिधितुल्यसाहसः ।
धनुर्धरश्चण्डशिलीमुखाकरस्तनोतु शं धर्मरथस्थराघवः ।।

सामान्यार्थ—नवीन नील कमल की माला के समान सौन्दर्य वाले गम्भीर महासागर के समान साहस सम्पन्न धर्नुधर प्रचण्डवाणों से युक्त तरकस धारण किये हुए धर्मरथ पर आरूढ़ लंकेश्वर रावण के विनास के लिए उन्मुख भगवान् श्री राघवेन्द्र सरकार मेरे द्वारा प्रणीत श्री गीता राघव कृपा भाष्य पढ़ने वाले महानुभावों का कल्याण करें ।

धनञ्जयस्यन्दननूलरत्नं कंसार्णवोच्छोषणसत्प्रयत्नम् ।
नवाब्दरम्यं जगतां प्रणम्यं गीतागृणन्तं प्रणमाम्यनन्तम् ।।२।।

सामान्यार्थ—कंस रूप समुद्र के शोषण के लिए जिसने सफल प्रयत्न किया ऐसे तुम भी धनंजय अर्जुन के रथ के नवीन नीलमणि रत्न नवीन बादल के समान सुन्दर सारे संसार के प्रणम्य ऐसे श्री पार्थ को गीता का उपदेश करते हुए अनन्त भगवान् श्री कृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ।

विधु-मुख-कमल-मरन्दितनन्दित-विबुध-कैरवा गीता ।
वेदेन्दुज्योत्स्नेयं विजयत ईड्यचरित्रचारु गीता ।।३।।

सामान्यार्थ—भगवान् श्री कृष्ण के मुख कमल की मकरन्द स्वरूप देवता रूप कैरवों को आनन्दित करने वाली श्रवणीय चरित्र वाले भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा सुन्दर रूप से गायी गयी वेद रूप चन्द्रमा की चन्द्रिका रूप इन श्री मद्भगवत् गीता की जय हो जय हो ।

संगति—भगवान् श्रीकृष्ण ने सातवें अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में अपने श्री चरणों में समर्पित चितवालों के लिए ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत अधिदैव, अधियज्ञ सम्बन्धी ज्ञान की एवं प्रयाणकाल में अपने गेयत्व की सुलभता की चर्चा की । अब आठवें अध्याय में श्री अर्जुन पूर्वोक्त आठ विषयों को ही प्रश्न के बीज बनाकर दो श्लोकों में

भगवान् श्रीकृष्ण से पूछते हैं। अर्जुन के इसी प्रश्न को वैशम्पायन जनमेजय के प्रति अवतरित करते हैं—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
आर्धभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।८/१

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।८/२

सामान्यार्थ—अर्जुन उवाच - अब अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से आठ प्रश्न किये। हे पुरुषोत्तम ! पूर्व अध्याय के अन्तिम दो श्लोक में आप श्री ने जिन आठ विषयों की ओर सङ्केत किया था उनके सम्वन्ध में मैं आपके श्रीमुख से ही सुनना चाहता हूँ। वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है? हे पुरुषों में उत्तम लीलापुरुषोत्तम प्रभु कर्म क्या है ? अधिभूत आपके द्वारा किस प्रकार कहा गया है ? अधिदैव क्या कहा जाता है ? हे मधुसूदन अधियज्ञ क्या है ? वह इस देह में कैसे रहता है ? और अन्तःकरण को वश में करनेवाले साधकों द्वारा आप प्राण के प्रयाण के समय कैसे जाने जाते हैं ?

व्याख्या—भगवान् क्षर अक्षर और अक्षरातीत इन तीनों में उत्तम हैं। 'तम' शव्द अजन्त भी है। इसीलिए सूर्यनारायण को 'तमारि' कहते हैं। उत्क्षिप्तं तमं येन स उत्तमः। पुरुषाणामुत्तमः पुरुषोत्तमः अर्थात् जो अपनी शरण में आये हुए जीवों के अज्ञान रूप तम को दूर कर देते हैं वे भगवान् पुरुषोत्तम हैं। तत् शव्द प्रसिद्ध का वाचक है। अर्जुन सातवें अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में कहे हुए भगवान् के सात विषयों का यहाँ अनुवाद करते हैं और एक अपनी ओर से जोड़कर देवकी के अष्टम पुत्र श्रीकृष्ण से प्रश्नाष्टक पूछते हैं। आत्मा को अधिकृत करके जिस विषय की चर्चा हो वही अध्यात्म है। उसका क्या स्वरूप है ! कर्म क्या है ! अर्थात् तृतीय चतुर्थ अध्यायों में तो कर्म की व्याख्या की गई, तो क्या इसमें आपके द्वारा संकेतित कर्म उससे विलक्षण है ? अधिभूत क्या है ? अर्थात् भूत तो सुना था यह अधिभूत कौन सी बला है ? आपने चतुर्थ अध्याय में यज्ञ की चर्चा के समय दैव की चर्चा की थी। यह अधिदैव, क्या है? चतुर्थ अध्याय में यज्ञ की चर्चा सुनी थी। परन्तु अधियज्ञ क्या है ? 'अत्र देहे कथम्' इस शरीर में वह कैसे रहता है ? क्योंकि आपने २/३० में सबके शरीर में देही के रहने की बात की है। फिर अधियज्ञ वहाँ कैसे रहता है ? और प्रयाणकाल में नियतमन वाले लोग आपको कैसे जानें ? क्योंकि जन्म मरण के समय भयङ्कर पीडा के कारण प्रायशः स्मृति लुप्त हो जाती है। ये अर्जुन के आठ प्रश्न है।

यद्यपि पूर्वाचार्यों ने यहाँ सात ही प्रश्न माने हैं। परन्तु मेरे मत से अर्जुन ने भगवान् से आठ प्रश्न किये। साधक गिन भी सकते हैं। १- तद् ब्रह्म क्या है ? २- अध्यात्म

क्या है ? ३- कर्म क्या है ? ४- अधिभूत क्या है ? ५- अधिदैव क्या है ? ६- अधियज्ञ क्या है ? ७-अधियज्ञ इस शरीर में कैसे रहता है ? ८- प्रयाणकाल में नियतात्माओं द्वारा आप कैसे जानने योग्य हैं ?

इस प्रकार आठ बार किम् शब्द का प्रयोग होने से सात ही प्रश्न कैसे ? यह तो पूर्वाचार्य ही जानें ।

यहाँ मेरा संग्रह श्लोक द्रष्टव्य है—

अष्टौ प्रश्नान् पर्यपृच्छत् पार्थोऽष्टप्रकृतिं गतः ।
अष्टमेऽष्टौ जिघांसन् हि देवक्या अष्टमं हरिम् ।।

अर्थात् आठवें अध्याय में अर्जुन ने आठों दोषों को नष्ट करने की इच्छा से स्वयं भी आठ प्रकृतियों की परिधि में रहकर देवकी जी के अष्टम पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण से आठ प्रश्न पूछे । श्रीः ।

संगति—अब अर्जुन के आठों प्रश्नों को भगवान् क्रम से विवृत कर रहे हैं ।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।। ८/३

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन सर्वव्यापी अविनाशी परम पूज्य अक्षर ही ब्रह्म है । जीव का स्वभाव उस परम अक्षर के प्रति सेवक भाव अर्थात् जीव ब्रह्म के बीच स्वीकृत सेव्य सेवक भाव ही अध्यात्म है । जीवों की उत्पत्ति एवं विवृति का कारण भिन्न भिन्न देवताओं के निमित्त से मन्त्रपूर्वक अग्नि में आहुति दान ही यहाँ कर्म के रूप में विवक्षित है ।

व्याख्या—इस श्लोक में भगवान् प्रथम तीन प्रश्नों के उत्तर दे रहे हैं । १- अक्षरम्- यहाँ अक्षर शब्द की चार व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत हैं - अश्नुते इति अक्षरम् । न क्षरति इति अक्षरम् न क्षीयते इत्यक्षरम् । अक्षाणि इन्द्रियाणि राति ददाति इति अक्षरम् । जो सर्व व्यापक है, जिसका क्षरण नहीं होता, जो क्षीण नहीं होता, जो जीवों को उपभोग के लिए इन्द्रियों का दान करता है वह परमात्मा अक्षर है । इसलिए श्रुति उसे सर्वव्यापी कहती है ।

'सर्वव्यापी सर्वभूतन्तरात्मा' ।

और साथ साथ उसकी अविनाशिता भी स्वीकारती है—

अविनाशीवाऽरेऽयमात्मा । वृहदारण्यक (२।४-५)

२-परमम्—परा: परायणा: मा: जीवा: यस्य तत् परमम् । कोश में 'मा' शब्द जीव का वाचक है । तीनों प्रकार के जीव जिसके परायण हैं उसी को परम कहा जाता है । अथवा 'मा' शब्द शक्ति का वाचक है और पर शब्द उत्कृष्टत्व का । परा उत्कृष्टा मा शक्ति: यस्य तत् परमम् । जिसकी शक्ति उत्कृष्ट है वे भगवान् ही परम हैं । जो कुछ लोग यहाँ 'अक्तमक्षरे लीयते' इस श्रुति के अनुसार अक्षर शब्द से जीवात्मा का अर्थ लेना चाहते हैं वह उनका पक्ष ठीक नहीं है । और अशास्त्रीय तथा अनर्गल भी है । क्योंकि यद्यपि अक्षर शब्द ब्रह्म और जीव दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है तथापि यहाँ जीव में अतिव्याप्तिवारण के लिए ही भगवान् परम शब्द का प्रयोग कर रहे हैं । जीव अक्षर है, परन्तु परमाक्षर नहीं है । परम शब्द के दो अर्थ व्युत्पत्ति से कहे जा चुके हैं और तीसरा पूज्यरूप अर्थ सर्वसामान्य प्रसिद्ध है । इसलिए परम शब्द पाणिनि के मत में पूज्यमान बनकर उसकी पूजा को द्योतित करता है । यथा - सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टा: पूज्ययमानै: यथा—परमवैष्णव: । यहाँ परम शब्द वैष्णवों पा.अ. २।१।६१ की पूज्यमानता को सूचित कर रहा है । उसी प्रकार 'अक्षरं परमं ब्रह्म' इस वाक्य खण्ड में ब्रह्म लक्ष्य है, अक्षर लक्षण है । और परम शब्द उस ब्रह्म के लक्षण अक्षर का विशेषण है । अर्थात् परमत्वे सति अक्षरत्वं ब्रह्मत्वम् । यदि अक्षर शब्द से जीव लिया जाय तो उसमें परमत्व नहीं घटेगा । जीव सबका आराध्य नहीं हो सकता और जीव में सृष्टिरचना रूप उत्कृष्ट शक्ति नहीं होती । और तीसरी बात, जीव सभी का पूज्य भी नहीं हो सकता । यदि कहें कि पूज्यमानता नित्य जीव में रह सकती है, तब वह अक्षरत्व का अवच्छेदक नहीं बन सकता । क्योंकि परमत्व अक्षरत्व का अन्यूनानतिप्रसक्त धर्म नहीं बन पाया । अक्षरत्व बद्धजीव में भी है पर परमत्व नहीं । इस अक्षर की पूज्यमानता के सम्बन्ध में बृहदारण्यक की दो श्रुतियाँ उद्धृत की जा रही हैं जिन श्रुतियों का सारांश ही परमत्व है । महर्षि याज्ञवल्क्य श्री गार्गी से कहते हैं—

स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्य-स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घ-मलोहितमस्नेहमच्छायतमतमोऽवाटवमनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमच शुष्कमश्रोत्रम-वाङ्मनोऽतेजस्कमप्राणमुखममात्रमनन्तरमवाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन। वृहदा. ३।८।८

उन याज्ञवल्क्य ने कहा, हे गार्गि ! उस इस तत्त्व को तो ब्रह्मवेत्ता, अक्षर कहते हैं । यह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम (अन्धकार) है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न अन्तर है, न बाहर है, वह कुछ भी नहीं खाता उसे कोई भी नहीं खाता ।

इसके अतिरिक्त और भी—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि, सूर्याचन्द्रमसौ विधृतो तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः । बृहदा० ३।८।९

हे गार्गि । इस अक्षर के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं । हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में द्युलोक और पृथ्वी विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं । हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, दिन-रात अर्धमास (पक्ष), मास ऋतु और संवत्सर विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं । हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्ववाहिनी एवं अन्य नदियाँ श्वेत पर्वतों से बहती हैं तथा अन्य पश्चिमवाहिनी नदियाँ जिस जिस दिशा को बहने लगती हैं, उसी का अनुसरण करती रहती हैं । हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में मनुष्य दाता की प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमान का और पितृगण दर्वीहोम का अनुवर्तन करते हैं ।

३. स्वभावः—यहाँ स्वभाव शब्द में कर्मधारय नहीं प्रत्युत षष्ठी तत्पुरुष है । स्वस्य भावः स्वभावः । 'स्व' का अर्थ है सेवक अर्थात् परमात्मा के साथ जीव का सेवक-सेव्य भाव ही अध्यात्म है ।

अस अभिमान जाय जनि भोरे ।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे ।। मानस ३।११।२९

गोस्वामी जी ने मानस उत्तर काण्ड में सिद्धान्तरूप में स्वीकार लिया है और स्वयं भी सिद्धान्त निर्णय दिया है कि सेवक सेव्य भाव के बिना जीव संसार सागर से नहीं तर सकता—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि ।
भजिय राम पद पंकज, अस सिद्धान्त विचारि ।। मानस ७।११९ क

जो लोग कर्मधारय करके स्व का अर्थ प्रकृति करते हैं उनकी भूल है । क्योंकि प्रकृति का ज्ञान कोई ज्ञान नहीं है । प्रकृति को भगवान् की विभूति भी नहीं माना गया है । 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'

इसलिए स्वभाव का सेवक सेव्य-भाव ही गीता १०/३२ प्रामाणिक है।

४. अध्यात्मम्—'आत्मनि अधि' जो आत्मा में विद्यमान हो उसे अध्यात्म कहते हैं। मैं दास हूँ भगवान् स्वामी हैं यह भाव जीवात्मा में विद्यमान रहता है। महर्षि हारीत कहते हैं "दासभूतास्तु वै सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः। अहं दासो हरिः स्वामी स्वभावश्च सदा स्मर" अधिकृतौ आत्मानौ येन तत् अध्यात्मम्' जो जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों से सम्बद्ध हो वह अध्यात्म हैं। सम्बन्ध ही दो से सम्बद्ध होता हैं क्योंकि उसे वैयाकरण "द्विष्ठ" अर्थात् दो में रहने वाला धर्म हैं। इस प्रकार सेवक-सेव्य भाव ही जीव का स्वभाव है और वही अध्यात्म कहा जाता है। 'भूत-भावोद्भवकरः' यहां भाव उत्पत्ति के अर्थ में है, और उद्भव उत्कृष्ट भव अर्थात् वृद्धि के अर्थ में है। उनको करने वाला अर्थात् उनका हेतु विसर्ग ही कर्म है। यहाँ विसर्ग का अर्थ है आहुति। विसर्जनं विर्सगः भिन्न-भिन्न देवताओं के उद्देश्य से वैदिक मन्त्र पूर्वक अग्नि में आहुति दान करना कर्म है। आहुति प्रदान से प्राणियों का उत्कर्ष और जन्म भी होता है। क्योंकि अग्नि में पड़ी हुई आहुति सूर्य नारायण को प्राप्त होती है। उनसे अनुकूल बादल बनते हैं। उनसे सात्विक वृष्टि होती है। वृष्टि से सुन्दर अन्न उत्पन्न होता है और उस अन्न से निर्मित तेजस्वी शुक्र और रज से विख्यात संतान की उत्पत्ति होती है। जैसे कि भगवान् मनुभी कहते हैं—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।। (मनु० ३।७६)

जो कुछ लोग गर्भाधान क्रिया को ही विसर्ग कहते हैं और वही उनकी दृष्टि में कर्म है तो उनका पक्ष ठीक नही है। क्योंकि वह पूर्णतया वासनामय है। वैष्णवों को उसका आदर नही करना चाहिए। अथवा सभी सन्तान उन्नति ही करें यह कोई अनिवार्य नही है। जैसे धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि। इस लिए मेरा ही अर्थ न्याय संगत है ॥ श्री ॥

संगति—अब चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ प्रश्न का समाधान करने के लिए भगवान् अग्रिम श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।। ८।४

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! विनासशाली नष्ट होने वाला अष्टधा प्रकृति का विकारजात अचित् पदार्थ ही अधिभूत है। तथा प्रत्येक शरीर में रहनेवाला जीवात्मा ही अधिदैव है। हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! अधियज्ञ मैं हूँ और मैं ही इस देह में अपने अतर्कित प्रभाव से अन्तर्यामी स्वरूप में निवास करता हूँ।

व्याख्या—पांचो भूत और तीनों प्रकृति से निर्मित यह भाव पदार्थ अचिद्वर्ग ही अधिभूत है। क्योंकि सभी भूतों में रहता है, अथवा इसने सबको अधिकृत किया है। पुरुष अर्थात् यह जीवात्मा ही आधिदैवत है। यही इन्द्रादि सभी देवताओं का अधीश्वर है। भगवान् ने अपने को अधियज्ञ कहा। "यज्ञो वै विष्णुः' इस श्रुति के अनुसार विष्णु ही यज्ञ हैं। वही जब अन्तर्यामी रूप में शरीर में विराजते हैं तो उन्हें अधियज्ञ कहा जाता है। 'अधि भृतः यज्ञः अधियज्ञः' आप कैसे अधियज्ञ हैं, अथवा इस देह में कैसे रहते हैं ? इसका उत्तर भगवान् ने एव से दिया। 'एवकार' से ऐश्वर्य का संकेत है। तुम देहभृतांवर। देह धारण करने वालों में श्रेष्ठ हो। इसलिए मैं तुम्हारे लिए नयनगोचर हूँ। एव से अन्ययोग से व्यवच्छेद करते हैं अर्थात् मेरे अतिरिक्त वहाँ कोई नहीं रह सकता यही 'कथं' का उत्तर है ॥श्री॥

संगति—अब भगवान् तीन श्लोकों से आठवें प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ८/५

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! शरीर के अवसान के समय जो साधक कोटि-कोटि कन्दर्प-दर्प दलन सगुण साकार मुझ परमात्मा को ही स्मरण करता हुआ अपने शरीर को छोड़कर प्रयाण करता है, वह मद्भाव अर्थात् मेरे ही श्री चरण कमल के समीप स्थान पा लेता है इसमें कोई संशय नही है।

व्याख्या—यहाँ चकार समुच्चयार्थक है अथवा प्रश्न क्रम की रक्षा का सूचक है अर्थात् अब अष्टम प्रश्न का उत्तर सुनो- अन्तकाले अर्थात् अनुकूल प्रारब्ध के क्षय होने पर सत्कर्मों से सुशोभित शरीर के अन्त में 'माम्' यहाँ माम् शब्द सगुण साकार परमेश्वर का बोधक है। अर्थात् मुझ निरतिशय, निरवधिक, कल्याण गुणगणनिलय, सच्चिदानन्दघन, कोटि कन्दर्प कमनीय स्वाभिराम रमणीय, मुनिजन मननीय, अशरण-शरण, राजीव लोचन परमात्माश्रीकृष्ण को।

स्मरण—अनन्यभाव से स्मरण करते हुए। कलेवरम् :- पूजित शरीर को कलेवर कहते हैं। भगवान् के स्मरण से शरीर पावन को जाता है। जैसा कि उत्तर काण्ड में भुशुण्डि जी गरूड़ से कहते हैं—

सोइ पावन सोइ सुभग शरीरा।
जो तन पाइ भजिअ रघुबीरा ॥

मुक्त्वा—शब्द का तात्पर्य है, अनायास छोड़कर अर्थात् मेरा स्मरण करने वाले को जन्म-मरण का क्लेश नहीं सहना पड़ता। भगवत् भक्त रसिक भगवान् के भजन की

महिमा से शरीर के प्रति ममता शून्य होकर उसे अनायास ही छोड़ देता है। उसको शरीर छूटने का भान भी नही होता। जैसा कि श्री मद्भागवत में भीष्म के प्रति कहा गया है।

विशुद्धया धारणया हताशुभस्तदीक्षयैवाशुगतायुधव्यथः।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रमस्तुष्टावजन्यं विसृजन् जनार्दनम् ।।
(भा०-१/९/३२)

अर्थात् भगवान् की विशुद्ध धारणा से भीष्म में सम्पूर्ण अशुभ समाप्त हो गये और प्रभु को निहारने मात्र से उनके शरीर में व्याप्त अर्जुन के बाणों से जनित व्यथा चली गयी। सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार से वर्जित भीष्म अपने पांच भौतिक शरीर को छोड़ते हुए भगवान् की स्तुति करने लगे। इसी प्रकार श्रीमानस में बालि के शरीर त्याग के सम्बन्ध में कहा गया है -

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तन त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग ।।मानस - ४/११

'प्रयाति' का तात्पर्य है कि जो सत्कर्म करके वर्णाश्रम मर्यादा के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का परिपालन करके अपनी जीवन यात्रा को प्रकृष्टता से सम्पन्न करके जाता है यही उसका प्रयाण है।

मद्भावं—अर्थात् वह मेरे भाव को प्राप्त होता है। इसमें कोई संशय नही है।

पूर्व पक्ष—यदि यहाँ मद्भाव शब्द से भगवान् यह कहना चाहते हैं कि जीव मेरे अर्थात् ब्रह्म के सादृश्य को प्राप्त कर लेता है तब तो जीव और ब्रह्म का अभेद सिद्ध हो गया। तब तो परपक्ष अर्थात् अद्वैतवाद आपके गले पतित हो गया।

उत्तर पक्ष—ऐसा मत बोलिए- ब्रह्म और जीव का अभेद तो ब्रह्मा भी नहीं सिद्ध कर सकते। क्योंकि ऐसा करने पर श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास का भयंकर विरोध हो जायेगा। तुम्हारी क्या बात वास्तव में तो जीवब्रह्म का विशेषण है, यही शास्त्र की मर्यादा है।

पूर्व पक्ष—तो फिर मद्भाव शब्द की क्या गति होगी। क्योंकि भवन अर्थात् सत्ता को ही भाव कहते हैं। इसलिए मद्भाव का अर्थ होगा 'मत्व' जैसे किसी ने कहा-घटस्य भावः घटत्वम्, अर्थात् वह घटभाव को प्राप्त करके घट हो गया। इसी प्रकार पटत्वं कहने से 'पट' भाव को प्राप्त करना अर्थात् जीव अहं यानी ब्रह्म हो जाता है। इति भगवान् ही ऐसा कहना चाह रहे हैं। तो आपके सिर में क्यों पीड़ा हो रही है ?

उत्तर पक्ष—मुझे सिर में पीड़ा नही है पर मन में बहुत पीड़ा है।

पूर्व पक्ष—क्यों ?

उत्तर पक्ष—क्योंकि आपका अपलापन श्रुति, स्मृति से विरुद्ध है ।

पूर्व पक्ष—ऐसा मत बोलिए । क्योंकि आप श्रुति रहस्य को नही जानते हैं । श्रुति स्वयं कहती है 'न तस्य प्राणा: उत्क्रामन्ति' जीवन्मुक्त के प्राण अन्यत्र नहीं जाते वह ब्रह्ममय हो जाता है । इससे जीव-ब्रह्म का अभेद सिद्ध हो गया । और स्मृति भी कहती है - कि साधक शरीर छोड़कर ब्रह्ममय हो जाता हैं (गीता १८।५३)

उत्तर पक्ष—तुम झूठ बोले- 'न तत् प्राणा: उत्क्रामन्ति' का अर्थ है कि भगवदीय भक्त के प्राणों को कोई हरण नहीं कर सकता अथवा भगवन् के श्रीचरण कमलों को छोड़कर भगवद्भक्त के प्राण कहीं नही जाते । बहुत क्या कहा जाय रावणादि राक्षसों के प्राण भगवान् को छोड़कर कहीं नही जाते । जैसे कुम्भकरण और रावण दोनों के प्राण के सम्बन्ध में मानस में कहा गया है ।

तासु तेज प्रभु बदन समाना ।
सुरमुनि सबहि अचम्भव माना ।।
तासु तेज समान प्रभु आनन ।
हरषे देखि संभु चतुरानन ।।

जैसा कि श्रीमद्भागवत में अघासुर वध प्रसंग में कहा गया है—

पीनाहिभोगोत्थमद्भुतं महज्ज्योति:स्वधाम्ना ज्वलयद्दिशो दश ।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीश निर्गमं विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् ।।
(भागवत १०/१२/३३)

उस अजगर के स्थूल शरीर से एक अत्यन्त अद्भुत और महान् ज्योति निकली । उस समय उस ज्योति के प्रकाश से दसों दिशाएँ प्रज्वलित हो उठीं । वह थोड़ी देर तक तो आकाश में स्थित होकर भगवान् के निकलने की प्रतीक्षा करती रही । जब वे बाहर निकल आये तब वह सब देवताओं के देखते देखते उन्हीं में समा गयी ।

इसी प्रकार 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इस वचन का 'ब्रह्मत्वाय कल्पते यह अर्थ नहीं है । इसी प्रकार ब्रह्मभूयाय शब्द ब्रह्म उपपद 'भू' धातु से भुवो भावे पा० अ० ३।१।१०७ सूत्र से भाव में क्यप् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है ।इसलिए इसका सरलार्थ होगा कि ज्ञानी व्यक्ति ब्रह्म के समीप स्थित अर्थात् निवास प्राप्त कर लेता है । इतना ही नही यदि जीव का ब्रह्म से अभेद सिद्ध करोगे तब तो गीता १४।२ का विरोध हो जायेगा । वहाँ भगवान् ''मम साधर्म्यमागता:' कहकर स्वयं तादात्म्य का निषेध कर रहे हैं । अर्थात् जीव भगवान् के कुछ धर्मों को प्राप्त कर लेता है परन्तु उनके श्रीवत्स लाञ्छनादि गुण जीव को कभी नही मिलते । यहाँ 'साधर्म्य' कह कर भगवान् ने जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट सिद्धकर

दिया। समान धर्मता को ही साधर्म्य कहते हैं। और समानधर्मता भेद घटित ही होती है। क्योंकि उपमेय से भिन्नता में उपमेय के प्रचुर धर्म जब उपमान में आते हैं तब समानता होती है।अतः मम साधर्म्य मागताःका अर्थ हैं कि मुझसे भिन्न होकर जीव मेरे बहुत से धर्मों को प्राप्त कर लेता है। जीव भगवान् का स्वारूप्य नही प्राप्त कर सकता इसीलिए ब्रह्मसूत्र में भी कहा गया है - सामान्य जीव श्रीवत्सलाञ्छन नहीं प्राप्त कर सकता। भगवान् का सीतापतित्व उनका असाधारण धर्म है। इसलिए ठीक ही किसी ने कहा है—

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रुप्रलपितम्।
कृता लंकाभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता।।

अर्थात् एक भिक्षुक कहता है कि मैं भगवान् राम के ही समान स्वर्णमृग तृष्णा से व्याकुल होकर जनस्थान में भ्रमण करता रहा अर्थात् उन्होंने जनस्थान नामक वन में भ्रमण किया और मैंने जन अर्थात् लोगों के स्थानों में भ्रमण किया। उन्हे कनक मृग की तृष्णा थी और मुझे कनक की मृगतृष्णा भी। उन्होंने (वैदेहि) सीते कहकर रोया और मैने वै देहि (हमे निश्चय ही कुछ दो) कहकर रोया। उन्होंने लंका अर्थात् रावण के वदन परिपाटी घटना अर्थात् बाण का प्रयोग किया तथा मैने अलं व्यर्थ ही का भर्ता कृपण राजाओं के वदन परिपाटीषु मौखिक चाटुकारताओं पर घटना लच्छेदार शब्दो का प्रयोग किया। इस प्रकार मयाप्तं रामत्वं मैने रामजी का सब गुण प्राप्त कर लिया तु किन्तु 'कुशलवसुता न अधिगता' उन्हें तो कुशलव पुत्र वाली सीता जी मिल गयी परन्तु मुझे न तो सीता जी मिली और न ही कुशलवसुता अर्थात् प्रचुर धन भी नहीं मिला।

पूर्वपक्ष—यदि आप जीव के साथ ब्रह्म का अभेद नहीं मानते तो फिर अध्यात्म रामायण तथा मानस में वर्णित जटायु जी की सारूप्य मुक्ति कैसे संगत होगी।

क्योंकि दोनों ही ग्रन्थों में जटायु की चतुर्भज रूप प्राप्ति स्पष्ट कही गयी है। जैसे अध्यात्म रामायण में—

इत्युक्त्वा राघवो प्राह जटायोर्गच्छ मत्पदम्।
मत्सारूप्यं भजस्वाद्य सर्वलोकस्य पश्यतः।।

ततोऽनन्तरमेवासौ दिव्यरूपधरः शुभः।
विमानं वरमारुह्य भास्वरं भानुसन्निभम्।।

शंखचक्रगदापद्मकिरीटवरभूषणैः।
द्योतयन्स्वप्रकाशेन पीताम्बरधरोऽमलः।।

चतुर्भिः पार्षदैर्विष्णोः स्वादृशैरभिपूजितः ।
स्तूयमानो योगिगणैः राममाभाष्य सत्वरः ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा तुष्टाव रघुनन्दनम् ।।
(अध्यात्म रामायण - ३।८।४०,४१,४२,४३)

अर्थात् ऐसा कहकर भगवान् राम ने कहा हे जटायु जी ! आज सभी लोगों के देखते-देखते आप मेरे परमपद साकेत लोक को जाइये और मेरी सारूप्य मुक्ति स्वीकारिये। इसके अनन्तर जटायु ने दिव्य रूप धारण कर लिया । अर्थात् उन्हें वैष्णव चतुर्भुज रूप मिला । वे सूर्य के समान जाज्वल्यमान विमान पर आरूढ़ होकर तथा शंख, चक्र, गदा, पद्म, किरीट एवं श्रेष्ठ आभूषणों से युक्त जटायु अपने प्रकाश से सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित कर रहे थे । वे निर्मल हो चुके थे । वे नारायण के समान पीताम्बर धारण किये हुए थे । उस समय भगवान् विष्णु जी के चार पार्षद नारायण के समान रूप धर कर जटायु की पूजा कर रहे थे । सभी योगिजन दिव्य स्तुतियों से जटायु की स्तुति कर रहे थे फिर भी जटायु अपने जीव भाव को नहीं भूले और आखों में आंसू भरकर दोनो हाथ जोड़कर विनम्रता पूर्वक भगवान् श्रीराम को सम्बोधित करके स्तुति करने लगे । इसी प्रकार मानस में भी—

गीध देह तजि धरि हरि रूपा । भूषन बहुपट पीत अनूपा ।।
श्यामल गात विशाल भुजचारी । स्तुति करत नयन भरि वारी ।।
(मानस. ३।३२।१,२)

उत्तर पक्ष—अब समाधान दे रहे हैं । जटायु के लिए भगवान् ने सारूप्य मुक्ति की आज्ञा दी है, स्वारूप्य की नही । स्वरूप और सरूप में अन्तर है । अपने समान रूप को सरूप कहते है और अपने रूप का स्वरुप । जटायु को भगवान् श्री राम ने अपना द्विभुजरूप नहीं दिया । उन्हें भगवान् नारायण का चतुर्भुज रूप मिला जो राघव सरकार का सरूप है अर्थात् समान रूप हैं । चतुर्भुज रूप में राम रूप से भिन्नता होते हुए भी रामरूपगत 'भूयोधर्मवत्ता' रूप समानता है । 'मत्सारूप्यं भजस्वाद्य' भगवान् ने स्वारूप्यं तो नही कहा परमेष्ठी त्रिदैवत काण्ड में भगवान् के स्थूल, सूक्ष्म और परात्पर इन तीन रूपों की चर्चा है । उनमें अष्टभुज स्थूल, चतुर्भुज सूक्ष्म, और द्विभुज परात्पर माना गया है—

स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं प्रोक्तं चतुर्भुजम् ।
द्विभुजं परात्परं प्रोक्तं तद्रामे परमेश्वरे ।।

यदि तुम्हारे अनुसार ब्रह्म जीव का अभेद माना जाय तो जटायु का सजल नयन होना, और हाथ जोड़कर भगवान् की स्तुति करना यह सब कैसे घटेंगे । जब कि वैष्णव

रूप प्राप्त करने पर भी जटायु का जीव भाव बना हुआ है । क्योंकि जीव नित्य है । यदि कहो कि पहले जीव का साधर्म्य प्राप्त होता है फिर वह ब्रह्ममय हो जाता है तो ऐसा भी नहीं कहना चाहिए । क्योंकि गीता १४/२ के उत्तरार्ध में भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि मेरे समान धर्मा महानुभाव न तो सृष्टि के समय जन्म लेते हैं और नही प्रलय के समय व्यथित होते हैं । इस वचन से जीव का बहुत्व और नित्यत्व स्वयं ही सिद्ध हो जाता है । वास्तव में शंख चक्रादिमत्व भगवान् का असाधारण लक्षण नहीं है । वह तो और लोगों को मिल जाता है । परन्तु धनुर्बाणोपलक्षित, श्रीवत्सलाञ्छनवत्व ही भगवान् का असाधारण धर्म है । जो श्रीराम के अतिरिक्त कहीं नही मिलता । इसीलिए मानस में सती मोह प्रसंग में गोस्वामी जी कहते हैं - कि "सती जी ने सब कुछ अनेक रूपों में देखा परन्तु रामरूप दूसरा नही दिखा ।"

पूजत प्रभुहि देव बहु वेषा । राम रूप दूसर नहि देखा ।।

वास्तव में व्याकरण की दृष्टि से 'भाव' का यहाँ प्रकार अर्थ है और प्रकार का अर्थ विशेषण होता है । अर्थात् मेरे स्मरण से जीव को अपनी भगवत् विशेषणता का बोध हो जाता है अथवा भाव का अर्थ अनुराग है । मेरा स्मरण करता हुआ साधक शरीर को छोड़कर अग्रिम जन्म में भी मुझ श्रीकृष्ण विषयक परमप्रेम प्राप्त कर लेता है । अथवा 'भाव' का 'स्थितिमद्भाव:'। सप्तमी का सामीप्य अर्थ माना जायेगा । इस प्रकार सम्पूर्ण श्लोक का यों अर्थ समझना चाहिए । शरीर के अवसान के अन्तिम क्षण में मेरा स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जो साधक प्रयाण करता है वह मेरे समीप निवास प्राप्त कर लेता है इसमें संशय नही है । इस प्रकार सब कुछ ठीक हो गया ।। श्री ।।

संगति—अब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि महापुरुष लोग ऐसा कहते हैं कि अन्त में जैसी बुद्धि होती है अगले जन्म में वैसी ही गति मिलती है । इस वाक्य में क्या प्रामाण्य है, अथवा मरण के समय आपका चिन्तन करता हुआ व्यक्ति अगले जन्म में आपके ही भाव को क्यों प्राप्त करता है ? इस प्रकार भगवान् कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ।। ८।६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अन्त में साधक जिस-जिस भाव का चिन्तन करता हुआ शरीर का त्याग करता है अगले जन्म में वह उसी-उसी भाव अर्थात् पदार्थ को प्राप्त करता है और निरन्तर उसी भाव से भाविता रहता है ।

व्याख्या—कौन्तेय शब्द का तात्पर्य है कि तुम परम भागवत कुन्ती के पुत्र हो । अत: तुम्हारे लिए मेरा स्मरण सुगम है । प्रथम चरण में वा शब्द एव के अर्थ में है । 'सदा तद्भावभावित:' इस शब्द में अनेक समासों की सम्भावना है । स चासौ भाव:

तद्भाव:तद्भावेन भावित: तद्भावभावित: अर्थात् वह निरन्तर उसी भाव से भावित रहता हैअथवा स: भाव: भावित: येन स तद्भावभावित: । वह उसी भाव का चिन्तन करता रहता है इससे सदैव उसी भाव में भावित रहता है । उससे छूट ही नहीं पाता । अथवा, तस्मिन् भाव: भावित: येन स तद्भावभावित: येन । वह चिन्तनीय पदार्थ में अपने भाव का समर्पण कर देता है । अथवा तेन भगवता भाव: भावित: येन । भगवान् के द्वारा ही वह उस भाव के चिन्तन के लिए विवश हो जाता है । इसलिए अन्त में भगवान् का भजन करना चाहिए । लोकोक्ति भी है-अन्त भला सो सब भला । श्री ।

संगति—अब भगवान् विषय का उपसंहार करते हुए निष्कर्ष कह रहे हैं-

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। ८/७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन इसलिए तुम परमात्मा में ही मन एवं बुद्धि को अर्पित करके तुम सभी कालों में मेरा अनुकूलता से स्मरण करो और युद्ध करो। निस्सन्देह मुझे प्राप्त हो जाओगे । अथवा मुझे प्राप्त कर लोगे ।

व्याख्या—'तस्मात्' का तात्पर्य है कि शरीर पूर्वजन्म के भावों से ही निर्मित होता है और किसी के अन्त का कोई निश्चय नहीं होता । कभी भी बुलावा उठा सकता है । इसलिए पहले मन और बुद्धि का मुझमें समर्पण करो । जिससे मन मेरे अतिरिक्त कोई सङ्कल्प न कर सके तथा बुद्धि मेरे अतिरिक्त कोई व्यवसाय अर्थात् निश्चय न कर सके। 'सर्वेषु-' यद्यपि सर्वशब्द स्वयं सम्पूर्णता का वाची है फिर भी बहुवचन का प्रयोग करके भगवान् कुछ और भी कहना चाह रहे हैं । उनका आशय है कि जिस समय में साधक मेरा स्मरण करता है वह समय भी आदरणीय हो जाता है । अत: आदरार्थ में बहुवचन का प्रयोग हुआ है । क्योंकि वह क्षण वह दिन वह मुहूर्त सब कुछ धन्य-धन्य बन जाता है ।

तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव ।
विद्याबलं दैवबलं तदेव लक्ष्मीपते तेऽङ्घ्रियुगं स्मरामि ।

कालेषु—यहाँ काल शब्द अवस्था परक है । व्यक्ति की तीन अवस्थाएँ होती है। पवित्र, अपवित्र और पवित्रापवित्र । और काल भी । जैसे-निशीथ अपवित्र, प्रात: पवित्र, संध्या पवित्रापवित्र । ठीक उसी प्रकार स्नानोत्तर अवस्था पवित्र, शयन शौचादि अपवित्र और भोजन करने की अवस्था पवित्रापवित्र । इसलिए कर्मकाण्डी कहते हैं—

ओम् अपवित्र: पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
य: स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तर: शुचि: ।।

भगवान् का स्मरण सभी अवस्थाओं और सभी कालों में निहित है। स्मरण के लिए कोई भी काल निषिद्ध है ही नहीं। श्रीकृष्णभावावतार श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने शिक्षाष्टक में कहते हैं—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि,
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ।।

अर्थात् हे प्रभु ! आपने मुझ पर कितनी बड़ी कृपा की है, अपने नाम के बहुत प्रकार कर डाले। उनमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति अर्पित कर दी। स्मरण में कोई समय निश्चित नहीं रखा। हे प्रभु आपकी मुझ पर इतनी कड़ी कृपा। परन्तु मुझ पर आपकी जितनी बड़ी कृपा है उतना ही बड़ा मेरा दुर्भाग्य भी है कि इतनी सुविधाओं के होने पर भी आपके नामस्मरण में मेरा प्रेम नहीं जग रहा है। समय को एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए। विल्वमङ्गल कहते हैं—

कृष्ण ! त्वदीय पदपंकजपंजरान्त-
रद्यैव मे विशतुमानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ।

हे कृष्ण ! आपकेचरणकमल रूप पिंजरे के भीतर मेरा मन-राजहंस आज ही प्रवेश कर जाये। प्राण के प्रयाण के समय में कफ वात पित्त के द्वारा कण्ठ का अवरोध हो जाने पर मैं आपका स्मरण कैसे कर सकूँगा। समय की गति बड़ी गहन है। कभी भी कुछ हो सकता है। इसलिए एक प्रसिद्ध सवैया है—

क्षणभंगुर जीवन की कलिका कल प्रात को जाने खिली न खिली
मलायाचल शीतल मन्द सुगन्ध समीर को जाने मिली न मिली।
कलिकाल कुठार लिये फिरता तन नम्र से चोट झिली न झिली।
भजले रघुनाथ अरी रसना, फिर अन्त समय में हिली न हिली।

अनुस्मर—मां अर्थात् कुछ सगुण साकार को अनुकूलता से स्मरण करो। प्रतिकूलता से नहीं। जैसे कंसआदि ने मेरा प्रतिकूलता से स्मरण किया वे मुक्त हो गये पर भक्त नहीं हो सके। अनुकूलता से स्मरण करती है श्री ब्रजाङ्गनाएँ उनके स्मरण की प्रशंसा करती हुई मथुरा की नागरियाँ कह रही हैं—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेंखेंखनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियो ऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयाना ।।

सखी ! व्रज की गोपियां धन्य हैं । निरन्तर श्रीकृष्ण में ही चित्त लगा रहने के कारण प्रेम भरे हृदय से आंसुओं के कारण गद्गद कण्ठ से वे इन्हीं की लीलाओं का गान करती रहती हैं । वे दूध दूहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते बालकों को झूला झूलाते, रोते हुए बालकों के चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरों को झाड़ते बुहारते-कहां तक कहें, सारे काम काज करते समय श्री कृष्ण के गुणों के गान में ही मस्त रहती हैं ।

युध्य च—यहाँ चकार समुच्चयार्थक है । अर्थात् दोनों करो । तात्पर्य यह है कि मन से स्मरण करो तन से रण करो । यहां परस्मैपद का प्रयोग करते हैं । क्योंकि युद्ध का फल अर्जुन को नहीं मिलेगा । सांसारिक दृष्टि से युधिष्ठिर को और पारमार्थिक दृष्टि से भगवान् कृष्ण को फल मिलेगा ।

तन से कर्म करो विधि नाना । मन राखौ जहाँ कृपा निधाना ।।

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं कि किस प्रकार आपका स्मरण करके सांसारिक प्रपञ्च से मुक्त हुआ जीव आप को प्राप्त करे ? इस प्रश्न का भगवान् तीन प्रश्नों में उत्तर देते हैं ।

अभ्यासयोगयुक्तेनचेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८/८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! अभ्यास योग से युक्त मुझसे अतिरिक्त अन्यत्र न जाने वाले चित्त के द्वारा अनुकूलता से चिन्तन करने वाला साधक मुझ अलौकिक परम पुरुष को प्राप्त कर लेता है ।

व्याख्या—'अभ्यासयोगयुक्तेन' भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम का बारम्बार चिन्तन का नाम ही अभ्यास है । उस अभ्यास रूपयोग से चित्त को युक्त करना चाहिए ।

'नान्यगामिना' यहाँ 'नैकधा' की भाँति, सहसुपा आ० प० २/१/३ सूत्र से समास हुआ । यदि कहें कि न का लोप क्यों नहीं हुआ तो वह 'नञ्' समास में होता है । न लोपो नञः आ० प० ६/३/७३ यह अनुशासन है । 'न' लोप के अभाव में समास का फल क्या है ? सन्धि की अनिवार्यता और स्वर की विशेषता । भगवान् पतंजलि भी कहते हैं कि समास के बिना सन्धि कार्य अनिवार्य नहीं होता । यथा—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ।।

इस प्रकार चिन्तन करने वाला व्यक्ति उस दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है ।

अनुचिन्तयन्—अर्थात् अनुकूलता से चिन्तन करता हुआ दिव्यम् -दिव्य शब्द साकेतलोक भिन्न का वाचक है । अर्थात् जो भक्तों के लिए स्वयं साकेत और गोलोक से प्रकट हुआ है ।

संगति—वह परम पुरुष कैसा है इसी बात को दो श्लोकों से कहते हैं—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।। ८/९

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
समं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।। ८/१०

रा० कृ० भा सामान्यार्थ—हे अर्जुन शास्त्र विहित जीवन यात्रा सम्पन्न करके मंगलमय प्राण प्रयाण काल में मेरी भक्ति से युक्त जो साधक अभ्यास योग के बल से पूरक प्रायाणाम की विधि से प्राणवायु को भ्रुकुटि के मध्य में भली भाँति स्थापित करके निश्चल मन से मुझ क्रान्तद्रष्टा पुराण पुरुषोत्तम सब पर शासन करने वाले अणु जीवात्मा से भी सूक्ष्म, सब का भरण पोषण करने वाले, अचिन्त्य स्वरूप वाले, सूर्य के समान तेजस्वी अविद्या से परे, ऐसे परमात्मा को यदि स्मरण करे तो वह उस अर्थात् मुझसे अभिन्न दिव्य पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ।

व्याख्या — भक्त्या — आशय यह है कि योग भी भगवत् भक्ति के बिना निष्क्रिय है । भ्रुवोर्मध्ये — यह पूरक प्राणायाम की एक प्रणाली है

अचलेन—निश्चल मन से अथवा 'अ' का अर्थ है वासुदेव । अं चलतीति इति अचलम् जो मुझ वासुदेव के दर्शन के लिए चलायमान रहता है ऐसे मन से ।

कविं—यह वैदिक प्रयोग है कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ई० ३/८ अर्थात् भगवान् क्रान्तद्रष्टा है । यहाँ ध्यान रहे इस श्लोक में भगवान् के लिए कवि, पुराण, अनुशासिता, अणोरणीयान्, सर्वस्य धाता, अचिन्त्य रूप, आदित्यवर्ण, तमसः परस्तात्, ये आठ विशेषण दिये गये हैं ये क्रमशः छान्दोग्य उपनिषद में कहे हुए उन्हीं आठ विशेषणों से मिलते हैं जिनको प्रजापति ने परब्रह्म परमेश्वर के लिए कहे थे । 'एष आत्मापहतात्मा

विजरो विमृत्युः विशोकः अविजिघित्सः अपिपासा सत्यकामः सत्यसंकलः (१) शोकहतपापात्मा अर्थात् पाप रहित है इसलिए वे 'कवि' अर्थात् क्रान्तद्रष्टा हैं। (२) वे 'विजर' अर्थात् वृद्धावस्था से रहित हैं इसलिए वे पुराण हैं। पुरापि नवः इति पुराणः जो पहले भी नये थे।

(३) विमृत्युः 'ईश्वर विमृत्युः' ईश्वर मृत्यु से परे हैं। इसलिए वे अनुशासिता है। उनका चराचर जगत पर अनुशासन है। भगवान् के अतिरिक्त कोई भी मृत्यु के नियन्त्रण से बाहर नहीं है।

(४) ईश्वर विशोक हैं इसलिए उन्हें 'अणोरणीयान्' अर्थात् अणु जीवात्मा से भी अधिक सूक्ष्म कहा गया है जीवात्मा कभी-कभी शोक विवश हो जाता है पर परमात्मा का ज्ञान अवाधित है इसलिए वे कभी शोक के वश में नहीं होते।

(५) अविजिघित्स अर्थात् खाने (भोजन) की इच्छा से रहित हैं। इसलिए वे सर्वस्य धाता अर्थात् सबका भरण पोषण करने वाले हैं। क्योंकि जो स्वयं भोजन का इच्छुक होगा वह दूसरे को क्या खिलायेगा।

(६) अपिपासा- भगवान् को प्यास नहीं लगती अर्थात् उन्हें किसी वस्तु का लोभ नहीं होता। इसलिए अचिन्त्य रूप हैं।

(७) भगवान् सत्यकाम हैं अर्थात् वे निरन्तर सत्य की इच्छा करते हैं इसलिए वे आदित्य वर्ण हैं। आदित्येन वर्ण्यते अर्थात् आदित्य देवता वाली गायत्री भी उनकी स्तुति करती है।

(८) सत्यसंकल्पः—भगवान् का संकल्प सत्य होता है इस लिए उनको 'तमसः परस्तात्' कहा जाता है। वे अविद्या से परे है इसलिए असत्य का संकल्प नहीं करते।

संगति—अव भगवान् ब्रह्म पद का महत्त्व वर्णन कर रहे हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥८/११

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! वेद-वेत्ता जिस पद को अक्षर कहकर आदर से मनन करते हैं, यति त्रिदण्डी महानुभाव राग से मुक्त होकर तथा मुझ विष्णु में परम अनुरक्त होकर जिस पद में प्रवेश करते हैं तथा जिस पद की इच्छा करते हुए साधक ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करते हैं, उसी पद का मैं तुम्हारे लिए संग्रह अर्थात् उद्देश्य लक्षण तथा परीक्षा द्वारा उपदेश करूँगा।

व्याख्या—यह श्लोक भी कठोपनिषद् में नचिकेता के समक्ष की हुई यमराज की प्रतिज्ञा के मंत्राक्षरों से मिलता जुलता है । श्रुति की मर्यादा के लिए क्रिया में थोड़ा सा अन्तर है । वहाँ ब्रवीमि है यहा प्रवक्षे यथा-

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।।
(क०उ० २/१५)

वीतरागाः—संसार से जिनका राग वीत गया है अथवा यहाँ 'वि' शब्द विष्णु वाचक है । 'विष्णुः' विविंहगस्तथा यह कोष का प्रमाण है । वि ऋ इत् वीत । अर्थात् विष्णु में जिनका राग चला गया है ऐसे वीतरागयतयः त्रिदण्डी सन्यासी महानुभाव जिसमें प्रवेश करते हैं । पराई स्त्री का स्मरण कीर्तन केलि (क्रीडा) स्पर्श एकान्त भाषण संकल्प अध्यवसाय और उसका सम्पर्क इन आठों को छोड़ देना ही ब्रह्मचर्य है । और अपनी पत्नी में इन आठों के सम्पादन से ब्रह्मचर्य भंग नहीं होता । इसलिए श्री सीता जी के साथ रहने पर भी भगवान् राम को ब्रह्मचारी कहा गया । 'तापसौ ब्रह्मचारिणौ' (रामरक्षा १९) परस्त्रीगामी परमपद का अधिकारी नहीं होता और गृहस्थ के लिए इससे बड़ा पाप भी नहीं होता—

सो परनारि लिलार गोसाई । तजहु चौथ के चंद की नाई ।।

अतः उस परम पद की प्राप्ति के लिए साधक ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करता है । भगवान् उसी पद को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं । संग्रह का अर्थ है जहाँ उद्देश्य लक्षण और परीक्षा उन तीनों की चर्चा हो ।।श्री।।

संगति—वह ब्रह्म पद क्या है और उसके स्मरण का प्रकार क्या है ? अर्जुन के इसी प्रश्न का उत्तर भगवान् दो श्लोकों से दे रहे हैं ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।। ८/१२

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।। ८/१३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! चक्षु आदि सभी नव द्वारों को संयत (वश) में करके अर्थात् उनसे विषय चिंतन को प्रतिबद्ध करके संकल्पात्मक मन को हृदय-सहस्र दल कमल में निरुद्ध अर्थात् नियंत्रण पूर्वक रोककर कुम्भक के द्वारा अपने प्राणवायु को मस्तक में स्थापित करके योगधारणा में स्थित होकर 'ओं इस एकाक्षर वैदिक मंत्र का उच्चारण करता हुआ अनुकूलता से मेरा स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़ता हुआ जो

साधक देवयान पथ से प्रयाण करता है, वह मेरे साकेत लोक गोलोक संज्ञा वाले परमलोक को प्राप्त कर लेता है ।'

व्याख्या—चक्षु आदि नव द्वार होते हैं । उनके संयम से तात्पर्य है कि उन्हें माध्यम बनाकर कोई भगवद्-विमुख परमाणु अन्तः करण में न आ जाय । 'हृदि' शब्द सहस्त्रदल कमल शब्द का तात्पर्य ग्राहक है । 'मूर्ध्नि' अर्थात् ललाट में जब साधक कुम्भक प्राणायाम से प्राणवायु को ललाट में रोकता है तो वह ब्रह्मरन्ध्र भेदन में समर्थ हो जाता है ।

संगति—अब भगवान् परम प्रेम लक्षणवाले अनन्य स्मरण का परिणाम कह रहे हैं—

अनन्यचेताःसततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।। ८/१४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो अनन्य चित्त वाला साधक मुझको सतत स्मरण करहा है मुझ नित्य परमात्मा में लगे हुए उस निष्काम कर्म योगी साधक के लिए मैं निरन्तर सुलभ रहता हूँ ।

व्याख्या—अन्याश्रय के त्याग को अनन्यता कहते हैं । यहाँ सततं और नित्यसः ये दोनों एकार्थक हैं । इसलिए इनको एक ही स्मरण क्रिया के साथ नहीं अन्वित करना चाहिए । 'सततं' का अन्वय स्मरण क्रिया से और 'नित्यसः' का अन्वय सुलभ भवन क्रिया से करना चाहिए । भगवान् का आशय यह है कि जो मुझे अनन्य चित्त से 'सतत' स्मरण करता है, उसके लिए मैं नित्य सुलभ रहता हूँ । जैसे दुर्वासा प्रकरण में द्रौपदी ने मुझे आधी रात बुलाया और मैं उपस्थित हो गया ।

संगति—अब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि भगवान् आपकी शरणागत के पश्चात् क्या जीव का पुनर्जन्म होता है ? उस प्रश्न के उत्तर में शरणागत वत्सल प्रभु कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्मः दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।८/१५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मुझ सगुण साकार सर्वाधार परमात्मा को प्राप्त करके सामीप्य मुक्ति नामक परमश्रेष्ठ संसिद्धि अर्थात् मुक्ति को प्राप्त हुए महात्मा दुःखों के निकेतन इस क्षण भंगुर पुनर्जन्म मय जगत् को नहीं प्राप्त करते । वे मेरे ही साथ रहते हैं ।

व्याख्या—'उप' सब का 'सामीप्य' अर्थ है । और इण् धातु गमनार्थक है । अतः उपेत्य का अर्थ होगा सामीप्येन इत्वा । अर्थात् सामीप्य सम्बन्ध से मुझे प्राप्त करके ।

सामीप्य मुक्ति ही सबसे श्रेष्ठ संसिद्धि है। क्योंकि अन्य मुक्तियों में साधक को वह आनन्द नहीं आता। जैसे-सालोक्य भगवान् के समान लोक की प्राप्ति। उसमें साधक भगवान् का लोक तो प्राप्त कर लेता है पर भगवान् के दर्शनों के लिए तरस जाता है।

दरस बिनु दूखन लागे नैन ।।

सायुज्य में वह भगवान् से जुड़ जाता है (पीताम्बर आदि बनकर) पर उसे भगवान् की सेवा का सौभाग्य नहीं प्राप्त हो पाता। सारूप्य में तो वह भगवान् के समान रूप पाकर मग्न हो जाता है। अत: सामीप्य सबसे श्रेष्ठ मुक्ति कही जाती है। समीप रहकर वह भगवान् की सेवा का अलौकिक आनन्द ले सकता है।

संगति—अब भगवान् अपने से इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि उनसे अतिरिक्त को प्राप्त कर जीव कैसे पुनर्जन्म लेता है ?

आब्रह्म भुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।८/१६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! ब्रह्म लोक पर्यन्त सम्पूर्ण भुवन पुनरावर्ती अर्थात् पुनर्जन्म वाले हैं किन्तु हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! मुझे प्राप्त करके पुनर्जन्म प्राप्त होता ही नहीं। आब्रह्म भुवनात्—यहाँ मर्यादा के अर्थ में आङ् का प्रयोग है और इस कर्म प्रवचनीय संज्ञक आङ् शब्द के योग में पंचम्यपाङ्परिभि: पा० अ० २/३/१० शब्द से पंचमी विभक्ति हुई है। अर्थात् भूलोक भूवर्लोक, स्वरलोक, महर्लोलोक, जनोलोक, तपोलोक, सत्य लोक ये सात लोक शास्त्रों में कहे गये है। इनमें से ब्रह्मलोक सबसे अन्तिम है। इन सभी लोकों में आवागमन होता है। पुनरावर्त्तितुं तच्छीला: इति पुनरावर्तिन:। तु शब्द पक्षान्तर का सूचक है। अर्थात् मुझको प्राप्त करके तो पुर्नजन्म रहता ही नहीं।

व्याख्या—ब्रह्म भुवन पर्यन्त लोक पुनरावर्ती है परन्तु अयोध्या, मथुरा, चित्रकूट, नहीं। क्योंकि ये स्वयं ब्रह्मरूप हैं। इसीलिए रावण का सम्पूर्ण ब्रह्म सृष्टि पर शासन हो जाने पर भी श्री अयोध्या उससे बची रही।

विद्यते—लाभार्थक विद्लृधातु से लट्लकार कर्मवाच्य प्रथम पुरुष एक वचन में विद्यते बनता है जिसका अर्थ होता है लभ्यते। अत: 'शे मुचादीनाम्' पा० अ० ६/१/५९ सूत्र से नुम् का आगम नहीं हुआ। अथवा यहाँ ज्ञानार्थक विद् धातु का कर्मवाच्य लट्लकार प्रथम पुरुष एक वचन का प्रयोग हुआ है। भगवान् का आशय है कि मुझे प्राप्त करके जीव द्वारा पुनर्जन्म जाना ही नहीं जाता। क्योंकि भगवान् की सामीप्य मुक्ति प्राप्त करके जीव सदैव प्रभु के साथ ही रहता है। इसीलिए राम चरित मानस में जाम्बवान् अंगद जी से कहते हैं कि—

निज इच्छा प्रभु अवतार महिसुर गोद्विज लागि ।
सगुन उपासक संग तहँ रहै मोच्छ सब त्यागि ।।

अथवा यहाँ विचारार्थक विद्धातु से कर्मवाच्य लट् लकार प्रथम पुरुष एक वचन में विद्यते रूप बनता है । भगवान् कहते हैं कि अर्जुन ! मुझे प्राप्त करके जीव द्वारा पुनर्जन्म का विचार ही नहीं किया जाता क्योंकि उसे जन्म मरण की पीड़ा नहीं होती जैसे कोई पतिव्रता नारी अपने प्रियतम को रिझाने के लिए नयी-२ साड़ियां धारण करती है उसी प्रकार भगवत्प्राप्त मान लेता है । जैसे भुशुण्डि जी ने गरुड़ से कहा—

जो तनु धरूँ सो परिहरहुं बिन प्रयास हरियान ।
जिमिनूतन पट पहिरहिं नर परिहरहिं पुरान ।।

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे कालातीत परमात्मन् ! पुनरावर्त क्रम कितने काल तक रहता है और ब्रह्मा की आयु कितनी होती है ? अर्जुन की इस जिज्ञासा का भगवान् तीन श्लोकों में उत्तर देते हैं ।

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।। ८/१७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो लोग ब्रह्मा के एक दिन को एक सहस्त्र युगों वाला जानते हैं और उसी प्रकार ब्रह्मा की रात्रि को भी एक सहस्त्र युगों वाली जानते हैं वे ही ब्रह्मा के अहो रात्रि अर्थात् दिन रात्रि के क्रम को जानते हैं ।

व्याख्या—यह 'यत्' शब्द यथा के अर्थ में है और तत् शब्द का अध्याहार होगा अर्थात् जैसे एक सहस्त्र चतुर्युगियों का ब्रह्मा जी की एक रात्रि भी होती है इस प्रकार जो जानते हैं वे ही होरा चक्र को जानते हैं । यद्वा 'ते हो रात्रऽविदोजनाः' मे तीन पदच्छेद हैं । ते अहो रात्र विदः अजनाः । अजनाः शब्द का अर्थ है अकार यानी मुझ वासुदेव परमात्मा के भक्त । 'ते' वे, अहोरात्र विदः ब्रह्मा के दिन रात्रि की परिमाण संख्या को जानने वाले । सनकादि मनु पर्यन्त वैष्णव जन जो ब्रह्मा का दिन है उसे एक हजार चतुर्युगियों का और ब्रह्मरात्रि को एक हजार चतुर्युगियों को जानते हैं । इसीलिए भागवत १०/३३/३९ में 'ब्रह्मरात्र उपावृत्ते' वाक्य से शुकाचार्य जी ने यह संकेत किया कि श्री कृष्ण की रास लीला एक सहस्त्र चतुर्युगी पर्यन्त चलती रही ।

संगति—अब भगवान् इसके अनन्तर होने वाली प्रक्रिया को कहते हैं—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।। ८/१८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! ब्रह्माजी के दिन के प्रारम्भ में 'अ' अर्थात् विष्णु से व्यक्त अर्थात् जन्म लेने वाले ब्रह्मा जी के पास से अथवा अव्यक्त मुझ परमात्मा से ही ये सम्पूर्ण प्रकटित नाम रूपों वाले जीव उत्पन्न होते हैं और रात्रि के आने पर उन्हीं ब्रह्मा में अथवा मुझ में विलीन हो जाता है ।

व्याख्या—यहाँ अकार का अर्थ विष्णु और उनसे व्यक्त होने के कारण अव्यक्त शब्द का ब्रह्मा अर्थ कहा जाता है । परन्तु यहाँ अव्यक्त शब्द से भगवान् नारायण अर्थ ही निश्चित मानना चाहिए । क्योंकि श्रुति भी यही कहती है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसं विशन्ति (तै० ३/५) अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं जिसके द्वारा जन्म लेकर जीवित रहते हैं और जिसमें प्रवेश होकर विलीन हो जाते हैं वह ब्रह्म है । इसलिए यहाँ द्वितीय पक्ष ही सिद्धान्तानुकूल है ।

संगति—अब भगवान् विषय का उपसंहार कर रहे हैं—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।। ८/१९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे पृथापुत्र अर्जुन इसी प्रकार यही यह प्राणियों का समूह ब्रह्मा के दिनों में जन्म ले लेकर उनकी रात्रियों में प्रलीन हो जाता है और फिर दिन के उदय में जन्म लेता है । और उसके टलते ही प्रलीन हो जाता है यही इसकी विवशता है ।

व्याख्या—इस प्रकार ब्रह्मा के दिन के प्रारम्भ में सृष्टि और रात्रि के प्रारम्भ में प्रलय यह क्रम प्राणियों के न चाहने पर भी चलता रहता है । जीव अवस अर्थात् विवस है उसे न चाहकर भी जन्मना और मरना पड़ता है । क्योंकि एक हजारचतुर्युगियों का ब्रह्मा का एक दिन एक हजार चतुर्युगियों वाली रात्रि इसी प्रकार के पन्द्रह दिनों का एक पक्ष दो पक्षों का एक मास बारह मासों का एक वर्ष और सौ वर्ष पर्यन्त उनकी आयु । यह काल क्रम मेरे विमुखों को भोगना पड़ता है परन्तु मेरे शरणागत इससे अतीत होते हैं जैसा कि मानस मे भुशुण्डि जी कहते हैं—

काल धरम नहि व्यापै ताही ।
रघुपति चरन प्रीति अति जाही ।। (मा० ७/१०३/६)

संगति—अब भगवान् इससे विलक्षण और सब की जिज्ञासा का विषय वेदान्त वेद्य जो चित् तथा अचित् से विशिष्ट ब्रह्मतत्त्व है उसका तीन श्लोकों से विवरण प्रस्तुत करते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।। ८/२०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जिसका अभी-अभी जन्म मरण कर्म सुनाया गया उस जन्म-मरण वाले शरीर विशिष्ट अचिदवच्छिन्न से विलक्षण एक अव्यक्त सनातन भाव अर्थात् पदार्थ है । जो सम्पूर्ण भूत प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता वही जीवात्मा अथवा उसका चिरन्तन सखा परमात्मा मैं हूँ ।

व्याख्या—अर्जुन जन्म मरणादि परिणाम प्रकृति में होते हैं, जीवात्मा तथा परमात्मा में नहीं । इसलिए जिसकी अभी चर्चा की गयी उससे भी एक विलक्षण सत्ता है जो पंचभूतों के भी नष्ट होने पर नष्ट नहीं होती । उसे जीवात्मा कहते हैं । यही चित् तत्त्व है ।

संगति—अब भगवान् जीवात्मा के साथ अपने सम्बन्ध की व्याख्या कर रहे हैं—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।८/२१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! उस जीवात्मा सम्बन्धी परमात्मा को कुछ लोगों ने अव्यक्त तथा कुछ लोगों ने अक्षर कहा । उसी को प्राणी मात्र का परम गन्तव्य कहते हैं । जिसको प्राप्त करके प्राणी संसार में नही लौटते वही मेरा परम धाम है ।

व्याख्या—इस प्रकार देहावच्छिन्न जीवों से मैं विलक्षण तत्त्व हूँ । जीव नष्ट न होकर भी देह विशिष्ट रहता है इसलिए उसमें जन्म-मरण का व्यवहार हो जाता है । पर मुझमें नहीं होता । इसीलिए मुझे अव्यक्त अक्षर और परमगति कहते हैं । अर्थात् मुझे बद्ध जीव अव्यक्त मुक्त लोग अचर और नित्य लोग परमगति कहते हैं । अब प्रश्न है आप रहते कहाँ हैं ? तब भगवान् उत्तर देते हैं- जहाँ जाकर लोग नहीं लौटते वहीं मेरा धाम है ।

संगति—आप कैसे जीवों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं ? अर्जुन के इस प्रश्न पर भगवान् कहते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।। ८/२२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे पार्थ ! जिसके शरीर में सम्पूर्ण प्राणी विराजते हैं एवं जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण चिदचिदात्मक जगत् व्याप्त है वह परम पुरुष परमेश्वर अत्यन्त सूक्ष्म होकर भी अनन्य अर्थात् परमप्रेमलक्षणा भक्ति से ही जीव के द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं ।

व्याख्या—यहाँ 'तु' शब्द अन्य पक्ष का व्यावर्तक है। अर्थात् भगवान् केवल भक्ति से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। वह भी सामान्य भक्ति से नहीं, अनन्यया-नास्ति अन्य: आश्रय: यस्यां सा अनन्या तया। जिसमें भगवान् के परमासक्तरूप भक्ति ही भगवान् की प्राप्ति में कारण बनती है। यहाँ करण में तृतीया है-भक्त्या करण साधकतम होता है-साधकतमं करणम्। १/४/४२ (पा. अ.) यहाँ भगवत्प्राप्ति क्रिया उसकी सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक भक्ति ही है। क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं कारकं करणम्।

इसीलिए अभियुक्तों ने कहा भी—

व्याधस्याचरणध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का,
कुब्जाया: किमतीवरूपमतुलं किं वा सुदाम्नो धनम्।
वंश: को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्,
भक्त्या तुष्यति केवलं न तु गुणै: भक्तिप्रियो माधव:।

मेरे द्वारा किया हुआ इस छन्द का पद्यानुवाद देखिये—

व्याध को आचरन औ कहा वय ध्रुव जू को,
कौन गजराज गुन विद्या के निधान है।
कुब्जा कहाँ है कमनीय रूपमय तिय,
विप्र सो सुदामा दीन कहां धनवान् हैं।
विदुर को कुल कहा दासी सो जनम लियो,
उग्रसेन कौन बल से रीझें अरूखीझें भक्तहीन हूँ ते,
रामभद्र प्रभु भक्ति बस भगवान् हैं।

संगति—अब भगवान् पांच श्लोकों से अनावृत्ति अर्थात् अपुनरावर्तन और आवृत्ति अर्थात् पुनरावर्तन के काल का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। अन्तर यही है कि इसके पहले जीवितावस्था में भगवान् की प्राप्ति का वर्णन किया था। अब भगवान् स्वयं जीव के शरीर त्याग के पश्चात् अपनी प्राप्ति का वर्णन कह रहे हैं—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिन:।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।।८/२३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! जिसकाल में शरीर का त्याग करके प्रयाण द्वारा योगी जन अनावृत्ति अर्थात् पुनरावर्तन रहित साकेत या गोलोक को प्राप्त कर लेते हैं तथा जिस काल में शरीर त्याग पुरस्सर प्रयाण करके आवृत्ति अर्थात् ब्रह्मलोक से फिर लौट आते हैं उन दोनों कालों को मैं विभाग के साथ तुमसे कहूँगा।

व्याख्या—भगवान् की दृष्टि से दुर्गति और सुगति के तारतम्य में काल भी बहुत भूमिका निभाता है। प्रयाण के दो मार्ग होते हैं देवयान और पितृयान। देवयान से जाकर व्यक्ति मुझे प्राप्त होता है, और पितृयाण से जाकर चन्द्र मण्डल को प्राप्त कर लौट आता है। लौटना ही आवृत्ति है और भगवान् को प्राप्त कर लौटना ही अनावृत्ति है।

संगति—अब अर्चिमार्ग नामक देवयान का वर्णन कर रहे हैं।

अग्निर्ज्योर्तितिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।८/२४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जिस काल में अग्निअभिमानी देवता तथा परम प्रकाश दिखाई पड़े जहाँ दिन शुक्ल पक्ष की अभिमानी देवता दिखाई पड़े एवं मकर से आरम्भकर मिथुन राशि पर्यन्त के देवताओं का अनुभव हो उस काल में महाप्रयाण करके ब्रह्म वेत्ता योगी मुझ परब्रह्म को ही प्राप्त करते हैं।

व्याख्या—यहाँ आसन्नमरण के अनुभवों की चर्चा कर रहे हैं जो केवल योगेश्वर के ही वस की है। मरण काल में जब प्रकाश का अनुभव हो, अग्नि अभिमानी देवता हो और दूसरा व्यक्ति भी जब देखकर आसन्नमरण का अनुभव कर ले। यहाँ दिन, पक्ष और उत्तरायण की चर्चा से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि दक्षिणायन या रात्रि अथवा कृष्ण पक्ष में मरकर व्यक्ति मुक्ति नहीं पाता। भगवान् का तात्पर्य यह है कि आसन्नमरण के समय दिन, शुक्ल पक्ष तथा उत्तरायण के अभिमानीदेवताओं की उपस्थिति अनिवार्य है नहीं तो चक्रवर्ती (दशरथ) जी ने रात्रि को प्राण छोड़ा फिर उनकी मुक्ति कैसी। बहुत से दुरात्मा लोग भी फाल्गुन चैत्रादि में मरते हैं तो क्या उन्हें मुक्ति मिलती है ? इसलिए दिनादि के कथन में इनके अभिमानी देवताओं से ही भगवान् का अभिप्राय है। कदाचित् दिनादि के देवताओं के साथ ये भी उपस्थित हो तब तो सोने में सोहागा। किन्तु केवल दिन शुक्ल पक्ष और उत्तरायण काल हो, उसमें मरने वाला चोर, डाकू, व्यभिचारी आदि विशिष्ट विशेषणों से ग्रसी तब दिनादिअभिमानी देवताओं का आगमन सम्भव नही तो क्या इस परिस्थिति में उसकी मुक्ति होगी ? नहीं कदापि नहीं।

संगति—अब भगवान् पितृयाण का वर्णन कर रहे हैं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।। ८/२५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जिसकाल में धूम अर्थात् धुँए जैसा धुँधलापन दिखे रात्रि कृष्णपक्ष तथा छे महीने दक्षिणायन अर्थात् कर्क राशि से लेकर धनु

राशि पर्यन्त दक्षिणायन के अभिमानी देवता उपस्थित हों उस काल में प्रयाण करके योगी चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त कर लौट आता है ।

व्याख्या—'चान्द्रमसं ज्योतिः' अर्थात् योगी चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त करता है उसका भेदन भी नही कर पाता जबकि सूर्य मण्डल भेदन के पश्चात् ही ब्रह्म प्राप्ति का विधान है ।

संगति—अब भगवान् विषय का उपसंहार कर रहे हैं—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ।। ८/२६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! शुक्ल और कृष्ण अर्थात् प्रकाश और अप्रकाश यानि देवयान और पितृयाण ये जगत् की दो शाश्वत गतियां अर्थात् गमन के मार्ग हैं । इनमें से एक अर्थात् शुक्ल रूप वाली देवयान गति से जाकर योगी नही लौटता । अन्य अर्थात् दूसरी कृष्ण रूप पितृयाण गति से जाकर योगी पुनः लौट आता है ।

व्याख्या—जिसके द्वारा जाया जाता है उसमार्ग को गति कहते हैं । 'गम्यते अनया' इति गतिः जिससे जाकर व्यक्ति नही लौटता । यहाँ शुक्ल, दिन, उत्तरायण ये तीनों देव यान के स्वरूप हैं । रात्रि, कृष्ण और दक्षिणायन ये तीनों पितृयाण के स्वरूप हैं ।

संगति—अब भगवान् विषय को विश्राम दे रहे हैं—

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।। ८/२७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इन दिनों सृती अर्थात् देवमार्ग देवयान पितृयाण मार्गो को जानकर कोई योगी मोहित नही होता । इसलिए हे पार्थ । तुम सम्पूर्ण कालों में योग युक्त ही रहो ।

व्याख्या—तुम्हारे लिए काल का प्रतिबन्ध नहीं है । चाहे जागृति हो या स्वप्न अथवा सुषुप्ति प्रातः हो या सन्ध्या, मध्याह्न हो या मध्य रात्रि तुम सभी कालों में योग युक्त बनो ।

संगति—भगवान् प्रकरण के ज्ञान का फल कहते हैं ।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परंस्थानमुपैति दिव्यम्ह् ।।८/२८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! श्रुतियों द्वारा चारों वेदों के पारायणों में चान्द्रायणादि कठोर तपस्याओं में तथा सात्विक बुद्धि से दिये जाने वाले नित्य नैमित्तिक

दानों में श्रुति ने जिस फल का निर्देश किया है उस सम्पूर्ण फल को योगी मेरे द्वारा कहे हुए इस रहस्य को जानकर अतिक्रमण कर जाता है और योगी परम आद्य साकेताभिन्न गोलोक को प्राप्त कर लेता है ।

व्याख्या—भगवान् कहते हैं-कि मैंने जो पच्चीस श्लोकों में अक्षर ब्रह्म की व्याख्या की, इस सम्पूर्ण रहस्य को जानकर योगी वेद परायण, चान्द्रायण आदि व्रत तथा स्वर्णदान आदि नित्य नैमित्तिक सात्विक दान इन सबके फलों को पार कर जाता है और दिव्य परमपूज्य साकेत और गोलोक को प्राप्त कर लेता है ।

रामानन्दाचार्य चरण सरसीरूह सिर धरि ।
रामभद्र आचार्य शास्त्र श्रुति विमल बुद्धिकरि ।।

राघव कृपा भाष्य गीता पर सुन्दर कीन्ह्यो ।
शुचि अष्टम अध्याय श्लोक व्याख्या चित दीन्ह्यो।।

विविध युक्ति उपपत्ति ते वैष्णव जन आनन्द लहैं ।
सानुकूल मोपर सदा पार्थ सारथी हरि रहैं ।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरश्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्यस्वामिरामभद्राचार्यप्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासु अक्षर ब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ।

श्रीराघवः शन्तनोतु



"श्रीमद्राघवो विजयते"
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

नवमोऽध्यायः

मंगलचरणम्

नवनीलतमालसौभगं नवराजीवदृशं नवप्रभम् ।
नवपूज्यप्रियं नवार्चितं, नवमे नावमिकं कमाश्रये ।
तरणिजातडिदब्जतडित्वतां प्रतिहसन्तमुदारतनुत्विषा ।
द्युतिमलङ्कृतवैदिकधर्मकं रघुपतिं नवमेऽनवमं श्रये ।।

मधुसूदनमेवमन्महे महसा स्मयेन हसन्तमम्बरम् ।
सुहृदे किल सव्यसाचिने ददतं ज्ञानमनामयं हरिम् ।।

अथ राजविद्या राजगुह्ययोगः प्रारभ्यते व्याख्यातुम् अर्जुनाय जिज्ञासवे परम् उपायभूतं सौलभ्यात्मकं ज्ञानमवतारयति भगवान् ।

श्री भगवान् उवाच श्रिया सहितो भगवान् अवदत्

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। ९/१

तु इति निश्चयार्थः । असूया गुणेषु दोषाविष्करणम् । असूयतीति असूयुः निन्दकः । गुणेषु दोषाविष्कर्ता । न असूयुः अनसूयुरतस्मै अनसूयवे अनिन्दकाय ते तुभ्यम् अर्जुनाय इदम् अनुपदमुपदिश्यमानं यद्वा अकारः वासुदेवः तस्यापत्यं पुमान् इः यस्येति च इत्यनेन अकार लोपः इः कामः तं धति खण्डयति इति इदम् एतादृशं ज्ञायते इति ज्ञानम् ज्ञातव्यविषयं प्रवक्ष्यामि । किमित्यत आह-विज्ञानेन अनुभवेन सहितम् एवंविधं ज्ञानं गुहयतमं अतिशयेन गुह्यं गोपनीयतमं ज्ञानं प्रवक्ष्यामि । यज्ज्ञात्वा सेवकसेव्यभावात्मकं ज्ञानविषयीकृत्य न विद्यते शुभं मंगलं यस्मिन् स अशुभः संसारः तस्मात् अशुभात् संसारात् मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसि ।।श्रीः।।

रोचनार्थं तदेव ज्ञानं स्तौति-भूतार्थवादेन भगवान्—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।। ९/२

विद्यानां राजा राजविद्या गुह्यानां राजा राजगुह्यं 'राजदन्तादिषु परम् पा. अ. २/२/३२ इत्यनेन परनिपातः उभयत्र । यत्तु राज्ञां विद्या राजविद्या राज्ञां गुह्यं राजगुह्यं इति कैश्चित् उक्तम् तदसंगतम् । गन्थस्वारस्याभावात् । यद्यपि राजते इति राजा राजा एव विद्या राजविद्या पचादित्वादच् एवमेव राजते इति राजं राजमेव गुह्यं राजगुह्यं इत्येवं व्युत्पादयितुं शक्यते किन्तु ग्रन्थस्वरसतः पूर्वैव व्युत्पतिर्ज्यायसी । एवं पवित्रं पुनन्त्यनेन इति पवित्रं पावनीकरणसाधनमुत्तमम् सर्वोत्कृष्टं अथवा उत्क्षिप्तं तमःअन्धकारः येन इति उत्तमम् । ननु सकारान्ततया तमश्शब्दस्य बहुव्रीहौ उत्तमः इति स्यात् इति चेन्न ? असन्ता अजन्ता अपि भवन्ति इति नियमात् तमस् इत्यस्य अजन्तोऽपि पाठः । अतएव तमारिः सूर्य इति संगच्छते । सान्तपक्षे तमोऽरिरिति स्यात्

अतएव भागवते ध्रुववैमात्रस्य उत्तम इति नाम ।

उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ।। भागवत ४/८/८

उत्कृष्टं तमः यस्मिन् स उत्तमः इति तत्र व्युत्पत्तिः । श्रेष्ठवाचिन्युत्तमशब्दे तु उत्कृष्टवाची उत् शब्देन सह अतिशायने तमप् । एवमिहापि । प्रत्यक्षो नाम चक्षुरादि-विषयगोचरः तेन प्रत्यक्षेण अवगमः विषयाववोधः यस्य । तत् प्रत्यक्षावगमम् धर्म्यं धर्मादनयेतम् 'धर्मपथ्यर्थन्यायादानपेते' पा. अ. ४/४/९२ । इत्यनेन यत् प्रत्ययः । धर्मादनपेतं धर्म्यम् । कर्तुं विधातुं सुसुखं अनुष्ठानेऽपि सारल्यपूर्णमव्ययमविनाशि व्ययरहितमिति भावः । यद्वा अवगम्यते इति अवगमः । इदं ज्ञानं हि समस्तविद्यानां-राजभूतत्वे समस्तानां गुह्यानां राजभूतं प्रत्यक्षानुभूतिविषयं धर्ममयं कर्णे आनंददात्रि अव्ययम् अविनाशि । एवं राजविद्याराजगुह्यपवित्रोत्तमप्रत्यक्षावगमं धर्ममयं साधनासुलभं चेति ।।श्रीः।।

अथ अश्रद्दधानः परिणाममाह—

अश्रद्दधानाः पुरुषाः धर्मस्यास्य परंतम ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।। ९/३

रा० कृ० भा—परान् शत्रून् तापयति इति परंतपः तत्सम्बुद्धौ हे परंतप । हे शत्रुनाशक ! अस्य मयानुपदमुपपदिश्यमानस्य धर्मस्य सेवकसेव्यज्ञानस्य धर्मस्य धर्मसम्बन्धिनः ज्ञानस्य विषये अश्रद्दधानाः न श्रद्दधते तथाभूताः पुरुषाः यस्मिन् ज्ञाने

न श्रद्धां कुर्वन्ति इति भावः । मां भगवन्तं श्रीकृष्णमप्राप्य अलब्ध्वा मृत्युरेवसंसारः मृत्युसंसारः तस्य वर्त्म मार्गः इति मृत्युसंसारवर्त्म तस्मिन् इति संसारवर्त्मनि मरणधर्मसंसारमार्गे निवर्तन्ते परावर्तन्ते अत एव मुमुक्षुभिः अस्मिन् श्रद्धा कर्तव्या आस्तिकबुध्यभावेन तेषां दुर्मतिर्दुर्बरिव ।।श्रीः।।

अथ ज्ञानमाह निजप्राप्तिपरमोपायभूतम्—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न त्वहं तेष्ववस्थितः ।। ९/४

रा. कृ. अ.—अव्यक्ताः प्राकृतचक्षुरगोचरा नीलसरोरुहश्यामालोक-लोचनाभिरामा निजरोचिरतिजितकोटिकोटिनीलनीरदनीरजकालिन्दीनीरतरुण तमाल-नीलेन्द्रमणिकेलिकलजम्बूफलश्यामा नीलातसीपुष्पकोटिकोटिकामा पूरितप्रणतकामा निखिललोकमनोनयनाभिरामा दामिनीद्युतिविनिन्दकपीताम्वरा ब्रीडितेन्दीवरा श्रीवत्स-लाछनतरुणतुलसीमालमञ्जरीकमनीयकौस्तुभकपाटपरिणद्धवक्षःसनाथतेन्दीवरा मनोमनोहरमूर्तिः यस्य स अव्यक्तमूर्तिः तेन अव्यक्तमूर्तिना यद्वा अव्यक्तं प्रकृतिः त्रिगुणमयी वैष्णवी माया मूर्तौ श्रीविग्रहे यस्य स अव्यक्तमूर्तिः । तेन अव्यक्तमूर्तिना यद्वा अकारः वासुदेवः तेन रूपेण व्यक्ता सम्प्रतं सकलनयनगोचरा मूर्तिः तोत्रबेत्रोपलक्षिता त्वत्स्यन्दनस्था तव सारथ्यमुपेयुषि सुभगसरोरुहतरुणतमाल-कालिन्दीकीलालनीलेन्द्रमणिनीलनीरधरनीला मूर्तिः श्री विग्रहो यस्य सः व्यक्तभौतिकशरीराः जीवात्मानः मूर्तौ यस्य सः अव्यक्तमूर्तिः तेन अव्यक्तमूर्तिना । भगवतः शरीरे प्रलयकाले सर्वे जीवाः प्रलीयन्ते । 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति श्रुतेः । अत एव छान्दोग्याः पठन्ति । "तज्जलानि इति शान्तमुपासीत ।" ।।छान्देभ्य० ४/१४।।

तथा चाह माघशिशुपालवधे—

युगान्तकाले प्रतिसंहृतात्मनो
जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विष-
स्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः ।। शिशुपाल १/२३

यद्वा अव्यक्ताः अवाङ्मनसगोचराः मूर्तयः कच्छपमत्स्यवराहावतारविशेषा यस्य सोऽव्यक्तमूर्तिः । तेन अव्यक्तमूर्तिना । एवम्भूतेन मया इदं सर्वं चिदचिदात्मकं जगत्

ततं व्याप्तं सर्वभूतानि शरीरावच्छिन्नान्यात्मजातानि मत्स्थानि मयि तिष्ठन्ति इति मत्स्थानि तु किन्तु अहं सर्वव्यापको महीयसां महिष्ठः विशुद्धचेतनघनः परमात्मा तेषु अनुभूतेषु जीवेषु नावस्थित: । इत्यनेनैव जीवानामणुवाद: सिद्ध: बहुत्वञ्च । एवं यस्य पृथ्वीशरीरं यं पृथ्वी न वेद इत्यादि श्रुते: । यद्यप्यंहम् अव्यक्तेन स्वरूपेण अन्तर्यामिरूपेण इदं जगत्व्याप्तवान् सर्वाणि भूतानि मयि स्थितान्यपि परत्वेन अहं न तेष्ववस्थित: इति भगवतो वचनम् । परन्तु ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति इति वक्ष्यमाणभगवद्वचनविरोध: । इति चेन्मैवम् । नत्वहं तेष्वस्थित: इत्यत्र भगवत: कात्स्न्र्येन व्यवस्थिति: निषिध्यते हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति इत्यत्र च एकदेशे अंतर्यामिन: स्वरूपेण च भगवत: स्थितिर्विधीयते इति विषयभेदात् न विरोध: ।।श्री:।।

ननु मत्स्थानि इति कथनेन किमाकारा भगवन्निरूपिताधारता किंजल-निष्ठाधेयतानिरूपितघटनिनिष्ठाधारतेव उताहो कटे शेते इत्यादिवत् । वालनिरूपिताधेयतानिरूपिताकटनिष्ठाधारतेव उताहो मोक्षे इच्छा इत्यादिवत् । इच्छानिष्ठाधेयतानिरूपितमोक्षनिष्ठाधारतेव विशेषासम्बन्धावच्छिन्ना इति चेन्न ? संकल्परूपा सा अत एव स्थूलान् आधारान् निराकर्तुमाह न चेत्यादि—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।। ९/५

चकारोहेतौ । सर्वाणि भूतानि मत्स्थान्यपि घटादौ जलादिवत् मत्स्थानि । स्थूलतया न मयि तिष्ठन्ति । इति आश्चर्यमेव ईश्वरस्य कर्तुमकुर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य सकलाश्चर्यमयस्य सकलविरुद्धधर्माश्रयतावच्छेदकस्य मम मे योगं अघटितघटना-पटीयांसं ऐश्वर्यापरपर्यायं योगं पश्य विलोकय । भूतानि भावयतीति भूतभावन: । सकलभूतानामुत्पत्तिकर्ता अयं ममात्मा मामकीन: सर्वथैवाचिन्त्यो मनोमय: संकल्प: । यत्न: मनीषितं वा । भूतभृत् भूतानि बिभर्ति पुष्णाति धारयति च किन्तु न भूतस्थ: । नैव भूतेषु तिष्ठति इदमेव तु भगवत: सकलजनविलक्षणमाश्चर्य यत् मनसापि न विभाव्यते ।।श्री:।।

ननु दुर्गमोऽयं विषय: । यद् भवति तिष्ठन्तोऽपि भूतविशेषा न तिष्ठन्ति बिभ्रदपि भूतानि भवान् न भूतस्थ: इत्यत आह दृष्टान्तेन—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।। ९/६

रा० कृ० भा०—यथा येन प्रकारेण सर्वत्र गच्छति इति सर्वत्रग: । अयं महान् वायु: आकाशे स्थित: किन्तु नायमाकाशं व्याप्नोति न वा तत् स्प्रष्टुं शक्नोति तथैव इमानि सर्वाणि भूतानि मयि तिष्ठन्ति इति मत्स्थानि किन्तु न मां समग्रेण व्याप्नुवन्ति मम संकल्पेनैकदेशं तिष्ठन्ति किन्तु न जलादेरिव घटादौ इति इत्थं उपधारय उपपत्तिभि: निर्णीतार्थं विचारय ।।श्री:।।

अथ यदि भवति भूतानि न तिष्ठन्ति तर्हि प्रलयकाले क्व गच्छन्ति तत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इत्यादिश्रुते: ।।

इत्यत आह—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।। ९/७

रा० कृ० भा०— कौन्तेय-हे कुन्तीपुत्र सर्वाणि च तानि भूतानि सर्वभूतानि कल्पस्य च क्षये महाप्रलयकाले मामिकां प्रकृतिं शश्वच्छान्तिरूपां यद्वा मामिकां प्रकृतिं मम स्वरूपभूतां कर्मभूतां यान्ति । कल्पादौ कल्पस्य आदौ तान् पुन: विसृजामि यद्वा हे कौन्तेय । सर्वाणि भूतानि कल्पस्य द्विसहस्रचतुर्युगीपर्यन्तस्य ब्रह्मणो दिनस्य क्षये महाप्रलये मम इयं मामिका तां मामिकां मभिन्नां मदीयां प्रकृतिं मायां— मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् । इति श्रुते: । शङ्कररूपिणीं तमोगुणावच्छिन्नां मम मायामिति भाव: यान्ति प्राप्नुवन्ति । पुनस्तानि कल्पस्यादौ रजोगुणावच्छिन्नमायया विधिरूपया मायया कर्तृभूतया अभिन्ननिमित्तोपादानकारण-भूतोऽहं विसृजामि विसर्गसंज्ञया सृष्ट्या योजयामि, अतएव श्रीभागवते— ब्रह्मकृतसृष्टिं विसर्ग-व्याहरन्ति ।

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृत: ।
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् विसर्ग: पौरुष: स्मृत: ।।

(श्रीमद्‌भागवत २/१०/३)

नन्वयं क्रम: सार्वत्रिक: उताहो क्वाचित्क: इत्यपेक्षायाम् आह ! सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो भगवान्

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुन: पुन: ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।। ८ ।।

रा० कृ. भा.—सृष्टिक्रमोऽयं बीजाङ्कुरन्यायेन नैरन्तरिकः नित्योऽनादिश्च । प्रकृष्टा कृतिः प्रकृतिः प्राकर्ष्यं च आप्रलयं स्थायित्वेन तस्याः पूर्वजन्मकर्मजनित-स्वभावरूपायाः फलरूपायाः वा प्रकृतेः वशात् नियमनात् हेतोः अवशं न विद्यते वशो नियन्त्रणं यस्य सोवशः तम् अवशम् अस्वतन्त्रं परवशं मायाधीनं इत्यनेन् स्पष्टं भेद उक्तो जीवब्रह्मणोः कृत्स्नं सम्पूर्णं इमम् एतं पुरोदृश्यमाणं भूतानां भवनधर्मिणां भूतानां देहाभिमानवतां देहात्मवादिनां इति यावत् मद्भजनविमुखानां मत्कैंकर्यरहितानां ग्रामं समूहं पुनः पुनः भूयो भूयः स्वां त्रिगुणमयीं प्रकृतिं मायाम् अवष्टभ्य ब्रह्मरूपाम् आश्रित्य विसृजामि, विसर्गयुक्तं करोमि ।।श्रीः।।

ननु पुनः पुनर्भूतग्रामं विसृजन्तं तत्र भवन्तं भगवन्तं कर्माणि वध्नीयुः कर्तृत्वात् इति जिज्ञासिष्यमाणमालक्ष्य प्राह-प्रवीणधुरीणो भगवान्

न च मां तानि कर्माणि निबध्नंति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।। ९ ।।

रा० कृ० भा०—धनं जयतीति धनञ्जयः तत्सम्बुद्धौ हे धनञ्जय ! यथा युधिष्ठिरराजसूये राजदिग्विजये राज्ञो धनं जयतोऽपि युधिष्ठिराय समर्पितत्वात् तत्र तव न ममत्वं तथैव उदासीनेन तुल्यं उदासीनवत् तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः प्रा० अ० ५/१/११५ इत्यनेन वतिप्रत्ययः आसीनं सर्वेषां जनानां हृद्देशे उदासीनः साक्षीव तिष्ठन्तं तेषु कर्मसु विषयीभूतेषु असक्तम् आसक्तिरहितं तानि सर्वप्राणिकर्माणि मन्माययैव कारितानि न वध्नन्ति । मां न बन्धंनयुक्तं कुर्वन्ति । असङ्गो नहि सज्जते इति श्रुतेः ।।श्रीः।।

अथास्मिन् सृष्टिक्रमे भवतस्तत्र भवतो भगवतः का भूमिका किं भवान् सृष्टेः साभिमानो राजसः कर्ता उताहो कर्तृत्वाभिमानशून्यः सात्त्विकः कर्ता उताहो निरस्तकर्तृत्वाभिमानः निमित्तोपादानयोरन्यतरः यद्वा उभयत्वावच्छिन्नः ? इत्यत आह—

मयाऽऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।। १० ।।

हे कौन्तेय ! यथा तव माता कुन्ती अध्यक्षेण तव पित्रा उदासीनेन पाण्डुना प्रेरिता सति धर्मपवनवासवसंकल्पैः युधिष्ठिरं, भीमसेनं त्वामर्जुनं चासूयत, तथैव इत्यौदासीन्यं दृष्टान्तयितुं कौन्तेय इति सम्बोधनं मया साक्षिणा परमात्मना श्रीकृष्णेन

अध्यक्षेण स्वामिनाऽधिष्ठात्रा अभिन्नमित्तोपादेन हेतुभूतेन अत्र हेतौ तृतीया, पुण्येन दृष्टो हरि: इतिवत् प्रेरिता प्रकृति: माया त्रिगुणत्मिका रजोगुणबहुला प्रकृति: मया चराणि चेतनानि चरणशीलानि अचराणि जडानि अचिद्वस्तुजातानि तै:चराचरै: चिदचिद्वस्तुभि: स: वर्तमानं चिद्चिदात्मकं जगत् सूयते ब्रह्मभूता जनयति कल्पादौ अनेनैव हेतुना अभिन्ननिमित्तोपादानेन नियम्यमानं जगदेतत् विपरिवर्तते विविधं विचित्रं सत् परितो वर्तते, परिवर्तनशीलं जननमरणरूपं संसरणं शमनादिकालत: शमनुवर्तते इह "प्रकृति:सूयते" इति वदता भगवतैव महामायापतिना मायावादकल्पित-विवर्तवादमेघाडम्बरं प्रबलेन प्रभञ्जनेनेव निराकृतम्। यदि भगवता विवर्तवादोऽङ्गीकृतो भवेत्, तदा "जगदेतत् विवर्तते इत्येव ब्रूयात्। ननु प्रोक्तं कौण्डभट्टेन वैयाकरणभूषणसार- मंगलाचरणे"—

श्री लक्ष्मीरमणं नौमि गौरीरमणरूपिणम्।
स्फोटरूपं यत: सर्वं जगदेतद्विवर्तते ।।

इति चेत्। न ते प्रमाणमस्माकम्अनाचार्यत्वात्, अनृषित्वाच्च। अहं समामन्त्रये विवर्तवादपक्षधौरेयान् यत् विवर्तसमर्थने श्रुतिस्मृतिपुराणेषु कतममप्येकं प्रमाणमुदाहरन्तु किंच ब्रह्मसूत्रे परिणामात् (ब्र. सू. ४/१/२७) इति सूत्रकारेणैव भगवता ब्रह्मणो विवर्तवादो न स्वीकृत:। तत: मया विवर्तवादिनं श्री कृष्णेनाऽर्जुनमेव पृच्छ्यते गीता-२/२ 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्' ।।श्री:।।

नन्वेवं विधं ताटस्थ्येन वर्तमानं जगद्भिन्नंनिमित्तोपादानकारणं निरस्तसमस्तहेय गणप्रत्यनीकनिकायं कोटिकोटिकन्दर्पदर्पदलनकमनयिकायं निरवधिनिखिल-कल्याणगुणगणकलितकल्लोलकल्लोलिनीवल्लभसंकायं तत्र भवन्तं भगवन्तं जना: कथं न भजन्ति इत्यत आह द्वाभ्यां—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनूमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतस:।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता: ।। (गीता ७/११/१२)

रा० कृ० भा०— मोघाशा मोघकर्माण: मोघज्ञाना विचेतस: राक्षसीं च एव आसुरीं मोहिनीं प्रकृतिं श्रिता: मम भूतमहेश्वरं परंभावं अजानन्त: मूढा: मानुषीं तनु-माश्रितं मामवजानन्ति इत्यन्वय: मोघा निष्फला आशा शुभफलाकांक्षा येषां ते

मोघाशा: । मत्पदपद्मविमुखतया तेषां शुभफलाकांक्षा व्यर्थैव इति भाव: । तथा मोघानि निरर्थकानि कर्माणि मद्‌विमुखतया समनुष्ठितानि एषां ते मोघकर्माण: मद्‌भक्ति-विवर्जितानि कर्माणि नित्यनैमित्तिकानि निरर्थकान्येव । एवं मोघं व्यर्थ मद्‌भजनहीनतया शास्त्रज्ञानं येषां ते मोघज्ञाना तथा विकृतानि मद्‌भजनाभावेन विकारयुक्तानि चेतांसि येषां ते, विचेतस:, विकृतमानसा: राक्षसीं रक्षन्ति स्वस्मै सवम् एते राक्षसा: तत्सम्बन्धिनीं असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुरा तेषामियम् आसुरी ताम् आसुरीम् असुरसम्बन्धिनीं रावणादिसम्बन्धिनीं हिरण्यकशिपुप्रभृतिसम्बन्धिनीं मोहिनीं मोहनशीलां प्रकृतिं स्वभावं श्रिता: आश्रिता: भूतानां महेश्वरं सकलप्राणिपरमनियन्तारम् एवं भावं मम भावं ऐश्वर्यात्मकम् अजानन्त: मूढा: मोहग्रस्ता: शिशुपालादय:दानवत्वं राक्षसत्वं च गता: । भक्तानामु द्दिधीर्षया मानुषीं मनुष्यानुगुणां द्विभुजोपलक्षितां तनुं देहं आश्रितं स्वीकृतवन्तं मामवजानन्ति । अवमन्यते—

अतएव शिशुपालो मां बाल्यात् प्रभृति प्रतिदिनं शतं दुर्वचांसि वदति अतएव च दुर्योधनादय: कुरुराजसभायां हितं बोधयन्तमपि मामवाजानन् । यथा श्री भागवते—

यदा च पार्थप्रहित: सभायां जगद्‌गुरुर्यानि जगाद कृष्ण: ।
न तानि पुंसाममृतायनानि राजोरु मेने क्षतपुण्यलेश: ।।

(श्रीमद्‌भागवत ३/७)

अथ के भजन्ति भवन्तं कथञ्च किं प्रकारास्ते इत्यत आह त्रिभि:—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता: ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।। ९/१३

रा० कृ० भा०— इति पक्षान्तरे दुरात्मानो दुर्योधनादयो मामवजानन्ति किन्तु एतद् विपरीता: महात्मानो युष्मदादयो मां बहुमन्यमाना: सततं समर्चन्ति । यथा श्री मद्भागवते—

यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढ़ परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ।।

(श्रीमद्भगवत ७/१/४८)

महान् परमपूजनीय: आत्मा अन्त:करणं मन्नामरूपलीलाधामसंकर्तिनेन निरस्तसकलकल्मपकषायं येषां ते महात्मान: अथवा महान् परमवंदनीय: आत्मा शरीरं

येषां ते महात्मानः मत्प्रह्वीभावनवलक्षणभक्तिमत्कैंकर्यनिरतत्वात् येषां शरीराणि धन्यतां गतानि ते, अथवा महान् मद्भजनमहिम्ना सरसीकृतः निखिलजगदुपकारचिन्तन परायणः आत्मा स्वभावो येषां ते यथा उत्तरे रामचरिते भवभूतिः—

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः ।
पुर वा पश्चाद् वा तदिदमविपर्यासितरसं ।
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ।।

अथवा महान् मत्कैंकर्यनियुक्तत्वात् निर्मुक्तनिःशेषभवबन्धनः अत एव पूजनीयः आत्मा मदीयतां गतो जीवात्मा येषां ते महात्मानः जीवात्मनि वै परमेश्वर-परमानुरक्तिलक्षणं भगवद्भजनेन कृतार्थता, यथोक्तं श्रीमदादिकविना तत्र भवता भगवता महर्षिणा वाल्मीकिना श्रीमद्रामायणे अयोध्याकाण्डे-

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति ।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते ।।

(बाल्मीकि २/१७/१४)

यद्वा महान् निरतिशयलावण्यललितकोटिकोटिकन्दर्पदलनसकलसौन्दर्य-सारभूतपरमभागवतनिर्निमेषनयनसारंगस्वातिकादम्बिनीकल्पानल्पसत्यसंकल्प-सत्यकामसत्यसंधानसौन्दर्यमाधुर्यकारुण्यतारुण्यसारल्यतारल्यसौजन्यसौशील्य-सौलभ्यवात्सल्यदयालुत्वकृपालुत्वसमौदार्यैश्वर्यलोकोत्तरबलवीर्यविपुलविक्रमपराक्रम-सत्यक्षमाशमदमसंयविनयविवेकविज्ञानवैराग्यानुरागविश्वविश्रुतविशदविमलविरुद-वैभवगौरवकोटिकामकमनीयकान्तिशोभाविभाप्रभासहिष्णुताशत्रुनाशनत्वप्रणत-पालकत्वशरणागतवत्सलत्वसाधुवश्यत्ववशित्ववदान्यत्वपतितपावनत्वशौर्यतेजः-साहसदुर्धर्षौजःसम्पन्नत्वप्रपन्न-मंगलकरणत्वपरममांगल्यप्रभृत्यसंख्येय निरवधिनिरुपम-निर्व्याजनिरतिशयनिष्प्रतिद्वन्द्वनिरस्तनिखिलसत्प्रतिपक्षप्रणतपक्षपराभूतप्रतिपक्ष-समस्तकल्याणगुणगणमण्डितद्विभुजोपलक्षितधृतधनुपसायकनिषङ्गविगतसकल-संगसत्संगैकरंगहनुमत्प्रभृतिपरमभागवतश्रीवैष्णवसमाराधितान्तरंगश्रीसीताङ्गसंगसहृष्ट-रोमलताप्रतानपरमनिरभिमाननीलोत्पलदलश्यामनितान्तनिरवधिहृद्यविफलीकृत-द्रुहिणरचनाचातुरीकसमादरतुरीयाश्रमसेविसेवासमातुरीसंजातत्वरात्वरितश्रीमन्मंदाकिनी-मंगलमंजुलमकरन्दमंडितचरणारविन्दनवमञ्जरीतुलसीसमुल्लसितकोटिकोटि-

श्रीवैष्णववृन्दवृन्दावनवनमालाकिरीटकुण्डलकटककेयूर किंकिणीनूपुरविशुद्ध-विपुलविमलभूषणभूषितसौदामिनी बालतपनतपनीयकर्णिकारकिंजलकनिन्दक-चारुचम्पकसंकाशविशदाप्रमेयपतिकौशेयसमलंकृतभूनन्दिनीनलिननयनपरम-पावनपक्ष्मपर्यकपरिलालितललितलावण्यलक्ष्मीककलकञ्जचरणसकलसुरमुनि-मनुजकिंनरामरत्रिपुरहरप्रभृतिपरमप्रणतपावनपद्मापाद्मपूजितपदपद्मनिरतभववासना-विरतसतसमाजैक-शरणतरणिकुलसमलंकरणव्रीडितविविधविबुधविशुद्धबुधं मंजुकुसुमाकरप्रियंकरमकरकेतनकृतसाकेतकेतनसरयूतरलतरङ्गसमुछालित-परमप्रसृमरपादपयोजनन्दनविपिननवनलिनपरागमरकन्दपानलिप्सावलम्बलोल-लोलरोलम्बकदम्बनिकुरम्बनिन्दकमेचक-कुटिलशिरोजश्रीवत्सलाञ्छनद्विजचरणाभरण-विपुलविमलवत्सवत्सललोकाभिरामनीलेन्दीवरमरकतेन्द्रनीलतमालकालिन्दीकल्लोल-दूर्वादलनीलनीरधरनीलातसीकेकिगलगगननिसर्गश्यामलनिर्मलनिरस्तनिखिलविकार-सकलवेदान्तसारव्रीडितविपुलगारशिरसिसुमनस्सुकुमारहृतश्रूरिभूमिभारपरिपूर्णत-मावतारपरमकृपापारसीताहृदयहारमनोहरमधुरश्रीरामाभिकृष्णावतारकारणमूर्त्या मन्दिरीकृतः आत्मा मनोभूयेषां ते महात्मानः। अथवा महानपरमस्तुत्यःआत्मा मदर्थं कृतः प्रयासः येषां ते महात्मानः—

एवं भूताः दैवीं देवसम्बन्धिनीं प्रकृतिं अभयादिलक्षणामश्रिताः प्राप्ताः हे पार्थ! यथा त्वं ऐन्द्रीप्रकृतिमाश्रितः विगणितागणितसांग्रामिकगुणगणनारायणीचमूकः कल्याणगुणगणनिलयं मामेव वृतवानसि महासमरशौण्डिनिजरथसारथ्ये, तथैव न विद्यते अन्यस्मिन् मदतिरिक्ते निजोपराश्रित्वेन कल्पिते मनःस्वान्तं येषां ते अनन्यमनसः मां भूतानाम् आदिम् आदिकारणं ज्ञात्वा विदित्वा सकलवेदान्तवेद्यतया विशिष्टाद्वैताचिन्तनेन निश्चित्य भजन्ति, सेव्यसेवकभावलक्षणसम्बन्धेन मच्चरणारविन्दकैंकर्यचिकीर्षया परमानुरक्तिविषयं कुर्वन्ति ॥श्रीः॥

अथ भजनप्रकारमाह—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (गीता ७/१४)

रा० कृ० भा०— दृढं न केनापि विचालयितुं शक्यं व्रतं भगवदीय कैंकर्य-रूपं श्रीवैष्णवं लक्षणं येषां ते दृढव्रता मदाराधनबद्धनिष्ठाः मां श्रीरामं महाविष्णुं कृष्णसंज्ञं सततं निरन्तरं कीर्तयन्तः मन्मंगलमयनामभिः तन्निबन्धनपद्यरचनाभिर्वा—

अच्युतं केशवं रामनारायणं कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम् ।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं जानकीनायकं रामचंन्द्र भजे ।।

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव ।
श्री राम जय राम जय जय राम
सीताराम जय सीताराम
श्रीराम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम् ।
श्री कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम् ।

इत्येवमादिभि: संकीर्तयन्त: यतन्त: यतमाना: मां सगुणं साकारं वासुदेवं भक्त्या मद्विषयकपरमानुरक्ति– रूपया युक्ता: नमस्यन्त: कायमनोवाग्भि: प्रह्वीभा वेन योजयन्त: साष्टाङ्गं प्रणिपतन्तश्च । यथोक्तम्–

उरसा शिरसा दृष्ट्या वचसा मनसा तथा ।
पदभ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टाङ्गमुच्यते ।।

नित्ये मयि परमात्मनि युक्ता: उपासते, मत्प्रपन्ना मां समर्चन्ति ।।श्री:।।
अपरमप्युपासनाप्रकारमाह—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।। (श्री गी० ७/१५)

रा० कृ० भा०— चकार: एवार्थ: अन्ये इतो विलक्षणा: आर्यपि निश्चयेन दृप्तशरणागतश्रीवैष्णवा: पृथक्त्वेन स्वरूपतो निजेभ्य: पृथक्तया वर्तमानं विश्वत: सर्वत्र मुखानि यस्य स तं विश्वतोमुखम् । एवं सर्वव्यापिकं मां ज्ञानरूपेण यज्ञेन एकत्वेन ऐक्यं सम्बन्ध: ऐक्यं सौहृदमेव च (भा० १०,२७,१५) इत्युक्ते: सेव्यसेवकभावलक्षणेन सम्बन्धेन बहुधा श्रवणकीर्तनस्मरणपादसेवनार्चनवन्दनदास्य-सख्यमात्मनिवेदनै: बहुधा नवधा यजन्त: पूजयन्त: मां उपासते सेवते ।।श्री:।।

अथ कथं भवते विश्वमुखत्वं इति पार्थजिज्ञासां परिहरति श्री हरिश्चतुर्भि:—

अहं क्रतुरहं यज्ञ: स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।। १६ (श्री गी. ६/१६)

रा० कृ० भा०—क्रतुः श्रौतयज्ञः अग्निष्टोमादिः यज्ञः स्मार्तः श्रीविष्णुमहायागादिः यद्वा क्रतुर्नित्ययज्ञः पञ्चयज्ञबलिवैश्वदेवादिः, यज्ञः नैमित्तिकः स्वर्गादिकामैरिज्यमाणो ज्योतिष्टोमादिः यद्वा क्रतुः संकल्पपूर्णो यागः ज्योतिष्टोमादिः—

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको (कठो १/२/२०)। तत्र अक्रतुरिति संकल्परहितः इत्येवं पूर्वैरपि व्याख्यातम्। किंच शुक्लयजुर्वेदस्य चत्वारिंशे ऊँ क्रतो स्मर (शुक्लयजु ४०/१७) इत्यत्रापि संकल्पार्थकस्य श्रुतत्वात्। यज्ञः नित्यब्रह्मयज्ञः देवयज्ञः भूतयज्ञः पितृयज्ञमनुष्ययज्ञात्मकः अहं स्वधा, पितृभ्यो दीयमाना अहं वासुदेवः स्वेश्यः निजजिज्ञातिभ्यः पितृभ्यो धीयते या सा स्वधा इति व्युत्पत्तिः, ओषधीषु अहम् औषधम्। भेषजम् अहमेव मदात्मकमिति भावः पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मक (गीता १५/१२३) इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् मन्त्रः तत्तद्देवोद्देश्यात्मकः वैदिकः पौराणिकश्च अहं मदात्मकः आज्यं यज्ञनिमित्तिकं घृतम् अहं, मन्मयमेव अग्निः अग्रे नीयते, पूज्यते यस्तथाभूतः गार्हपत्यादिः आहुत्यधिकरणविशेषः अहं महाविष्णुरेव हुतं आहुतिकर्म तत्करणं वा अहमेव—॥श्रीः॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ (गीता. ९/१७)

रा० कृ० भा०—किंच अस्य चिद्चिदात्मकस्य जगतः संसारस्य पिता जनयिता अभिन्ननिमित्तोपादानकारणभूतः महाविष्णुः श्रीरामश्रीकृष्णसंज्ञः अहमेव, तथैव जगतोऽस्य माता जननी प्रकृतिसंज्ञा मम महामाया महालक्ष्मीः श्रीसीता श्रीराधा संज्ञा अहमेव मदभिन्नेति भावः, अतएव रामः सीता जानकी रामचन्द्रो नित्याखण्डे ये च पश्यन्ति धीराः इत्यथर्वश्रुतिः संगच्छते। एवमेव इन्द्रः सीतां निगृह्णातु सीते वन्दामहे त्वात् अर्वाची सुभगे भव सीते इत्यादयः परश्शताःश्रुतयः संगच्छन्ते। एवमेव श्रीकृष्णावतारे श्री राधाविषयेऽपि राधा भगवतोऽऽह्लादिनी शक्तिः या रामावतारे सीता सैव श्रीकृष्णावतारे राधेति रं रामचन्द्रं आ आदरेण धत्ते, निजहृदये या सा राधा इति व्युत्पत्तेः। अतएव मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः। इति श्री वाल्मीकि श्रीरामायणं संगच्छते (१/७८/२६)।

अतएव राधसां पतये नमः इति वेदे विशेषस्तु श्री राधोपनिषदि द्रष्टव्यः एवमेव व्याचक्षत एतस्याः भारतीयसंस्कृतेः विद्वन्मूर्धन्याःअभिनवशंकराचार्यरूपाः अस्मच्छ्रद्धेयाः स्वामिकरपात्रापरनामधेयाः श्रीहरिहरानंदसरस्वतीचरणाः भक्तिसुधायाम्। ननु सकलपुराण- चूडामणौ ब्रह्मसूत्रभाष्यभूते श्रीगायत्रीव्याख्यानसंग्रहे साक्षाच्छ्रीकृष्ण-

विग्रहे तत्र भवति श्री भागवते श्रीमद्वेदव्यासचरमकृतौ श्रीकृष्णलीलालालित्य-निखिलनैगमदार्शनिकसिद्धान्त- व्याख्यानपरेनिगम कल्पतरौ, क्वापि श्रीराधायाः नाम्नोऽपि संकीर्तनाभावात् तत्राप्रामाण्यमिति चेन्न ! श्रीमद्भागवते आपाततोऽनुपलब्धत्वेऽपि । श्री राधाचरित्रस्य विस्तरशो ब्रह्मवैवर्ते, पाद्मे, शिवपुराणादौ च वर्णितत्वात्। किंच श्री मद्भागवतेऽपि वैष्णवपदपंकेरूहपराग-विमलीकृतमानसवद्भिः श्री सीतापतिकृपाकटाक्षसंशोधितनिगमागमपुराणेतिहासदर्शन-व्याकरणादिगभीरतत्वान्वेषणरसरसज्ञप्रतिभाभासुरचित्तवृत्तिभिः पदे पदे श्री राधा चरित्रस्य द्रष्टुं सुशकत्वात्, ननु तावद् वचनमात्रेण कानिचिद् उदाहरणानि प्रस्तोतव्यानीति इति चेत् श्रूयन्ताम् । प्रकृतप्रसंगवाह्यान्यपि प्रकृतसिद्धान्तपोषणोपयोगीनि परोक्षप्रिया हि देवाः भवन्ति इति श्रुतेः । श्री राधायाः यद्यपि वाच्यतया सामान्यतोऽनुपलब्धवर्णनं श्रीभागवतम्। तथापि परमहंससंवेद्यत्वात् वेदव्यासस्य समाधिपरिणामभूतत्वाच्च गंभीर- हृदयमेतत् प्रत्यध्यायप्रारम्भे संकीर्तितराधापर्यायश्रीशब्दकं चकास्ति । श्री शुक उवाच इति तत्र श्री राधा तस्याः श्रियः शुकः श्री शुकः ।

एवं मन्ये न्यूनातिन्यूनं श्रीमद्भागवतस्य त्रिंशताध्यायीसंकीर्तितश्रीराधानामप्रारम्भो आभाति । किञ्च राधानामापि त्वदनुरोधेन भगवत्कृपया अभिधयाप्युप लभ्यमानं दर्शयामि, यथा तत्र द्वितीये श्रीशुकाचार्यः परमगुरुभूतायाः श्री वृषभानुनन्दिन्याः स्मरन् तुष्टाव—

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्टाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ।।

(श्रीमद् भागवत २/४/२४)

अस्यार्थः सात्वतां सात्वतवंशानां सात्वतां वैष्णवानां वा परित्राणाय ऋषभाय सिंहाय श्रेष्ठाय च, ते तत्र भवते भगवते नमो नमः । किञ्च कुः पृथ्वी तदुपलक्षिता पार्थिवाः भोगाः तान् युञ्जन्तीति कुयोगिनः तेषां कुयोगिनां भगवद्विमुखानां, विदूरकाष्ठाय, विदूरा काष्ठा प्राप्तिः यस्य तथाभूताय किञ्च साम्यञ्च अतिशयश्च इति साम्यातिशयौ इनः स्वाभी निरस्तौ साम्यातिशयौ यस्य यस्मात् वा स निरस्तसाम्यातिशयः दूरीकृतसादृश्याधिक्यः निरस्तसाम्यातिशयः इनः स्वामी प्राणप्रियः श्री कृष्णपरब्रह्मभूतः यस्या सा निरस्तः साम्यातिशयेन दूरी कृतसाम्याधिक्यप्राणपतिका इति भावः । निरस्त साम्यातिशयेन सा चासौ राधा इति

निरस्तसाम्यातिशय्येन राधा । तया निरस्त साम्यातिशयेन राधसा, यस्याः प्राणपतिः श्रीकृष्णः स्वसादृश्यातिशयरहितः न तत्समोऽस्त्यधिकः इति श्रुतेः न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः (गीतायाः ११/४३) इति स्मृतेश्च तया राधसा राधया सः स्वधामनि निजधामनि श्रीवृन्दावने ब्रह्मणि ब्रह्ममये ब्रह्मतद्वनं इति श्रुतेः रंस्यते रममाणाय श्री राधयासह श्रीवृन्दावने क्रियमाणरमणाय भगवते नमः, किञ्च श्रीकृष्णावतारकाले राधानाम्ना महिलाद्वयं श्रूयते, एका कर्णमाता राधा, राधेयमाराधित जामदग्न्यम् अपरा, श्रीकृष्णप्राणवल्लभा कीर्तितनया राधा, शिवपुराणे कलावती नाम्नापि एतन्मातुः प्रसिद्धिः, वेदव्यासेन, द्वयोर्नाम्नोः ईषत् वैलक्षण्यं दर्शयितुं कृष्णप्रियां च राधां सामान्यशीलायाः प्राकृतमहिलायाः अधिरथ पत्न्याः कर्णमातुः पृथक्त्वं च स्थापयितुं शब्दवैलक्षण्यमकारि । कर्णमातुः आकारान्तता राधा राधे, राधा । जगन्मातुः कृष्णप्रियायाः भगवत्याः नामनि सकारान्तता राधा राधसो राधसः इति अतएव निरस्त साम्यातिशयेन राधसा, राधसां पतये नमः । इत्यादि श्रुतिस्मृतयः संगच्छन्ते । किञ्च—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः । (श्रीमद् १०/३०,२८)

इत्यत्रापि राध्नोति इति राधा, राध्यते श्री कृष्णः यया सा राधा इति व्युत्पत्त्यर्थदर्शनेन राधामितः राधितः इति शकन्ध्वादिपररूपमहिम्ना च श्रीराधा संकीर्तनम् । इहैव द्वात्रिंशे श्लोके—

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो बंधून् ।
इत्यत्र वधूः भ्रातृदत्तां लाजां जुहुयात् ॥

इति पारस्करसूत्रानुसारं श्री राधाकृष्णं विवाहोऽपि सूचितः किं बहुना,

श्रीमद् भागवताब्धिर्हि राधाचरित्र्य वारिमान् ।
ग्रन्थगौरवभीतोऽहं नेह विस्तरशो ब्रुवे ।

धाता पोषणकर्ता विष्णुः पितामहः ब्रह्मा अहमस्मि । सत्त्वगुणावच्छिन्नः विष्णुः रजो गुणावच्छिन्नः ब्रह्मा मदात्मक एवेति भावः तथा च वेत्तुं योग्यं वेद्यं, पूयते अनेनेति पवित्रम् । ज्ञातव्यं पावनवस्तुभूतं ओंकारः प्रणवाख्यं वस्तु अहमेवास्मि । तस्य वाचकः प्रणवः एवं ऋक् ऋग्वेदः यजुः यजुर्वेदः साम सामवेदश्च अथर्वणस्यैतेष्वन्तर-भावान्नपृथगुक्तिः एवं वेदत्रयी मदात्मक एवेति भावः । यद्वा चकारेणाथर्ववेद संग्रहः ॥श्रीः॥

किञ्च जीवानां गत्यादिरप्यहमेव इत्यत आह—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।

(श्रीमद्भगवत ९/२८)

रा० कृ० भा०— गम्यते इति गतिः गन्तव्यं विभर्तीति भर्ता पोषको धारकश्च प्रभवः प्रभुः स्वामी साक्षात् पश्यतीतिसाक्षी 'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' पा० अ० ५/२/९१ इत्यनेन निः तिलोपश्च शुभाशुभकर्मद्रष्टा "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इतिश्रुतेः निवसन्ति भूतान्यस्मिन् इति निवासः अधिकरणे घञ् भूतानां निवासस्थानं शरणं रक्षकः शरणं गृहरक्षित्रोः इति कोशात्। सुहृत् निःस्वार्थ मित्रम्। "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयो" पा० अ० ५/४/१५० इति पाणिन्यनुशासनात् प्रभवन्ति जनाः येन स प्रभवः उत्पत्तिकारणं प्रलयः प्रलीयन्ते यस्मिन् स प्रलयाधिकरणभूतः प्रलयः तिष्ठन्ति जनाः यस्मिन् तत्स्थानं अधिकरणे ल्युट् स्थित्यधिकरणं निधीयन्ते भूतानि यस्मिन् तन्निधानं आधारः यद्वा निधानं परमकारणम् अव्ययम् अविनाशि बीजं सर्वेषाम् उपादानं अहमेव, यः सर्वत्र पूर्वश्लोकात् अस्य जगतः इत्यनुसज्जते अहम् इति च। च अस्य जगतो गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी, निवासः शरणं सुहृत् प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं अव्ययं बीजं अहम् एव। इत्यन्वयप्रकारः एवं पूर्वस्मिन् श्लोके चत्वारः अस्मिंश्च पञ्चदशेति अस्य जगतःपित्रादयः बीजपर्यन्ताः भावाः अहमेव ॥श्रीः॥

अथ विश्वतोमुखत्वमुपसंहरन्नाह—

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।। (गीता ७/२९)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! अहमेव सूर्यरूपः तपामि उदयन् उष्णतां वितनोमि, अहमेव सूर्यः निजरश्मिविशेषैः अष्टौ मासान् यावत् वर्षं वृष्टिं निगृह्णामि नियच्छामि, नियन्त्रयामि इति यावत् तथा च अहमेव पुनः पर्जन्यरूपः चतुर्षु मासेषु वृष्टिम् उत्सृजामि, वर्षन् वारिधारास्त्यजामि, अहमेव अमृतं मत्प्रपन्नानां मरणाभावः अहमेव च, मद्विमुखानां मृत्युः यथोक्तं श्रीमद्भगवते—

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतञ्च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्।।

(श्रीमद्भागवत १०/१/७)

एवं सत् जीवः असत् मायाचापि अहं मदात्मकमेव । श्रीः।

एवं निष्कामोपासनां वर्णयित्वा सकामोपासकानां गतागतं व्याचष्टे द्वाभ्याम्—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।। २० ।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ।। २१ ।।

रा० कृ० भा०— तिस्रः विद्यास्त्रिविद्यं कास्ताः ऋग्यजुःसामाख्याः त्रिविधमधीयते इतित्रयीविद्याः तद्धीते तद्वेद पा० अ० ४/२/५९ इत्यनेन अधीते इत्यर्थे अण्प्रत्ययः आदिवृद्धिश्च प्रातिपादिकत्वात् जसि त्रयीविधाः इति निष्पद्यते । अध्ययनमत्र ऋग्यजुःसाम्नाम आनुपूर्व्यात् कण्ठस्थीकरणं विवक्षितम् । नत्वर्थावगमः शुकपाठवत् । ये खलु त्रयीम् अक्षरशः कण्ठे धारयन्ति नतु तन्मन्त्रार्थानवगच्छन्ति । न वा विचारयन्ति ते त्रैविद्याः अत्र विवक्षिताः नन्वध्ययनज्ञानयोः कि मानं वैलक्षण्य इति चेत् तदधीते तद्वेद् इति पाणिनीयसूत्रमेव गृहाण, परमं प्रमाणं यद्यध्ययनवेदने एकार्थे स्यातां अथवा कण्ठधारणार्थावगमनपर्यन्तः स्यात् अध्ययनार्थः तदा तद् वेद इति कथं लिखेत् सूत्रकृच्छिरोमणिः भगवान् पाणिनिः यत्तु अर्थावगमपर्यन्तमध्ययनत्रम् इति केचन व्याचक्षते तत्तु अनवगतपाणिनीयगभीरपारंपर्यतया भ्रमविजृम्भितम् । वेदनार्थेऽपि तावत तिस्रः विद्याः त्रयीवार्तादण्डनीतयः, त्रयीशव्दोऽत्र त्रिवेदी कर्मकाण्डतात्पर्यप्रयोजनाध्यवसायकमन्त्रपरः ता एव त्रयी वार्तादण्डनीतिः तिस्रः विद्या विदुः ये ते त्रैविद्याः चतस्रः खलु विद्याः भवन्ति आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती इति वचनात्, आन्वक्षिकी मोक्षफला व्रह्मविद्याः, वार्ता वाणिज्यविद्या वृत्तिः जीविका प्रयोजनं यस्याः सा वार्ता इति व्युत्पत्तेः ।

ये खलु आन्वीक्षिकीं वेदान्तविद्यां न विदुः केवलाः तिस्र एव विदुः तेत्रयी विद्याः कर्मकाण्डमात्रलक्ष्याः तथा च सोमपाः सोमं पिवन्ति इति सोमपाः स्वादिष्ट्या मदिष्ठया यवस्य सोमधारया इन्द्राय पातेवसुतः इति मन्त्रम् आपाततोऽधीयानाः अतएव

पूतपापा: पूतं मन्त्रप्रभावेण पवित्रं प्रत्यवायकरणासमर्थं पापं पापकरणं येषां ते पूतपापा: न तु ध्वस्तपापा: कर्माणि खलु ज्ञानाग्नौ भस्मी भवन्ति ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, ७४/१९ ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा, (गी. ४१/३७) इत्युक्तत्वात् श्रीगीतासु प्लवा एते अद्‌ढा यज्ञरूपा (मुण्डको पनिषद् २/२/८) इति श्रुते:, तथा भूतास्ते मां परमात्मानं श्रीकृष्णं यज्ञपतिं यज्ञै: श्रौतै:स्मार्तै: मखै न तु ज्ञानयज्ञेन् इष्ट्वा, यजनविषयं कृत्वा स्वर्गतिं स्वर्गगमनमेव मां प्रार्थयन्ते याचन्ते, अन्यदेवता इव मामपि स्वर्गदानक्षममेव मन्वाना: न तु मां मच्चरणसरसीरुह-सामीप्यं याचन्ते । अतएव यथा याच्यं ते मया दीयमानं पुण्यं पुण्यफलपरिणामभूतं सुराणाम् इन्द्र सुरेन्द्र: पुरन्दर: तस्य सुरेन्द्रस्य लोकम्, अमरावतीनामकं पुरं प्राप्य दिवि स्वर्गे दिव्यान् स्वर्गीयान् सुधापानस्वर्ललनापरिष्वङ्गादीनि अश्नन्ति, तत्तद्विषयेन्द्रियै: सेवन्ते । एवं विशालं विपुलं विशिष्टा: शाला: भवनानि यस्मिन् तथाभूतं तं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् । स्वर्गलोकं देवलोकं भुक्त्वा सुखविषयतया सेवित्वा ससीमतया भोगावसाने भोगेनैव पुण्ये क्षीणे सुकृते नष्टे पुण्यचितो हि लोको क्षीयते इति श्रुते: । पुनर्मर्त्यलोकं मरणधर्ममनुष्यलोकं विशन्ति, पुनर्जन्मनि प्रविशन्ति, एवं बारं बारं त्रयी धर्मं पूर्वोक्ताया: त्रयीवार्तादण्डनीत्यात्मिकाया: वेदत्रयी वा धर्मं तत्र वर्णितम् ।

प्रवृत्तिलक्षणं धर्ममनुप्रपन्ना: हीनतया परिपालयन्त: न तु मां प्रपन्ना: कामकाम: कामान् कामयन्ते इति कामकामा: न तु रामकामा: न वा श्यामकामा: गतागतं गतं स्वर्गगमनम् आगतम् इह पुनर्जन्म च लभन्ते प्राप्नुवन्ति न तु मां तस्मात्त्वमपि आन्वीक्षिकीं धर्ममनुप्रपन्न मां प्रपन्नश्च मामेव प्रार्थयस्व । आन्वीक्षिकीधर्ममनुप्रपन्नो मदपादपद्मञ्च पुन: प्रपन्न: । स्वर्गाप्तये मा स्पृहयस्व पार्थ, मां कामयस्वेति जगाद कृष्ण: । ।।श्री:।।

ननु सकामा: भवन्तं स्वर्गतिं प्रार्थयमाना: यजमाना: श्रौतस्मार्तयज्ञै: कामं व्रजन्तु गतागतम् । किन्तु ये निरस्तनिखिलकामा अनन्या: धन्या: धरणिमण्डन–श्रीचरणसरोरुहं प्रपन्नभूरूहं भवन्तमुपासीना: प्रवीणास्ते कथंकारं विस्मृतशरीरा: धीरा: धैर्यं धरन्ति व्यवहारं च कथं चालयन्ति इति जिज्ञासमानं पार्थं प्रति परमकारुणिको नि:श्वासभूतनिखिलनिगम: प्रपन्नमनोरमो मधुसूदनो मधुरमूर्ति: श्री वैष्णवजिजीविषा केन्द्रभूतपीयूषरसधारं प्रपत्तिसिद्धान्तसारं परमोदारं निरस्तसकलशरणागतप्रपत्तिशोकं श्लोकमिमवतारयति—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। (श्रीगीता ७/२२)

अध्यायेऽस्मिन् वर्ण्यविषयीभूतयोगस्य योगेश्वरेण भगवता प्रथममेव राजविद्या राजगुह्यं इति द्वौ विभागौ न्यगादिषाताम्, तत्र तृतीयतः एकविंशतितमं राजविद्या निर्दिष्टा। इदानीं चरमांशेन श्लोक-त्रयोदश्या राजगुह्यं निर्दिश्यते, अनन्या इत्यादिना, नास्ति अन्य आश्रयः मदतिरिक्तो येषां ते अनन्याः बहुव्रीहिः अतएव न बहुव्रीहौ १/१/२८ इत्यनेन अन्यशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा निषेधात् न शीभावः त्यक्त-मदतिरिक्तान्याश्रयाः अनन्याःमामेव । परमात्मानं निजजीवनसर्वस्वभूतं परमप्रेमाश्रयतया निर्मलेन चेतसा चिन्तयन्तो मन्नामरूपलीलाधामकथकीर्तनच्छलेन चिन्तनविषयं कुर्वन्तः ये जनाः पंचसंस्कार सम्पन्नाः श्रीवैष्णवाः पर्युपासते सर्वभावेन पूजयन्ति, मदनन्यनिष्ठाः प्रेमप्रवणाः परमानुरक्ता मां भजन्ति इति भावः ।

ननु भवत्पदपद्मपरमप्रेमपाथोधिप्रवाहे विस्मृतसकलसंसारव्यवहाराः कथं सकुटुम्बादिकं बिभ्रति कथं वा शरीरयात्रां निर्वहन्ति इत्यत् आह, तेषामिति नित्यं निरन्तरं अभितः सर्वतः युक्तानां मद्भजनरुद्धचित्तवृत्तीनां तेषामननन्यानां चिन्तयतां सम्बन्धिभूतं योग-क्षेमं-नित्यलाभो योगः मलब्धरक्षणं क्षेमं योगश्च क्षेमश्च योग-क्षेमे तयोः समाहारः योगक्षेममहं वहामि प्रापयामि इदं प्राचामनुरोधेन । वस्तुतस्तु ये भगवतदनन्यमनसा पांचरात्रादिश्रुतिस्मृतिपुराणसम्मतया भगवति परमासक्तिरूपया भक्त्या भगवच्चरित्रचिनतनपरायणाः गुरूपदिष्टं कञ्चित् सम्बन्धविशेषं स्वीकृत्य निजोपा सनाननुरूपं ये जनाः भगवदेकशरणाः परिस्कृतं यथा स्यात् तथा उपासते भगवन्तं परमप्रीत्याश्रयं कुर्वनित, तेषां भगवति नित्ययुक्तचेतसां सम्बनधिभूतं सकलोत्तरदायित्वरूपं योगक्षेमं वहति, धारयति, इत्याशयः । अथ योगक्षेमपदार्थे विचार्येते। योगः योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः इति पतञ्जलिः तस्य मयि परमात्मनि चित्तवृत्ति-निरोधःलक्षणस्य क्षेत्रं रक्षणं अहं वहामि, निर्वहामि, मत्कृपां विना केनापि चञ्चलस्यास्य मनसो निग्रहः कर्तुं न शक्यते न वाचित्तस्य क्षिप्तादयो वृत्तयोः निरोद्धुं शक्याः, परस्सहस्राणां योगिनां पुराणेष्वारूढ़पतितत्त्वश्रवणात् त्वयैव च षष्ठेऽध्याये कच्चिन्नोऽभयविभ्रष्टः (गीता ६/३) इत्यादिना योगभ्रष्टानां गतिविषये कृतप्रश्नत्वात्, मयापि उत्तरयता शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते (गी० ६॥४१) इत्येवं रूपेण दत्तोत्तरत्वात् ।

ननु वह प्रापणे इति पाणिनीयानुशासनात् प्रापणार्थकवह् धातोः कथं निर्वाहादिरर्थः इति चेत् परोभुवोऽवज्ञानं पा. अ. ३/३/५५ इत्यत्र परिपूर्वक भू धातोः अवज्ञानार्थे प्रसिद्धेऽपि तदर्थ एव अप्रत्यय नियमनात् अनेकार्था हि धातवः इति परिभाषा ज्ञाप्येत, अतएव 'तद् वहति रथयुगप्रासंगम्' ४/४/७६ । इति सूत्रे वह

धारणार्थः संगच्छते, अतएव नदी वहति, भारं वहति इत्यादयः संगच्छन्ते। वस्तुतस्तु नैवात्र वहतेः प्रापणार्थो युज्यते, अनन्यमनसां भगवत्पदपद्मसामीरणजुषां भगवन्तं विहाय स्थानान्तरितत्वासम्भवात्। अतएवाथर्वणे चंद्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह इत्यत्र आवह शब्दस्य धारणार्थत्वेनैव आचार्यैर्व्याख्यातचरत्वात् यद्वा युजिः समाध्यर्थकः समाधिश्चार्थनिरोधः स च चतुर्धा स्नेहनिरोधः, आसक्तिनिरोधः, व्यसननिरोधः, फलनिरोधश्च।

तत्र मदनन्यमनसां चतुर्धानिरोधलक्षणस्य योगस्य क्षेमं प्रत्यवायनिरसन रूपं रक्षणे अहं वहामि निजललितलीलाभिः, तत्र मानवस्य स्नेहो नैकेषु सोद्देश्यो विपर्ययस्तो भवति, भगवद्बाललीलया स स्नेह एकीभूतो भगवति कुटिल कुन्तले परिकलितशिशुरूपे निखिललोकलोचनरसाले मयि गोपाले स्नेहो निरुध्यति स एव योगः यथा तत्र श्री भागवते—

तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम्।
दत्वा स्तनं पिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य मुग्धास्मिताल्पदशनं ययुः प्रमोदम्।।

भागवत १०/८/२३।।

शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यासिजलद्विजकण्टकेभ्यः
क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम्।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम्।।

(श्रीमद्भागवत १०/८/२५)

वस्तुतस्तु अत्रैच चत्वारोऽपि निरोधाः तावत् स्नेहस्यापि निरोधोऽत्रआसक्ति-व्यसनस्य च। फलस्यापि निरोधोऽत्र चतुर्भिः शैशवे हरेः उपरिष्टात् वदिस्यामि व्यवस्थाप्यैव तान्यहम्। प्राङ्मतान्तरमालक्ष्य व्याचक्षे प्रीतये बुधाम्। व्रजे च मथुरायां च द्वारकायां जगत्पते। कुरुक्षेत्रे चतुर्ध्येयं लीला लालित्यहेतवे। व्रजे स्नेह निरोधोऽस्ति तथा शक्तेर्मधोः पुर्यां। व्यसनस्य कुरुक्षेत्रे द्वारकायां फलस्य च गोपानां गोपिकानां च पित्रोश्चैव गवामथ निरोधः स्नेहसम्बन्धी व्रजलीलासु दृश्यताम् ।।५।।

स्नेहोऽयं स्त्रीषु गेहेषु विततः सुजनेषु यः।
ध्यानात्तं निरुणद्धेषा व्रजलीला वकद्विषः ।।६।।

यन्मुखाम्बुज मरन्दमाधुरी कृष्टचेतसः इमा व्रजाङ्गनाः ।
नो विदुर्जगदिदं तथा परे स्नेहरुद्धमनसो मधुद्विषि ।।७।।

पीत्वा मदीयमधरामृतमाप्तकामाः कामं
च दुर्जयमिमं दमयांबभुवुः ।
गोप्यश्च गोपितगवेन्द्रगवीरसाढ्याः
वामार्चिताश्च विबभुः सहरिर्विभाति ।।८।।

यं राधिका पृथु पयोधरमध्यधाम्नि प्रेम्णा
जुगोप परिगोपितशास्त्रसारम् ।
सोऽयं निधानममलं व्रजवल्लवीनां
स्नेहं स्वपंकजपदे निरुणादलं मे ।।९।।

संसारकान्तारपरिश्रमेण श्रान्ताय तान्ताय विलोचनाय ।
राधामुखाम्भोरुहचंचरीकः संक्रन्दते यच्छतु यष्टिकां मे।।१०।।

आसक्तिर्या स्वजनवितता मोहपाशानुबद्धाः
उग्रादीनां यदुसु जनुषां साध्वसा माथुराणाम् ।
सैषा लीला हतकुवलयापीडपीडेन राजत्
स्मेराम्भोजाननवरुचा संनिरुद्धाक्षणेन ।।११।।
यत्पाण्डवस्य व्यसनं वनद्विषो
यद् याज्ञसेन्या स्वपितृस्वसुश्च यत् ।
मन्मैत्रसौत्यादिविचित्रचेष्टितैः क्षेत्रं
कुरूणां न्यरुणत् कृपाकरः ।।१२।।

श्रीद्वारकेशपदपद्मपरागरागरोलम्बाडिम्भ मनसो मदनाम्बिकाद्याः ।
त पत्न्यश्च षोडशसहस्रमनल्पपुण्याःस्वैरंफलानि निजप्राणपतौ न्यरुन्धन् ।।

नूनं निरोधोत्र चतुर्विधोऽयं श्रीकृष्णतोकाचरितेऽद्भुते च ।
निदर्शितो भागवते गुणाढ्ये कीरेण धीरेण मुदा गवाक्षे ।

तथा हि श्री भागवते-श्रीदशमेअष्टमाध्याये चतुर्भिः चतुर्णां स्नेहासक्तिव्यसन फलानां निरोधो न्यदर्शि चतुरचक्रचूडामणिभिः श्रीशुकाचार्यैः ।

तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु ।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ।।
(भागवत १०/८/२२)

इह स्नेहनिरोधः तथा हि तौ श्रीवलभद्रश्रीकृष्णौ अङ्घ्रियुग्मं चरणयुगलं अनुकृष्य वाललीलायां व्रजस्य कर्दमेषु पंकेषु सरीसृपन्तौ पिच्छलन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं नूपुरध्वनिप्रतिध्वनिमधुरं प्रस्खलन्तौ तस्य नूपुरेण हृष्टं मनः ययोस्तौ स्तकम् आह्वानं कुर्वन्तं चुटकीवादनादिभिः जनमनुसृत्य तस्य संसारगतं स्नेहं निरुन्धन्तौ मुग्धभीता इव मात्रोः यशोदारोहिण्योः अन्ति समीपे उपेयतुः जग्मतुः इति स्नेहनिरोधः ।

अथासक्तिनिरोधः—

तन्मातरौ निज सुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ
पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम् ।
दत्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य
मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम् ।।

(श्रीमद्भागवत १०/८/२३)

तयोः बलभद्रकृष्णयोः मातरौ रोहिणीयशोदे घृणया कृपया वात्सल्यरूपया भावनया वा स्नुवन्त्यौ स्तनतः पयःस्रवन्त्यौ पङ्कयो रङ्गरागः तेन रुचिरौ सुन्दरौ निजपुत्रौ बलभद्रकृष्णौ दोर्भ्याम् भुजाभ्यामुपगुह्य पयः पानाय स्तनं दत्वा प्रपिवतोः मुग्धस्मिते अल्पाः दशनाः यस्मिन् अथवा मुग्धं मनोहरं स्मितं अल्पे द्वित्रा दशनाः यस्मिन् एवं विधं मुखं निरीक्ष्य प्रमोदमिष्टलाभं ययतुः । अत्र रोहिणीयशोदागृहासक्ति-निरोधः ।

अथ व्यसननिरोधः—

यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीलावन्तर्व्रजे तदवलाः प्रगृहीतपुच्छैः ।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृर्षुहसन्त्यः ।।
(भागवत १०/८/२४)

यदा अंगनाः व्रज गोप्यः अन्तर्व्रजे तत्रत्याः अबलाः प्रगृहीतानि पुच्छानि येषां तथा विधैः वत्सै गोशावकैः अनुकृष्यमाणौ इतस्ततः पृच्छन्त्यः पश्यन्तो भवन्ति तथा

अज्झितं गृहं तत्सम्बन्धि समस्त व्यसनं याभिस्तथाभूताः हसन्त्यः जहपुः । परमानन्द सागरे निममज्जुः इति व्यसनविरोधः ।

अथ फल निरोधः—

श्रृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यासिजलद्विजकण्टकेभ्यः
क्रीडापरावति चलौ स्वसुतौ निषेद्धुम् ।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम् ।।

(श्रीमद्भागवत् १०/८/२५)

दंष्ट्रसिति पाठस्तु प्रामादिकः । व्रजे असीनां प्रकरणविरुद्धत्वात् लीलाया अनुपयोगाच्च, शृंगी गवादिः, अग्निः दंष्ट्रिः द्रंष्टावान् पशुःश्वा शावकादिः अहिः सर्पः जलं द्विजाः पक्षिणः शुकादयः कण्टकाभिः येभ्यः गृहीतकामो क्रीडातत्परो निजपुत्रौ निवारयितुं व्यस्ताः गृहकार्याणि अपि कर्तुं मातरौ न प्रबभूवतुः । अतः मनसा अनवस्थितिं प्राप्तवत्यौ, इति गृहकार्यविरतत्वात् फलनिरोधः । अस्य चतुर्विधस्य निरोधलक्षणस्य योगस्य क्षेमं रक्षणम् अहं वहामि ।।

यद्वा योगः समत्वलक्षणः 'समत्वं योगमुच्यते' (गी.२।।४८) तस्य क्षेमं-रक्षणं वहामि करोमि । यद्वा योगः मद्ध्यान लक्षणो योगः तस्य क्षेमं रक्षणं वहामि । मदनन्य-मनसां ध्यानयोगः केनापि विघ्नेन न विहन्यते मया रक्षितत्वात् यथा श्रीभागवते, ध्रुवस्य

स वै धिया योगविपाकतीव्रया हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम् ।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य बहिः स्थितं तदवस्थं ददर्श ।।

(श्रीमद्भागवत ४/९/२)

यथा च श्रीमानसे श्री सुतीक्ष्णस्य—

मुनिहि राम बहु भांति जगावा । जाग न ध्यानजनित सुख पावा ।।
भूप रूप तब राम दुरावा । हृदय चतुर्भुज रूप दिखावा ।।
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे । विकल हीन मनि फनि वर जैसे ।।
आगे दीख राम तनु श्यामा । सीता अनुज सहित सुख धामा ।।

मानसे (३।१०।१७, १८, १९, २०) रुपान्तराणि ।

मुनिं रामो बहुविधैः प्रयत्नैः पर्यबोधयत्।
नाजागरीत् सुखं प्राप्तो श्रीरामध्यानसम्भवम्।। १ ।।

अजुगुपत् तदा रामो रूपं पार्थिवलक्षणम्।
दर्शयामास हृदये रूपं तस्य चतुर्भुजम् ।। २ ।।

व्याकुलीभूतहृदयो मुनिरजागरीत्तदा।
विकलो मणिना हीनो यथा भुजगपुंगवः ।।

अग्रे ददर्श श्रीरामं श्यामपाथोजविग्रहम्।
सीतानुजाभ्यां संयुक्तं सुखधामकृपाकरम् ।।

अथवा योगानां मयैव श्रुतिमूर्तिना निर्णीतानां कर्मयोगभक्तियोगज्ञानयोगानां क्षेमं रक्षणं, यद्वा एकैकशः कर्मयोगस्य, भक्तियोगस्य ज्ञानयोगस्य च क्षेमरक्षणं वहामि, विदधामि। त्रयाणां पुरोदितनाम्नां योगानां यौगपद्येन केषुचित् विरलेषु महाभागवतेषु सम्भवो दृष्टः यथा श्रीभरते, यथा तत्रैव श्रीहनुमति, इहावतारे व्रजाङ्गनासु इहैव श्री विदुरे, एकैकशस्तु बहुत्र अथवा योगः मया सह भक्तेन निश्चितः स्वीकृतः निज-निसर्गोपासनानुरूपः योगः सम्बन्धविशेषः तस्य क्षेमं रक्षणं वहामि विदधामि।

येन सम्बन्धेन मदीयो भक्तो मामुपासते, तस्य सम्बन्धस्य योगपर्यायस्य सामग्र्येण मर्यादामहमेव निर्वहामि। यथा त्वमत्र सख्यसम्बधेन मां भजसे। भक्तोऽसि मे सखा चेति (गीता ४।।३) सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं (गीता, ११, ४१) इति वक्ष्यमाणत्वात्, अतस्तस्य सख्यसम्ब्धस्य मर्यादां पालयिष्यन् मिलन्तं त्रायते इति मित्रम्। पापान्निवारयति योजयते हिताय, गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटीकरोति, आपद्गतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः। इति लक्षणानुसारं त्वां मित्रं स्वीकृतसख्य-सम्बन्धपर्याययोगं, पापात् शास्त्रत्यागरूपयुद्धपलायनात्मकविधर्म-स्वीकरणरूपात् निवारयिष्यामि। इति युद्धानृपे योजयिष्ये, गुह्यं वर्तमानमज्ञानं निगूह्य, निजभक्तलक्षणान् श्रीवैष्णवालंकारभूतान् तमोगुणान् साधु समाजे तु प्रकटीकरिष्यामि। आपदगतं मोहविपदर्णवनिमग्नं संग्रामे भीष्मद्रोणकर्णादि-दिव्यास्त्रसम्पन्नविसंकटशत्रुसंकटसमावृतं त्वां न हास्यामि। एवमनुपदमेप तुभ्यं दिव्य-चक्षुःदास्यामि इति सम्पूर्णमित्रलक्षणपरिपालनाय, योगक्षेमं वहामीति प्रतिजानीते जनार्दनो, ममायं भगवदीयोऽभिप्रायः प्रतिभाति।

यद्वा युज्यते अनेनेति योगः मत्प्रेम तस्य क्षेमं कल्याणं वहामि करोमि, निरन्तरं भक्तप्रेम परिपालयामि । अनन्यमनसां बाह्यं न पश्यामि, यथोक्तम्—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का ।
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम् ।
को वंशो विदुरस्य यादवपते रुग्रस्य किं पौरुषम् ।
भक्त्या तुस्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ।।

यद्वा योगः भक्तस्य मम चरणारविन्दसंयोगः तस्मै तस्य वा क्षेमं कल्याणं वहामि, निर्वहामि निजानन्यमनसो निजचरणारविन्दतो न कदाचित् वियोजयामिति भावः । यथा श्री हनुमन्तं श्रीभागवते—

किम्पुरुषे वर्षे भगवन्तमादिपुरुषं लक्ष्मणाग्रजं सीताभिरामं रामं तच्चरण-संनिकर्षाभिरतः परमभागवतो हनुमान् सह किम्पुरुषैरविरतभक्तिरूपास्ते । एवं त्वामपि अनन्यं चिन्तयन्तं निजजने मामुपासीनं नित्याभियुक्तं विप्रतीपं गच्छन्तमपि योगक्षेमं ते निर्वहन् कदाचिदपि निजचरणसरसीरुहच्छायातो न वियोजयिष्यामि इमं योग-क्षेमं वहामि । इत्यनेन भागवान् प्रतिजज्ञे ।

अथ इतरदेवतोपासकानां का गतिः इत्यत आहभगवान् ।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।

(गीता ९/२३)

अपि शब्दश्चकारार्थः हे कौन्तेय ! कुन्तीपुत्र कुन्तीं असकृत्स्मरणपरमभागवती-पुत्रत्वात् । पार्थे प्रीत्यतिशयं दर्शयति । भक्तसम्बन्धेन भगवत्करुणासौलभ्यस्य निदर्शनमाह आलवन्दारे श्रीमद्यामुनाचार्यः—

अकृत्रिमं त्वच्चरणारविन्दप्रेमप्रकर्षावधिमात्मवन्तम् ।
पितामहं नाथमुनिः विलोक्य प्रसीद मद् वृत्तमचिन्तयित्वा ।।

(आलवन्दारः - ६५)

एवं परमभागवतीप्रसूतत्वात् तवाप्यनन्यता मातृसंस्कारेण सुलभा । कुन्ती च मत्पितृस्वसा ततः सम्बन्धानुरोधेनापि त्वयि मम भूयान् पक्षपातः । अन्याश्च ताः देवताः अन्यदेवताः तासां भक्ताः अन्यदेवताभक्ताः अथवा भक्त शब्दोऽत्र भावसाधनः भजनं भक्तः नपुंसके भावेक्तः पा.अ. ३/३/११४ इत्यनेन भावेक्तः प्रत्ययः । भजनमत्र

परितोषणं अन्यदेवतासु मदतिरिक्तासु इन्द्रादिसंज्ञासु भजनं भक्तं येषां ते अन्यदेवताभक्ता: मदतिरिक्तदेवताविषयकप्रीतिमन्त: श्रद्धया आस्तिकबुद्ध्या यजन्ते पूजयन्ति। अथवा ये अपि भक्ता: श्रद्धयान्विता: अन्यदेवता: यजन्ते ते सर्वे साधका: न विधि: अविधि: विधिविरोध: निषेध इति यावत् पूर्व: यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा इत्यविधिपूर्वकम् इति क्रियाविशेषणत्वात् द्वितीयैक वचनंभगवन्तं विहाय इतरदेवताभजनं हि सकलशास्त्रनिषेधविषय: यथोक्तम्—

स्मर्तव्य: सततं विष्णु र्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधा: स्युरेतयोरेव किंकरा:।

यथा च प्रतिपदमपि अस्मत्प्रात:स्मरणीयो गोस्वामि तुलसीदास: विनय पत्रिकासु—

राम सुमिरन सब विधि हूँ को साजरे।
राम को बिसारबो निषेध सिरताज रे।।

संस्कृत रुपान्तरम्—

सर्वेषां च विधीनां वै श्रृंगारो राघवस्मृति:।
रामविस्मरणं भूयो निषेधानां शिरोमणि:।।

ननु तर्हि श्रुतिस्मृतिविहितं पंचदेवोपासनाया:, अविधिपूर्वकत्वापत्ति: इति चेन् मैव, भगवत्सम्बन्धव्यतिरेकेण तदितरदेवतोपासनायामविधि-पूर्वकत्त्वं भणति भगवान्, भगवत्सम्बंधिभावनया तु पंचदेवोपासना सविधिरेव यथा पतिमनाहृत्य नार्या: इतरपूजनं व्यभिचार: पतिसम्बन्धं सम्बंधिधिया श्वसुरादिशुश्रूषा पतिसेवैव यथाप्रोक्तं भगवतैव गोपिका: प्रति श्रीभागवतरासपंचाध्याय्याम्।

भर्तु: शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनाञ्च कल्याण्य: प्रजानां चानुपोषणम्।।

(भागवते १०, २९, २४)

हे कल्याण्य: भर्तु: तद्बन्धूनां च अमायया निष्कपटेन शुश्रूषणं च भर्तु: प्रजानां स्वस्यां सपत्नीषु प्रसूतानां सन्ततीनां प्रजानां अमायया अनुपोषणं स्त्रीणां परधर्म: इति श्लोकार्थ: यथा च, अत्रैव श्री कुन्तीवचनानुरोधेन भगवत्सम्बन्धितया पंचपतीन् सेवमानाया: श्रीकृष्णाया: न व्यभिचार: तथैव पश्चात् राजसभायां दु:शासनेन

केशाभिमर्शकाले सर्वेभ्यः निराशया तया स्मृतेन भगवता गृहीतवस्त्रावतारेण तस्या पटवर्धनच्छलेन तस्यामेव तत्पञ्चपतिनिरपेक्ष स्वानन्यता व्यवस्थापिता एव, भगवत्सम्बन्धिधिया, पूर्वोक्त कुलांगनापरिचरणन्यायेन श्रुतिस्मृतिविहितपंचदेवोपासनेन तु परमेश्वरः कृष्णामिव पश्चात् साधके स्वानन्यतां स्वयमेव स्थापयति यथा तु श्री महाभारते -

गत्वा तु तां भार्गवकर्मशालां पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ ।
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ ।। १ ।।

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुक्त्वेति समेत्य सर्वे ।
पश्चाच्च कुन्ती सुसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषितमित्युवाच ।। २ ।।

साधर्मभीता परिचिंतयन्ती तां याज्ञसेनीं परमप्रतीताम् ।
पाणौ गृहीत्वोपजगाम कुन्ती युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम् ।। ३ ।।

इयं तु कन्या द्रुपदस्य राज्ञः तवानुजाभ्यां मयि संनिविष्टा ।
यथोचितं पुत्र मयापि चोक्तं समेत्य भुंक्तेति नृपप्रमादात् ।
मया कथं नानृतवक्तुमद्य भवेत् कुरूणामृषभ ब्रवीहि ।
पाञ्चालराजस्य सुतामधर्मो न चोपवर्तेत न विभ्रमेच्च ।
अब्रवीत् सहितान् भातृन् मिथो भेदभयान्नृपः ।
सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा ।।

(महाभारत आदि पर्व - १८९। १,२,३,४,५,१६)

एवं मामेव कृष्णं ते यजन्ति परम्परया न तु साक्षात् ॥श्रीः॥

"ननु अन्यदेवता याजकाः कथं भवन्तमेव यजन्ति, कथं वा तेषां यजनमविधिपूर्वकम् । कथं वा ते भवन्तं न प्राप्नुवन्ति । इति पार्थेन पृच्छिष्यमाणं प्रश्नत्रयं समाधत्ते ।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।

(श्रीमद्भागवतगीता ९॥२५)

हि हेतौ यतो हि अहं परमात्मा श्रीकृष्णः सर्वे च ते यज्ञा सर्व यज्ञाः तेषां सर्वयज्ञानां समस्तानां श्रौतस्मार्तमखानां भोक्ता हविभोजी तथा प्रभुः स्वामी, किन्तु

जना: मां तत्वेन न जानन्ति। सर्वव्यापकत्वेन न विदन्ति, अतएव अस्मादेव कारणात् ते अत्र संसारे च्यवन्ति, पतन्ति। वस्तुतस्तु सर्वेषां यज्ञानां भोक्तृत्वात् प्रभुत्वाच्च सतीष्वन्यदेवासु पूजितासु अन्ततोऽपि अहमेव पूजितो भवामि, किन्तु तत्त्वेन मामजानन्तो तत्तद्देवतात्वे तास्ता: समर्चयन्तोऽविधिपूर्वकत्वात् पारम्पर्येण मां पूजयन्तोऽपि सेव्यसेवकभावव्यतिरेकेण दास्यभावरूपस्वरूपतो जीवाश्च्युता भवन्ति ॥श्री॥

किञ्च यद्यपि सर्वेषु जडचेतनात्मकेषु तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् इति श्रुत्यनुरोधेन, येन सर्वमिदं ततम्। मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना, इति स्मार्तवचनेन च व्याप्तं मदभिन्नकृष्णरामसंज्ञं ब्रह्म तथापि पारम्पर्येण तत्तत् भावावच्छिन्नं ब्रह्माहं तथैव न फलाय कल्पे भस्माच्छन्न: पावको यथा, न दाहाय कल्पते अरण्यस्थो यथा, मन्थमन्तरेण वह्नि: न ज्वलति, तस्मात् साक्षान्ममज्ञानमपेक्षते। सेवकसेव्यभावमूलकम्, स एव भावो भवमोक्षाय प्रभवति इममेवार्थं स्पष्टयति—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रता:।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ (९/२५)

रा०कृ०भा०—देवेषु इन्द्रादिषु व्रतं निष्ठा इष्टबुद्धिर्येषां ते देवव्रता: मदातिरिक्तदेवतेष्टबुद्धय: देवान् यान्ति, शरीरं त्यक्त्वा तत्तद्देवतालोकान् आसादयन्ति सात्विका:। एवं पितृषु अर्यमादिषु व्रताभिष्टबुद्धिर्येषां ते पितृव्रता: अर्यमादिभक्ता: पितृन् पितृलोकान् यान्ति प्राप्नुवन्ति राजसा:। एवं यजनमिज्या भूतेषु यक्षरक्षोविनायकपिशाचब्रह्मराक्षसेषु इज्या यजनं येषां ते भूतेज्या: भूतोपासकास्तामसा: भूतानि यान्ति, भूतलोकमन्तरिक्षमासाद्य तेषां परिकरा भूत्वा क्षुत्पिपासादिभि: पीडिता: बंभ्रम्यमाणा इतस्तत: यातना: सहन्ते। परन्तु निर्गुणा: अतिक्रान्तसत्वरजस्तमस: मां यजन्ते, तच्छीला: इति ममाजिन: नैसर्गिकमद्यजनशीला: मां यान्ति, मामेव प्राप्नुवन्ति मामाश्रित्य कैंकर्यभाजो भूत्वा मच्चरणकुशेशयमासादयन्ति श्री:॥

पश्य पार्थ मद्भक्तिमहिमानं भक्तप्रेमवशम्वदोऽहं तेन दीयमानं यत् किमपि तुच्छातितुच्छमपि अमृतयितीकृत्य परिकलितसगुणसाकारद्विभुजचतुर्भुजादिकोटि-कोटिकन्दर्पकमनीयविग्रह: सानन्दं समश्नामि इत्यत आह—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन:॥

(श्रीगीता ९/२६)

रा०कृ०मा०— किञ्च पत्रं शाकपत्रादिकं पुष्पं पूजार्थम् समर्पितं प्रसूनं फलं रम्भारसालादिकं तोयं जलं गांगादिकं यः भक्तः भक्त्या परमानुरक्त्या नैवेद्यरूपेण प्रयच्छति, पत्रपुष्पफलजलादिकं अप्रयत्नोपनतं यत् किमपि निष्किंचनो मे समर्पयति तत् सर्वमपि प्रयतात्मनः प्रयतते, मत्प्राप्तये यतते, इति प्रयतः प्रयतः आत्मा, अन्तः-करणं, शरीरं, स्वभावः जीवितं, धृतिः, मनीषा, मानसं यस्य स प्रयतात्मा, तस्य प्रयतात्मनः सम्बन्धषष्ठी मत्प्राप्त्यर्थं प्रयत्नशीलः शरीरवचनमनोव्यपारादेः सम्बन्धिभूतं तत्सर्वमपि भक्त्या परमप्रीत्या उपहृतमुपायनीकृतं पत्रपुष्पफलजलानि चतुर्भुजो भूत्वा त्यक्तशंखचक्रगदापद्मैश्चतुर्भिर्भुजैः गृहीत्वा अश्नामि भक्षयामि । ननु स्थूलत्वात् पत्रपुष्पफलानामशनं सम्भवं, किन्तु कथम् जलस्येति चेत् मैवं शंकिष्ठाः सर्वसमर्थेऽपि भक्तप्रेमपारावारपरिवर्तपरमसौभाग्यशीले मान्ये, वदान्ये भगवति, किञ्चिदपि असंभवस्यापलपितमशक्यत्वात् । अत्र मया भगवत्प्रेरणयैव शान्ते स्वान्ते किमपि स्फुरिते प्रकाशते । जलं हि निरस्ततापं तुषारायितं घनीभवदुपली भवति । भक्तेन समर्पितं भगवता निसर्गशीतलेन कोटि कोटिशशिकरनिकरेण करेण गृहीतं तुषारायते ।

तच्च भक्तभावदुग्धपरिपाकसचिवपरमप्रेमसुमधुरशर्करामिश्रहिममृष्टान्नमिव अश्नामि । यथा पत्रं द्रौपद्या त्वत्पितृव्येण विदुरेण—

यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद् दुर्वाससोऽरिविहितादयुताग्रभुग्यः ।
शाकान्नशिष्टमुपमुज्य यतस्त्रिलोकीं तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसंघः ।।
(श्रीमद्भागवत १।।१५।।११)

विदुरेण यथा—

ततः क्षत्तान्नपानानि शुचीनि गुणवन्ति च ।
उपाहरदनेकानि केशवाय महात्मने । (महाभारत)
ततोऽनुयायिभिः सार्धं मरुद्भिरिव वासवः ।
विदुरान्नानि बुभुजे शुचीनि गुणवन्ति च ।
(महाभारत उद्योग पर्वणि भगवद्यापर्व - ९१, ३९, ४१)

अत्र शुचीनि गुणवन्ति इति द्वे पदे द्विरुच्चार्य शाकान्नमभिव्यञ्जितम् । तस्यैव शुचित्वात् गुणवत्वाच्च, अत एव श्री सूरदासः सूरसागरे - दुर्योधन घर मेवा त्यागे साग विदुर घरखाई ।

पुष्पं गजेन्द्रः—

सोऽन्तः सरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो दृष्ट्वा गुरुत्मति हरिं खउपात्तचक्रम् ।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रान्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते ।।
(भागवत - ८/३/३२)

फलं शबरी—यथा

कन्दमूलफलसुरसरसअति दिये राम कहं आनि ।
प्रेम सहित प्रभु खाये बारम्बार बखानि ।
कन्दं सुमूलं सरसं फलं च ददौ समानीय रघूत्तमाय ।
भक्त्या समेता शबरी समाश्नन् मुहुर्मुहुस्तत्, रघुपः प्रशंसन् ।

जलं रन्तिदेवः—

पनीयमात्रमुच्छेषं तच्चैकपरितर्पणम् ।
पास्यतः पुल्कसोऽभ्यागादपो देह्यशुभस्य मे ।।

(भागवत, ९/२१,१०)

तस्य तां करुणां वाचं निशम्य विपुलश्रमाम् ।
कृपया भृशसन्तप्त इदमाहामृतं वचः ।।११।।
न कामयेऽहं गतिमीश्व रात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ।। १२ ।।
क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषोर्जीव जलार्पणान्मे ।। १३ ।।
इति प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया ।
पुलकसायाददाद्धीरो निसर्ग करुणो नृपः ।

(श्रीमद्भागवत ९/२१/१४)

अत्र मामकौ संग्रहश्लोकौ—

श्रीरामावतारे तावत्—

निषादो वै पत्रं जनकपुरनार्यस्सुमनसः ।
फलं मूलं दिव्यं सरसमतिभक्ता शबरिका ।।

जलं जाताह्लादं विगलितविषादं सुशिशिरं।
ददुर्ग्राम्या सीतादयितवररामाय हरये ।।१।।

एवं कृष्णावतारेऽपि—

ददौ कृष्णा पत्रं सरसमथ कृष्णाय विदुरो।
गजेन्द्रो वै पुष्पं गुणपरिमलं भक्तिकलितं ।।

फलं विक्रेत्री सा व्रजगृहगता गोपशिशवे।
ददौ तोयं सोऽयं यदुवरसखो ह्युद्धवसुधीः ।। श्रीः

अथ निष्कृष्टमाह—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।

(श्रीगीता ९/२८)

हे कौन्तेय ! हे कुन्तीपुत्र ! त्वं यत्करोषि शरीरयात्रायै स्नानादि-निबन्धनात्मिकायां क्रियामाचारसि यत् अश्नासि यदपि बुभुक्षाप्रशमार्थं भक्ष्यभोज्यलेह्य-चोष्यमिति चतुर्विधमन्नमभ्यवहरसि। यच्च जुहोषि शास्त्रविहितअग्निहोत्रादिकं करोषि। यच्च ददासि, सत्पात्रेभ्यः सात्विकं दानं करोषि। यत् तपस्यसि यदपि अग्रे वक्ष्यमाणं देवपूजनादिकं शारीरमनुद्विग्नभाषणादिवाचिकं यदपि मनप्रसादप्रभृति मानसं तपः आचरसि तत् सर्वं करणाशनहवनदानतपःप्रभृति मदर्पणम् कुरुष्व। अर्प्यते इति अर्पणम्। मयि भगवति अर्पणं समर्पणं यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथा यद्वा अर्प्यते इत्यर्पणं बाहुलकात् कर्मणि ल्युट् मह्यमर्पणं मदर्पणं "बाहुलकात्" विभक्तिलुक्। कुरुष्व, विधत्स्व आत्मनेपदप्रयोगस्तु समर्पयिष्यमाणफलस्य पार्थरूप कर्तृगामित्वद्योतनाय। श्रीः।

अथ कथं सर्वं स्वस्मै समर्पयितुमनुरुत्से। इत्यत आह—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैस्यसि ।। (गीता ९।।२८)

एवं मदुक्तप्रकारेण मह्यं पञ्चविधं समर्पणं कुर्वन् शुभानि पुण्यजनकानि अशुभानि पापजनकानि तानि शुभाशुभानि फलानि येषां तानि शुभाशुभफलानि तैः शुभाशुभफलैः पुण्यपापजनकपरिणामैः बध्यते एभिरिति बन्धनानि कर्माणि एव बन्धनानि कर्म

वन्धनानि, कर्माणां वान्धानि कर्मबन्धनानि तैः कर्मवन्धनैः मोक्ष्यसे, एभिः कर्तृभूतैस्त्वं मुक्तः करिष्यसे । कर्मवन्धनैरित्यत्र अनुक्ते कर्तरि तृतीया, फलानि हि बन्धनकारणानि भवन्ति । मयि समर्पितानां कर्मणां फलानि नैव कामाय प्रभवन्ति, यथा श्री भागवते दशमे द्वाविंशे कुमारिकाः प्रति भगवद्वचनम् ।

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिताः क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेशते ।।

(श्रीमद्भागवत २०/२२/२६)

तथा "सति परमात्मनि मयि न्यासः समर्पणं संन्यासः यद्वा सतः परमात्मनो मे न्यासः शरणागतिः न्यासस्तु शरणागतिः इति स्मरणात् । संन्यास एवं योगः संन्यास योगः प्रपत्तियोग इति भावः । श्री गीतासु प्रपत्तियोग एव तात्पर्यमित्यसकृदवोचाम । तेन संन्यासेन प्रपत्तियोगापरपर्यायेण युक्तः आत्मा अन्तः करणं यस्य, स संन्यास-योगयुक्तात्मा, प्रपत्तियोगसमन्वितान्तःकरणः विमुक्तः विषयेभ्यो मुक्तः विशिष्टाद्वैतभक्त्या मुक्तः भक्त्या विमुच्येन्नरः इति भागवतवचः । मां श्री रामरूपं कृष्णसंज्ञं ब्रह्म उपैष्यसि, समीप्यमुक्त्या युक्तः मच्चरणाविन्दसन्निधिं प्राप्स्यसि । उप शब्दो हि सामीप्य वाची ।।श्रीः।।

ननु भक्तेषु समधिकदयालुत्वात् तत्र भवति भगवति वैषम्यापत्तिः इत्यपेक्ष्यमाणं प्रति आह—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्ता मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।

(श्रीगीता - ९/२९)

अस्मिन् निखिललोकपतिमुखपद्मपरागभूते परमपूते श्लोके त्रिरुच्चरिता सप्तमी विभक्तिः । सर्वभूतेषु मयि तेषु तत्र प्रथमे विषये सप्तमी उत्तरत्रोभयत्र औपश्लेषिकी सामीप्य सप्तमी गुरौ वसति इत्यादिवतृ । एवमेव गंगायां घोषः इत्यादिरपि, ननु सामीप्यसप्तम्यां किं मानं, "समानतीर्थे वासी" पा. अ. ४-४-१०७ इति पाणिनीयसूत्रमेव नहि कोऽपि कटे शेते इत्यादिवतृ आधेयभूतः संयोगसम्वन्धिनि गुरौ निवसिंतु प्रभवः, युक्तिश्च उपसंयोगेन श्लेषः सम्वन्धः उपश्लेषः कटे शेते इत्यादौ । उप सामीप्येन श्लेषः उपश्लेषः तत्र भवा औपश्लेषिकी कटे शेते इत्यादौ । उप सामीप्येन श्लेषः सम्बन्धः उपश्लेषः तत्र भवा औपश्लेषिकी, सामीप्यसमन्धावच्छिन्ना-धेयनिरूपिताधारलक्षणा ।

अतएव उपश्लेषो द्विधा, संयोगात्मकः सामीप्यात्मकश्च इत्यस्मत् सम्प्रदायः, मद् विचारेण तु गंगायां घोषः इत्यत्र न लक्षणा, सामीप्य सम्बन्धांवच्छिन्नसप्तम्या चौपश्लेषिक्या शक्या र्थत्वेन सिद्धेः । एवं गंगायां घोषः इत्यत्र शक्यतावच्छेदकारोपोऽपि न मन्मतसमतः गंगापदं भगीरथरथखातावच्छिन्नजलप्रवाहे शक्तं तस्यैव सामीप्यसम्बन्धेन गंगासमीपवर्तिनि तीरे क्रियत एष आरोपः तर्हि गंगापदेनैव गंगासामीप्यावच्छिन्नेऽर्थेऽभिहिते किं कार्यमनया वराक्या ङि विभक्त्या तस्मात् गंगापदं भगीरथखातावच्छिन्नजलप्रवाहरूपार्थं समभिगृणानं पुनः सामीप्यार्थं चाभिगृणानया औपश्लेषिकीसप्तमीरूपया ङि विभक्त्या संयुक्तं सत् गंगायामित्याकारतापन्नं शक्त्यैव भगीरथरथखातावच्छिन्नजलप्रवाहसमीपवर्ति तीरमभिधत्ते ।

ऐतेन आ सहस्राब्दाः विदुषां विचारणाविषयं गंगायां घोष इति लक्षणास्थलं इत्येवं प्रवादो बालुकामयो भूमिसात् कृतः । अथ प्रकृतमनुसरामः । अहं श्री कृष्णः परमात्मा सर्वाणि तानि भूतानि च इति सर्वभूतानि तेषु भूतेपु सर्वप्राणिविषये समः समर्थित्वात् तुल्यः समत्वं स्पष्टयति । कोऽपि जनः मे मम कृष्णस्य भगवतः समदर्शिनः न द्वेष्यः द्वेविषयः अस्ति विद्यते त्रिसु लोकेषु न वा कश्चित् मम प्रियः प्रीतिविषयः द्वेषप्रीत्यादीना जीवधर्मत्वात् तर्हि कथं भवति वैषम्यं दुर्योधनादावपेक्षा अस्मासु पक्षपात इति च, यथा भगवतैषा अनुपदं कुरुराज सभायां उक्तम्—

यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु ।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ।।

(महाभार-उद्योग-५,९२,२८०)

इत्यत आह, तु किन्तु ये साधकाः भक्त्या परमानुरक्त्या मां निजेष्टदैवतं भगवन्तं भजन्ति, परमासक्तिपरमप्रेमविषयं कुर्वन्ति, ते साधकाः मयि मम समीपमेव वसन्ति, अहमपि निश्चयेन च तथा तेषु तेषां समीप एव तिष्ठामि, अथवा इह संयोगोपश्लेषेऽपि सप्तमी, ये मां भक्ता भजन्ति ते मयि हृदयावच्छेदेन मयि तिष्ठन्ति, मम हृदये वसन्तीति यावत् । यथोक्तं श्रीमानसे भगवता विभीषणं प्रति—

अस सज्जन मम उर बस कैसे ।
लोभी हृदय वसई धन जैसे ।। (मानस ५/४८/७)

रूपान्तरं—

एतादृक् सज्जनः कीदृक् ममोरसि विराजते।
लोभिनां हृदये यादृक् धनं संतिष्ठते सदा ।।

तेष्वहमित्यस्य—

वचन करम मन मोरि गति भजन करइ निस्काम।
ताके हृदय कमल मह करहुँ सदा विश्राम ।।

(मानस ३/१६)

रूपान्तरं—

मनसा कर्म वाणा वाचा मद्गतियास्तु मां भजेत्।
विश्रामं च सदा कुर्वे तस्य हृत्कमले त्वहम्।।

एवं श्रीमद्भागवतेऽपि—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यम् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।।

(भगवत ९-४-६४)

एवं ममजनशीला: संयोगेन सामीप्येन च मत्सम्बद्धा: भवन्तीति भगवतोऽभिप्राय: ।।श्री:।।

ननु यदि कश्चिद् कदाचार: सत्संगमहिम्ना परमेश्वरकृपय: च तत्र भवन्तं भजते, त्यक्तसमस्तकृतचरकुकर्मवासन: तर्हि किमसौ प्रायश्चित्तीयो भवति उताहो भगवदीय: ?

इत्यत आह—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।

(श्री गी० ९/३०)

अपि चेत् इति द्वौ निपातौ सौलभ्यसूचकौ, सु शब्दोऽत्र दुराचारत्वेऽपि भजन-प्रवृत्तौ साधकप्रशस्त्यार्थ:, दुष्टा: आचारा:यस्य सदुराचार: शोभनश्चासौ दुराचार: इति सुदुराचार: मां नान्यं भजति इत्यनन्यभाक् अनन्यनिष्ठ: सन् स साधुरेव। हि यतो

हि सः साधकः सम्यक् व्यवसितं निश्चितं भजते यस्य सः सम्यग् व्यवसितः । कदाचिद् विरज्यमानो जातनिर्वेदः अहं भगवद्भजनमेव करिष्यामि इति कृतदृढ़निश्चयः ।

निरासकस्यापि न तावदुत्सहे, महेश हातुं तव पादपंकजम् ।
रुषा निरस्तोऽपि शिशुस्तनन्धयो न जातु मातुश्चरणौ जिहासति ।।

(आलवाडार २९)

एवं यदि कोऽपि अत्यन्तं दुराचरणः अन्यभजनं त्यक्त्वा मां भजते सः साधुः महात्मैव मन्तव्यः,न प्रायश्चितयोग्यः,यतो हि तेन मद्भजनार्थं सम्यक् निश्चयः कृतः ।।श्रीः।।

न केवलं साधुः प्रत्युत् मद्भजनमहिम्ना निरस्तसमस्तपापकलापः प्रक्षीण-परितापः धर्मधुरन्धरचूडामणिरपि भवति, इममर्थं स्पष्टयति—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वतच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।

(श्रीगीता-९/३१)

स च दुराचारः मामनन्यभक्त्या भजमानः क्षिप्रं शीघ्रं धर्मात्मा धर्मः वेदप्रणिहितः वैदिको धर्मः आत्मनि चित्ते यस्य स धर्मात्मा यद्वा धर्मः अहं नारायणः धर्मो धर्म विदां श्रेष्ठ, "धर्मो धर्मविदांश्रेष्ठ" इति स्मरणात्—

'ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा' (महाभारत २/६७/४६)

स एव आत्मनि यस्य स धर्मात्मा अथवा धर्मे प्रपत्तिलक्षणे भागवतधर्मे धर्म-रूपे मयि वा आत्मा चित्तं यस्य स धर्मात्मा भवति जायते शश्वच्छान्तिं नित्यां शान्तिं सकलोपद्रवशून्यां भजनानन्दनिवृत्तिं निगच्छति नियतं यथा स्यात् तथा प्राप्नोति—

हे कौन्तेय ! कुन्तीपुत्र अर्जुन । यथात्वन्माता सूर्यधर्मपवनेन्द्रसम्पृक्ता मद्भजनमहिम्ना निरस्तसमस्तकदाचारा प्रातःस्मरणीया संजाता तथैव त्वमपि तत्पुत्रः मत्पदपद्मपरागं सेवमानः संग्रामे युद्धयमानोऽपि धर्मात्मा भविष्यन् शाश्वच्छान्तिं निगमिष्यसि इति सम्बोधनाभिप्रायः । हे कौन्तेय । त्वं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु यत् मे मम कृष्णस्य भगवतः भक्तः न प्रणष्टो भवति । ननु त्वद्भक्तिविषये मया कथं प्रतिज्ञायताम् इत्यत आह कौन्तेय प्रतिजानीहि यतो हि मत्कृतां प्रतिज्ञां मद्भक्तो

नाशयति यथा भीष्मः तस्मात् कृष्णावतारें मत्प्रतिज्ञायां न प्रामाण्यम् । अतिमात्रं भक्तिप्रेमपरवशत्वात् ।।श्रीः।।

किंच भगवद्भक्तस्य प्रणाशा सम्भवेऽपि भक्तौ सर्वेषामधिकारः उताहो त्रैवर्णिकस्य सनातनधर्मस्य इति शंकां परिणुदन्नाह ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।

(गीता ९।।३२)

हे पार्थ, पृथायाः अपत्यं पुमान् पार्थः, यथा तव माता पृथा स्त्री शरीरं प्राप्यापि मच्छरणागतिमहिम्ना परमभागवतपंक्तौ अग्रसरा जाता । तथैव सर्वेषामधिकारः इति सूचयितुं पार्थेति सम्बोधनम् । येऽपि पापयोनयः पापा योनिः येषां ते पापयोनयः गजगृद्धका कौणपादयः स्त्रियः अनधीतवेदाः अकृतसर्वसंस्कारा नार्यः गोपिकादयः पुलिन्दकन्याः ।

पूर्णाः पुलिन्द्य उरूगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दायितास्तनमण्डितेन ।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ।।
(श्रीभागवत १०/२१/१७)

यथा च विप्रपत्नीः प्रति ब्राह्मणानां वचांसि

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान् ।।

(भाग. १०/२३/४१)

नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि ।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ।। ४२ ।।

अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
भक्तिर्दृढ़ा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ।। ४३ ।।

वैश्याः नन्दादयः तद्यथा श्री भागवते ब्रह्मवाक्यम् ।

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्द गोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।।

(२०/२४/३२)

शूद्राः किरातहूणादयः—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णो नमः।।
(श्री भागवत २/४१/१६)

ते अपि जन्मतः कर्मतः अधमाः मां कृष्णं व्यपाश्रित्य प्रपत्तियोगेन शरणमुपेत्य परां गति परमगन्तव्यं वैष्णवं पदं 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' इत्यादि श्रुतेः— यान्ति प्राप्नुवन्ति किञ्च पापयोनयो मन्नामस्मरणेन मां प्राप्नुवन्ति गजेन्द्र इव स्त्रियः मद्रूपासक्ता मां यान्ति गोपिका इव। यथा तत्र भागवते—

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः।।
(भागवत १०/१२/५८)

वैश्याः—मल्लीलागानेन यथा तत्रैव भागवते—

इतिनन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्।।

(भागवत १०/१२/५८)

शूद्राः—

मद्धाम सेवनेन। यथा श्रीमानसे भुशुण्डिः। तथा चाह भगवान्

शङ्करः—

रघुपति पुरी जनम तव भयऊ।
पुनि तें मम सेवा मन दयऊ।
पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे।
रामभगति उर उपजइ तोरे।। (मानस ७/१०९,११,१२)

रूपान्तरम्—

रामपुर्यामयोध्यायां जन्म प्राप्तोऽसि शूद्रक।
पुनस्त्वं मम सेवायां मनः सन्दत्तवानसि।।

अयोध्यायाः प्रभावेण तथा च मदनुग्रहात् ।
श्रीरामचरणे भक्तिस्तव चित्ते जनेष्यते ।।

एवं चत्वारोऽपि मन्नामरूपलीलाधामध्वस्तमद्भजनप्रतिबधकप्रत्यवायाः मद्भिन्नां परां गतिं प्राप्नुवन्तीति हार्दं हरेः ।

यद्यधमा अपि मां प्रपद्य परमं पदं प्राप्नुवन्ति । तर्हि युस्माकं प्रपत्तौ परमगति–प्राप्तिसम्बन्धे कः सन्देहः अत आह—

किं पुन र्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।। (गीता ९/३३)

ये पुण्या पवित्राः ब्राह्मणाः तपःश्रुतयोनिसम्पन्नाः भक्ताः मदुपासकाः विप्राः ये च भक्ताः राजर्षयः राजसु ऋषयः राजर्षयः भगीरथदशरथाम्वरीषजनकयुधिष्ठरादयः चकारात् येऽन्ये राजर्षयः युष्मदादयः ते किं पुनः ते मां प्रपद्य कथं न प्राप्नुयुः दुःखरूपं अविद्यमानसुखं दुःखमयं इदं संसारं प्राप्य मां भजस्व, मामेवं निरस्तसकलहेय गुणकं सकलकल्याणगुणगणनिधिं भजस्व । परमासक्तिपरमप्रीतिविषयं करुष्व । ममैव नित्यत्वात् सकल- सुखसागरत्वाच्च ।।श्रीः।।

अथादेशचतुष्टयीं विज्ञानगुह्यमुपसंहरति ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैस्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।। (गीता-९/३४)

मयि कोटिकोटिकन्दर्पकमनीये स्वाभिरामरमणीये निरवधिकसौन्दर्यसागरे परमात्मनि पार्थसूते मनः अन्तःकरणं संकल्पात्मकं यस्य स मन्मनाः भव, मम सकल कल्याण- निधेः नवतमालजलधरनीलोत्पलमरकतकालिन्दीकीलालनीलस्य भगवतः भक्तो भव । एवं मां यजतेतच्छीलः इति मद्याजी, मच्चर्यास्वभावो भव तथा मां प्रपन्नपारिजातं रौहिणेयतातं कन्दावदातं दामिनीद्युतिविनिन्दकपीतवसन-भूषणविभाविभातं नमस्कुरु । साष्टाङ्गप्रणिपातेन प्रणम । एवमात्मानं सकलभजनप्रत्यवायवर्जितम् । मत्कैंकर्यलक्षणं स्वशरीरंमुक्त्वा अहमेव परमायनं गन्तव्यं यस्य समत्परायणः मां षडैश्वर्यसम्पन्नं परमकृपालुचूडामणिभगवन्तं श्री कृष्णमेव एष्यसि प्राप्स्यसि । यद्वा मन्नाम जपन् मन्मना भव रूपं स्मरन मद्भक्तो

भव, लीला गायन् मद्याजी भव, धाम सेवमानो मां नमस्कुरु । एवं चतसृभिर्विधाभिः आत्मानंनिशरीरयुक्त्वा मत्कैंकर्यविधौ नियोज्य मां परमात्मानं कृष्णमेवैष्यसि प्राप्स्यसि ।

यद्वा युगचतुष्टयव्यवस्थाकथ्यते । कृतयुगभावे मन्मना भूत्वा ध्यानं कुरु । त्रेताविचारे बुद्ध्या मम भजनं कुरु । द्वापरे मनोवृत्तौ अहंकारेण मम यजनं कुरु । कलिप्रभावभावितवृत्तौ चेतसा मां नमस्कुरु ।

यथा श्रीमानसे—

कृतजुग जब जोगी बिज्ञानी । करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी ।।
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं । प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं ।।
द्वापर करि रघुपति पद पूजा । नर भव तरहिं उपाय न दूजा ।।
कलिजुग केवल हरिगुन गाहा । गावत नर पावहिं भव थाहा ।।

रूपान्तरम्—

योगिनो ध्याननिश्चैव युगे सर्वे दृढव्रताः ।
हरेर्ध्यानं विधायैव तरन्ति स्म भवं जनाः ।।

त्रेतायां विविधान् यज्ञान् कुर्वन्ति स्म च मानवाः ।
सर्वकर्माणि रामाय समर्प्यैव तरन्ति ते ।।

पूजयित्वा रघुपते द्वापरे पदपङ्कजम् ।
नरा भवं तरन्त्येव नान्यो तत्नो द्वितीयकः ।।

कलौ युगे रामगाथा गायन्तः केवलं नराः ।
अगाधस्य भवाब्धेश्च लभन्ते पारमञ्जसा ।।

एवं संग्रामे भीष्मद्रोणकर्णशल्येषु समुपस्थितेषु त्वया कीदृक् वर्तितव्यमित्यपि सूच्यते—भीष्मे सम्मुखे मन्मना भव । ततस्त्वं विजेष्यसे । द्रोणे सम्मुखे मद्भक्तो भव । ततो मद्भाजनमहिम्ना गुरुवधपापं न दूषयिष्यति । कर्णे आगते मद्याजी भव मद् यजनेन त्वं तं निहनिष्यसि। शल्ये समुपस्थिते मां नमस्कुरु । मन्त्रमनेन तस्य दमनं भविष्यतीति नवीनम् ।

अमुष्मिन्नम्भोधावमितसलिले दुष्प्रतरणे ।
निमज्जन्तं दीनं शुचि नयनहीनं जडमतिम् ।।
निराधारं धाराधर जलपिपासुं कुमनसम् ।
प्रभो पापात् पायाः पतितपतितं पार्थिवपते ।
सीतानाथपदारविन्दयुगलं सेवमानाः सदा ।
शृण्वन्तो रघुचन्द्रचारु सरितं माधुर्य मन्दाकिनीम् ।
गायन्तो गुणगौरवं गुरुगिरा गीतागुरोर्भारती ।
भ्रान्तस्तीर्णभवाब्धिकाः विदधतां भां भारते भारतः ।
नवमोऽयं मयाध्यायोऽनवमो विवृतो मुदा ।
श्रीराघवकृपाभाष्ये रामभद्रेण धीमता ।। इति

श्री चित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानंदाचार्य स्वामि श्रीरामचन्द्राचार्यप्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासुराजविद्याराजयोगो नामनवमोऽध्यायः

श्री राघवः शन्तनोतु ।



"श्रीमद्राघवो विजयते"

"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

नवमोऽध्याय

मंगलाचरण

नवनीलतमालसौभगं नवराजीवदृशं नवप्रभम् ।
नवपूज्यप्रियं नवार्चितं नवमे नावमिकं कमाश्रये ।।

मैं नवीन नील के समान शोभावाले, नवीन लालकमल के समान नेत्रवाले नवों ग्रहों के पूज्य वृहस्पति को भी प्रिय, नवदुर्गाओं से पूजित ऐसी नवमी तिथि को प्रकट हुए परब्रह्म परमात्मा श्रीराम को अपने नवम अर्थात् आठो पृकृतियों से परे जीवपत्मा के समीप आश्रय कर रहा हूँ ।

तरणिजातडिदब्जतडित्वतां प्रतिहसन्तमुदारतनुत्विषा ।
द्युतिमलङ्कृतवैदिकधर्मकं रघुपतिं नवमेऽनवमं श्रये ।।

श्री यमुना, विद्युत्, कमल तथा मेघ की शोभा का अपने उदारशरीर की शोभा से परिहास करते हुए, वैदिक धर्म की शोभा को बढानेवाले अनुपम भगवान् श्रीराम को इस नवम अध्याय की व्याख्या में और अपने नवम अर्थात् जीव भाव में इष्ट देवता के रूप में स्वीकार रहा हूँ ।

मधुसूदनमेव मन्महे महसा स्मयेन हसन्तमम्बरम् ।
सुहृदे किल सव्यसाचिने ददतं ज्ञानमनामयं हरिम् ।।

अपने मित्र सव्य साची अर्जुन को निर्मल गीताज्ञान का उपदेश करते हुए तथा अपने नीले प्रकाश से आकाश की नीलिमा का परिहास करते हुए ऐसे मधुसूदन श्रीकृष्ण का ही हम मनन कर रहे हैं ।

संगति—अब भगवान् राजविद्याराजगुह्ययोग की व्याख्या प्रारम्भ कर रहे है, जिज्ञासु अर्जुन के लिए परम उपायभूत सौजन्यपूर्ण भक्तिप्राप्ति से युक्त ज्ञान की भगवान् अवतारणा करते हैं-श्रीभगवान् उवाच-षडैश्वर्यसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। ९/१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ— हे सव्यसाचिन् ! निन्दारहित स्वभाववाले तुम्हारे लिए यह विज्ञान अर्थात् अनुभव सहित अति गोपनीय ज्ञान प्रवचन की शैली में कहूँगा। जिसे जानकर तुम इस अशुभ संसार से मुक्त हो जाओगे ।

व्याख्या—भगवान् कहते हैं कि-अनसूयवे-तुम निन्दा से रहित हो । जो गुणों में दोष देखता है उसे असूयु कहते हैं । पर तुम अनसूयु हो अर्थात् सर्वत्र गुण ही देखते हो । तुम्हारे लिए मैं इस गोपनीय ज्ञान का प्रवचन करूँगा । केवल ज्ञान का ही नही विज्ञान का भी । अपने जीवन के सभी अनुभूत प्रयोगों का भी प्रवचन करूँगा । यह गुह्यतम है । क्योंकि अब तुम में भक्तत्व, सखित्व और अनसूयत्व ये तीन गुण आगये हैं इसलिए तुम गुह्य, गुह्यतर और गुह्यतम इन तीनों के अधिकारी हो गये हो । अथवा, अकार: वासुदेव: तस्य अपत्यं इं कामं द्यति खण्डयति इति इदं अकार में वासुदेव, मुझसे प्रकट होने के कारण इ: कामदेव और तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण संसार, यह उसका भी खण्डन करनेवाला है ।

संगति—इस ज्ञान श्रवण में अर्जुन की प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए भगवान् उस ज्ञान की प्रशंसा कर रहे हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।। ९/२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! यह ज्ञान सभी विधाओं का राजा तथा सभी गोपनीय रहस्यों का राजा है । यह पवित्रीकरण का साधन तथा स्वयं उत्कृष्ट और जीवों के अविद्यारूप अन्धकार को दूर फेंकने वाला है । इसका अवबोध प्रत्यक्ष है अथवा यह प्रत्यक्ष प्रमाण से भी समझा जा सकता है । और धर्म से अनपेत अर्थात् परमधर्ममय और अनुष्ठान करने में अत्यन्त सुखप्रद और अविनाशी है ।

व्याख्या—'राजविद्या राजगुह्यं' यहाँ दोनों शब्द कहे जाने वाले ज्ञान की प्रशंसा के लिए प्रयुक्त हुए हैं । राजविद्या षष्ठी तत्पुरुष समास मानकर 'राज्ञां विद्या राज्ञ: गुह्यं राजगुह्यं' इस प्रकार विग्रह करके इस ज्ञान को राजाओं की विद्या और राजाओं का गुह्य कह डाला। परन्तु यह व्याख्या ग्रन्थ से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि नवें अध्याय में ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया है जो केवल राजाओं के लिए हो । यहाँ तो विशुद्ध भगवान् की भक्ति की चर्चा है । यहाँ तक की स्त्री, वैश्य, और चतुर्थ वर्ण को भी भगवान् ने नवम अध्याय में शरणागति के माध्यम से परम पद का अधिकार दे दिया है । फिर यह केवल राजाओं

की विद्या कैसे हुई । इसके विकल्प में राजृ धातु से कर्त्ता में अच् प्रत्यय करके कर्मधारय समास द्वारा एक व्युत्पत्ति और की जा सकती है । राजते इति राजा, स चासौ विद्या इति राजविद्या । राजते इति राजम् तदेव गुह्यं इति राजगुह्यं । अर्थात् यह सबसे सुन्दर विद्या और सबसे सुन्दर गुह्य है । यद्यपि यह व्युत्पत्ति करने से कोई विरोध नही आयेगा । क्योंकि नवम अध्याय में भगवान् स्वयं अनन्य भक्ति के योग-क्षेम निर्वहण की प्रतिज्ञा करते हैं तथापि इससे रोचक और व्याकरण सम्मत व्युत्पत्ति एक और है । विद्यानां राजा, राज विद्या । गुह्यानां राजा राजगुह्यं । इस विग्रह में 'राजदन्तादिषु परम्' पा० अ० २/४/३१ सूत्र से राज शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ । यह पवित्र है अर्थात् पवित्र करने का साधन है । उत्तमम्अत्यन्तश्रेष्ठ है । अथवा उत्क्षिप्त तमं येन तत् उत्तमम् । इसके द्वारा घोर अन्धकार दूर किया गया है । यदि कहो कि तमस् शब्द अजन्त है तो इसका उत्तर यह है कि सभी सान्त अजन्त हो जाते हैं । इसीलिए सूर्यनारायण्ण को तमारि कहा जाता है । नहीं तो तमोऽरि कहा जाता । इसीलिए ध्रुव के सौतेले भाई का नाम भी उत्तम है। उसके स्वभाव को देखकर उसे कभी भी श्रेष्ठ नही कहा जा सकता । अत: वहां उत्कटं तमं यस्मिन् स उत्तम: जिसमें उत्कट अंधकार हो उसे उत्तम कहते हैं । 'उत्तमं नारुच्छन्तं' फलत: यहां उत्तम शब्द श्रेष्ठ वाचक ही प्रयुक्त है । 'प्रत्यक्षावगमं-' इसका अवगम अर्थात् समझना प्रत्यक्ष ही है । अथवा प्रत्यक्षेण अवगम्यते इति प्रत्यक्षावगमं । अर्थात् यह प्रत्यक्ष से ही जाना जाता है, यहाँ शब्द प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं होती । 'धर्म्यम्'- यह धर्म से युक्त है और साधन करने में सुख प्रद है । 'अव्ययम्'-इसका नाश नहीं होता ।

संगति—अब इस धर्म के प्रति अश्रद्धालु का दुष्परिणाम कह रहे हैं-

अश्रददधाना पुरुषाः धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।। ९/३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे शत्रुनासक धनंजय ! इस धर्म के प्रति श्रद्धा न करने वाले पुरुष मुझे न प्राप्त करके मृत्युमय संसार के मार्ग में फिर लौट आते हैं।

व्याख्या—'अस्य' का तात्पर्य है जिसकी मैं अभी चर्चा कर रहा हूँ । यह धर्म है क्योंकि सेवक-सेव्य-भाव सम्बन्ध ही जीव का परम धर्म है । 'मृत्युसंसारवर्त्मनि' यहाँ मृत्यु विशेषण देने का एक अभिप्राय है । परम वैष्णवों का भी एक संसार होता है जहाँ मृत्यु नहीं होती अत: उसके व्यावर्तन के लिए भगवान् यहाँ मृत्यु शब्द का प्रयोग करते हैं। अर्थात् इस सेवकसेव्यभाव रूप धर्म पर आस्था न रखनेवाले पुरुष पुरुषार्थवादी होकर भी मुझे न पाकर मृत्युमय संसार के मार्ग में ही लौटते हैं । यहाँ 'वर्त्मनि' भी महत्वपूर्ण

हैं । अर्थात् उन्हें इस संसार में भी कोई घर नहीं मिलता वे मार्ग पर भटकते ही रहते हैं । इस प्रसांग पर गोस्वामी तुलसीदास जी की उद्भावना बहुत रोचक हैं—

सुनु मन मूढ, सिखावन मेरो ।
हरिपद विमुख लह्यो न काहु सुख, सठ यह समुझि सबेरो ।।
बिछुरे ससि रबि, मन नयननि तें पावत दुख बहुतेरो ।
भ्रमत श्रमित निसि दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो ।।
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता तिहुँ पुर सुजय घनेरो ।
तजे चरन अजहूँ न मिटत निह बहिबो ताहू केरो ।।
छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति श्रुति सन्देह निबेरो ।
तुलसीदास सब आस छाँडि करि होहि राम कर चेरो ।।

(विनयपत्रिका ८-७)

संगति—अब परमात्मा अपनी प्राप्तिरूप परम उपाय रूप ज्ञान का उपदेश कर रहे हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न त्वहं तेष्ववस्थितः ।। ९/४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! सामान्य चक्षुओं से न दिखाई पड़नेवाली नील सरोरुह श्यामल कोटि कोटि कन्दर्प कमनीय है मूर्ति जिसकी अथवा अकार अर्थात् वासुदेवरूप में तुम्हारे रथ पर सारथि की भूमिका का निर्वहण करती हुई व्यक्त है मूर्ति जिसकी ऐसे मुझ परमात्मा द्वारा यह चिदचिदात्मक जगद् व्याप्त है ; शरीर विशिष्ट ये सभी जीव मुझमें स्थित हैं परन्तु मैं इनमें स्थित नहीं हूँ ।

व्याख्या—'अव्यक्तमूर्तिना' यह शब्द सामासिक विचित्रता की दृष्टि से अपने में बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

१. अव्यक्ता मूर्तिः यस्य स तेन । भगवान् कहते हैं मेरी यह नीलसरोरुह श्यामलकिरीटकुण्डलादिभूषणभूषित भुवनमोहन मूर्ति अव्यक्त है । कारण कि इसे प्राकृत इन्द्रियाँ अपना विषय नहीं बना सकती ।
२. अव्यक्ते मयि मूर्तयः भूतानि यस्मिन् स अव्यक्तमूर्तिः तेन । प्रलयकाल में सम्पूर्ण जीव भगवान् में ही लीन हो जाते हैं । भगवती श्रुति भी कहती हैं—

'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'

जिनमें सभी प्राणी प्रवेश करके लीन हो जाते हैं वही ब्रह्म है । शिशुपाल बध १/३० में महाकवि माघ कहते हैं कि प्रलय के समय संसार का उपसंहार करने पर महासागर में शयन किये हुए प्रभु के श्री विग्रह के एकदेश में अनन्त अनन्त भुवन समा जाते हैं।

३. अकार: वासुदेव: तेन रूपेण व्यक्ता मूर्ति: यस्य तेन। अर्थात् अकार वासुदेव का वाचक है । आज मेरी मूर्ति उसी चतुर्भुज रूप में तुम्हारे समक्ष व्यक्त हैं जिसके दर्शनों को योगीन्द्र मुनीन्द्र तरसते हैं वही तुम्हारे यहाँ सारथि की भूमिका निर्वहण करती हुई हाथ में चाबुक और बेंत लिये हुए विराज रही है । ऐसी मनोहर मूर्ति है जिसकी ।

'न त्वहं' संसार मुझमें स्थित है । सभी भूत प्राणी मुझ परमात्मा में आश्रित हैं। परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ क्योंकि जीव अणु हैं मैं व्यापक । इससे भगवान् ने जीव का अणुवाद सिद्ध किया ।

अब यहाँ सन्देश होता है कि यद्यपि भगवान् कह रहे हैं 'यस्य पृथिवी शरीरम्' इत्यादि श्रुतियों से तथा 'अव्यक्तमूर्तिना' इत्यादि स्मृतियों से भी भगवान् अव्यक्तरूप से सारे संसार में व्याप्त है फिर भी 'न त्वहं तेष्ववस्थित:' यह कैसे ?

उत्तर—यहाँ निषेध है पूर्णता का और विधान यत्किंचित अंश का । अर्थात् पूर्णरूप से भगवान् जीव में नहीं हैं । परन्तु अन्तर्यामी रूप से जीव के हृदय में विराजमान हैं। 'ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' । इसलिए दोनों का विषयभेद होने से कोई विरोध नहीं है ।

संगति—अब यहाँ अर्जुन का प्रश्न है कि भगवन् ! पूर्व श्लोक के तृतीय चरण में आपश्री ने 'मत्स्थानि' शब्द का प्रयोग किया है । 'मत्स्थानि' शब्द सप्तम्यन्त अस्मद् उपपद स्थाधातु और 'क' प्रत्यय से बना है । मयि तिष्ठन्ति इति मत्स्थानि । और यहाँ सप्तमी अधिकरण में हुई है और अधिकरण संज्ञा आधार की होती है । 'अधारोऽधिकरणम्' (पा. अ. १/४/४५) आधार तीन कहे गये हैं । अभिव्यापक, औपश्लेषिक और वैषयिक । इनमें से इन प्राणियों में किस आधार से निरूपित आधेयता है । क्या तिलेषु तैलम् 'दध्नि सर्पि:' जैसी अभिव्यापक आधार की आधेयता है या फिर 'करे आस्ते' जैसी औपश्लेषिक आधार की आधेयता अथवा 'मोक्षे इच्छा' इत्यादि की भाँति वैषयिक आधार निरूपित आधेयता है । उत्तर-वह सङ्कल्परूप आधारता है । अत: वहाँ लौकिक आधारों के निरसन होने पर भी विषय सप्तमी कही जा सकती है। और वह विषय भगवत्सङ्कल्पात्मक ही होगा । इसलिए औपश्लेषिक और अभिव्यापक आधारों को निरस्त करके भगवान् अगले श्लोक का आरम्भ कहते हैं—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।९/५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन मुझमें रहते हुए भी सम्पूर्ण भूतप्राणी मुझमें नहीं रहते। मेरा ऐश्वर्यपूर्व अघटित घटना घटाने वाला योग तो देखो। भूतों को उत्पन्न करने वाला और उन्हें धारण करनेवाला मेरा यह शरीर अथवा प्रयत्न अथवा मनीषित (बुद्धि) भूतों को धारण करता हुआ भी उनमें स्थित नहीं रहता।

व्याख्या—'न च मत्स्थाने' अर्थात् घड़े में जल की भाँति चटाई पर बालक की भाँति, तिल में तेल की भाँति, स्थूल रूप से जीवात्मा मुझमें नही रहते। वह तो केवल मेरे संकल्प से मेरे एक देश में रह लेते हैं।

प्रश्न—मेरा ऐश्वर्य पूर्णयोग देखो जीवो को जन्म देने वाला और भूत प्राणियों का आधार मेरा शरीर भी भूतों में स्थित नहीं होता।

संगति—अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि हे प्रभो! यह विषय बहुत दुर्गम है कि आपमें रहते हुए भी प्राणी आप में नही रहते। सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करते हुए भी आप उनमें नहीं रहते। इसे कैसे समझा जाय ? इस पर भगवान् दृष्टांत के द्वारा समझाते हुए कहते हैं-

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।। ९/६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जिस प्रकार सर्वत्र गामी वायु निरन्तर आकाश में स्थित रहता है उसी प्रकार निरन्तर प्राणी मुझमें स्थित रहते हैं, ऐसा समझो।

व्याख्या—वायु के दृष्टान्त से भगवान् का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि जैसे-वायु आकाश में रहता हुआ भी वह पूरे आकाश को व्याप्त नहीं कर पाता और न ही आकाश का स्पर्श कर पाता हैं। 'उपधारय' इसी उपपत्ति से इस विषय को निर्णय के अनुसार विचार में ले आओ।

संगति—अब अर्जुन फिर प्रश्न करते हैं कि भगवान् यदि सम्पूर्ण भूत प्राणी आप में नहीं रहते तो प्रलय काल में जाते कहां है ? इस प्रश्न पर भगवान् कहते हैं-

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यमहम्।। ९/७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! कल्प के विनाश होने पर सभी भूत प्राणी मेरी प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं और कल्प के आरम्भ में मैं फिर उनको रचता हूँ।

व्याख्या—प्रलय के अन्त में सभी मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं परन्तु उस प्रकृति का अधिष्ठान होने के कारण जीवों का मुझे प्राप्त होना कहा जाता है। "मामिकाम्"-अर्थात् मेरी। इसलिए श्रुति ने प्रकृति को माया कहा और मुझ महेश्वर को मायावान्।

संगति—अव अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे प्रभो ! आपका सर्जन विसर्जनात्मक यह क्रम सार्वदिक है या क्वाचित्क अर्थात् आप कभीकभार जीवों को वनाते-या विगाड़ते हैं या निरन्तर ? इस पर सर्वस्वतन्त्र भगवान् कहते हैं—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।। ९/८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन यह सृष्टि-क्रम बीजांकुरन न्याय से निरन्तर चलने वाला अनादि और नित्य हैं। जीवों की पूर्वजन्म के कर्म परिणाम के वश में होने के कारण प्रकृति अर्थात् माया के पराधीन अपने चरणों से विमुख इस सम्पूर्ण जीव समूह को अपनी त्रिगुणमयी माया का आश्रय लेकर मैं वारम्वार रचता रहता हूँ।

व्याख्या—यहाँ चतुर्थ चरण में प्रयुक्त प्रकृति शब्द जीवों के प्राक्तन कर्म जनित स्वभाव का वाचक है।

वश—शब्द का अर्थ-नियन्त्रण और विसृजामि-अर्थात् उनके कर्म के अनुसार ही उनके शरीरों का सर्जन करता हूँ।

संगति—वारम्वार भूत ग्राम की रचना करते हुए परमआदरणीय आपको क्या ये कर्म नही बाँधते क्या आपको इन जीवों की रचना में कर्तृत्व का बोध नही होता। इस प्रकार अर्जुन को प्रश्न करने की इच्छा करते हुए जानकर प्रवीणधुरीण नटवर नन्दनागर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।। ९/९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे धनञ्जय ! उदासीन की भाँति साक्षी रूप से सबके हृदय में विराजमान जीवों के कर्मों में अनासक्त मुझ परमात्मा को जीवों के वे कर्म नहीं बाँधते, अर्थात् कर्म जीवों को बांध लेते हैं क्योंकि वह उनमें आसक्त होता है। मैं अनासक्त

हूँ इसलिए जीवों के साथ रहकर भी मैं उनके शुभाशुभ कर्मों से नहीं बंधता केवल उनका मूक दर्शक रहता हूँ ।

व्याख्या—'धनंजय' यहाँ धनंजय सम्बोधन से भगवान् कहना चाहते हैं कि जैसे-युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में सम्पूर्ण धन जीत कर भी तुमने धन में ममत्व नहीं रखा और सब महाराज युधिष्ठिर को दे दिया । उसी प्रकार मैं कर्म के प्रति उदासीन रहता हूँ, इसलिए मुझे उनका बंधन नही होता । कर्मों का स्वभाव वंदर के समान होता है । जैसे-कोई जब वानर की ओर दृष्टि डालता है तभी बानर उस पर आक्रमण करता है । यदि उसके पास से उदासीन होकर निकल जाओ तो वह शान्त रहता है । उसी प्रकार जो कर्मों का चिन्तर करेगा उसे कर्मों का बन्धन होगा ।

संगति—अब यहाँ अर्जुन जिज्ञासा करते हैं, कि हे माहामाया पते ! इस सृष्टि के रचना क्रम में आपकी क्या भूमिका रहती है, क्या आप सृष्टि के सम्बन्ध में अभिमानयुक्त राजस कर्ता होते है, अथवा कर्तृत्वाभिमान को छोड़कर कोई विलक्षण कर्ताकी भूमिका निभाते हुए निमित्त और उपादान में से कोई एक कारण बन जाते हैं, अथवा एक साथ अभिन्ननिमित्तोपादान दोनों ही कारण बनते हैं ? अर्जुन की इन जिज्ञासाओं का उत्तर देते हुये भगवान् श्री हरि कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। ९/१०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे कुन्तीनन्दन अर्जुन !मुझ सर्वाधिष्ठान परमात्मा से प्रेरित होकर यह प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है । इसी प्रसिद्ध अभिन्ननिमित्तोपादानरूप मुझ परममात्मा हेतुके द्वारा विविधरूप में यह जगत् चारों ओर अर्थात् अण्ड, पिण्डज, उद्भिज्ज तथा जरायुज इन चारों योनियों में वर्तमान है ।

व्याख्या—यहाँ कौन्तेय सम्बोधन ही भगवान् की अलौकिक वचन रचना नागरीका परिचय दे रहा है । अर्थात् जैसे तुम्हारी मां कुन्ती ने तुम्हारे पिता पाण्डु के उदासीन रहने पर भी उन्हीं पाण्डु से प्रेरित होकर धर्म, पवन, इन्द्र के मानस सम्पर्क से इन त्रिदेवों द्वारा युधिष्ठिर, भीम एवं तुम जैसे पुत्रों को जन्म दिया था, उसी प्रकार मुझ अध्यक्ष से प्रेरित होकर यह प्रकृति सचराचर जगत् की रचना करती है । इसी हेतु से अर्थात् मुझ अभिन्न निमित्तोपादान कारण से ही विविधरूप में यह जगत् चारों ओर व्याप्त हो रहा है । "प्रकृति ! सूयते" कहकर भगवान् ने मायावादियों द्वारा कल्पित विवर्ववाद का निरसन किया । यदि भगवान् को विवर्तवाद इष्ट ही होता, तो यहाँ "जगत् विपरिर्तते" न कहकर

"जगदेतत् विवर्तते" कह देते। इतना ही नही मैं विवर्त वाद के पक्षधरों को सादर आमन्त्रित करता हूँ कि वे श्रुति स्मृति पुराणों में से विवर्तवाद के समर्थन में कोई भी आर्ष प्रमाण दिखा दें। बहुत क्या कहा जाय वेदान्तसूत्र ने ही विवर्तवाद को नकार दिया तो और किसकी बात करें। जैसे-ब्रह्मसूत्र ४/२७ में स्वयं भगवान् वेद व्यास ने जगत् को ब्रह्म का परिणाम ही माना विवर्त नही। 'परिणामात्' ब्र. सू. १।४।२७ अरे ! यदि विवर्तवाद शास्त्रीय होता तो भगवान् विवर्तात् कह देते ॥ श्री ॥

संगति—अब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं। हे प्रभो ! इस प्रकार तटस्थ रूप सकल हेय गुण, प्रत्यनीक निलय, कोट-कोटि कन्दर्पकमनीयकाय, निवधि निरतिशय, कल्याण-गुणगण, कल्लोलनिकाय, सच्चिदानन्दघन आपको लोग क्यों नही भजते हैं ? अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् दो श्लोकों में उत्तर दे रहें हैं -

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।। ९/११

मोघासा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।। ९/१२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मेरा भजन न करने से जिनकी आशायें व्यर्थ हैं, मेरे समर्पण के बिना जिनके कर्म व्यर्थ हैं तथा सेवक सेवय भाव के बिना जिनका ज्ञान निरर्थक है ऐसे विकृत चित्त वाले रावणादि के समान राक्षसी और हिरण्यकशिपु आदि के समान आसुरी तथा बुद्धि को मोहित करने वाली क्रूर प्रकृति को प्राप्त हुए। मेरे सम्पूर्ण भूतों के महेश्वर सबसे परे परमेश्वरभाव को न जानते हुए मूर्ख लोग वैदिक धर्म की रक्षा के लिए मनुष्य शरीर को धारण किये हुए मुझ परमात्मा को अपमानित करते हैं।

व्याख्या—भगवान् का अभिप्राय है कि-मेरे भजन के विना सुख की आशा, ज्ञान और कर्म ये तीनों व्यर्थ हो जाते हैं, चित्त विकृत हो जाता है। इसलिए भगवत् विमुखों के स्वभाव में एक ही साथ राक्षस भाव और आसुर भाव इन दोनों का समावेश हो जाता है। अर्थात् एक ही साथ उनके स्वभाव में रावणादि जैसी स्वार्थन्धता और हिरण्यकशिपु जैसी शरीरप्रियता आ जाती है। इन्ही छः दोषों के कारण वे षडैश्वर्य सम्पन्न मुझ परमात्मा को नहीं पहचान पाते। इसलिए अपमान करते हैं अतएव शिशुपाल मुझे जन्म से प्रतिदिन सौ गालियां देता है। और कौरव राजसभा में भी दुर्योधन आदि ने मेरा अपमान किया।

संगति—अब अर्जुन भगवान् से तीन प्रश्न करते हैं। हे श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन ! आपको कौन भजते हैं, कैसे भजते है और उनके भजन के प्रकार कितने होते हैं ? इस पर भगवान् तीन श्लोंको मे समाधान कह रहे हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।। ९/१३

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे पृथानन्दन अर्जुन ! मेरे नाम रूप लीला धाम से जिनके अन्तःकरण विमल हो चुके हैं अथवा मेरे चरणों में नमस्कार और नौ लक्षणा भक्ति से जिनके शरीर पावन हो चुके हैं तथा मेरी रसमयी कथा के श्रवण से जिनका स्वभाव लोकोत्तर हो चुका है । एवं त्रिभुवन कमनीय नीलोत्पलदलश्याम कोटि कोटि मन्मथाभिराम मेरी मंगल मयी मोहन मूर्ति से जिनका मन मंदिर सनाथित हो चुका है ऐसे महात्मागण मेरे अतिरिक्त सांसारिक पदार्थों से अपना मन हटाकर मुझमें ही मनमधुप को स्थिर करके दैवी प्रकृति का आश्रय किये हुए सद्गुरूपदेश से मुझको ही अविनाशी एवं सम्पूर्ण भूत प्राणियों का आदि कारण जानकर विशुद्ध हृदय से भजते हैं।

व्याख्या—इस व्याख्या में आत्मा शब्द के अन्तःकरण, शरीर, स्वभाव, जीवात्मा, मन एवं प्रयत्न में छे अर्थ लिए गये हैं । भगवान् कहते हैं कि मेरी भजन महिमा से जिनका अन्तःकरण, शरीर, स्वभाव, जीवात्मा, मन और प्रयत्न में छहों पावन हो जाते हैं, वही श्रीवैष्णव भजन करते हैं ।

'अनन्यमनस' जिनका मन भगवान् से अतिरिक्त और कहीं नहीं जाता वे ही 'अनन्यमना' कहे जाते हैं ।

भूतादिम्—यहाँ आदि शब्द कारण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

तात्पर्य यह है कि दुर्योधनादि दुरात्मा भले मेरा अपमान करते हों परन्तु तुम लोग जैसे महात्मा अनन्य मन से मेरा भजन करते हैं । तुम महात्मा हो । इन्द्र देव से जन्म लेकर तुम दैवी प्रकृति को प्राप्त हो चुके हो इसलिए मेरा भजन करो-हीरा सा तन पाके भजन करो ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान् अपने भजन का प्रकार कह रहे हैं ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।। ९/१४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! किसी भी परिस्थित में जिनका श्री वैष्णव व्रत नही टूटता ऐसे महानुभाव परम भक्ति से युक्त होकर -

अच्युतं केशवं राम नारायणं कृष्ण दामोदरं वासुदेवं हरिम् ।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे ।।

इत्यादि मेरे दिव्य नामों से संकीर्तन करते हुए, परमप्रेम लक्षण भक्ति से युक्त होकर मुझे सष्टांग प्रणाम करते हुए। मुझ नित्यपरमात्मा में युक्त होकर निरन्तर निष्काम योग की पद्धति से मुझे प्राप्त करने का प्रयास करते हुए मेरी सतत उपासना करते रहते हैं।

व्याख्या—प्रणाम आठ प्रकार के कहे गये हैं—

सिर से, उर से, दृष्टि से मन वानी अभिराम।
कर से पद से जानु से है अष्टांग प्रणाम ।।

संगति—अब भगवान् दूसरा भी उपासना का प्रकार कह रहे हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।। ९/१५

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इनसे विलक्षण मेरे भक्त शरणागत श्रीवैष्णव जन स्वरुपत: जीवात्मा से पृथक् वर्तमान और सम्बन्धत: अभिन्न चारों ओर मुख वाले मुझ परमात्मा को ज्ञानयज्ञ से पूजते हुए सेव्य सेवक भाव सम्बन्ध से श्रवण कीर्तन, स्मरण, पादसेवन अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन इस नवधा लक्षणा भक्ति तथा अन्य बहुत प्रकारों से मुझे भजते हैं।

व्याख्या—ब्रह्म, स्वरूप से जीव से पृथक् है तथा सम्बन्ध से एक, इसलिए यहाँ एकत्वेन पृथक्त्वेन इन दोनों पदों का प्रयोग किया गया।

बहुधा—मेरी उपासना के बहुत प्रकार हैं। श्रवणादि लक्षण नवधा शक्ति पुन: भगवान् द्वारा सबरी के समक्ष कही हुई सत्संगादि लक्षण नवधा भक्ति इनके सहित प्रेम लक्षणा को मिलाकर दसधा भक्ति इसीलिए नाभा जी भक्त माल में भक्तिदसधा के आगर शब्द का प्रयोग करते है। महर्षि वाल्मीकि रामचरित मानस जी में भगवान् श्रीराम को स्थान संकेत करते हुए चौदह भक्तियों का संकेत करते हैं, यही बहुधा उपासना है ॥ श्री ॥

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं कि- आपने अपने को विश्वतोमुख कहा तो है प्रभो ! तो वह कैसे ? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर चार श्लोकों में भगवान् दे रहे हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञ: स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।। ९/१६

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! "क्रतु" अर्थात् संकल्पात्मक यज्ञ मैं हूँ और यज्ञ निष्काम नित्य पञ्च यज्ञ मै ही हूँ। पितरों को दी जाने वाली स्वधा मै ही हूँ। औषधि

मैं हूँ। भिन्न भिन्न देवताओं के उद्देश्य से प्रयुक्त मन्त्र मैं हूँ। आज्य अर्थात् घृत मै हूँ, अग्नि मैं हूँ, हुत अर्थात हवन क्रिया, और हवन का साधन हवि मैं हूँ।

व्याख्या—सकाम यज्ञ को क्रतु और निष्काम यज्ञ को यज्ञ कहते हैं, इसीलिए इन्द्र को शतक्रतु कहा जाता है शतयज्ञ नहीं। अथवा नित्य पञ्चयज्ञ को यज्ञ और नैमित्तिक यज्ञ को क्रतु कहते हैं। स्वेभ्य: धीयते इति स्वधा अर्थात् अपने कुटुम्वी जनों को श्राद्ध के रूप में जो द्रव्य अर्पित किया जाता है वह स्वधा है। घृत को आज्य कहते हैं।

संगति—अपने विश्वतोमुखस्य को और विस्तृत करते हुए कहते हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ।। ९/१७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं इस जड़ चेतनात्मक जगत् का पिता हूँ। मैं ही मां हूँ, मै भरण पोषण करने वाला हूँ, मैं पितामह हूँ। जानने योग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्, यजुष् और साम मै हूँ।

व्याख्या—यहाँ चकार से अथर्ववेद का भी संग्रह समझना चाहिए। अथवा अथर्व का तीनो वेदों में अन्तर्भाव है। पिता - श्री राम और श्रीकृष्ण रूप मे। माता - सारे संसार की मां सीता क्योंकि श्रीराम भी मैं हूँ और श्रीसीता भी इसीलिए श्रुति कहती है, राम: सीता जानकी रामचन्द्रः' इसी प्रकार पिता रूप में मैं कृष्ण हूँ और माता रूप में राधा। जैसा कि सर्वविदित है कि श्रीराम ही कृष्ण हैं और श्रीसीता ही राधा, रं रामं 'आ' आदरेण धत्ते इति राधा जो श्रीराम को अपने हृदय में आदर पूर्वक धारण करती हैं वे श्री सीता जी ही राधा हैं। अर्थात् राधा, सीता का पर्यायवाची है। यहां एक प्रश्न प्रायस: उठा करता है कि- सीता और राधा ये दोनों वैदिक शब्द नही हैं, पर यह भ्राँति है। "इन्द्रः सीतां निगृह्णातु सीते वन्दामहे त्वा' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियां प्रमाण हैं राधा जी के लिए भी 'राधसां पतये: नम: ।' अब यहाँ फिर प्रश्न उठता है कि जिसे गायत्री का भाष्य कहा जाता है, जो ब्रह्मसूत्रों का अर्थ है ऐसे समस्त ग्रन्थों के चूड़ामणि श्रीमद्भागवत्महापुराण में श्री राधा का नाम क्यों नही ?

उत्तर—श्रीमद्भागवत में यद्यपि सरसरी दृष्टि से देखने से राधा जी का नाम उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि राधा चरित्र की विस्तृत चर्चा शिवपुराण, पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि में उपलब्ध होती है। संयोग से तुमरी ही इच्छानुसार अब मैं श्रीमद्भागवत् के भी उन प्रसंगों को भी प्रस्तुत करूँगा जिनमें राधा शब्द और उनके चरित्र की सुन्दर झाँकी विराजमान है। यद्यपि भागवत जी के प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में श्री शुक उवाच शब्द

मिलता है। वहाँ श्री शब्द का शुक शब्द के साथ षष्ठी समास किया जाता है। अर्थात् 'श्रियः शुकः' श्री जी का शुक बोला और 'श्री' राधा जी का ही नाम है। इस प्रकार प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में राधा जी का स्मरण करके वेदव्यास जी ने कम से कम श्रीभागवत् जी में तीन सौ पैंतीस बार राधाजी का नाम लिया ही। इसीलिए अनादि राधा मन्त्र में 'श्रीं' को ही राधा मन्त्रका बीज माना गया है। अब भागवतजी के श्लोक में भी स्पष्ट रूप से राधा नामका प्रतिपादन किया जा रहा है। भागवत के द्वितीयस्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में जब भगवान् शुकाचार्य बारह श्लोको में भगवान् का स्तवन प्रस्तुत करते हैं, वहाँ वे अपनी परदेवता श्रीराधाजी का स्मरण किये बिना नहीं रहते। जैसे—

नमो मनस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ।। भा० २-४-१४

इस श्लोक की तृतीय चरण में प्रयुक्त "राधसा" शब्दसे ही, राधा नामका स्मरण किया गया है। इसकी विधिवत व्याख्या करने के पूर्व एक और स्पष्टता करनी आवश्यक प्रतीत होती है। श्रीकृष्णावतार काल में राधा नामसे दो महिलायें प्रसिद्ध हुईं, एक अधिरथ सूत की पत्नी कर्ण की माता राधा, जो अति सामान्य महिला हैं। और दूसरी सर्वविदित भगवान् श्रीकृष्ण की प्राणवल्लभा आह्लादिनी परमान्तरङ्ग शक्ति राधा। कदाचित् शुकाचार्य को इन दोनों के नाम से कुछ अन्तर अभीष्ट है, कर्ण की माता राधाका "आकारान्त" नाम प्रसिद्ध है, इसीलिये शुकाचार्य ने कृष्णप्रिया श्रीराधा का नाम "राधसां पतये नमः" इस वेदमन्त्र के अनुरोध से सकारान्त ही निश्चित किया। राधाः, राधसौ, राधसः।

अब प्रस्तुत श्लोक के तृतीय चरण का अर्थ देखिये, अब तक के सभी टीकाकारो ने श्लोक के तृतीय चरण में दो पद स्वीकारे हैं, (१) निरस्तसायातिशयेन, - (२) राधसा, "राधस्' शब्द का ऐश्वर्य अर्थ किया गया है। परन्तु मैंने यहां एक ही पद स्वीकारा है, यह पद द्वन्द्व, दो बहुव्रीहि और एक 'कर्मधारय' इस प्रकार चार समास करके बनता है। अब विग्रह पर ध्यान दीजिये, संस्कृत में "इन" शब्द का स्वामी अर्थ होता है, इसी शब्द के आधार पर सेना शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है, इनेन स्वामिना सह वर्तमाना चमू सेना, अर्थात् जो दल अपने स्वामी के साथ रहता है, उसे सेना कहते हैं। अस्तु, "साम्यञ्च, अतिशयश्च साम्यातिशयौ, निरस्तौ साम्यातिशयौ यस्मात् सः निरस्तसाम्यातिशयः, निरस्तसाम्यातिशयः इनः यस्याः सा निरस्तसाम्यातिशयेना, निरस्तासाम्यातिशयेना चासौ

राधा: इति निरस्तसाम्यातिशयेन राधा: तथा निरस्तसाम्यातिशयेनराधसा, अर्थात् जिनके इन पति भगवान् श्रीकृष्ण साम्य और अतिशय से रहित हैं, ऐसी राधाजी के साथ। इस प्रकार सम्पूर्ण श्लोक का वाक्यार्थ एक विचित्र भूमिका के साथ उपस्थित हो रहा है। भगवान् शुकाचार्य कहते हैं, सात्वतवंशियों में श्रेष्ठ, तथा विषयियों के लिये अत्यन्त दूर, आप परमात्माको नमस्कार हो, नमस्कार हो। जिनके स्वामी आप श्रीकृष्ण साम्य एवं अतिशय से परे हैं, ऐसी "निरस्तसाम्यातिशय" पतिका श्रीराधाजी के साथ अपने दिव्यधाम ब्रह्मरूप श्रीवृन्दावन में रमण करने वाले श्रीराधागोविन्द भगवान् को नमस्कार हो, नमस्कार हो। विशेष व्याख्या किसी स्वतन्त्र लेख में की जायेगी, यहाँ तो इतना ही कहना यथेष्ट है कि—

श्रीमद्भागवताब्धिर्वै राधाचारित्र्यवारिमान्।
ग्रन्थगौरवभीतोऽहं विस्तरान्न ततो ब्रुवे ॥

अस्तु, धाता, महाविष्णु, पितामह ब्रह्मा भी मैं ही हूँ। ओङ्कार और चारों वेद मैं हूँ ॥ श्री ॥

संगति—अब जीव के गत्यादिके सम्बन्ध में भी भगवान् अपनी विश्वतोमुखता प्रकट कर रहे हैं -

"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ ९/१८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं सम्पूर्ण प्राणियों का गन्तव्य स्थान तथा भरण-पोषण करने वाला स्वामी, जीवों के शुभाशुभों का द्रष्टा, सबका निवास स्थान, रक्षक एवं आश्रय तथा निःस्वार्थ मित्र, उत्पत्ति का कारण, प्रलय स्थान, स्थिति का आधार सबका विश्राम स्थान एवं अविनाशी बीज हूँ।

व्याख्या—'गति' शब्द में 'कर्म' में 'क्तिन्' प्रत्यय है। यहाँ निवास शब्द आधिकरण घयन्त हैं। अर्थात् जिसमें प्राणी निवास करते है वही यहाँ निवास शब्द से अभिप्रेत है। इस श्लोक में पूर्व श्लोक से अहं और जगतः इन दो पदों का अनुवर्तन हुआ। इस प्रकार तीन श्लोकों में भगवान् ने अपनी विश्वतोमुखता की व्याख्या की।

संगति—अब भगवान् अपनी विश्वतोमुखता का संहार कर रहे हैं।

तपाम्यहमं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव-मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ ९/१९

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन मै सूर्यरूप से उदय होकर तपता हूँ, अर्थात् अपनी किरणों से गर्मी फैलाता हूँ, मैं ग्रीष्म काल में वर्षा को रोकता हूँ और मैं ही वर्षाऋतु में बादल बनकर वर्षण करता हूँ। मै ही अमृत हूँ और मै ही मृत हूँ और मै ही सत् हूँ और मै ही असत् हूँ।

व्याख्या—यहाँ चार श्लोकों में जहां भी 'अहं' पद का प्रयोग हुआ है, वहाँ अहं पद का मदात्मक अर्थ समझना चाहिए। अर्थात् इनमें मैं हूँ। भगवान् शरणागत के लिए अमृत और अपने विमुखों के लिये मृत्यु हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्।।

(श्रीमद्भागवत १०/१/७)

(केवल मेरी ही बात नही) वे समस्त जीवधारियों के भीतर आत्मा रूप से रहकर अमृतत्व का दान कर रहे हैं और वाहर काल रुप से रहकर मृत्यु का। मनुष्य के रूप में प्रतीत होना यह तो उनकी एक लीला है। आप उन्ही के ऐश्वर्य और माधुर्य से परिपूर्ण लीलाओं का वर्णन कीजिए।

संगति—इस प्रकार निष्कामोपासना का वर्णन करके अब दो श्लोकों से भगवान् सकामोपासकों के आवागमन का वर्णन करते हैं -

त्रैविधा मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।९/२०

ते तं भुक्त्वा मर्त्यलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।
९/२१

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! तीनो वेदों का अध्ययन करने वाले अथवा वार्ता, त्रयी, दण्डनीति सोमरस पीने वाले. तथा जिनका पाप पवित्र हो चुका है ऐसे कर्मकाण्डी लोग सकाम यज्ञों के द्वारा मेरा यजन करके, मेरे पास से भी स्वर्ग गमन की याचना करते हैं। वे अपने पुण्य के फलस्वरूप उस पवित्र देवेन्द्र लोक को प्राप्त करके स्वर्ग में देवोचित भोग भोगते हैं। इस प्रकार वे विशाल एवं विविध शाला अर्थात् भवनों वाले स्वर्ग लोक को भोग कर पुण्य के नष्ट हो जाने पर मर्त्य लोक में प्रविष्ट हो जाते हैं इस प्रकार वेदत्रयी के कर्मकाण्डपरोक्त प्रवृत्ति लक्षण धर्म का पालन करते हुए काम्य

पदार्थों की कामना करने वाले इस गतागत गमनागमन को ही प्राप्त करते रहते हैं । वे तीन ही कहे गये है ऋग्यजु:साम यही तीन विद्यायें भी हैं । इनका समाहार करने पर त्रिविद्य बन जाता है । त्रिविद्य का अध्ययन करने वाले को त्रिविद्यं अधीयते त्रैविद्या' यहाँ 'तद्धीते तद्वेद' ४/२/५९ सूत्र से अध्ययन अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ । यहाँ अध्ययन का केवल कण्ठस्थ करने से तात्पर्य हैं । अर्थात् जिन्होंने तोते की भाँति वेदों को रट लिया हैं परन्तु उनके वास्तविक अर्थ पर विचार नही किया । यदि कहो अध्ययन का कंठस्थीकरण ही प्रमाण है अध्ययन का अर्थज्ञान पर्यन्त अर्थ होना चाहिये तो ऐसा नहीं। तुमने कदाचित् पाणनीय व्याकरण गम्भीरता से नहीं पढ़ा । यदि अध्ययन का ज्ञानपर्यन्त अर्थ होता तो सूत्रकार सिरोमणि भगवान् पाणिनी सूत्र में तद्वेद क्यों कहते जबकि वहाँ सूत्र का अर्थ है अध्ययन और ज्ञान इन दोनों अर्थों में द्वितीयान्त से अण् हो । इस प्रकार त्रैविद्या का अर्थ है जो तीनो वेदों का शुकवत् पाठ कर जाते हैं ।

इस पर गोस्वामी जी की उद्धावना भी द्रष्टव्य है—

कीबै कहा, पढ़िबै को कहा फल ? बूझि न वेद को भेद विचारै ।
स्वारथ को परमारथ को कलि-कामद राम को नाम विसारै ।।

बाद विवाद विषाद बढ़ाइ कै छाती पराई औ आपनी जारै ।
चारिहु को छहुको नवको दस आठ को पाठ कुकाठ ज्यौ फारै ।।

(कवितावली उ० १०४)

अथवा चार विद्याएँ कही गई हैं आन्वीक्षिकी त्रयी, वर्ता और दण्डनीति । इनमें से आन्वीक्षिकी (मोक्ष) को छोड़कर केवल त्रयी विद्या अर्थात् तीन ही त्रयीवार्ता और दण्डनीति जानते हैं ।

सोमपा—जिन्होनें सोमरस पिया है । पूत पापा जिनका पाप पूत अर्थात् पवित्र हो गया है । पवित्र पाप का तात्पर्य है कि अव वह प्रतिबन्ध उत्पन्न करने में असमर्थ है। ऐसे लोग यज्ञ से मुझे पूजकर मुझसे स्वर्ग गति ही मांगते हैं । इसलिए मनुसतरूपता से भगवान् ने कहा -

सकुच विहाय माँग नृप मोही ।
मोरे नहि अदेय कुछ तोही ।।

अर्थात् राजन् ! संकोच छोड़कर मुझको ही माँग लो । यहाँ 'स्वर' शब्द स्वर्ग का वाचक अव्यय है ।

'विशालम्'—बड़ा अथवा 'विविधा शाला: यस्मिन्' जिसमें अनन्त भवन हैं। 'कामकामा:' ये कामनाओं की ही कामना करते हैं। मेरी, कामना कभी नहीं करते। वे ही गतागत अर्थात् आवागमनात्मक संसार को पाते हैं।

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं - हे प्रपन्नचिन्तामणे ! यदुकुल शिरोमणे ! जो यजमान सकाम होर अनेक यज्ञों से आपका यजन करके आपके श्रीचरणों में स्वर्गगमन की प्रार्थना करते हैं, वे संसार में आवागमन को प्राप्त करते रहें, उनसे हमें क्या लेना देना। किन्तु जो सम्पूर्ण कामनाओं को छोड़कर अनन्य मन से शरणागतों के लिए कल्पवृक्ष के समान पृथ्वी के आभूषण रूप चरणकमलवाले आपश्री का ही अवलम्बन होकर परमकुशल श्रीवैष्णव आपकी ही उपासना करते हुए अपना शरीर व्यवहार भूल जाते हैं। वे कैसे धैर्य धारण करते हैं और उनकी जीवन यात्रा कैसे चलती है। इस प्रकार जिज्ञासा करते हुए अर्जुन के प्रति परम कारुणिक, सम्पूर्णवेद जिनके नि:श्वास हैं ऐसे प्रपन्न जनों के मनोरम मधुरमूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण वैष्णव जनों की संजीवनी अमृतधारारूप शरणागति के सारभूत परम उदार शरणागत श्रीवैष्णवों के सम्पूर्ण शंकाओं को नष्ट करने वाले इस श्लोक की अवतारणा कर रहे हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। ९/२२

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मेरे अतिरिक्त सभी आश्रयों का त्याग करके जो श्रीवैष्णव मुझ परमप्रेमास्पद स्वजीवन सर्वस्व नीलोत्पलदलश्याम लोकलोचनाभिराम पूरितप्रणतकाम देहविजितकोटिकाम कोटिमन्मथाभिराम सकलजनमनोभिराम श्रीरामाभिन्न राधाहृदयललाम सजल घनश्याम श्रीकृष्ण को प्रीतिपूर्वक भजते हैं, उन मुझ नित्य परमात्मा में अनन्यमन से युक्त निष्किंचन भक्तों का मैं ही योग क्षेम वहन करता हूँ।

व्याख्या—इस अध्याय में वर्ण्यभूत योग के भगवान् ने पहले ही राजविद्या और राजगुह्य नामक दो विभाग कर दिये हैं। उनमें एक से लेकर इक्कीस तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस योग के प्रथम अर्थात् राजविद्या विभाग की व्याख्या की।

अब अध्याय के अन्तिम अंश में तेरह श्लोकों से भगवान् राजगुह्य की व्याख्या कर रहे हैं। इस अंश को सुधीजन त्रयोदशश्लोकी कहते हैं। इस त्रयोदशश्लोकी का यह प्रथम श्लोक है।

'अनन्या:'—न अन्य: मदरिक्त: अन्य: आश्रय: येषां ते अनन्या:। नहीं है मेरे अतिरिक्त अन्य आश्रय जिनका वे अनन्य हैं। जिन्होंने मेरे अतिरिक्त अन्य आश्रयों को

त्याग दिया है वे अनन्य हैं । नारदभक्ति सूत्र में भी भगवान् नारद ने भी अनन्यता की यही व्याख्या की है - अन्याश्रयत्यागो अनन्यता । श्रीरामचरितमानस में भी श्री हनुमान जी के समक्ष प्रभु श्रीरामजी ने अनन्यता की व्याख्या की—

सो अनन्य जाके असी माति न टरै हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर रूपस्वामि भगवन्त ।। (मानस ४/३)

श्रीमद्भागवत जी के एकादश स्कन्ध में वसुदेव जी से अनन्यता की व्याख्या करते हुए नौ योगेश्वर संवाद प्रकरण में देवर्षि नारद कहते हैं—

खं वायुरग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेःशरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ।।

भाग. ११/२/४१

राजन् ! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, प्राणी, दिशायें वृक्ष, वनस्पति, नदी समुद्र सबके सब भगवान् के शरीर हैं । सभी रूपों में स्वयं भगवान् प्रकट हैं । ऐसा समझकर वह जो कोई भी उसके सामने आ जाता है चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी उसे अनन्यभाव से भगवद्भाव से प्रणाम करता है ।

इस प्रकार अनन्यता से चिन्तन करनेवालों का भगवान् योगक्षेम वहन करते हैं।

माम्—अर्थात् मुझको अपने जीवन का सर्वस्व परमप्रेमास्पद सगुण साकार परमकरुणागार मानकर परम निर्मल चित्त से मेरे नाम रूप लीला और धाम के सङ्कीर्तन से चिन्तन का विषय बनाते हुए ।

जनाः— वैष्णवजनाः ! पञ्चसंस्कार और अकारत्रय से सम्पन्न महानुभाव ही यहाँ जन शब्द से अभिप्रेत हैं । वैष्णव दर्शन में तीन अकारों का बड़ा महत्त्व है । अनन्योपायत्व अनन्यार्हत्व, अनन्यशेषत्व - नास्ति अनन्यः भगवदतिरिक्त उपायो यस्य स अनन्योपायः । तस्य भावः अनन्योपायत्वम् । भगवान् के अतिरिक्त जहाँ कोई उपाय न हो अर्थात् जहाँ साधक प्रभु को ही अपना उपाय और उपेय मानता हो वही अनन्योपायत्व है । अनन्यार्हत्व- नान्यस्मै अर्हति इति अनन्यार्हः तस्य भावः अनन्यार्हत्वम् । यह जीव भगवान् के अतिरिक्त किसी दूसरे के लिए नहीं है इस प्रकार के भाव को अनन्यार्हत्व कहते हैं । अनन्यशेषत्व- संस्कृत में शेष शब्द दास या भोग के अर्थ में आता है । यह जीव भगवान् का ही दास है और भगवान् का ही भोग्य है और किसी का नहीं । इसी भावना को अनन्यशेषत्व कहते हैं । पुण्ड्र (ऊर्ध्वपुण्ड्र) मुद्रा (भुजाओं पर शीतल धनुष बाण की छाप) माला (तुलसी

की वण्ठी) मन्त्र (अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार इष्ट देवता का मूलमन्त्र) न गोत्र अथवा नाम (सम्प्रदाय के अनुसार नवीन नामकरण) ये ही श्रीवैष्णवों के पञ्चसंकार हैं। जैसे कि आगमग्रन्थों में कहा गया है—

पुण्ड्रं मुद्रा तथा माला मन्त्रो नाम च पञ्चमम्।
अमी हि पञ्चसंस्कारा: परमैकान्तहेतव:।।

इनसे सम्पन्न जन मदीय किंकर।

पर्युपासते—परित: उपासते अर्थात् जो सर्वभाव से उपासना करते हैं। अर्थात् मुझमें अनन्यनिष्ठा रखकर मुझे अपनी परमानुरक्ति का पात्र बनाते हैं।

अर्जुन का अन्तर प्रश्न है - हे भक्तभयभञ्जन ! जो श्रीवैष्णव आपके श्रीचरणकमलों के प्रेम समुद्र के प्रवाह में अपनी शारीरिक ममता का प्रवाह कर चुके उनके कुटुम्ब आदि का भरण-पोषण कैसे होता है। इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए भगवान् तृतीय चरण कहते हैं—

तेषां नित्याभियुक्तानाम् - यहाँ नित्य शब्द परमात्मा का वाचक है। और अभिशब्द अभीष्ट के अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थात् मुझ परमात्मा में अभीष्ट बुद्धि से लगे हुए अनिष्किञ्चन भक्तों का मैं योगक्षेम वहन करता हूँ।

योगक्षेमम्—अलभ्य वस्तु के लाभ है। इन्हीं योग और क्षेम का समाहार करके नपुंसकलिङ्ग में द्वितीया के एकवचन में योगक्षेम बनता है। भगवान् कहते हैं कि जो निरन्तर कर्मयोग का अनुष्ठान करते हुए मुझे ही अपना सर्वस्व मानकर मेरी उपासना करते हैं उनको मैं अलभ्य वस्तु का लाभ भी कराता हूँ और जो प्राप्त हो चुकी है उसकी रक्षा भी करता हूँ। मैंने यह व्याख्या प्राचीनों के अनुरोध से की है। क्योंकि योग और क्षेम शब्द का समाहार ही चिन्तनीय है। यह प्राण्यङ्ग है न सेनाङ्ग और न ही तुरही वाद्य का अंग है। तो योगक्षेम में समाहार ही कैसे होगा ? अब यहाँ मेरी नवीन व्याख्या देखिए—

वास्तव में जो भगवान् में अनन्य मन होकर पाञ्चरात्र, श्रुति स्मृति और पुराण से सम्मत भगवान् में परमासक्ति रूप भक्ति से भगवान् के चरित्र चिन्तन में तल्लीन होकर, गुरुजनों के द्वारा उपदिष्ट अपनी उपासना के अनुरूप भगवान् के साथ अपना कोई विशेष सम्बन्ध मानकर भगवान् की दी एक शरण में होकर परिष्कृत उपासना करते है। अपने में लगे हुए चित्त वाले उन्हीं अनन्य महानुभावों के उत्तरदायित्वरूप योगक्षेम का भगवान् निर्वहण करते हैं। यही श्लोक का शास्त्रसंगत सरल भावार्थ हुआ।

अब योगक्षेम पदार्थ पर विचार कर रहे हैं—

पतञ्जलि के मत में चित्रवृत्ति का निरोध ही योग है। (योगश्चित्रवृत्ति निरोधः) उस चित्रवृत्ति निरोधरूप योग का मैं निर्वहण करता हूँ अर्थात् योगक्षेम शब्द में द्वन्द्व न होकर षष्ठीतत्पुरुष समास है। योगस्य क्षेमम्। जो मेरा अनन्यभाव से भजन करते हैं। उनके द्वारा मुझी में किये हुए चित्रवृत्ति निरोध को मैं किसी भी विधि से नष्ट नहीं होने देता। उसके क्षेम को मैं 'वहामि' अर्थात ढोता हूँ। क्योंकि मेरी कृपा के बिना कोई भी इस चञ्चल मन का निग्रह नहीं कर सकता। और मेरी कृपा के बिना चित्त की क्षिप्त आदि वृत्तियाँ भी निरुद्ध नहीं की जा सकतीं। पुराणों में योगियों के पतन की सहस्रों गाथाएं प्रसिद्ध हैं। तुमने भी छठे अध्याय में योगभ्रष्ट के सम्बन्ध में प्रश्न किया था और मैंने भी 'शुचीनां श्रीमतां गेहे' (गीता ६/४२) कहकर उत्तर भी दिया था।

यदि कहें 'वह' धातु का प्रापण अर्थ है तो उसका निर्वाह अर्थ कैसे होगा ?

उत्तर—'परोऽभुवोऽवज्ञाने' ३/३/५५ इस सूत्र में अवज्ञान ग्रहण ही धातुओं के अनेकार्थकत्व में ज्ञापक है। क्योंकि परिपूर्वक भू धातु का अवज्ञान अर्थ प्रसिद्ध होने पर भी यहाँ अवज्ञान अर्थ में प्रत्यय विधान से परिर्पूवक भू धातु का अवाज्ञानातिरिक्तर्थता भी ज्ञापित होता है। इसलिए 'तद्वहति रथ युग प्रासङ्गम्' ४/४/७६ सूत्र में पाणिनि ने भी वह धातु का धारणा अर्थ किया है। इसीलिए 'नदी वहति' अर्थात् नदी बहती है। 'स्कन्धे भारं वहति' कन्धे पर भार ढोता है इत्यादि अर्थ संगत हो जाते हैं। इसी आधार पर 'वह' धातु का निर्वहण अर्थ भी सिद्ध हो जाता है। वास्तव में वह धातु का यहाँ प्रापण अर्थात् दूर ले जाना अर्थ उचित भी नहीं है। क्योंकि भगवान् के श्रीचरण कमल का सामीप्य प्राप्त किये हुए महानुभावों को उन्हें छोड़कर अन्यत्र जाना न तो उचित है और न उनके अनुकूल। इसीलिए श्रीसूक्त में भी आचार्यों ने 'आवह' क्रिया का धारण करना ओर उसे परावर्तित करना ही अर्थ माना है। अथवा यहाँ युज् धातु का समाधि अर्थ है और वह समाधि यहाँ निरोध के अर्थ में अभिप्रेत है। वह निरोध स्नेह निरोध आसक्ति निरोध, व्यसन निरोध और फल निरोध चार प्रकार का है। भगवान् की बाललीला से संसार के सम्बन्धियों में विरुद्ध स्नेह एकीभूत होकर भगवान् में लग जाता है। यद्यपि भागवत १०/८ के २२ से २५ तक चार श्लोकों में शुक्राचार्य ने स्नेह-निरोध की चर्चा की है। परन्तु हिन्दी भाष्य में सामान्य पाठकों के आनन्द के लिए भगवान् श्री कृष्ण के सखा श्री उद्धव के अवतार अन्तश्चक्षु महाकवि सूरदास जी महाराज का इसी झाँकी से मिलता जुलता एक पद प्रस्तुत करता हूँ।

शोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरनि चलत रेनुतन मंडित मुख दधि लेप किये।
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिये।
लट लटकनि मनु मत्त मधुपगन मादक मधुहिं पिये।
कठुला कण्ठ वज्र केहरि नख राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल या सुख का बहुकल्प जिये।।

वस्तुतः इसी बाललीला में चारो निरोध कहे गये हैं।

स्नेह को निरोध यहाँ दिव्य बाल लीला मिस
नन्द को ललन जन नेह को चुरायो है।
जगत आसक्ति को निरोधरूप माधुरी में
भव में आसक्त मन चपरि फँसायो है।
व्यसन निरोध बाल केलि मंजु हँसनि ते,
कोटि कोटि भक्तन को व्यसन छुड़ायो है।
फल को निरोध मंद मुसकान झाँकी झाँकि
गिरिधररूप गिरिधर हिय भायो है।

इस प्रकार योग अर्थात् चारों प्रकार के स्नेह, व्यसन, आसक्ति फलकर्मक निरोध का क्षेम अर्थात् रक्षण को मैं ही ढोता हूँ। वस्तुतः व्रज में स्नेह निरोध, मथुरा में आसक्ति निरोध, कुरुक्षेत्र में व्यसन निरोध और द्वारिका में फल निरोध इन चारों प्रकार के निरोध रूप योग का क्षेत्र मैं ही वहन करता हूँ।

व्रजलीला में गोपाल, गोपियाँ, नन्द यशोदा एवं गौओं के स्नेह का भगवान् श्रीकृष्ण में निरोध देखा जा सकता है।

इसी प्रकार मथुरा में उग्रसेन, कुब्जा, वसुदेव, देवकी, मथुरा की नागरियों एवं समस्त माथुर परिकरों की आसक्ति का भगवान् में निरोध हुआ। कुरुक्षेत्रलीला में पाण्डवों एवं द्रौपदी आदि के भिन्न भिन्न व्यसनों का भगवान् में निरोध हुआ और द्वारिका लीला में १६१०८ पत्नियों ने प्रभु में अपने फल का निरोध कर डाला। इस प्रकार-

स्नेह को निरोध गोप गोपी नन्द जसुदा को,
व्रज बाललीला मिस प्रगट दिखायो है।

मथुरा की लीला ते आसक्ति को निरोध करि,
मथुरा निवासिन की विपत्ति नसायो है।
कुरुक्षेत्र लीला माहि व्यसन निरोधकरि
जाज्ञसेनी पाण्डवों को व्यसन छुड़ायो है।
द्वारिका में फल को निरोध करि हरि रमणिन
गिरिधर पद पद्म प्रीति फल पायो है।

यद्यपि बाल लीला में भगवान् शुक्राचार्य ने चारो निरोधों का वर्णन किया है। सौभाग्य से प्रत्येक निरोध के अनुरूप ही यहाँ चार श्लोक उपलब्ध हैं, जो पाठकों के आनन्द के लिए भावानुवाद सहित दिये जा रहे हैं—

तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ
घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं
मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ।। १०/८/२२

अर्थ—दोनों भाई अपने नन्हे नन्हें पावों को गोकुल की कीचड़ में घसीटते हुए चलते हैं। उस समय उनके पाँव और कमर के घुँघुरू रूनझुन बजने लगते। वह शब्द बड़ा भला मालूम पड़ता। वे दोनों स्वयं वह ध्वनि सुनकर खिल उठते। कभी-कभी वे रास्ते चलते किसी अज्ञात व्यक्ति के पीछे हो लेते। फिर जबदेखते कि यह तो कोई दूसरा है, तब झट से रह जाते और डर कर अपनी माताओं-रोहिणी जी और यशोदा जी के पास लौट आते।

तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ
पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम्।
दत्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य
मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम्।। १०-८-२३

अर्थ—माताएँ यह सब देख-देखकर स्नेह से भर जातीं। उनके स्तनों से दूध की धारा बहने लगती थी। जब उनके दोनों नन्हें-नन्हें से शिशु अपने शरीर में कीचड़ का अंगराग लगाकर लौटते, तब उनकी सुन्दरता और भी बढ़ जाती थी। माताएँ उन्हें आते ही दोनों हाथों से गोद में लेकर हृदय से लगा लेती और बीच-बीच में मुस्करा-मुस्कराकर अपनी माताओं की ओर देखने लगते, तब वे उनकी मन्द-मन्द मुस्कान, छोटी-छोटी दतुलियाँ और भोला-भाला मुख देखकर आनन्द के समुद्र में डूबने लगतीं।

यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीलावन्तर्व्रजे तदवलाः प्रगृहीतपुच्छैः ।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ, प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः।। २४

अर्थ—जब राम और श्याम दोनों कुछ और बड़े हुए, तब व्रज में घर के बाहर ऐसी-ऐसी बाल लीलाएँ करने लगे, जिन्हें गोपियां देखती ही रह जातीं। जब वे किसी बैठे हुए बछड़े की पूँछ पकड़ लेते और बछड़े डर कर इधर-उधर भागते, तब वे दोनों और भी जोर से पूँछ पकड़ लेते और बछड़े उन्हें घसीटते हुए दौड़ने लगते। गोपियां अपने घर का काम धंधा छोड़कर यही सब देखती रहती और हँसते-हँसते लोट-पोट होकर परम आनन्द में मग्न हो जातीं। भा० १०/८/२४

शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः
क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम् ।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम् ।। १०-८-२५

अर्थ—कन्हैया और बलदाऊ दोनो ही बड़े चञ्चल और खिलाड़ी थे। वे कहीं हरिन, गाय आदि सींगवाले पशुओं के पास दौड़ जाते, तो कहीं धधकती हुई आग से खेलने के लिए कूद पड़ते। कभी दाँत से काटने वाले कुत्तों के पास पहुँच जाते, तो कभी आँख बचाकर तलवार उठा लेते। कभी कुएँ या गड्ढे के पास जल में गिरते-गिरते बचते, कभी मोर आदि पक्षियों के निकट चले जाते और कभी काँटों की ओर बढ़ जाते थे। माताएँ उन्हें बहुत बरजतीं, परन्तु उनकी एक न चलती। ऐसी स्थिति में वे घर का काम-धंधा भी न सम्हाल पातीं। उनका चित्त बच्चों को भय की वस्तुओं से बचाने की चिन्ता से अत्यन्त चंचल रहता था। (१०/८/२५)

इस चतुर्विध निरोध तथा लक्षण योग के क्षेम का निर्वहण मैं करता हूँ। अथवा समत्व लक्षण योग को क्षेम कहते हैं। उसका क्षेम वहन मैं करता हूँ। अथवा मेरे ध्यान लक्षण योग का भी क्षेम निर्वहण मैं करता हूँ। क्योंकि जिनका मन मुझमें लगा रहता हैं उनके ध्यान लक्षण योग को कोई विघ्न-नष्ट नही कर पाता। जैसे पंचवर्षीय बालक ध्रुव के ध्यान लक्षण योग को मैं भी नहीं दूर कर पाया। जैसे श्री मद्भागवत में-

स वै धिया योगविपाकतीव्रया हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम् ।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य बहिः स्थितं तदवस्थं ददर्श ।।
४/९/२

अर्थ—उस समय ध्रुव जी तीव्र योगाभ्यास से एकाग्र हुयी बुद्धि के द्वारा भगवान् की बिजली के समान देदीप्यमान जिस मूर्ति का अपने हृदय कमल में ध्यान कर रहे थे, वह सहसा विलीन हो गयी। इससे घबराकर उन्होंने ज्यों ही नेत्र खोले कि भगवान् के उसी स्वरूप को बाहर अपने सामने खड़ा देखा।

जैसा कि श्रीमानस में श्री सुतीक्ष्ण जी के लिए कहा गया है।

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यानजनित सुख पावा।।
भूपरूप तब राम दुरावा । हृदय चतुर्भुज रूप देखावा।।
मुनि अकुलाइ उठा तक कैसे। विकल हीन मनि फनि बर जैसे।।
आगे देखि राम तन श्यामा। सीता अनुज सहित सुख धामा।।
मा० ३/९

अथवा 'योगानाम् क्षेमं योगक्षेमं' अर्थात् मैंने जो कर्मयोग भक्तियोंग और ज्ञानयोग की जो व्यवस्था की है उनके भी क्षेम का निर्वहण करता हूँ। अनन्य मन से भजन करने वालों को कभी इन तीनों योगों से गिरने नहीं देता हूँ। यह तुम्हारे छठें अध्याय में किये हुए प्रश्न का उत्तर है। अथवा योग शब्द सम्वन्ध वाचक है। जो अनन्य भाव से मेरा भजन करता है उसके योग अर्थात् मेरे साथ उसके द्वारा स्थापित किये हुए सम्वन्ध का क्षेम करता हूँ। जैसे तुमने मेरे साथ सख्य सम्बन्ध स्वीकारा है। मैं उस मैत्री सम्वन्ध रूप योग का निर्वहण करूँगा। और नीति शास्त्र में वर्णित मित्र की छहों मर्यादाओं का पालन करूँगा। नीति में सन्मित्र के छः लक्षण कहे गये हैं। जो मित्र को पाप से बचाता है, हित में नियुक्त करता है, गुह्य को छिपाता है, गुणों को प्रकट करता है, विपत्ति में फँसे हुए मित्र को नहीं छोड़ता, समय पर धन देकर उसकी सहायता करता है। संत लोग श्रेष्ठ मित्र के ये छः लक्षण बताते हैं।

पापन्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्‌गतं न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणामिदं प्रवदन्ति सतः ।।

अर्जुन मैं तुम्हें शस्त्रत्यागरूप पाप से छुड़ाऊँगा। "अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" (गी० १८/६६) मैं तुम्हें हित में लगाऊँगा। "ततो वक्ष्यामि ते हितं" (गीता १८/६४) मैं गुह्य का उपदेश करके तुम्हारे गुह्य को छिपाऊँगा "इति गुह्यतमं शास्त्रं"

(गी० १५/२०) मैं तुम्हारे गुणों को प्रकट करूँगा । 'मां शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोसि पाण्डव' (गी० १६/५) मैं तुम्हें विपत्ति में नहीं छोड़ूँगा, "निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्" (गीता ११/३३) मैं तुम्हें समय पर दिव्य चक्षु भी दूँगा, 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' (गी० ११/८) क्योंकि "योगस्य क्षेमं कल्याणं वहामि" । अपने लिए स्वीकृत सम्बन्ध का मैं कल्याण करता हूँ । अथवा 'युज्यते अनेन इति योगः'-जिसके द्वारा जीव भगवान् के चरण से जुड़ता है, उस भगवत प्रेम को भी योग कहते हैं । भगवान् कह रहे हैं - जो अनन्य भाव से चिन्तन करते हुए मेरा भजन करते हैं उनके प्रेम रूप योग का क्षेम मैं करता हूँ । इस प्रकार योगक्षेमशब्द की बहुत सी व्युत्पत्तियां कही जा सकती हैं पर ग्रन्थ गौरव के भय से अब यहीं विराम ले रहा हूँ—

जगत विपिन महँ भ्रमत अनाथ अंध,
मोहि निज लकुटी को टेक एक दीजिए ।
रावरो सुजस गाय मेरो दिन रैन जाय,
जनम मरन जरा व्याधि जन छीजिए ।।

गीता रस पान करि राधापद ध्यान धरि ।
व्रजरस रीति प्रीति सुधारस भीजिए ।।

गिरिधर मीत हित नात मान गिरिधर ।
मेरे जोग छेम को बहन प्रभु कीजिए ।।

संगति—अब अर्जुन का प्रश्न है कि- जो आपके अतिरिक्त अन्य देवताओं का भजन करते हैं उनकी क्या गति होती है ? इस पर भगवान् कहते हैं-

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्त श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। ९/२३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो आस्तिक श्रद्धा से युक्त होकर मुझसे अतिरिक्त इन्द्रादि देवताओं का पूजन करते हैं वे ही मेरा भी पूजन करते हैं, किन्तु उनका पूजन विधि पूर्वक नहीं होता ।

व्याख्या—'अन्यदेवताभक्ताः' शब्द को एक पद मान लेने पर षष्ठी तत्पुरुष और षष्ठी बहुव्रीहि ये दो समास होंगे । अन्य देवतानां भक्ताः, अथवा भजनं भक्तं, अन्य देवतासु भक्तं अथवा अन्य देवताओं का भजन हैं जिनमें । इस पक्ष में 'यजन्ते' को अकर्मक मानना पड़ेगा परन्तु अन्य देवता और भक्ता इनदोनों पदों को स्वतन्त्र मानना चाहिए ।

'तेऽपि' वे मुझे ही भजते हैं तो फिर अनन्य में और बहु देवता पूजकों में अन्तर क्या है ।

'अविधिपूर्वकम्' अनन्य का भजन विधिपूर्वक होता है और अन्य देवता पूजकों का भजन अविधि पूर्वक विधि के विरोध को अविधि कहते हैं । पुराण भी कहते हैं कि भगवान् का स्मरण सबसे बड़ी विधि है । भगवान् का विस्मरण सबसे बड़ा निषेध है -

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः ।।

विनय पत्रिका में गोस्वामी जी भी कहते हैं—

राम सुमिरन सब विधि हूँ को साज रे ।
राम को विसारिबो निषेध सिर ताज रे ।।

इसलिए परम्परा से पूजन निषेध पूर्वक है । अब प्रश्न उठता है कि- क्या पंच देवोपासना निषेधपूर्वक हैं ? क्योंकि वह भी तो भगवान् से अतिरिक्त की उपासना हुई ?

उत्तर—जहाँ देवताओं को भगवान् की विभूति मानकर पूजा की जाती हैं वहाँ पूजा अविधि पूर्वक नही होती । जैसे यदि कोई गृहलक्ष्मी पति का अनादर करके सास ससुर आदि का सम्मान करती है तो उसकी वह क्रिया अविधि पूर्वक होती है परन्तु जब पति के सम्बन्ध से पत्नी पति के कुटुम्ब की सेवा करती है तो वह व्यभिचार नहीं माना जाता । जैसा कि भगवान् स्वयं भागवत रासपञ्चाध्यायी में गोपियों से कह रहे हैं— "हे कल्याणियों ! निष्कपट भाव से पति और उसके कुटुम्ब की सेवा तथा पति की सन्तानो का पालन-पोषण यह पतिव्रता नारी का परम धर्म है ।"

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया ।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ।।

भा० १०/२९/२४

इस बात को और स्पष्ट करने के लिए भगवान् कौन्तेय सम्बोधन देते हैं-अर्थात् जैसे-तुम्हारी माँ कुन्ती के भूल से कहने पर द्रौपदी जी ने तुम पाँच भ्राताओं के पास विवाह किया । यथा-जैसे महाभारत में मत्स्य लक्ष्य भेद के पाश्चात् अर्जुन और भीमसेन द्रौपदी के सहित भार्गव कर्म शाला में कुन्ती के पास आये और यह कहा कि मां मुझे आज एक भिक्षा मिली है, कुन्ती ने बिना सोचे समझे कह दिया कि जो भिक्षा मिली है

उसे पाँचों लोग बाँट कर खाओ। परन्तु अनर्थ हो गया, वह तो ठहरी द्रौपदी यह प्रसंग महाभारत से ही देखो—

गत्वा तु तां भार्गव-कर्म-शालां।
पार्थौं पृथां प्राप्य महानुभावौ।
तां यज्ञसेनीं परमप्रतीतौ भिक्षेत्यथावेदयतां निराश्रयौ॥ १ ॥

जनमेजय ! मनुष्यों में श्रेष्ठ महानुभाव कुन्ती पुत्र भीमसेन और अर्जुन कुम्हार के घर में प्रवेश करके अत्यन्त प्रसन्न हो माता को द्रौपदी की प्राप्ति सूचित रकते हुए बोले- माँ हम लोग भिक्षा लाये हैं-

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ
प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।
पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां
कष्टं मया भाषितमित्युवाच ।। २ ।।

उस समय कुन्ती देवी कुटिया के भीतर थीं। उन्होंने अपने पुत्रों को देखे बिना ही उत्तर दे दिया (भिक्षालाये हो तो) तुम सभी भाई मिलकर उसे पाओ। तत्पश्चात् द्रौपदी को देखकर कुन्ती को चिन्तित होकर कहा हाय मेरे मुँह से बड़ी अनुचित बात निकल गयी।

सा धर्मभीता परिचिन्तयन्ती तां याज्ञसेनीं परमप्रतीताम्।
पाणौ गृहीत्वोपजगामकुन्ती युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम् ।। ३ ।।

कुन्ती देवी अधर्म के भयसे बड़ी चिनता में पड़ गयीं। परन्तु मनोनुकूल पतिकी प्राप्ति से द्रौपदी के मनमें बड़ी प्रसन्नता थी। कुन्ती देवी द्रौपदी का हाथ पकड़कर युधिष्ठिर के पास गयीं और उनसे उन्होंने यह बात कहीं।

"कुन्त्युवाच"

इयं तु कन्या द्रुपदस्य राज्ञः तवानुजाभ्यां मयि संनिविष्टा।
यथोचितं पुत्र मयापि चोक्तं समेत्य भुङ्क्तेति नृप प्रमादात् ।। ४ ।।

कुन्ती ने कहा—बेटा ! यह राजा द्रुपदकी कन्या द्रौपदी है। तुम्हारे छोटे भाई भीमसेन और अर्जुनने इसे भिक्षा कहकर मुझे समर्पित किया और मैंने भी (इसे विना देखे) भूलसे (भिक्षा ही समझकर) अनुरूप उत्तर दे दिया 'तुम सबलोग मिलकर इसे पाओ।'

मया कथं नानृतमुक्तमद्य भवेत् कुरूणामृषभ ब्रवीहि ।
पाञ्चालराजस्य सुतामधर्मो न चोपवर्तेत न विभ्रमेच्च।। ५ ।।

कुरुश्रेष्ठ ! बताओ, कैसे मेरी बात झूठी न हो ? और क्या किया जाये, जिससे इस पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको न तो पाप लगे, और न नीच योनियों में ही भटकना पड़े ।

महाभारत आदिपर्व १८९-१-२-३-४-५

अब्रवीत् सहितान् भ्रातृन् मिथोभेदभयान्नृप ।
सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा।। १६ ।।

द्रौपदीको लेकर हम सब भाइयोंमें फूट न पड़ जाये, इस भयसे राजाने अपने सभी बन्धुओंसे कहा-'कल्याणमयी द्रौपदी हम सब लोगों की पत्नी होगी ।।'

महाभारत आदिपर्व १८९-१६

इस प्रकार कुन्ती और युधिष्ठिर की सम्मति से द्रौपदी पाँच पतियों से ब्याही गयीं और दुश्शासन द्वारा केशकर्षण के समय द्रौपदी पाँचों पतियों से निरपेक्ष होकर भगवान् की शरणगत हुई और अनन्य भाव से भजन करके प्रभु को इतनी प्रिय बनी कि उनके लिए भगवान् को वस्त्रावतार लेना पड़ा । इस प्रसंग पर अपनी शैशवावस्था में रचित एक दोहा प्रस्तुत करता हूँ—

तजि कुसंग गिरिधर गहहु चरन सरन व्रजराज ।
बचा न पाये पंचपति द्रुपद सुता की लाज ।।

इसी प्रकार भगवान् की आज्ञा मानकर श्रुति विहित पंच देवोपासना करके साधक धीरे-धीरे भगवान् की अनन्यता प्राप्त कर सकता है ।

संगति—अब अर्जुन भगवान् से तीन प्रश्न करते हैं । हे सर्वेश्वर । लोग आपको क्यों नही भजते अन्य देवताओं का भजन आपका भजन कैसे हो जाता है ? और अन्य देवोपासक आपको क्यों नहीं प्राप्त करें ? अर्जुन के इन तीन प्रश्नों का समाधान करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्वेनातश्च्यवन्ति ते।। ९/२४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! क्योंकि मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता तथा स्वामी भी हूँ परन्तु लोग मुझे तत्व से नहीं जानते इसीलिए च्युत हो जाते हैं ।

व्याख्या—भगवान् सर्वदेवमय हैं। अतः अन्य देवों की पूजा अन्ततोगत्वा उनकी हुई परन्तु परम्परा से। अन्य देवोपासकों का पतन इसलिए होता है कि वे सेवक सेव्य भाव से भगवान् को नहीं जानते इसीलिए च्युत हो जाते हैं।

संगति—इतना ही नहीं यद्यपि "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इस श्रुति के अनुरोध से और गीता ९/४ के आधार पर भी मेरी व्यापकता स्वतः सिद्ध है, फिर भी मैं भिन्न-भिन्न वस्तुओं से अवच्छिन्न होकर भव बन्धन के विनाश में कारण नहीं बनता। जैसे-बादलों से ढके हुए सूर्य नारायण अन्धकार को नहीं नष्ट कर पाते। जैसे-भस्माच्छन्न अग्नि दाहक नहीं बन पाता उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देवताओं से अवच्छिन्न मैं भव विनाश का कारण नहीं बनता, क्योंकि साधक की दृष्टि इतनी पैनी नहीं होती जो कि अवच्छेदक को दूर कर अवच्छेद्य को प्रकाशित कर सके। इस पर भगवान् कहते हैं-

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ ९/२५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! जिन्होंने देवताओं के विषय में उपासना रूप व्रत लिया है वे देवताओ को प्राप्त होते हैं तथा जो अर्यमादि देवताओं की पूजा करते हैं वे पितरों को प्राप्त हो जाते हैं। भूतों का यजन करने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरा यजन करने वाले मुझे ही प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या—यहाँ 'व्रत' शब्द उपासनापरक है। इज्या का अर्थ यज्ञ होता है। जिन्होंने भूतों के लिए इज्या अर्थात् यज्ञ किया है, ऐसे महानुभाव प्रेत बनते हैं "मद्याजिनः" यहाँ तच्छील अर्थ में इन् प्रत्यय हुआ है। अर्थात् मेरा पूजन जिनका स्वभाव है, कोई अतिरिक्त व्यापार नहीं ऐसे वैष्णव मुझे प्राप्त हो जाते हैं।

संगति—भक्ति से समर्पित कुछ भी मैं ग्रहण कर लेता हूँ। इसी बात को और स्पष्ट कर रहे हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ ९/२६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! जो साधक भक्ति से मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल के रूप में जो भी नैवेद्य निवेदन करता है मैं उस प्रयतात्मा द्वारा भक्ति पूर्वक समर्पित वह सब सगुण साकार होकर चारों कर कमलों से स्वीकार करके खा लेता हूँ।

व्याख्या—"प्रयतात्मना" मेरी प्राप्ति के लिए जिसका अन्तः करण प्रयत्नशील है, उसका समर्पित कुछ भी मेरे लिए ग्राह्य है। यहाँ प्रश्न यह है कि पत्र, पुष्प और फलों

का भक्षण संभव है पर जल के सम्बन्ध में भगवान् ने अश्नामि शब्द का प्रयोग कैसे किया ? क्योंकि जल द्रव है वह खाया नहीं जा सकता, और अश्नामि का प्रयोग किसी घन पदार्थ के खाने के लिए होता है ।

उत्तर—भगवान् सर्वसमर्थ है । वे स्वयं सच्चिदानन्द घन है जहाँ आनन्द जैसा द्रव पदार्थ भी घन, हो जाता है । वहाँ जल की क्या बात करते हैं । अथवा भक्ति की शीतलता ही जल को घनी भूत करके उसका तापमान शून्य से बहुत नीचे कर देती है इसलिए भक्त द्वारा समर्पित जल भी घन होकर उसकी प्रेम माधुरी से मिलकर कुल्फी जैसा बन जाता है । यहाँ ध्यान रहे, दोनों अवतारों में पत्र पुष्प, फल एवं जल इन चारों के समर्पक भक्त मिल जाते हैं । यथा श्री रामावतार में ग्रामवासियों ने पत्र समर्पित किया-

एक देख वट छाँह भलि डाल मृदुल तृन पात ।
कहहिं गवाय छनिक श्रम गवनब अवहिं कि प्रात ।।

(मानस-२/११४)

मिथलानियों ने भगवान् को पुष्प समर्पित किया—

'हिय हरषहि बरसहि सुमन' (मा० १/२२३)

शबरी ने फल दिया—

कन्द मूल फल सुरस अति दिये राम कहँ आनि ।
प्रेम सहित प्रभु खाये बारम्बार बखानि ।। (मा० ३/३४)

केवट ने जल दिया—

केवल राम रजायसु पावा । पान कठौता भरि लइ आवा ।।
(मा० २/१०१/६)

इसी प्रकार भगवन् जी को पत्र द्रौपदी ने समर्पित किया—

यथा—**'शाकान्नशिष्टमुपयुज्य'** (भा० १/१५/११) और उसी प्रकार महात्मा विदुर ने भी जैसे-

दुर्योधन घर मेवा त्यागे साग विदुर घर खाये ।

गजेन्द्र ने भगवान् को पुष्प अर्पित किया—

सोऽन्तः सरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम् ।

उत्क्षिप्य चाम्बुजकरं गिरमाहकृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते ।

अर्थ—सरोवर के भीतर बलवान् ग्राह ने गजेन्द्र को पकड़ रखा था और वह अत्यन्त व्याकुल हो रहा था। जब उसने देखा कि आकाश में गरुड पर सवार होकर हाथ में चक्र लिए भगवान् श्री हरि आ रहे हैं, तब अपनी सूँड़ में कमल का एक सुन्दर पुष्प लेकर उसने ऊपर को उठाया और बड़े कष्ट से बोला।

शबरी ने फल दिया जैसे—

कन्दं सुमूलं सरसं फलं च ददौ समानीय रघूत्तमाय।
भक्त्या समेता शबरी समाश्न् मुहुर्मुहुस्तत् रघुपः प्रशंसन्।।

राजा रन्तिदेव ने जल दिया। यथा—

पानीयमात्रमुच्छेषं तच्चैकं परितर्पणम्।
पास्यतः पुल्कसोऽभ्यागादपो देह्यशुभस्य मे ।।

अर्थ—अब केवल जल ही बच रहा था और वह भी केवल एक मनुष्य के पीने भर का था। वे उसे आपस में बाँट कर पीना चाहते थे कि एक चाण्डाल और आ पहुँचा। उसने कहा- 'मैं अत्यन्त नीच हूँ। मुझे जल पिला दीजिए।'

तस्य तां करुणां वाचं निशम्य विपुलश्रमाम्।
कृपया भृशसन्तप्त इदमाहामृतं वचः ।।

अर्थ—चाण्डाल की वह करुणापूर्ण वाणी, जिसके उच्चारण में भी वह अत्यंन्त कष्ट पा रहा था, सुनकर रन्तिदेव दया से अत्यन्त सन्तप्त हो उठे और ये अमृतमय वचन कहने लगे।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ।।

अर्थ—मैं भगवान् से आठों सिद्धियों से युक्त परमगति नहीं चाहता। और तो क्या, मैं मोक्ष की भी कामना नहीं करता। मैं चाहंता हूँ तो केवल यही कि मैं सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित हो जाऊँ। और उनका सारा दुख मैं ही सहन करूँ जिससे और किसी प्राणी को दुःख न हो।

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषदमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ।।

अर्थ—यह दीन प्राणी जल पीकर के जीना चाहता था। जल दे देने से इसके जीवन की रक्षा हो गयी।अब मेरी भूख प्यास की पीड़ा शरीर की शिथिलता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद और मोह ये सबके सब जाते रहें। मैं सुखी हो गया।

इति प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया।
पुल्कसायाददाद्धीरो निसर्गकरुणो नृपः ।।

अर्थ—इस प्रकार कहकर रन्तिदेव ने वह बचा हुआ जल भी उस चाण्डाल को दे दिया। यद्यपि जल के बिना वे स्वयं मर रहे थे। फिर भी स्वभाव से ही उनका हृदय इतना करुणापूर्ण था कि वे अपने को न रोक सके। उनके धैर्य की भी कोई सीमा है।

यहाँ मेरे द्वारा रचित दो संग्रहश्लोक भी दृष्टव्य है। जैसे श्रीरामावतार में—

निषादो वै पत्रं जनकपुरनार्यस्सुमनसः
फलं मूलं दिव्यं सरसमतिभक्त्या शबरिका।
जलं जाताह्लादं विगलितविषादं सुशिशिरं,
ददुर्ग्राम्याः सीतां दयितवररामाय हरये ।।

इसी प्रकार कृष्णावतार में—

ददौ कृष्णा पत्रं सरसमथ कृष्णाय विदुरो,
गजेन्द्रो वै पुष्पं गुणपरिमलं भक्तिकलितम्।
फलं विक्रेत्री सा ब्रजगृहगता गोपशिशवे,
ददौ तोयं सोऽयं यदुवरसखो ह्युद्धवसुधीः ।।

संगति—अब भगवान् निष्कर्ष कह रहे हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददाति यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। ९/२७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तुम शरीरयात्राके लिये जो भी स्नानादि क्रिया करते हो, तथा क्षुधाकी शान्ति के लिये जो भक्ष्य-भोज्य-लेह्य-चोष्य ये चतुर्विध आहार करते हो। तथा जो कुछ श्रुति विहित नित्य अग्नि होत्र और नैमित्तिक होम करते हो, और सत् पात्रोंको जो भी दान देते हो। तथा कायिक मानसिक, और वाचित जो भी सात्विक तप करते हो वह सब मुझको ही समर्पित कर दो।

व्याख्या—यहां करण-भोजन-हवन-दान और तप इन पाँचों के समपर्ण की बात कहकर भगवान् अपने क्रमशः पर विभव व्यूह अन्तर्यामी और अर्चा इन पाँचों स्वरूपोमें सम्प्रदानताका विधान कर रहे हैं। अर्थात् भगवान् कह रहे हैं कि अर्जुन ! क्रिया का समर्पण मेरे परस्वरूपको करो, भोजन का समर्पण विभव स्वरूपको, हवन का समर्पण व्यूह को दानका अन्तर्यामीको तथा तपस्याका समर्पण मेरे अर्चावतारको करो। "मदर्पणं" मयि अर्पणं मदर्पणं, यहां कर्म में ल्युट प्रत्यय है। अथवा "मह्यं अर्पणं मदर्पणं," यहाँ ङे विभक्तिका 'बाहुलकात्' लुक हुआ है।

संगति—अब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं, हे सर्वान्तर्यामिन् ! आप अपने को ही सब कुछ समर्पित करने को क्यों कहते हैं ?

इस पर भगवान् कहते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ ९/२८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इस प्रकारसे मुझे कर्मोंका समर्पण करके शुभ अशुभ फलवाले कर्मरूप बन्धनोंद्वारा तुम मुक्त कर दिये जाओंगे, अर्थात् कर्मबन्धन स्वयं तुम्हें छोड़ देंगे। तथा संन्यासरूप प्रपत्तियोग से युक्तान्तःकरण वाले होकर विषयों से मुक्त हुये तुम सामीप्य मुक्ति की प्रक्रियासे मुझे प्राप्त कर लोगे।

व्याख्या—कर्म शुभ और अशुभ फल देते हैं, जब वे भगवान् को अर्पित कर दिये जाते हैं, तब उनमें फल देने का सामर्थ्य नहीं रह जाता। जैसा कि भगवान् स्वयं श्रीमद्भागवत् जी में श्रीनन्दव्रजकुमारियों के प्रति कहते हैं—

न मय्यावेशित धियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥

भा० १०-२२-२६

अर्थ—जिन्होंने अपना मन और प्राण मुझे समर्पित कर रक्खा है, उनकी कामनाएँ उन्हें सांसारिक भोगों की ओर ले जाने में समर्थ नहीं होती, ठीक वैसे ही जैसे भुने या उबाले हुए बीज फिर अङ्कुरके रूप में उगने के योग्य नहीं रह जाते।

सन्यास शब्द शरणागतिका वाचक है, "न्यासस्तु शरणागतिः" 'कर्मबन्धनैः' शब्द में अनुक्तकर्ता में तृतीया है। "उपैष्यसि" अर्थात् सामीप्य मुक्ति के द्वारा मेरे श्रीचरण की सन्निधि प्राप्त करोगे।

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे भक्तवत्सल ! आप भक्तों के प्रति बहुत दयालु हैं, इससे कदाचित् आपमें वैषम्यकी आपत्ति आ जायेगी, और आप सम होकर भी विषम व्यवहार करने लगेंगे ? इस पर भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।। ९/२९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं सम्पूर्ण भूत प्राणियों के विषय में समान ही रहता हूँ । न कोई मेरा द्वेष्य है, न प्रिय, परन्तु जो श्री वैष्णव साधक मुझे भक्ति अर्थात् परम अनुरक्ति से भजते हैं, वे मेरे समीप रहते हैं, और मैं उनके समीप रहता हूँ, तथा वे मेरे हृदय में रहते हैं और मैं उनके हृदय में रहता हूँ ।

व्याख्या—इस श्लोक में "सर्वभूतेषु"१. "मयि"२. "तेषु"३. इस प्रकार तीन बार सप्तम्यन्तका उच्चारण हुआ है । उनमें प्रथम विषय सप्तमी है, और पश्चात्की दो सप्तमियाँ सामीप्यमें हैं, "गुरौ वसति" के समान ।

प्रश्न—सामीप्य सप्तमी में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—"समानतीर्थे वासी" पा. अ. ४-४-१०७ यह सूत्र ही परम प्रमाण है। क्योंकि कोई भी "कटे शेते" की भाँति गुरु पर चढ़कर नहीं रह सकता । इसीलिये वहाँ सामीप्यमें ही सप्तमी मानी जाती है । "उपश्लेष" शब्द में उसके संयोग और सामीप्य दो अर्थ है, इसीलिये "गंगायां घोष" शब्दमें भी सामीप्य सप्तमी मानकर गंगा पदको भगीरथरथखातावच्छिन्न द्रव प्रवाह में शक्त मानलेने से लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है । यहाँ भगवान् का तात्पर्य यह है कि-मैं सम होने पर भी भक्तपर उसकी भक्ति के कारण पक्षपात करता हूँ । इसीलिये कुरुराज सभामें स्पष्ट कहा-कि जो पाण्डवों से द्वेष करता है, वह मुझसे भी द्वेष करता है, जो उनका अनुगामी है, वह मेरा भी अनुगामी है उनसे मेरी एकात्मता हो चुकी है । इसीलिये "मयि" और "तेषु" इन दोनों स्थलों पर सामीप्य और संयोग ये दोनों सप्तमियाँ मानी जा सकती हैं । जैसा कि मानसकार कहते हैं—

अस सज्जन मम उर बस कैसे ।
लोभी हृदय वसइ धन जैसे ।। मानस ५-४८-७

वचन करम मन मोरि गति भजन करइ निष्काम ।
ताके हृदय कमल मह करहु सदा विश्राम ।।

मानस -३-१६

इसी प्रकार भागवत में भी भगवान् अम्बरीश के सम्बन्ध में दुर्वासा जी से कह रहे हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।।

भागवत-९-४-६८

इस प्रकार मेरे भजन करने वाले सामीप्य और संयोग दोनों सम्बन्धों से मुझसे जुड़ जाते हैं, ऐसा भगवान् का अभिप्राय है ।

संगति—अब अर्जुन फिर प्रश्न करते हैं- हे पतितपावन परमेश्वर यदि कोई कदाचारी व्यक्ति आपकी कृपा से अपने पूर्वकृत कर्मों की वासनाओं को छोड़कर अनन्य निष्ठा से आपका भजन करने लगता है तो क्या फिर उसे अपने कुकर्मों का प्रायश्चित करना पड़ता है अथवा प्रायश्चित किये बिना ही वह आपका हो जाता है ? इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए करुणानिधान भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र यहाँ से श्रीगीता जी के पांचप्राण का आरम्भ करते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। ९/३०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! यदि कोई दुराचारी भी सन्तों की कृपा से अन्य किसी का भजन न करता हुआ मुझे भजता है तो उसे साधु ही मान लेना चाहिए क्योंकि वह पूर्ण निश्चय करके मेरे भजन में प्रवृत्त हुआ है ।

व्याख्या—अपि, चेत्- ये दोनों निपात अव्यय पक्षान्तर के सूचक है । और ये दोनों ईश्वर और सन्त इन दोनों की कृपाओं की भी सूचना दे रहे हैं । भगवान् का आशय यह प्रतीत होता है कि कभी-कभी जीव पर उनकी हेतु निरपेक्ष कृपा होती है। वहाँ कृपा का कोई कारण नहीं होता । परन्तु भगवान् की भाँति उनकी कृपा भी तो निरंकुश है । उसके आधार पर निर्व्याज करुणा के फलस्वरूप सहसा सन्त मिल जाते हैं । और उनके दर्शन से दुराचारी के भी मन में परिवर्तन आता है । और वह दृढ़ निश्चय से पूर्वकुकर्मों को छोड़कर भगवद् भजन में प्रवृत्त होता है । और जब प्रवृत्त हो जाता है तो वह दुराचारी नहीं रह जाता । वह सुदुराचार अर्थात् उसके दुराचार भी शुद्ध परिणाम देकर उसे भजन में प्रवृत्त कर देते हैं ।

अनन्यभाक्—यहाँ भज् का भिन्न अर्थ है । नान्यं भजते इति अनन्यभाक् । अन्य का भजन करने वाले लोग भी मेरा भजन करते हैं पर उनका भजन अन्य नहीं होता ।

अनन्यभाक् का तात्पर्य है कि अब तक वह जिन काञ्चन कामिनियोंका भजन करता रहा उन सब का भजन छोड़कर 'मां भजते' अपने सुख के लिए मुझे ही भजता है तब उसे प्रायश्चित की आवश्यकता नही होती। तब वह साधु ही हो जाता है। मन्तव्य:- समाज वालों को भी उसे साधु मान लेना चाहिए। क्यों ? चतुर्थ चरण में उत्तर देते हैं 'सम्यग् व्यवसितं निश्चय: यस्य' अब वह दृढ निश्चयी'बन गया होता है। इसलिए चित्त की स्वयं ही शुद्धि हो जाती है। जैसे दृढ निश्चय का उदाहरण आलवन्दार स्तोत्र में देखिए-

निरासकस्यापि न तावदुत्सहे महेश हातुं तव पादपङ्कजम्।
रुषा निरस्तोऽपि शिशुस्तनन्धयो न जातु मातुश्चरणौ जिहासति।।
(आलवन्दार २९)

श्री यामुनाचार्य कहते हैं हे परमात्मन्! आप ठुकरायेंगे तो भी मैं आपके श्री चरणकमल को नहीं छोड़ूँगा। क्योंकि मां के द्वारा क्रोध से ठुकराया हुआ भी दूध पीनेवाला शिशु कभी मां के चरणों को नहीं छोड़ता। अत: यदि कोई कदाचारी दृढ़ निश्चय करके अनन्य भाव से मेरे भजनमें प्रवृत्त होता है, तो वह साधु बन जाता है, और प्रायश्चित के योग्य भी नहीं रह जाता।

संगति—भगवान् आगे और स्पष्ट कर रहे हैं कि दुराचारी केवल साधु ही नही हो जाता, प्रत्युत मेरे भजनकी महिमा से सम्पूर्ण पाप कलापों से मुक्त हुआ, सभी परितापों को समाप्त करके, वह धर्मधुरन्धरों का चूड़ामणिभी बन जाता है। इसी विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुये भगवान् कहते है-

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति।। ९/३१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! अनन्य भावसे मेरा भजन करने वाला दुराचारी अत्यन्त शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है। उसके चित्त में वेदोक्त सनातन धर्मके संस्कार आ जाते हैं, अथवा धर्मस्वरूप मैं ही उसके चित्त में प्रवेश कर जाता हूँ। या उसका मन स्वयं शरणागति धर्म में प्रवृत्त हो जाता हैं। और वह मेरी नित्य शान्ति को नियतरूप से प्राप्त कर लेता हैं। हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! तुम प्रतिज्ञा करलो, कि मुझ कृष्णका भक्त कभी प्रनष्ट नही होता।

व्याख्या—अनन्य भाव से मेरा भजन करनेवाले दुराचारी को प्रायश्चित्तकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती, वह तो धर्मात्मा हो जाता है। "धर्मे आत्मा यस्य स: धर्मात्मा"

उसका मन सनातन धर्म, भागवत् धर्म, और धर्मरूप मुझ परमात्मामें लग जाता है । अथवा "धर्म: आत्मनि यस्य स धर्मात्मा" अथवा धर्मरूप हम तीनों उसके मनमें प्रविष्ट हो जाते हैं । यहाँ शङ्का होती है कि प्रायश्चित्त के विना उसको अशान्ति तो नहीं हो जाती ? इस पर द्वितीय चरण कहते हैं-"शश्वच्छान्तिं" अर्थात् उसको नियमत: नित्य शान्ति प्राप्त हो जाती है । क्या प्रमाण है ? अव कहते हैं "कौन्तेय प्रतिजानीहि" तुम्हारा प्रतिज्ञा वाक्य ही प्रमाण होगा । अर्जुन पूछते हैं-क्यों, आपके भक्तों के सम्बन्ध में मेरा क्या औचित्य है ? भगवान् कहते हैं क्यों कि मेरी प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है । भक्त मुझे प्रतिज्ञा से च्युत करदेते हैं । इसीलिये तुम प्रतिज्ञा करो, "कौन्तेय" इस शव्द का अभिप्राय यह है कि जैसे तुम्हारी मां कुन्ती सूर्य-पवन-धर्म और इन्द्र से संपृक्त होकर भी मेरे भजन के प्रभाव से नष्ट नहीं हुयी, उसी प्रकार तुम भी संग्राम में युद्ध करके नष्ट नहीं होवोगे । इसीलिये युद्ध करो ।

संगति—अव यहाँ अर्जुन प्रश्न करते हैं हे वात्सल्यवारान्निधे वासुदेव ! आपकी भक्ति में केवल त्रैवर्णिक सनातन धर्मियों का ही अधिकार है या सवका ? इस पर उदारचूड़ामणि द्वारकाधीश सरकार कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियोवैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।। ९/३२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे पृथानन्दन अर्जुन ! प्रपत्तियोग से मुझ परमात्मा श्रीकृष्ण को आश्रय मानकर मेरी शरण में आये हुए जो भी पापयोनि में वर्तमान गजेन्द्र आदि के समान हैं तथा स्त्रियाँ अर्थात् जिन्हें उपवीत, गायत्री आदि द्विजाति कर्मों में अधिकार नहीं है, तथा वैश्य और शूद्र अर्थात् संस्कार वर्जित चतुर्थवर्णी हैं वे भी मेरी परम गति को प्राप्त हो जाते है ।

व्याख्या—पार्थ सम्वोधन का तात्पर्य यह है कि जैसे तुम्हारी मां कुन्ती, स्त्री शरीर प्राप्त करके भी मेरे भजन की महिमा से परम भागवत बन गई उसी प्रकार मेरी शरणागति में सवको अधिकार है । पापयोनय:-कुछ आचार्यों ने पापयोनय: विशेषण स्त्रियों के लिए भी माना है पर यह उनकी हठधर्मिता और अविवेक है । स्त्री और शूद्र को वेद में अधिकार न होने से उनकी नीचता की कल्पना नहीं करनी चाहिये । तात्पर्य यह है कि वे इतने शुद्ध हो चुके होते हैं कि उनको इन संस्कारों की आवश्यकता ही नहीं है । संस्कार शुद्धि के लिए किये जाते हैं । जो स्वयं शुद्ध हैं उसे शुद्धि करने की क्या आवश्यकता । अत: वे भगवद् भजन करके परमगति को प्राप्त कर लेते हैं । इसलिए पापयोनय: का तात्पर्य

गजेन्द्र, जटायु, श्री भुशुण्डि आदि हैं। स्त्रियाँ जैसे-पुलिन्द (भिल्ल) कन्यायें। श्रीमद्भागवत के अनुसार वे प्रभु के श्री चरणाविन्द का कुंकुम लगाकर पूर्ण हो गयीं। जैसे-

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुंकुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधम्।।
(भागवत १०/२१/१७)

हे सखियों ! राधाजी के वक्षःस्थल के आभूषणरूप श्रीवृन्दावन की घासों में लगे हुए भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र के अरुण चरण कमल के रंग के समान शोभा वाले कुङ्कुम से अपने मुख एवं वक्ष पर लेपकरके भगवन्मिलन की आकांक्षारूप व्याधि को समाप्त करके ये भिल्लकन्याएँ भी पूर्णपुरुषोत्तम प्रभु से मिलकर पूर्ण हो गई हैं। इसी प्रकार यज्ञपत्नियों के सम्बन्ध में उनके पति कितने मधुर वचन कहते हैं-

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान्।।

भाग० १०/२३/४१

नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः।। ४२।।

अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि।। ४३।।

अहो ! देखो तो इन नारियों का भी जगद्गुरू श्रीकृष्ण में दुरन्तभाव, जिन्होंने गृह नामक मृत्यु के पाशों को भी तोड़ डाला।

न इनका ब्राह्मणोचित संस्कार हुआ, न इन्होने वेदाध्ययन के लिए गुरुकुल में निवास किया, न इन्होने तपस्या की, न आत्मचिनतन किया, न इनमें पवित्रता है, न ही शुभ क्रियाएँ।

फिर भी योगेश्वरेश्वर उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण में इनकी ऐसी दृढभक्ति है जो कि संस्कारादि श्रेष्ठगुणसम्पन्न हम ब्राह्मणों को भी प्राप्त नहीं हो सकी।

वैश्याः—नन्दादि। इनके भाग्य की प्रशंसा करते हुए ब्रह्मा जी कहते हैं—

अहो ! नन्दराय के व्रजवासियों का अहोभाग्य अहोभाग्य। क्योंकि जिनके मित्र के रूप में परमानन्दस्वरूप सनातन पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण विराज रहे हैं।

अहो भाग्यम् अहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्ण ब्रह्म सनातनम् ।।

भागवत १०/१४/३२

शूद्राः-जैसे श्रीमद्भागवत में शुक्राचार्य कहते हैं—

किरात-हूणांध्रपुलिन्दपुल्कषा आभीरकङ्का यवना खसादयः ।
येऽन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ।।

भागवत २/४/१८

इसका रोचक भावनुवाद स्वयं तुलसीदास जी महाराज ने कर दिया है ।

यथा—

पाई न केहि गति पतितपावन रामभज सुनु सठ मना ।
गनिका अजामिल गीध व्याध गजारि खल तारे घना ।
आभीर जवन किरात खस श्वपचादि अति अघ रूप जे ।
कहि नाम बारक तेपि पावन होंहि राम नमामि ते ।।

(मानस ७/१३०/९)

वस्तुतः पापयोनि शब्द सामान्य पशु आदि का बोधक है, स्त्रियों का नहीं और न ही शूद्रों का । क्योंकि स्त्री मां है और माता पिता से दस गुनी बड़ी होती है ऐसा स्मार्त वचन है । पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते । 'द्वारं किमेकं नरकस्य नारी' यह वचन अत्यन्त निन्दनीय है । क्योंकि इसका कोई आधार नहीं है ।

ढोल गवाँर शूद्र पशु नारी ।
सकल ताड़ना के अधिकारी ।। मानस ५/५९/६

यहाँ ताड़ना शब्द शिक्षा के अर्थ में आया है । जैसे नीति में एक वचन प्रयुक्त हुआ है—

लालने बहवो रोषास्ताडने बहवो गुणाः ।
तस्मात्पुत्रं च ताडयेत् न तु लालयेत् ।

तो क्या बच्चे को पीटना चाहिए ? नहीं । अनेकार्था हि धावतः । यहाँ ताड़न का अर्थ शिक्षण ही है । ठीक इसीप्रकार श्रीमानस-लिखेजाने के समय तुलसीदास जी को विदेशी

शासन से संघर्ष करना पड़ रहा था। वह शासन इस्लाम धर्म का था। इस्लाम के अनुसार नारी को पढ़ाना वर्जित है। आज भी अरब अमीरात में लड़कियों को नहीं पढ़ाया जाता। गोस्वामी जी ने इस परम्परा का विरोध करते हुए लिखा कि उनको शिक्षा देनी चाहिए।

भगवान् कहते हैं-पाप योनि गजेन्द्र आदि मेरे नाम की टेर लगाकर तर गये। हे गोविन्द हे गोपाल ! हे गोविन्द राखो सरन अब तो जीवन हारे। मेरे रूप का चिन्तन करके गोपियाँ भवसागर से तरी। जैसा कि भगवान् स्वयं लीला के विश्राम क्षण में श्री व्रजाङ्गनाओं का स्मरण करते हुए उद्धव जी से कहते हैं-

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीनाः मया कल्पसमा बभूवुः ।।

भागवत ११/१२/११

हे प्यारे उद्धव ! श्री वृन्दावन बिहारी मुझ कृष्ण के साथ रास रमती हुई गोपियों ने उन उन रात्रियों को आधे क्षण के समान बिताया और फिर मेरे वियोग में उनके लिए वे ही रातें कल्प के समान हो गईं।

वैश्य नन्दादि मेरे लीलागान से मुझे प्राप्त हो गये जैसे—

इति नन्दादयो गोपाः रामकृष्णकथाम्मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम् ।।

भाग १०/११/५८

शुकाचार्य जी कहते हैं—हे महाराज परीक्षित ! इस प्रकार प्रसन्नता से बलरामश्रीकृष्ण की गुणगाथा गाते हुए और उन्हीं के प्रेमवन में विहार करते हुए नन्दादि गोपों ने इस भीषण संसार की पीड़ा का अनुभव नहीं किया।

शूद्र मेरे धाम के सेवन से ही मेरा परम पद प्राप्त कर लेते हैं। जैसे श्रीभुशुण्डि पूर्वजन्म में शूद्र होकर मेरे धाम श्री अवध के सेवन से मुझसे अभिन्न परिपूर्णतम परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीराम की भक्ति प्राप्त कर लिए।

जैसा कि श्री मानस में भी गोस्वामी जी कहते हैं—

रघुपति पुरी जनम तव भयऊ।
पुनि तैं मम सेवा मन दयऊ।
पुरी प्रसाद अनुग्रह मोरे।
राम भगति उर उपजहिं तोरे ।। मानस ७/१०९/११-१२

जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य भी भगवान् के इस पक्ष से शत प्रतिशत सहमत हैं। वे कहते हैं—

सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः शक्ता अशक्ताः पदयोर्जगत्पदे।
अपेक्ष्यते तत्र बलं कुलं च नो न चापि कालो न विशुद्धतापि वा।।
(वैष्णवमताब्जभाष्कर)

भगवान् का यह मन्त्र हिन्दू धर्म की परम उदारता का उत्कृष्ट उदाहरण है।

संगति—अब भगवान् श्री अर्जुन को उत्साहित करते हुए कहते हैं- अर्जुन ! यदि अधम लोग भी मेरे शरणागत होकर परमपद प्राप्त कर लेते हैं तो तुम जैसे उत्तम राजर्षियों की परमगति में सन्देह ही क्या है ?

किं पुनर्ब्राह्मणा पुण्याः भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।। ९/३३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! यदि अधम लोग भी मेरी शरण में आकर परमगति प्राप्त कर लेते हैं तो फिर परमभक्त, पवित्र ब्राह्मण एवं भक्त राजर्षिगण मेरी शरण होकर परमपद क्यों नहीं प्राप्त कर सकेंगे ? इसलिए निस्सन्देह होकर अनित्य और सुखों से रहित इस संसार को प्राप्त करके भी मुझे भजो। अर्थात् मेरा भजन करो। इस संसार का भजन मत करो।

व्याख्या—यहाँ ब्राह्मणों और राजर्षियों का उत्कर्ष है। अर्थात् और लोगों के तो पहले मैं पाप दूर करता हूँ फिर भजन का आनन्द देता हूँ और तुम लोग तो स्वयं ही निष्पाप हो, इसलिए भजन करने में और सुगमता रहेगी। क्योंकि मैं ही नित्य हूँ और मैं ही सम्पूर्ण गुणों का समुद्र हूँ। इस कारण मैं भजनीय हूँ और संसार त्यजनीय है।

संगति—अब भगवान् राजगुह्य का उपसंहार करते हुए उपायस्वरूप को परम उपयोगी जानकर श्री अर्जुन को चार आदेश दे रहे हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। ९/३४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! तुम अपना मन मुझमें ही लगा दो। तुम मेरे भक्त हो जाओ। तुम स्वभाव से ही मेरा पूजन करो। तुम मुझे ही प्रणाम करो इस प्रकार मुझ परमात्मा को ही अपना परम गन्तव्य मानकर तथा अपने शरीर को मेरी सेवा में नियुक्त करके अन्ततोगत्वा मुझे ही प्राप्त हो जाओगे और मुझे ही प्राप्त कर लोगे।

व्याख्या—यहाँ भगवान् अर्जुन को चार आदेश दे रहे हैं । मन से मेरा ही सङ्कल्प करो । वुद्धि से संसार के निश्चयों को छोड़कर मेरे ही नाम रूप लीला धामों का स्वाद लो । अहंकार से मेरा ही भजन करो । और चित्त से मुझे ही नमन करो । इस प्रकार मुझको गन्तव्य मानकर अपने शरीर को मेरी सेवा में नियुक्त करके मुझे प्राप्त कर लोगे। अथवा प्रत्येक मानों में क्रम से चारो युगों के भाव आते हैं । कृतयुग में भगवान् का ध्यान करके, त्रेता में भगवान् का यजन करके, द्वापर में श्रीहरि की पूजा करके और कलियुग में भगवान् का गुणगान करके साधक इन भावों को दवा सकता है । इसलिए कृतयुग का भाव आने पर मन्मना भव-मुझमें मन लगाकर ध्यान करो । त्रेता का भाव आने पर मद् भक्तों भव-वुद्धि से मेरा भजन करो । द्वापर की वृत्ति आने पर मद्याजी भव-मेरी पूजा करो । और कलियुग का भाव आने पर मेरा गुणगान गाते हुए मुझे प्रणाम कर लो । इस प्रकार मुझे प्राप्त कर लोगे । अथवा - यहाँ भगवान् अर्जुन को युद्ध के परिणामों से सावधान कर रहे हैं । इस युद्ध में मुख्य चार सेनापतियों से तुम्हारा सामना होगा ।

भीष्म, द्रोण कर्ण और शल्य । भीष्म के सामने 'मन्मना भव' । मुझमें मन लगाकर युद्ध करना । द्रोण की उपस्थिति में उनके भक्त मत बन जाना क्योंकि वे गुरु है और मैं जगद्गुरु इसलिए 'मद्भक्तो भव' । कर्ण की उपस्थिति में मद्याजी भव-मेरी पूजा करना। इसी से उसका अन्तिम कवच भी तोड़ दोगे । और शल्य के आने पर कहीं मामा के सम्बन्ध से उन्हें प्रणाम मत करना । 'मां नमस्कुरु' मुझे प्रणाम करना । इस प्रकार महाभारत में विजयी बनकर अन्ततोगत्वा मुझे प्राप्त हो जाओगे ।

अथवा यहाँ भगवान् सम्पूर्ण दिन का समय विभाग कह गये हैं - अर्जुन! दिन का समय विभाग कर लो । प्रातःकाल मन्मना भव- मुझमें मन लगाकर ध्यान करो । द्वितीय प्रहर में मद्भक्तो भव मेरा भजन करो, भोजन में भजनभूल मत आजो । तृतीय प्रहर में मद्याजी भव - मेरा यजन करो । और अन्तिम प्रहर में मां नकस्कुरु मुझे प्रणाम करो। अर्थात् दिन में ज्ञाताज्ञात की हुई गलतियां के लिए मुझसे क्षमा मांगलो ।

इस प्रकार मेरे परायण होकर अपने जीवन को मुझमें लगाकर अन्ततोगत्वा मुझको ही प्राप्त हो जाओगे ।

राखी सदा रुचिमोहन की, दधि चोर चखाइ औ खेल खिलाई ।
मर्म के धावन ज्यों जुगयौ, मन जीति के हारे औ पीठि चढाई ।
रावरी रीति निहारि के 'गिरिधर', रावरे सों हठि कीन्ही मिताई ।
आँधर को अब पार करौ भव, दे लकुटी कर टेक कन्हाई ।।

मीत पुनीत सगाइ निभाइ कै, केसव काल कलेस निवारौ।
बारौ बिचारौ विचारि द्रवौ हरि पातक पादप पूगनि दारौ।
रावरीगाथा सुभाल समर्पित जो बिगरी कछु होय सँवारौ।
राधा के आंचर ओट ते नागर नन्दलला हँसि नैकु निहारौ।।
यह भक्ति का श्रृंगार गीता प्राण नवमाध्याय है।
श्रीकृष्ण पदकी प्राप्ति का यह एक मात्र उपाय है।।
राघव कृपा शुभ भाष्य मञ्जुल भक्ति रस धारा भरी।
श्रीरामभद्राचार्य ने यह भाष्य निजभाषा करी।।

श्री चित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामभद्राचायप्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीभगवद्गीतासु राजविद्या राजयोगो नाम नवमोऽध्यायः।

श्रीराघवः शन्तनोतु



"श्री मद्राघवो विजयते"

"श्री रामानन्दा चार्याय नमः"

दशमोऽयायः

मंगलचरणम्

स जयति जनकात्मजादृगब्जप्रसृमररश्मिरविः कविकलाढ्यः ।
दशवदनतमोनुदप्रमेयो दशरथकश्यपजन्मरामभद्रः ।।१।।

अवनिजा हृदयालयमण्डनो
निटिललोचनकार्मुकखण्डनः ।
नवतमालतनू रघुनन्दनो
नयनगो दशमो दशमेऽवतु।।२।।

अहिरसावहिताहिमणि प्रभा
क्षुरितनीलनवाम्बुदविग्रहः ।
अहिपभोगशयोऽहितभेकहा
दशतु मे दशमो दशमीं दशाम् ।।३।।

गीतानवनीतहृता गीता गीतागमाप्येन ।
प्रीता हृदयं नीता गीताज्ञेयं चिरं गेयात् ।।४।।

संगति—अथनिखिललोकगुरूणा भगवता परमपूतेन पार्थसूतेन निःश्वासभूत निखिलनिगमागमेन प्रणतहृदयंङ्गमेन मनोजमनोरमेण प्रयन्नाय पार्थाय जिज्ञासि स्यमाण परमपरमार्थाय, समधिकदुरूहतया समासतः सप्तमनवमयोः प्रोक्तोऽपि प्राप्योपाय परमान्तरंगभूतत्वात् विभूति योगोऽयं योगेश्वरेण श्री कृष्णेन भूयः प्रोच्यते । अतस्तं धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जयः प्रस्तौति 'श्री भगवान् उवाच' । श्रीः श्रयति हरिं या तथाभूता श्रीयते हरिणा श्रीयते सर्वैः सुरैः श्रीयते सर्वै गुणैश्च या सा श्री, शृणोति भक्तनां हिनस्ति पापानि, श्रीणाति पचति कर्मफलानि या सा श्रीः । श्रीरेव भगः सौभाग्यं यद्वा

भगः कामे च माहात्म्ये भगौ भूते तथैश्वरे।
भगः स्यल्लाञ्छने भाग्ये भोगे भोगास्पदे श्रियाम् ।।

इति वचनात् श्री रूपिणि महात्म्ये श्रियो माहात्म्ये वा श्रियःभगे सौभाग्ये कामः मनोरथो यस्य स भगवान् । अतएव श्रीगुणरत्नकोशे श्री पराशरभट्टार्यः

अधिशयितवानब्धिं नाथो ममन्थ बवन्धच।
हरधनुरसौ वल्ली भञ्जं बभञ्ज च मैथिली ।।

दशमुखशिरस्श्रेणीं लूत्वा कवन्धमनर्तयत्।
किमिवनं पतिः कुरूते त्वच्चाटुचुञ्चु मनोरथः।।

यतो हि—

चाटुकारप्रिया देवा चाटुकारप्रियोनृपः।
चाटुकारप्रियाविप्राश्चाटुकार प्रिया प्रिया ।।

तादृग्श्रीः भगः प्राशस्त्येन नित्यत्वेनास्त्यस्मिन् स भगवान् उवाच अवदत् ।

श्री भगवान् उवाच

भूय एव महावाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।। (गी. १०/१)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—महान्तौ बाहू यस्य स महावाहो, हे महाभुज पार्थ! भूय एव सप्तमेनवमे च प्रोक्तमपि समधिकदुर्ज्ञेयतया मत्प्राप्त्युपायपरमान्तरंगतया च पुनरपि मे मदभिन्नकृष्णपरमात्मनः सकाशात् परमम् अतिरहस्यपूर्णं, यद्वा मकारो जीवः परः ममपरायणः जीवः येन तत्परमं वचः वाक्यं शृणु । आकरणे यद्वा प्रार्थने लोट् (लोट्च) पा. अ. ३/३/१६२ इत्यनुशासनात् । भगवान् भक्तवत्सलतया पार्थहितचिकीर्षतया स्ववचनं श्रोतुं पार्थं प्रार्थयते । यत् हे । पार्थ अहं प्रार्थये त्वं मे परमं, वचः शृणु, निज वचनं श्रोतुं भवान् कथं मां प्रार्थयते । किदृशं तद्वचः इत्यत आह-उत्तराधर्मम्—यद्वचः अहमकारणकरुणावरुणालयः तव हितस्य कल्याणस्य काम्यया इच्छया प्रीयमाणाय आत्मनेपदनिमित्तकः शानच्, यतस्त्वं मम वाक्यं श्रुत्वा प्रीयसे अतस्ते तुभ्यं वक्ष्यामि । इह हितयोगे च इति वार्तिकेन चतुर्थी अनुपदमेव कथयिष्यामि । यथा निवेदितेन नैवेद्येन देवः प्रीयते तदा पूजकः देवाः प्रीयन्ताम्

इत्युच्चार्य नैवेद्यम् अर्पयति, तथैव त्वयिभक्ते, भगवानप्यहमिष्टबुद्धया, अनेन वचसा अर्जुनः प्रीयताम् इति वक्ष्यामि । अनेनार्जुने प्रसादं व्यवस्थापयि तुं प्रतिजानीते ।।श्रीः।।

संगति—ननु एकमेव विषयं सप्तमे, चतुर्थतः त्रयोदशं यावत्, दशभिः, पुनश्चनवमे तथा विधैरेव प्रोक्तवानपि भगवानिदानीमपि तमेव विषयं कस्माद्धेतोः पुनरावर्तयति इत्यत् आह—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।। (गीता १०/२)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे महाबाहो । प्रभवति कुर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थो भगवान् येन् स प्रभवः परमेश्वरस्याचिन्त्यसामर्थ्यं प्रभावो वा । सामर्थ्ये च प्रभावेच प्रभवोह्युद्भवेद्स्मृतः इति वैष्णवकोशात् तं प्रभावं ममात्तर्क्यसामर्थ्यं प्रभावं वा । सुराणां देवानां गणाः समूहाः सुरगणाः रूद्रादित्यवसुसिद्धसाध्यविश्वेदेवादयः न विदुः न जानन्ति । एवमेव महान्तश्च ते ऋषयः महर्षयः भृग्वादयोऽपि न विदुः न जानन्ति, हि यतः यतो हेतोः अहं देवानां ब्रह्मादीनां, महर्षीणां भृग्वादीनां च सर्वशः सर्वैः प्रकारैः आदिः अभिन्ननिमित्तोपादानकारणम्अस्मि । न खलु कार्यं कारणं जानाति कथं खलु घटो मृत्तिकां जानाति, तत एव लव्धजनित्वात् । प्रारम्भे कारणेचैव आदिरित्यभिधीयते इतिः कोशः-यतोहि देवाः महर्षयश्चकार्यत्वात् स्वकारणभूतं मां न जानन्ति त्वमपि इन्द्रपुत्रत्वेन देवत्वात् नरावतारत्वेन ऋषित्वाच्च । स्वाभिन्ननिमित्तोपादानकारणं मां न जानासि । मम वाक्यं च श्रुत्वा प्रीयसे तस्मात्वत्प्रसादाय त्वयि मद्विषयकज्ञानोत्पादनाय च निगूढमिदं रहस्यं ब्रवीमीति भगवतो हार्दम् । श्रीः।।

संगति—अथ मां ज्ञापयित्वा केन लाभेन योजयिष्यति भवान् इत्यत ? आह प्रणत येगक्षेमनिर्वाहको विप्रसस्यवलाहको भगवान्—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। (गीता. १०/३)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—चकारो हेत्वर्थः यतस्त्वं पापाद्भीतः सभाधिकमास्तिकत्वात् पाप मेवाश्रयेदस्मात् (गीता १/३६) कथं न ज्ञेयमस्माभि पापाद् (गी १,३९) अहो वत् महत्पापम् (१/४५) इत्यादिपूर्वमेव त्वयैवाभाणि । किल पृच्छामि त्वां धर्म संमूढचेताः (गी० २/७) इति वदता त्वयैव स्वस्य संमूढत्व ख्यापनात् त्वां पापान् मोहाच्च मोचयितुपायभूतमेतं कथयामि-यः मां परमात्मानं

श्रीकृष्णम्जम्जन्मानं न संसारिणामिव लब्धकर्मपरिपाकजनितशरीरम् अनादिं नास्ति आदिर्यस्य सोऽनादिः नास्ति आदिकारणं यस्मात् सोऽनादिः सकलकारणपरम् आदेर्हिरण्यगर्भस्यापि कारणं हिरण्यगर्भं जनयामास, इति श्रुतेः सर्वेषांमुपादानकारणं, तथा च लोकानां त्रयाणामपि लोकानां महेश्वरम् । वेत्ति जानाति यद्वा यः माम्अजं सर्वेषम् उत्पत्तिकारणंब्रह्माणम् अनादिं सर्वेषां पालनकारणम् आदिरहितं विष्णुम् अनादिं, यथोक्तं स्कान्दे रेवाखण्डे श्रीसत्यनारायण- व्रतकथायां नारदेन- नमोवाङ्मनसातीत रूपायानान्तशक्तये । आदिमध्यान्तहीनाय निर्गुणाय गुणात्मने । इति एवमेव लोकानां महेश्वरं शिवं संहारकर्तारं मामेव यो वेत्ति, स एव मर्त्येषु मरणधर्ममनुष्येमध्ये असंमूढः सम्मोहवर्जितः सन् सर्वपापैः प्रमुच्यते सर्वैरपि अशास्त्रीयकर्मजनित पुण्यप्रतिबन्धकाद्यनिष्टैः प्र प्रकर्षेण मुक्तः क्रियते, न कदापि पुनः पापैर्युज्यते इति भावः ।।श्रीः।। विभूतिर्द्विधा, अन्तरंगलक्षणा वहिरंगलक्षणा च । विभूयते परिभूयते तदितरत् यया सा विभूतिः (करणे क्तिच्) तत्र पूर्वं द्वाम्पामअन्तरंग लक्षणाम् आह-

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।

(गीता १०/४/५)

रा० कृ० भा०—वुद्धिःभगवदीयविषयाणामवगमनं ज्ञानंसेव्यसेवकभावबोधः परमेश्वरविषयकः, असंमोहः अहं दासः श्रीराघवाभिन्नकृष्णः स्वामी इत्याकरकः भावविशेषः, क्षमा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता सत्यं भूतार्थभाषणं, यद्वा सते, हितं, सत्यं साधुहितैषित्वम्, दमः इन्द्रियाणां भगवतभागवत विरूद्धव्यापारनिग्रहः । शमः मनसो भगवन्नामरूपलीलाधाम- विरूद्धसङ्कल्पप्रशमनं, सुखं भजनानन्दः दुःखं प्रत्यागात्मप्रतिकूलं भगवद्विस्मरणादिकं, भवः हृदये भगवद्रसोत्पत्तिः, अभावः श्री वैष्णव विरूद्धाचरणाभावः, भयं वेदभगवद्भागवतवेदविरूद्धेभ्यो विकर्मभ्यः, अभयं संसारसागरतः मृत्योर्वा निर्भीकता, अहिंसा श्रुत्याविहितप्राणिपीडावर्जनं, समता सर्वत्र समत्वेन ब्रह्मदर्शनंतुष्टिः भगवद्भंजनसंजातप्रसन्नता, तपः भगवदीयव्रतानां, एकादशी प्रभृतीनां शरीरक्लेशसहनपूर्वकं निर्जलपयआहारादि विधिना समनुष्ठानं, दानं सत्पात्रेभ्यः सात्विकं द्रव्योत्सर्जनं ब्रह्मविद्यादिदानं वा, यशःवैष्णवोचित कार्येषुकीर्तिप्राप्तिः, अयशः अपकीर्ति शास्त्रविरूद्धकर्मजन्या । एवमादयः भूतानां

भवनधर्मिणां प्राणिनां पृथग्विधाः अनेकप्रकाराः अनुकूलप्रतिकूलपरिणामाः भावाः मत्त एव मम सकाशादेव जायन्ते। ननु अपकीर्तिप्रभृतयः हेया भावाः कथं भगवत एवेति चेत्–ये खलु भगवच्चरणविमुखाः तेषां कृते इमे प्रतिकूलभावाः यथा रावणादीनां कैकेयीप्रभृतीनां कृते च ॥श्रीः॥

संगति—

महर्षयः सप्तपूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोकाः इमाः प्रजाः ।। (गीता १०/६)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—सप्त महर्षयः मरीचिः, अत्रिः, अंगिराः, पुलस्त्यः, पुलहः, क्रतुः, वशिष्ठः यथोक्तं श्रीमहाभारते—

मरीच्यत्र्यंगिरसः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वशिष्ठश्चेति सप्तैते सदृशाश्च स्वयंभुवः ।।

(महाभारत ९, शान्तिपर्व २०५-४)

सप्त ब्राह्मणाः एवैते पुराणेषु प्रचक्षते। पूर्वे चत्वारःसनकसनन्दनसनातन सनत्कुमाराः यथोक्तं श्रीमद्भागवते-

पञ्चषड्वा—

पञ्चषयनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः। (भागवत् ७/१/३७)

मनवः स्वायंभुवः प्रभृतयः चतुर्दश, येषां लोकाइमाः प्रजाः ते मानसाः मयैव मनसा निर्मिताः, मम भावा येषु ते मद्भावा, अथवा मयि भावः सत्ता येषां ते मद्भावा, अथवा अहमेव भावयामि इत्यर्थे भावयतीति भावः अहं भावो येषां ते मद्भावाः। ननु सनकादिसम्बन्धित्वप्रजासु कथं तेषामूर्ध्वरेतस्त्वात् ? इति चेन्मैव वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च इति नियमात् तेषां विद्यावंशत्वेन तेषां प्रजात्वमक्षतम् ॥श्रीः॥ एवं विभूतिवर्णनं संक्षेपतो निगद्य फलश्रुतिमाह—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशय ।। १०/६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—एतां मम पूर्वोक्तां विभूतियोगम् अघटितघटना-सामर्थ्यं यः तत्वतः पूर्णतः वेत्ति जानाति सः अविकम्पेन, निश्चयेन योगेन युज्यते युक्तः क्रियते, अत्र अस्मिन् विषये संशयः न ॥श्रीः॥

संगति—अथ चतुर्भिःस्व स्यैव विभूतिपतेः भक्तिमाहात्म्यमाह—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।। (गीता २०/८)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थः—अहं परमात्मा श्रीकृष्णाः सर्वस्य चिदचिदात्मस्य जगतः प्रभवः उपादानकारणम् किञ्चाहमेव जगदिदं ब्रह्मरूपेण प्रभावयामि, अथ च मत्तः वासुदेवाच्छ्रीकृष्णातः सर्वं जगत् प्रवर्तते, अत्र मत्तः इति न पञ्चमी तसिल्, अपितु तृतीयान्तात् तसिः आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् । इत्यनुशासनात् मया विष्णुभूते न पाल्यमानं प्रवर्ततेस्वस्मिन् व्यापारे प्रवृत्तं भवति, इत्येवं रूपं मत्वा ब्रह्मविष्णुरूपं मां विभाव्य भावसमन्विताः भावेन सेवक सेव्य भावेन यथोक्तं भावुकैः—

प्राणेश्वरैश्चतुरया मिलितेऽपिचित्ते चैलांचलव्यवहितेन निरीक्ष्यणीयः ।
विश्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपिभेदे भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः ।।

शान्तवात्सल्यदास्यसख्यमधुराख्यानां कतमेनापि युक्ताः बुधाः पण्डिताः मामेव भजन्ते परमानुरक्ताः सेवन्ते ॥श्रीः॥

भजनप्रकारमाह—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।। (गीता १०/९)

रा० कृ० भा०—मयि भगवति चित्तमन्तःकरणं येषां ते मच्चिताः, मां भगवन्तं गताः प्राणाः येषां ते मद्गतप्राणाः ये मां विना क्षणमपि जीवितुं न प्रभवाः, तथा हि परस्परं सत्संगगोष्ठीषु मदचिन्त्यभक्तमनोरथसुरभीभूतसुरगुणान् वात्सल्य-कारूण्य पतितपावनत्वप्रभृतीन् गुणान् बोधयन्तः, मामेव नित्यं श्रीरामायण-महाभारतादिकथासु कथयन्तः मत्संस्मरणसंजातपरमहर्षाः तुष्यन्ति, चकारेण अन्यान् तोपयन्ति, रमन्ति मच्चरणारविन्दच्छयायां रमणं कुर्वन्ति, रमन्तीत्यत्र अनुदात्तेत्व लक्षणस्यात्मनेपदस्या नित्यत्वात् परस्मैपदं, चकारेण अन्यानपि मच्चरणारविन्दयोः रमयन्ति। श्रीः—

अथैवं त्वच्चेतसां त्वद्गतप्राणानां त्वामेव परस्परं बोधयतां कथयतां च त्वच्चरणारविन्दच्छायायां रममाणानां कि विदधासि ? इति पिपृच्छिषन्तं पार्थं विभाव्य प्राह पद्मपाणिः परमेश्वरः,

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।
(श्री गीता १०/१०)

रा० कृ० भा०—एवं विधानां पूर्वोक्तप्रकारेण प्रीतिपूर्वकं परमानुरागसहितं सततं युक्तानां स्वीकृतश्रीवैष्णवभजनपारम्परीदीक्षाणां भजतां भजनं कुर्वाणानां तं बुद्धियोगं ददामि, द्वितीयाध्याये वर्णितचरं-"दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय (गीता २/४९) इत्यादिना ।"

योन वुद्धियोगेन प्रपत्तियोगापरपर्यायेण युक्ता मां परगात्मनमुपयान्ति समीपतया प्राप्नुवन्ति ।।श्रीः।।

अन्यदपि तेषां कृते करोमि—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।। (गीता २०/२१)

रा० कृ० भा०—अहं सर्वसमर्थो भगवान् तेषामेव पूर्वोक्तप्रकारेण मां भजतां परमवैष्णावानाम् एव नत्वन्येषां केवलं निष्कामभक्तानामनुकम्पार्थम् अहैतुक्यै कृपायै तेषु अनुचिकम्पिषु आत्मनः भावः आत्मभावः आत्मभावे तिष्ठति इत्यात्मभावस्थः । अत्रेदमव धेयम्शास्त्रविहितेषु शान्तवात्सल्यदास्यसख्यमधुरेषु साधको येन आत्मभावेन मां भजति, तस्मिन्नेवात्मभावे तिष्ठन् अहं भास्वता परमप्रकाशमयेन ज्ञानमेव दीपः ज्ञानदीपः तेन ज्ञानदीपेन तेषां हृदिस्थमज्ञानोत्पन्नमन्धकारं नाशयामि । यथा-

सख्येन चेन्मां भजतेऽथ कोऽपि विश्वासयुक्तेन दृढानुरागात् ।
अहं तदा तस्य सखैव भूत्वा सदात्मवत्तं विभवैर्बिभर्मि ।।१।।

शान्तेन भावेन च शान्तचित्तो मां सर्वलोकप्रभुमार्तबन्धुम् ।
शुकादिवत् चिन्तयते हृदिस्थो तं ज्योतिषा स्वेन विभासयामि।।२।।

वात्सल्यभावेन पिताऽथमाता गुरुर्भवन् कोऽपि भजेदजस्रम् ।
तदा तदीयश्च सुतो विधेयो भूत्वानुगच्छामि यथा वशिष्ठम्।।३।।

दास्येन चेत् कोऽपि निरस्तमानो यथा हनूमान् भजतेऽनुरक्तः ।
तदैव तन्मानसराजहंसो भावं सुमुक्तामयमाचिनोमि ।।४।।

माधुर्यतश्चेद् व्रजगोपिकावत् मां कान्तभावेन भजेत भक्त्या ।
तदा तदीयामृतभावभोजी भुनज्मि नित्यं भुजवल्लिकाभिः ।।५।।

यत्रस्नेहोलसति सततं कृष्णभक्तिस्वरूपो
यत्रज्योतिः प्रहति तिमिरं दास्यमेवानद्यवम् ।
यत्र प्रेमारूचिर निकरो वर्तिका स्यात् विरक्तिः ।
सोऽयं प्रोक्तो भुवनपतिना ज्ञानदीपोऽत्र भास्वान् ।।६।।

यद्वा आत्म भावः दास्याख्यः तत्र तिष्ठन् यद्वा आत्मनां भक्तनां भावे भावनायां व्यापारे वा प्रवृत्तौ वा तिष्ठत् भास्वता प्रकाशमानेन ज्ञानदीपेन अज्ञानजनितं तमः नाशयामि अत्रैतावान् विशेषः- भगवान् ज्ञानिनां वृत्तिमारोहति किन्तु भक्तानां प्रवृत्तिं। ज्ञानिनां विचारमाटीकते भक्तानां व्यवहारमञ्चतीति चित्रम् । ज्ञानिनां विश्वासाश्रयो भवति भक्तनां निःश्वासमालम्ब्यते ॥श्रीः॥

संगति—अथ विभूतियोगं विस्तरेण जिज्ञासमानो धनञ्जयः सप्तश्लोक्या स्तुतिपुरः सरं प्रस्तौतिप्रश्नम्- तत्र चुतिर्भः स्तुतिः पूर्वम्, त्रिभिश्च च प्रश्नोऽत्रेति विवेकः-

अर्जुन उवाच

अर्जुनः पप्रच्छ—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।।
(श्री गीता-१०,१२,१३)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—भवान् श्री कृष्णः परंब्रह्म, सकलकार्य-कारणातीतं तुरीयं ब्रह्म तथा परमधाम परमज्ज्योतिः एवं पूयन्ते पापिनः अनेन इति पवित्रं परमं पावनं तथा सर्वे ऋषयः महर्षयो ब्रह्मर्षयोराजर्षयश्च तथा देवेषु ऋषिः भगवान् नारदः असितः देवलः, व्यासः सत्यवतीनन्दनः त्वां श्रीकृष्णं शाश्वतं नित्यं दिव्यं दिवः गोलोजोकात् च्युतं मममातुलस्य गृहे धृतावतारम् आदिदेवं महाविष्णु श्री रामम्जम् अजम् अजन्मानं विभुं सर्वलोकव्यापकं पुरुषं परिपूर्णतमम् आहुः कथयन्ति । त्वम् मे मह्यं एवमेव ब्रवीषि, यो ममजमनादिं च इत्यादिना । अत्र रोचकः क्रमः-

षडेव वक्तार: षडेव भगवतो विशेषणानि विधिवशात् । अत्र यथासंख्यं कर्तृभिः प्रथमान्तैः सह षडेव द्वितीयान्तानि कर्मभूतानि योजनीयानि । तथा हि-त्वां ऋषयः पुरुषं, देवर्षिनारदः शाश्वतम्, असितः दिव्यम्, देवलः आदिदेवम्, व्यासः अजम्, आहुः त्वं च आत्मानं विभुः इति ब्रवीषि ।।श्रीः।।—

संगति—किं त्वंदिमसत्यं मन्यसे इत्यत आह-

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।
(गीता २०/२४)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—कः ब्रह्मा, ईशः शिवः, तौ वशयति इति केशवः । तत्सम्बुद्धौ, हे ! केशव ! मां यदपि वदसि निर्विषये एतत् सर्वं ऋतं सत्यं मन्ये, हे भगवन् हे षडैश्वर्यसम्पन्न ! ते व्यक्तिं भवतः आविर्भावं देवाः ब्रह्मादयः दानवाः, प्रह्लादादयः हि निश्चयेन न विदुः न जानन्ति ।।श्रीः।।

तर्हि मां कः जानाति इत्यत आह—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरूषोत्तम।
भूतभावन भूतेष देवदेव जगत्पते ।। (गीता २०/२५)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—पुरुषेपु उत्तमः, पुरुषोत्तमः तत्सम्बुद्धौ हे पुरुषोत्तम ! भूतानि भावयतीति भूतभावन ! तत्सम्बुद्धौ हे भूतभावन भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानांमीशः शासकः इति भूतेशः तत्सम्बुद्धौ हे भूतेश, सकल जीवनियामक देवानां ब्रह्मविष्णुरूद्रादीनामपि देव हे देवदेव, जगतां भूर्भुवः स्वलोकानां पते स्वामिन् त्वमात्मानं स्वयमात्मना स्वेन रूपेण स्वयमेव वेत्थ जानासि, नान्यः कोऽपि त्वदृते त्वां जानाति । अथवा त्वमात्मनम् आत्मभूतया सीतावताररूपया राधया सह वर्तमानम् आत्मानं स्व स्वयमेव वेत्थ, स्वयमेव जानीषे । नान्यः कोऽपि जानाति इत्यनेन जीवस्याणुत्वं ब्रह्मणो व्यापकत्वं ब्रह्मणोऽमितज्ञानत्वं जीवस्य च परिमितज्ञानयुक्तत्वं सूचितं । इह पुरूषोत्तमादिभिः पञ्चभि सम्बोधनैक्रमेण परव्यूहविभवान्तर्याभ्यर्चाः भेदाः परमात्मनः सूचिताः । तत्र परत्वं पुरुषोत्तम इत्यनेन भूतभावन इत्यनेन, च व्यूहता, भूतानि हि व्यूहाः वासुदेव, संकर्षणप्रद्युम्नानिरूद्धाः चित्ताहंकृतिबुद्धिमनोनियमनेन भावयति भूतेशः इत्यनेन च विभवत्वं नृसिंहवामन-परशुरामरामावतारैः भगवान् हि भूतानीष्टे । देव देव हि इत्यनेन अन्तर्यामित्वम्,

अन्तर्यामितयैव भगवान् देवानपि दीव्यति, जगत्पते इत्यनेन च अर्चावतारत्वं, अर्चावतारो हि श्रीचित्रकूटविहारीणी सहितः श्रीचित्रकूटविहारी वृन्दावनविहारी प्रभृति भगवान् त्रिजगत्पाति। एवं परादिपञ्चरूपावच्छिन्नं त्वां त्वमेव जानासीति श्लोकार्थः ॥श्रीः॥

एवं संस्तुत्य त्रिलोकस्तुत्यं भगवन्तं पिपृच्छिषितं प्रार्थयते त्रिभिः—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमास्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥

गीता २०/२६)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे प्रभोः याभिविशिष्टाभिर्विभूतिभिः इमान् त्रीनपि लोकान् व्याप्य समावेश्य त्वं सर्वजगन्नियामकः सर्वाधिष्ठाता सर्वसर्वेश्वरेश्वरः परमात्मा श्री कृष्णः परमकारुणिकतया मत्सन्निकृष्टः वस्तुतस्तु महाविभूतिनायकः श्री साकेताभिन्न गोलोके तिष्ठति ताः दिव्याः लोकोत्तराः आत्मनः निजस्य विभूतयः लोकोत्तरचमत्कार युक्ताः विभूतीः अशेषेण सम्पूर्णतया वक्तुम् अर्हसि, निगदितुं मां प्रति इति शेषः।

ननु वक्तुम् अर्हसि इति क्रियानुरोधेन वचि धातोः कर्मतया विभूतयः इति प्रथमानुपपन्ना कथं नात्र द्वितीया विभूतीः ? इति, चेत् सम्यगप्राक्षीः। अनभिहिते २/३/१ इति सूत्रे कृत्तिङ्तद्धितसमासैः अभिधानमुक्त्वा क्वचिन्निपातेनाभिधानम्। इति न्यगादि- उदाहरणं च तत्र विश्ववृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेतुमसाम्प्रतम् इति माघवचनं दत्तम्। तत्र असाम्प्रतम्शब्दघटक साम्प्रतमेव निपातः, तेनैव वर्ध्यकर्मण अभिहितत्वात् विश्ववृक्षः इत्यत्र न द्वितीया, इति तत्र सिद्धान्तकौमुद्यां तत्ववोधिना। एव मत्रापि 'हि' इति निपातेन वचि कर्मणोऽभिहितत्वात् आत्मविभूतयः इत्यत्र प्रथमैव, इति राघवकृपा (लब्ध सुमते) समाधानं मे ॥श्रीः॥

संगति—अथ प्रश्नाकारमाचष्टे, ननु यथाहं स्वभक्तसकलनिःश्रेयससाधक निरतिशय निरवधिकनिखिलकल्याणगुणगणैकमहासिन्धुरनन्तः तथैव मे विभूतयोऽप्यनन्ताः। अतएव श्रुतिः—

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि इति। इत्येवम् अनन्तानां विभूतीनां वर्णने अनन्त कालोऽपेक्षते समयश्चाति सापेक्षः, इति धर्मसंकटं समापन्नस्य भगवतोऽ धटितघटनापरीयस्या लीला शक्त्यैव समधिकलघूकृत प्रश्नाकारः पार्थः प्राह—

कथं विद्यामहं योगिस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।। १०/१७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे योगिन् सकल प्रशस्तयोगनिधे ! योगिन इत्यत्र प्रशस्ये नित्ययोगे च मत्वर्थीय इनि:, यथोक्तं श्री महाभाष्यकृद्भि: भगवाद्भि: श्री पत, ञ्जलिपादै:—

भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादय: ।।

इति सदा निरनतरं परिचिन्तयन् सर्वतो ध्यायन् त्वामहं कथं विद्याम् केन प्रकारेण जानीयाम्, ज्ञातुं शक्नोमि वा हे भगवन् ! हे षडैश्वर्यसम्पन्नसच्चिदानन्दघन त्वं भगवान् असि, अत: भूतानाम् उत्पत्तिविनाशगत्यगतिविद्याविद्या: सामस्त्येन जानासि। जीवत्वादहं न जानामि इत्यभिप्रायेण भगवन् इति सम्बोधयति । तथा च संसारं वर्तमानेषु केषु केषु भावेषु । अत्राधार औपश्लेषिक: सच संयोगसम्बन्धेन । द्वित्वं वीप्सायां, वीप्सा चेह व्याप्ति: किं किं भावाधारत्वेन स्वीकृत्य मया त्वं चिन्तयितुं शक्य: । अत्रशक्यार्थेण्यत्, संसारान्तर्गता: त एव पदर्था: भवता निर्दिष्टव्या: येषु येषु लोकोत्तरतामनु बोभूयमानोऽहं भवन्तं चिन्त्ये, अत आह- मया अर्जुनेन कर्त्ता केषु केषु पदार्थेषु संयोगेन सामीप्येन च उपश्लिष्ट: मया भगवद्रूपेण चिन्तनविषय: क्रियेथा:, अणुत्व धर्मत्वात्देशकाल सम्बन्धपरिच्छिन्नत्वाच्च सर्वेषु भावेषु त्वां चिन्तयितुं न प्रभवामि । यथापि त्वं तिलेषु तैलं दध्नीव सर्पि: इति श्रुत्यनुसारं जगदिदमाभिव्यापकम्आधारं मन्वाना सर्वत्र व्यापक: इति पार्थाभिप्राय: ।।श्री:।।

संगति—ननु जानन्नपीदं स्वस्य परिच्छिन्नत्वं संक्षेपत: श्रुत्वापि पूर्वं चतुर्भिर्मम विभूती:, कथं पुन: शुश्रूषसे, इत्यत आह- श्री हरिं प्रति धनञ्जय:-

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूय: कथय तृप्तिर्हि शृण्वन्तो नास्ति मेऽमृतम् ।।(गीता १०/१८)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ जनै:—प्रपत्तियोगै: निजपदपद्मप्रयन्नै: अर्द्यते याच्यते सुदर्शनाय स्वसामीप्याय च नित्यकैंकर्यार्थ प्रार्थ्येत य: स: जनार्दन: तत्सम्बुद्धौ हे जर्नादन ! मया संक्षेपेण सप्तमे नवमे च द्वि: श्रुतमपि आत्मन: स्वयस्य योगम् अचिन्त्य सामर्थ्यं संक्षेपत: श्रुता विशिष्टा तां विभूतिम् भूय: पुनरपि विस्तरेण व्यासेन मां प्रति कथप वाक्य प्रवन्धेन वर्णय । हि यतो हि अमृतं श्री परमेश्वर मुख चन्द्र

निःस्यन्दं भूतम् अमृतं श्रवणामृतं शृण्वतः पिबतः श्रवणपुटेन पानं कुर्वतः मे मम सख्युस्ते न तृप्तिः—

अहो पीयूषमहासागरमासाद्यापि यदि कोऽपि पिपासितो म्रियेत, तत् सिन्धोरेव विमानना। यद्वा अम् ऋतम् इति पदद्वयं ऋतं सत्यस्वरूपं मयि कृपार्थं वागाकारतां गतं अमकारं वासुदेवं भवन्तं विभूतिच्छलेन शृण्वतः श्रवणसाक्षात्कारं विषयं कुर्वतो मम तृप्तिर्नभवति, अतो मां तर्पयितुमिमाः विस्तरेण वर्णय-श्रीः

संगति—एवं सप्तश्लोक्याः परमात्मानं प्रति पृष्ठवन्तं स्वं प्रपन्नतृतीयपृथा नन्दनं नन्दयन् निजगाद यादवनन्दनः।

श्री भगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरूश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥

(श्री गीता १०/१९)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—एवं प्रार्थमानं निरभिमानं शरणागतं कपिध्वजं प्रति श्रीभगवान् उत्तरपितुमुपचक्रमेहन्त इति हर्षे विस्मये च, कुरूणां कुरूषु वा श्रेष्ठः कुरूश्रेष्ठः तत्सम्बोधने हे कुरूश्रेष्ठ। अन्ये कुरवो निन्दन्तोऽवजानन्ति दुर्योधनादयः भीस्मादय स्ताटस्थ्येन तिष्ठन्ति, बहुज्ञं मत्वा त्वमेव ताननतिशयानः मामेव गोविन्द। सद्गुरू कृत्य मत्तो मद्विभूतीः शुश्रूषषे, अतस्ते श्रैष्ठ्यम् इति सम्बोधिनाभिप्रायः। प्राधान्येनैव मुख्यतयोपलम्यमाना दिव्याः अलौकिकीः आत्मविभूतयः निजैश्वर्यद्योतकविभूतीः ते तुभ्यं जिज्ञासवे पार्थाय तव हितार्थमेव कथयिष्यामि। वाक्यप्रवन्धविषयीकृत्य वर्णायिष्यामि काश्चिदेव। यतो हि मे मम आत्मविभूतीनां विस्तरस्य व्यासस्य अन्तो नास्ति। अतो विस्तरेण कथय इत्याग्रहं परित्यज। समयसापेक्ष्यकथनीयत्वेन तस्य वक्तुमशक्यत्वात्। श्रीः

संगति—सर्व चिदचिदात्मकं जगत् प्रत्यगात्मना जीवसंज्ञेन परमात्मना शिव सज्ञेन च व्याप्तम्। आत्मानमुपश्लिष्यैव संयोगेन सामीप्येन च। परमात्मा अन्तर्यामि रूपेण सर्वत्र चिन्तनीयो भवति। तत्र पूर्वमात्मरूपे भावे एव चिन्त्यनीयोऽस्मि। विभूतयश्च भगवतः सम्वन्धतोऽभिन्नत्वेऽपि भिन्नाः खलु स्वरूपतः। तस्मात् प्रथमान्तत्वेन यासां यासां विभूतीनां निदेशः तत्र सर्वत्र औपश्लेषिकाधारमहिम्ना सप्तम्यर्थोऽवगन्तव्यः। मञ्चाः क्रोशन्ति सिंहोमाणवकः इत्यादिवत् शक्यावच्छेद-कारोपदिशा प्रथमान्तव्यवहारो गौणः। ते कथयिष्यामि दिव्याह्यात्मविभूतयः इति

भगवतः प्रतिज्ञानात् नैवाभेदो भगवता विभूतीनां, तत्र सर्वप्रथमम् अयं प्रत्यगात्मैव भगवतो विभूतिः मित्रभावेन तं प्रत्यगात्मानमुपश्लिष्यैव संयोगेन सामीप्येन च, सदैव तेन सहावस्थानात् । अत, अति सामीप्येन औपचारिकाभेदमाश्रित्य विभूत्यासह विभूतिमतोऽपि प्रथमान्तनिर्देश पुरःसरमस्मच्छब्दव्यपदेशः, यद्वा सर्वत्र छान्दसि सप्तम्यर्था प्रथमा । एतेन जीवात्मपरमात्मनोरभेदवादो निरस्तः । नन्वत्र का युक्तिः ? इतिचेत् कथ्यते-'केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया (गीता १०/१७)' इत्यत्र तत्तत्भावाधिकरणकं भगवच्चितनम् अर्जुनेन पृष्टाम्-अधिकरणं हि आधारः आधारोधिकरणम् (पा० अ० १/४/४५) इत्यनुशासनम् आधारश्चाधेयसापेक्षः नह्येकस्मिन् वस्तुनि आधाराधेयता अपेक्षापेक्षकता एवमादिः मिथोविरूद्धधर्मद्वयता तिष्ठति, ततो द्वयोः स्वरूपतः कश्चित् भेदो वाच्यः । अत्र भावा: अनुभूयमानपदार्थाः, चकारेण द्वयोराविर्भावयोरप्यन्तर्भावः तत्र च स्वार्थेन प्रथमा उभयत्र रामः शस्त्रभृतामहं (गीता १०/३१) वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि (गीता १०/३७) इत्युभयत्र । शेषं तत्र तत्रैव स्फुटीकरिष्यते ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।। (गीता १०/२०)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—इहश्लोके चत्वारो भावाः स्वचिन्तराधारतया पार्थाय परमात्मना प्रोक्ताः । गुडाकायाः निद्रायाः ईशः गुडाकेशः तत्सम्बोधने हे गुडाकेश ! निद्राजित् कुटिलकुन्तलो वा सर्वेषां भूतानाम्ःशयेषु शरीरेषु स्थितः अहमात्मा प्रत्यगात्मनि अहमेव चिन्त्यः, एवं सर्वेषाँभूतानाम् आदिः बाल्यकालः मध्यस्तारूण्यकालः अन्तः वार्धक्यकालः एषु त्रिस्वपि अहमेव चिन्त्यः—

बाल्ये च यौवने चैव वार्धकेऽप्यहमात्मनि ।
चिन्तनीयश्चिदानन्दश्चेतसा चिन्मयेन च ।।१।।

आत्मन्यादौ तथा मध्ये तथैवान्ते ह्यनन्यधीः ।
चिन्तयेत् चेतसा नित्यं चिदचिदभ्यां विलक्षणम् ।।२।। श्रीः

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मच्चिन्तनं विधेयम् । पुनश्चतसृणां विभूतीनां संग्रहमाह ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतियां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।।

(गीता २०/२१)

रा० कृ० भा० सामान्यर्थ—हे पार्थ ! द्वादशानांमदितेः अपत्यानांमदितेः अपत्यानि पुमांसः आदित्याः तेषांमादित्यांनां, दित्यदित्यादित्युत्तरपदाण्यः पा० अ० ४/१/८५ इत्यनेन ण्य प्रत्ययः । विष्णु शब्दोऽत्र वैष्णवावतारवामनपरः, ज्योतिषां प्रकाशानां मध्ये अथवा ज्योतिष् शब्दः ज्योतिष्मत्परः ज्योतिषां ज्योतिष्मतामग्नि-सूर्यचन्द्राणां मध्ये अंशवः किरणाः नित्ययोगेन सन्ति यस्मिन् इति अंशुमान् सहस्रकिरणमाली रविः सूर्यः सूर्यरूपेण चिन्त्यः, रवौचिन्त्यो वा, मरुतां-ऊनपंचाशत् संख्यानां मरुतां मध्ये मरीचिः तेनरूपेण तस्मिन् अहं चिन्त्यः, तथा नक्षत्राणां नक्षरन्ति इति नक्षत्राणि तेषां तारागणानां मध्ये शशी, तद्रूपश्चिंतनीयः तस्मिन् वा—

विष्णौ तथा रवौ चैव तद्रूपश्चापि वा पुनः ।
चिन्तनीयोऽहमेकाग्रैर्मरीचौ शशिनि स्फुटः ।।श्रीः।।

पुनश्चतुर्णां विभूतिविशेषाणां संग्रहमाह—

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।।

(गीता १०/२२)

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—वेदानां ऋग्यजुः सामाथर्वणां मध्ये अहं श्रीकृष्णः सामवेदः अस्मि तद्रूपः तस्मिंश्च चिंतनीयः, देवानाम् अग्न्यादीनाम् च मध्ये वासवः, इन्द्रः इन्द्रियाणां ज्ञानात्मनां कर्मात्मनां च मध्ये मनः संकल्पात्मकम् अन्तःकरणं भवामि, भूतानां समस्तजीवानां सम्बन्धिभूता चेतना चेतन शक्तिरहम् । किञ्च—

सामवेदे च चिन्त्योऽहं तथैव च पुरन्दरे ।
चिन्तनीयो मनस्याथ चेतनायां च चिन्मयः ।।श्रीः।।

भूयो विभूतिचतुष्टयसंग्रमाह—

रूद्राणं शंकरश्चामि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ।।

(गीता १०/२३)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—रुद्राणाम् एकादशानां मध्ये शंकरः तमोगुणावच्छिन्न त्रिनेत्ररूपोऽहं, यक्षाश्च रक्षासिं च यक्षरक्षासिं तेषां यक्षरक्षसां शासकः वित्तस्य ईशः वित्तेशः धनाध्यक्षः कुबेरः मद्रूपः, वसूनाम् अष्टवसूनां मध्ये अहं पावकः

तद्रूप: शिखराणि सन्ति प्रशस्तानि येषु ते शिखरिण: तेषां मध्ये मेरु: कनकपर्वत: अहमस्मि एतद्रूपेण एषु च चिन्तीनीयो भवामि ।

त्रिनेत्रे शंकरे चैव कुबेरे च धनाधिपे ।
तथैवाग्नौ सुमेरौ च चित्तनीयोभवाम्यहम् ।। श्रीः ।।

पुनश्च विभूतित्रयसंग्रहमाह—

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कंन्दः सरसामस्मि सागरः ।।

(गीता १०/२४)

रा० कृ० भा० समान्यार्थ—हे पार्थ ! हे पृथापुत्र पुरोधसां पुरोहितांना मुख्यं मुखे जात: मुख्य: । शरीरावयवाच्च पा० अ० ४/३/५५ इत्यनेन यत् प्रत्यय: । तं मुख्यं श्रेष्ठं, देवतानां कर्मकाण्डाचार्यत्वात् बृहस्पतिं बृहत्या: वाण्या: पतिं, वृहतां देवानां वा पति: 'तद्वृहतो: करपत्योश्चौरदेवतयो:' इत्यनेन सुडागम: तकारलोपश्च, तं वृहस्पतिं मामेव विद्धि मद्विभूतिं जानीहि । किंञ्च इनेन स्वामिना सह वर्तमाना सेना तां नयति नियन्त्रयति इति सेनानी । सेनानीनां सेनापतीनां मुख्य: स्कन्द: कार्तिकेय: शिवपुत्र: अहम् सोऽपि मद्विभूतिविशेष: । सरसां-सरति जलं प्रवहति येषु तानि सरांसि तेषां मुख्य: सागर: अहं श्री कृष्ण: अस्मि । सागरोऽपि मद्रूप एव तथाहि वृहस्पतौ कार्तिकेयसागररूपे भावे उपश्लिष्टमामकीनतेजो रूपत्वात् अहं तेषु चिंतनीय:—

पुरोहितानमधिपतौ देवाचार्ये वृहस्पतौ ।
सेनापतौ कार्तिकेये चिंतनीयोऽस्मि वारिधौ ।।श्रीः।।

पुनश्चतुर्विभूतिसंग्रहमाह—

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।।

(गीता १०/२५)

रा० कृ० भा० समान्यार्थ—किञ्च महान्तश्च ते ऋषयश्च इति महर्षय: तेषां महर्षीणां मध्ये अहं श्रीकृष्ण: भृगु: ममतेजोंऽश सम्भव: । गिरां वार्णीनामेकं प्रधानं अक्षरं प्रणवम् ऊँ रामइति च । राम शब्दस्यापि प्रणवत्वं श्री रामतापनीयोपनिषदादौ

प्रसिद्धमेव। क्षरणाभावात् च तदक्षरम् सर्वव्यापकत्वाच्च। अतएव श्री मानसे गोस्वामी तुलसीदास महाराजा:—

एक छत्र एक मुकुटमणि सब वरनन पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन विराजत दोउ ।।२/२०।।

रूपान्तरम्—

अचिन्त्यशक्तेः किल वर्ण-राशेः क्षत्रं किरीटस्य मणिस्तथैव।
एकम् लसत्येकमितोगरीयः श्री रामनाम्नो वरवर्णयुग्मम् ।।

एवं यज्ञानां मध्ये जपयज्ञ: अहमेव ऊँ-राम जपरूप: ।

स्थावराणां स्थिराणां मध्ये हिमालय: अहं मद्विभूति: यद्वा पूर्वोक्तदृशा सर्वत्र सर्वत्र सप्तम्यर्था प्रथमा

महर्षीणां भृगौ चैव ॐकारे राम एव च।
चिन्तनीयो जपे यज्ञे सर्वदाऽहं हिमालये ।। श्री: ।।

पुनश्च संग्रहमाह—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।

पुनश्च संग्रहमाह ये खलु भजनमहिम्ना भगवत्सामीप्यं प्राप्तवन्त: नित्या: मुक्ताश्च जीवा: सर्वेषां वृक्षाणां मध्ये अश्वत्थ: पिप्पलरूपोऽहं तथा देवर्षीणां देवरूपाणां ऋषीणां मध्ये नारद: ब्रह्माङ्गुष्ठज:, गंधर्वाणां देवगायकानां मध्ये चित्ररथ: चित्ररथरूपोऽहं, सिद्धानां मध्ये कपिल: मुनि:-देवहूतिनन्दन: सांख्याचार्योऽहम् ।

पिप्पले नारदे चैव तथा चित्ररथाभिधे।
देवहूतिसुते चैव चिन्त्योऽहं स्वविभूतिषु ।। श्री: ।।

अथ त्रिभिर्विभूतिविशेषै: स्वचिन्त्यत्वमाह

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।। (गी० १०/२७)

एवं पार्थ अश्नन्ति सैंधवश्नशिला इति अश्वाः हयाः तेषां मध्ये अमृतमुद्द्भावयति इत्यमृतोद्भवः तममृतार्थं समुद्रमन्थने क्षीरसागसरात् प्रसूते उच्चैश्रवसम्, गजानाम् इन्द्राः गजेन्द्रा : तेषां गजेन्द्राणां मध्ये ऐरावतमिरावत्यामुद्भवं, नराणां मध्ये नराधिपं राजानं इति प्राञ्चः वयं तु नरान् अधिकृतः पाति इति नराधिपः तं नाराधिपम् पृथुम् मां मद्रूपमेव विद्धि अत्र द्वितीया सप्तम्यर्थः

समुद्र मन्थने जाते उच्चैःश्रवसिवाजिनि ।
ऐरावते प्रथमे राज्ञि मां सदा परिचिन्तय।। श्री ।।

पुनश्चतुर्विभूतिसंग्रहमाह—

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।।

(गीता १०॥२८)

स०कृ०भा० सामा०—आयुधानां शस्त्राणां मध्ये पविः अहं वज्रं मम विभूतिः, धेनूनां गवां मध्ये कामधुक्, कामान् दोग्धीति कामधुक् कामधेनुः अहमस्मि, कामधेनुरूपोऽहं इति भावः, कन्दर्पः स्त्री सम्पर्कनियोजकः कन्दर्पः कामः अहमस्मि, चकारेण तत्प्रयोजिका रतिरपि, एवं सर्पाणां मध्ये वासुकिः ।

वज्रे च कामधेनौ च प्रजने काम एव च ।
वासुकिश्चै चिन्त्योऽहं चतसृषु विभूतिषु ।। श्रीः ।।

भूयोऽपि चतुर्विभूतिसंग्रहात्मकश्लोकमाह—

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।।

(गीता १०/२९)

दा० कृ० भा० सा०—तथा च नागानां नागलोकनिवासिनां सर्पजातिविशेषाणां मध्ये पृथ्वीधारकः अनन्तः अहं, मद्विभूतिः । यश्च श्रीरामे मयि लक्ष्मणः साम्प्रतं मयि कृष्णे बलभद्रः । यादसां जलचराणां सम्बन्धिभूतस्वामी वरुणः प्रचेता अहं, मद्विभूतिरेव, तथा च पितृणां स्वामी अर्यमा अहमेव, संयमतां पापिषु बन्धनकर्तृणां मध्ये अहं यमः । दण्डधरो यमराजः ।

अनन्ते च तथा नागे वरुणे वारिचराधिपे ।
अर्यम्ण्येव चिन्त्योऽहं तथा प्रेतपतौ किल ।।

पुनर्विभूतिचतुष्टयसंग्रहश्लोकमाह—

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।।

(गीता -१०/३०)

रा०कृ०भा०सा०—दितेरपत्यानि पुमांसो दैत्याः दित्यदित्यादित्य पत्युत्तरपदाण्यः पा०अ० ४१/१/८५ इत्यनेनण्य प्रत्ययः । तेषां दैत्यानां मध्येप्रहलादः, हिरण्यकशिपोश्चतुर्थ पुत्रः अस्मि भवामि, मत्तेजः सम्भववात्-कलयतां समयसंख्यानं कुर्वाणानां मध्ये निमेषादिर्वत्सरान्तो महान् कालः अहमेव, मृगाणां पशूनां मध्ये मृगेन्द्रः सिहः अहं पक्षिणां मध्ये वैनतेयः विनतायाः अपत्यं पुमान् वैनतेयः गरुडदेवः अहं मद्विभूतिः

प्रहलादे सर्वदैत्येषु काले हि कलयत्सु च।
सिंहे च विनतापुत्रे, चिन्त्यनीयोऽस्मि भारत।। श्रीः ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।

(गीता १०/३१)

रा०कृ०भा सामान्यार्थ—पवतां, पवित्री कुर्वतां मध्ये अहं पवनः वायुर्मद्विभूतिः अंशप्राचुर्येण मद्विभूतिः । शस्त्राणि विभ्रतीति शस्त्रभृतः तेषा मध्ये श्री रामः दशरथनन्दनोऽहं सकलविभूतिपतिः अयमाविर्भावः न तु भावः, एकत्रिंशे शुभेश्लोके श्री सीतापतिचर्चया, एकत्रिंशच्छरै, हन्ता रावणस्य समीरितः, झषाणां मत्स्यानां मध्ये मकरः ग्रहोऽपि अहं मत्प्रधानविभूतिः, स्रोतसां, स्रवन्तीनां नदीनां मध्ये अहं जाह्नवी, जह्नु कन्या गंगा, अस्मि भवामि—

पवने रामचन्द्रे च स्वामिभावे परेश्वरे।
मकरे जह्नु कन्यायां चिन्तयस्व सदैव माम् ।।

पुनर्विभूति पञ्चकसंग्रहमाह—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।।

(गीता १०/३२)

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! सर्गाणां देवतिर्यङ्मनुष्य-सृष्टीनाम्आदिः समवायिकारणं मध्ये असमवायिकारणम् अन्तः निमित्तकारणं यद्वा आदिः उत्पत्तिः मध्यं पालनं, अन्तः संहारः अहमस्मि । विद्यानां मध्ये अध्यात्मविद्या, सांख्ययोगन्यायवैशषिक पूर्वमीमांसावेदान्तविजृम्भितभक्त्यपरपर्यायः अहमस्मि, मद्विभूतिः । प्रवदतां जल्पाद्या श्रयवतां वादः तत्व बुभुत्सुकथा अहमस्मि, ।

आदौ मध्ये तथैवान्त चिन्त्यनीयोऽस्मि फाल्गुन ।
विद्यास्वध्यात्मविद्यायां वादे वैतण्डिकादिषु ।। श्रीः ।।

पुनश्चतुर्विभूतिसंग्रहात्मकं श्लोकम् व्याहरति—

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।।

(गीता १०/३३)

रा०कृ०भा० सा०—अक्षराणां मध्ये अहमकारः, अकारो वै सर्वावाक् इति श्रुतेः । समास एव सामासिकः विनयादित्वात् स्वार्थे ठक् अत्र जात्याख्यायामेकवचनं, समासानां, अव्ययीभावतत्पुरुषद्विगु कर्मधारयबहुव्रीहि, द्वन्दानां मध्ये, उभय पदार्थप्रधानत्वात् द्वन्द्वः श्री सीतारामाभिन्न श्रीराधाकृष्णोऽहम्, अहमेव, अक्षयः क्षयवर्जितः कालः संहारकर्ता शिवः, अहमेव पुनः धाता, भरणपोषणकर्ता विष्णुः अहमेव विश्वतः चतुर्दिक्षु मुखानि यस्य सचर्तुमुखो व्रह्मा ।

अवर्ण्ये च तथा द्वन्दे काले चैवाक्षये सदा ।
शिवे विष्णौ विरिञ्चे च चिन्त्यस्व मुदेह माम् ।। श्रीः ।।

अथ नवाभिविभूतिभिर्वर्ण्यमानं श्लोकमाह—

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीवाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।।

(गीता १०/३४)

रा०कृ०भा० सा०—सर्वेषां प्राणहरः मृत्युः अहं मद्विभूतिः, भविष्यतां भाविनां उद्भवः उद्भावयतीति उद्भवः जीवनं जन्म हेतु अहं, नारीणां स्त्रीलिंगभाजां कीर्तिः यशः कीर्त्यते इति कीर्तिः भगवती पार्वती वा श्रीः महालक्ष्मीः सीता राधा च वाक् सरस्वती, स्मृतिः स्मरणशक्तिः, मेधा सद्ग्रन्थधारण शक्तिः धृतिः सात्त्विकी धारणाशक्तिः क्षमा कामक्रोधादिसमुद्वेगप्रसहनशक्तिः अहमिमाः नवमद्विभूतयः—

मृत्यौ च जीवने हेतौ स्त्रित्वभाजां च चिन्तय।
कीर्तौ श्रियां च वाक्स्मृत्योः मेधा धृति क्षमासु माम् ।। श्रीः ॥

पुनश्चतुर्विभूतिसंग्रहमाह—

वृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।। (गीता. ३५)

रा०कृ०भा०सा०—साम्नां सामश्रुतीनां मध्ये अहं वृहत्साम, एवं छन्दसां वैदिकानां लौकिकानां च मध्ये गायत्री छन्दः त्रियत्यात्मकम् अहमेव, गायत्री छन्दो यथा ॐ दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि, तन्नो रामः प्रचोदयात्, मासानां चैत्रादीनां मध्ये अहं मार्गशीर्षः आग्रहायणः, ऋतूनां मध्ये कुसुमाकरः वसन्तः अहम्।

साम्नां मध्ये वृहत्साम्नि ग्रायत्र्यां मार्गशीर्षके।
वसन्तेऽहं सदा चिन्त्यो मामकीनविभूतिषु ।। श्रीः ॥

पुनःपञ्चविभूत्यात्मकं श्लोकयति—

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्वं सत्ववतामहम्।।
(गीता १०/३६)

रा०कृ०भा०सा०—छलयतां छलं कुर्वन्तीति छलं छलयन्तीति छलयतः तेषां छलयतां छलकर्तृणां मध्ये अहं द्यूतं, मद्विभूति भूतेन द्यूतेन मद्भक्तिविवर्धनाययूयं छलिताः, एवं तेजस्विनां तेजस्सम्पन्नानां तेजः अहं मद्विभूतिरेव, किञ्च जयशीलानां जयः, उद्यमिनां व्यवसायः, बुद्धिमतां निश्चयो वा सत्ववतां धैर्यवतां विशुद्धचेतसां वा सत्वं मद्भजनोपयोगि सामर्थ्यमहमेव ।

द्यूते तेजश्चैवाऽहं जये च व्यवसायके।
सत्वे चैव सदा चिन्त्यशत्वया सत्ववतां वर।। श्रीः ॥

पुनश्चर्तुर्भिविभूतिविशेषैः अथवा तिसृभिर्विभूतिभिरेकेन स्वेन आविर्भावेन श्लोकं संगृह्णाति ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।।
(गीता १०/३७)

रा०कृ०भा—किञ्च वृष्णीनां मध्ये अहं वासुदेवः अष्टमः पुत्रः वसुदेव नन्दनस्त्वन्मित्रं) । साक्षात् परमात्मसकलविभूतिपतिः पाण्डवानां मध्ये त्वं धनंञ्जयः अहं त्वमपि मद्विभूतिरेव, तथा मुनीनां मध्ये अहं व्यासः सत्यवतीनन्दनः, कवीनां बुद्धिमतां मध्ये उशना कविः शुक्राचार्यः ।

वसुदेवसुते कृष्णे त्वपि चापि धनञ्जये ।
व्यासे शुक्रे सदैवाहं चिन्त्यनीयोऽस्मि भारत।। श्रीः ॥

पुनश्चतुर्भिः श्लोकयति—

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।।

(गीता १०/३८)

रा०कृ०भा० सा०—एवं दमयतां दमकर्तृणां मध्ये दण्डं तथा जिगीषतां जेतुं इच्छन्ति इति जिगीषन्ति, जिगीषन्तीति, जिगीषन्तः तेषां जिगीषतां, विजयमिच्छतां नीतिः अहम् मद्विभूतिः सा च युस्मासु तिष्ठति, गुह्यानां गोपनीयानां मध्ये मौनं, वाक्संयमः अहमेव ज्ञानवतां ज्ञानिनां ज्ञानं सेव्यसेवकभावलक्षणं अहमेव ।

दण्डे नीतौ तथा मौने ज्ञाने ज्ञानवतामहम् ।
चिन्त्यनीयोऽस्मि सर्वत्र सर्वदा चिन्तकेन च ।। श्रीः ॥

उपसंहरति—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।

(गीता. १०/३९)

रा०कृ०भा०सा०—सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां यच्चापि बीजं अभिन्ननिमित्तोपादानकारणं तदपि अहं श्रीकृष्णः, किञ्च तद्वस्तु चराचरं जडचेतनात्मकं नास्ति यन्मया श्रीकृष्णेन विना भूतं व्यतिरेकेण स्थितं स्यात् । इत्यनेनैव जीवस्य परामात्मना सह अविनाभूतसम्बन्धः । श्रीः—

विषयं निगमयति—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।।

(गीता. १०/४०)

हे परन्तप शत्रुनाशक ! दिव्यानां लोकात्तराणां मम विभूतीनाम् अन्तः नास्ति, किन्तु एषः मया कृष्णेन भगवता सर्वज्ञेण उद्देश्यतः नाममात्रेणैव विभूतेः जात्याख्यामेव एक वचनं विभूतीनां विस्तारः व्यासः प्रोक्तः ॥ श्रीः ॥

तटस्थलक्षणमाह विभूतियोगस्य—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव च।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।। (गीता. ४१)

रा०कृ०भा० सा०—हे अर्जुन ! अस्मिन् संसारे यद् यद् सत्वं प्राणधारी विभूतिमत् अतिमानुषचमत्कारयुक्तं, श्रीमत् शोभायुक्तम् अर्जितमोजस्वि ततत्सर्वमपि त्वं मम श्रीकृष्णस्य तेजोऽशसम्भवं तेजसा ममांशः तेजोशंः तस्मात् सम्भवो यस्य तत्तेजोंऽश सम्भवम् । मम तेजोमयां सभवं जानीहि ॥ श्रीः ॥

सारांशमाह—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।

(गीता १०/४२)

रा०कृ०भा०—अथवा इति पक्षान्तरे हे अर्जुन ! एतेन बहुना विपुलेन प्रकारेण ज्ञातेन ज्ञानविषयीकृतेन तव किं को लाभः, अहम् एकांशेनैव एकेनैव पादेन इदं कृत्स्नं सम्पूर्णं जगत् विष्टभ्य आत्मनि समावेश्य स्थितः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि इति मन्त्रवर्णात् ॥ श्रीः ॥

इत्थं हि दशमोऽध्यायः मण्डितश्च विभूतिभिः।
दशमस्य कृपामेत्य व्याख्याता सुधिया मया।।

इति श्री चित्रकूट तुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानंदाचार्य श्री स्वामी रामाचार्य प्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवतगीतासुभक्तियोगोनाम दशमोऽध्यायः

श्रीराघवः शन्तनोतु



"श्रीमद्राघवो विजयते"

"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

दशमोऽध्यायः

मंगलाचरण

स जयति जनकात्मजा दृगब्ज प्रसृमररश्मिरविकवि कलाढ्यः ।
दशवदनतमोनुदप्रमेयो-दशरथकश्यपजन्मा रामभद्रः ।।

अर्थ—परम मनीषी सम्पूर्ण कलाओं से सुशोभित तथा रावण रुप अंधकार को नष्ट करने वाले अप्रेय सीता जी के नेत्र कमलों को विकसित करने वाले सुन्दर किरणमय सूर्य रूप श्रीदशरथ रूप कश्यप से प्रकट भगवान रामभद्र राघवेन्द्र सरकार की जय हो ।

अवनिजा हृदयालय मण्डनो
निटिललोचनकार्मुकखण्डनः ।
तवतमाल तनू रघुनन्दनो
नयन गो दशमो दशमेऽवतु ।। २ ।।

अर्थ—भूनन्दिनी श्री सीताजी के हृदयरूपी भवन के अलंकार तथा ललाट नेत्र भगवान शंकर के धनुष को तोड़ने वाले, नवीन तमाल के समान सुन्दर दशमतत्व रघुनन्दन श्री राम मेरे दशम् अर्थात् मरण दशा के विषय में भी रक्षा करें तथा गीता जी के दशम् अध्याय की व्याख्या में मेरी रक्षा करें ।

अहिरसावहिताहि मणिप्रभा
क्षुरितनीलनवाम्बुद विग्रहः ।
अहिपभोगशयोऽहितभेकहा
दशतु मे दशमो दशमीं दशाम् ।। ३ ।।

अर्थ—शत्रुकाली नाग की शिरस्थ सहस्र मणियों की प्रभा से जिसका नवीन बादल के समान नील श्री विग्रह सुशोभित हो रहा है, तथा जो शेष नाग की फणशैय्या पर शयन करने वाला तथा शत्रुरूप मेढ़को को निगलने वाला श्रीकृष्ण रूप काला दशवां सर्प मेरी दशम दशा को डश ले ।

गीता नवनीत हृता गीता गीतागमाप्येन।
प्रीता हृदयं नीता गीता गेयं चिरं गेयात्।। ४।।

अर्थ—गीता ज्ञान से प्राप्त करने योग्य, माखन चोर श्रीकृष्ण द्वारा गायी हुई, भावकों के हृदय में ले जायी गयी, तथा गायी गयी, यह भगवत् गीता गाने योग्य परमात्मा श्रीकृष्ण को निरन्तर गाती रहे गाती रहे।

संगति—अब नवम अध्याय के अनन्तर परम पवित्र पार्थ सारथी तथा समस्त वेद ही जिनके निःस्वांस है, ऐसे प्रपन्न जनों के हृदयों में प्रवेश करने वाले अमित मनोज मनोहर योगेश्वरेश्वर, भगवान श्रीकृष्ण अपने शरणागत तथा परम परमार्थ की जिज्ञासा करने वाले पृथा नन्दन अर्जुन के प्रति, प्राप्य उपायों में परम अन्तरंग, सातवें और नवें अध्याय में संक्षेप में कहे हुए भी अत्यन्त दुरूह होने के कारण इस अलौकिक विभूतियोग को फिर कह रहे हैं। और भगवान के इस कथन को संजय धृतराष्ट्र के प्रति अवतरित कर रहे हैं।

श्री भगवान उवाच

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—षडैश्वर सम्पन्न भगवान बोले— यद्यपि भगवान शब्द अपने में बहुत परिपूर्ण है तथापि भग शब्द में श्री शब्दार्थ का अन्तर भाव होने की सम्भावना में भी दस विशिष्ट अर्थों को अभिव्यक्त करने के लिए ही श्री शब्द का पृथक प्रयोग किया गया।

१. श्रयति हरिम् या सा श्रीः। जो श्रीहरि की निरन्तर सेवा करती हैं वे श्री हैं। गोस्वामी जी उत्तरकाण्ड में कहते हैं—

जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितवन सोइ।
रामपदारविन्द रति करत सुभावहिं खोइ।। मा० ७/२४

२. श्रयति हरिः याम् सा श्रीः। श्रीहरि जिनका आश्रय लेते है वे अह्लादनी शक्ति ही श्री है। आलवन्दार में श्रीयामुनाचार्य कहते हैं "प्रभु आप श्री जी को कितना प्रेम करते हैं। अपने हृदय को आपने उनका भवन बनाया अर्थात् उन्हें अपने हृदय में निवास दिया तथा उनकी जन्मभूमि समुद्र को आपने अपना सुन्दर मन्दिर बनाया। उनके भृकुटि विलास मात्र से आपने संसार की रचना कर डाली। और उन्हीं के लिए समुद्र का मंथन भी किया और बाँधा भी।

३. श्रीयते गुणैः या सा श्रीः। समस्त गुण जिनका आश्रय प्राप्त करते हैं वे श्री कही जाती हैं।

४. श्रीयते सर्वैः सुरैः या सा श्रीः । सभी देवता जिनका श्रयण करते है वे श्री हैं।

५. शृणोति भक्तानां व्यथाम् या सा श्रीः । जो भक्तो की व्यथा सुनती हैं ।

६. श्रावयति भक्तानां व्यथां भगवन्तं या सा श्रीः ।

जो भगवान को भक्तों की व्यथा सुनाती हैं वे जनकनन्दिनी सीताजी एवं वृषभानुनन्दिनी राधा जी ही श्री है ।

इस भाव पर गोस्वामी जी का श्रीविनयपत्रिका में लिखित एक रोचक पद द्रष्टव्य है—

कबहुँक अम्ब अवसर पाई ।
मेरिऔ सुधि द्यायबी कछु करुन-कथा चलाइ ।
दीन सब अँग हीन छीन मलिन अघी अघाइ ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ ।
बूझि हैं सो है कौन ? कहिबी नाम दसा जनाइ ।
सुनत रामकृपालु के मेरी बिगरिओ बनि जाइ ।
जानकी जग जननि जन की किए बचन सहाइ ।
तरै तुलसीदासभव तव नाथ-गुन गन गाइ ।। ४१ ।।

७. शृणाति पापानि हिनस्ति या सा श्रीः— जो जीवों के पापों को समाप्त कर देती हैं उन्हें श्री कहते हैं ।

८. श्रीणाति कर्म फलानि पचति या सा श्रीः । जो कर्मों के फलों को पचा डालतीं हैं वे श्री हैं ।

९. श्राययति जीवं भगवन्तं या सा श्रीः । जो जीव को भगवान के शरण में ले जाती हैं उन्हें श्री कहते हैं ।

१०. श्राययति भगवता जीवकर्मफलानि हिंसयति या सा श्रीः । ऐसी श्री के भग अर्थात् महात्म्य में जिसकी रूचि है उन्हें भगवान कहते हैं ।

यद्यपि कोष में भग के श्री, काम, माहात्म्य, विभूति, ऐश्वर्य, चिन्ह, भाग्य, भोग और भोगास्पद ये नौ अर्थ प्रसिद्ध हैं, और इन नवों अर्थो से श्री जी का सम्बन्ध है । श्री जी भगवान की लक्ष्मी भी है, भगवान का काम्यपदार्थ भी है, भगवान की विभूति भी है, भगवान का षडैश्वर्य भी है, श्री जी भगवान का लाञ्छन, भगवान का भाग्य, भगवान का भोग और भगवान का भोगास्पद भी हैं । अहो ! श्री जी पर भगवान को कितना प्रेम है ।

श्री गुण रत्नकोष में पाराशर भट्टार्य कहते है- हे श्री जी ! आपकी चाटुकारिता में सफल मनोरथ वाले भगवान आपके लिए क्या-क्या नहीं करते । आपके लिए समुद्र में सोये उसे मथा और फिर बाँधा । हे मैथिली ! आपके लिए प्रभु ने शंकर भगवान् के धनुष को लता की भाँति तोड़ा और रावण के सिरों को काटकर उसके कबन्ध को नचा दिया ।

आधिशयितवानब्धिं नाथो ममन्थ बबन्थ च ।
हरधनुरसौ वल्ली भभजं बभञ्ज च मैथिली ।।

दसमुख शिरस्श्रेणीं लूत्वा कबन्धमनर्तयत् ।
किमिवनं पतिः कुरुते त्वच्चाटु चुञ्चु मनोरथः ।।

ऐसे भगवान जिनकी सब कुछ श्री ही हैं वे आज अर्जुन से विभूति का वर्णन करते हैं । क्योंकि भगवान भी नित्य हैं और उनकी विभूतियाँ भी ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।। १०/१

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे महाबाहु अर्जुन ! फिर मेरे परम श्रेष्ठ वचन को सुनो, जिसे मैं अत्यन्त प्रिय लगने वाले तुम्हारे लिए हित की कामना से कहूँगा ।

व्याख्या—यहाँ भगवान प्रार्थना के अर्थ में शृणु का प्रयोग कर रहे हैं । अर्जुन प्रश्न कर सकते हैं मैं क्यों सुनूँ ? तब भगवान कहते है 'प्रीयमाणाय' क्योंकि तुम मुझे बहुत प्रिय लगते हो । अथवा जैसे नैवेद्य करने वाला पूजक 'भगवान प्रीयताम्' भगवान प्रसन्न हों, इस प्रकार उच्चारण करके नैवेद्य अर्पित करता है । उसी प्रकार आज भगवान भी अर्जुन को प्रसन्न करने के लिए 'प्रीयमाण' शब्द का उच्चारण कर रहे हैं । अर्थात् इन वाक्यों से अर्जुन को प्रसन्नता हुई होगी इसलिए भगवान विभूति योग का वर्णन करेंगे। यहाँ 'हित योगे च' वार्तिक से चतुर्थी विभक्ति हुई है । इस दृष्टि से इस श्लोक का अर्थ होगा- हे महाबाहो अर्जुन ! फिर से मेरा परमकल्याणकारी वचन सुनो, क्योंकि जिसे मैं परम प्रिय लगने वाले तुम्हारे (अर्जुन के) हित की इच्छा से कहूँगा ।

'भूय एव' का तात्पर्य है कि-यद्यपि मैंने संक्षेप में सातवे और नववें अध्याय में यह विषय कहा है फिर भी सुनों ! क्योंकि— 'परमम् — अर्थात् यह परम कल्याणकारी है, अथवा परः मः ये । इसे सुनकर जीव मेरे परायण हो जाता है । इससे तुम्हारा हित होगा ।

संगति—अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि- हे शरणगत भक्त वत्सल ! यही विषय आपने सातवें अध्याय में सात से तेरह तक और यही नौवें अध्याय में सोलह से उन्नीस तक कह दिया है । फिर उसे क्यों दोहरा रहे हैं ? इस पर भगवान कहते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।। १०/२

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे महाबाहों अर्जुन्! मेरे लोकोत्तर सामर्थ्य और प्रभाव को देवगण नहीं जानते। क्योंकि मैं देवताओं का और महर्षियों भी नहीं जानते। क्योंकि मैं देवताओं का और महर्षियों का सब प्रकार से आदि अर्थात् अभिन्न निमित्तोपादान कारण हूँ।

व्याख्या—यहाँ प्रभो शब्द कोष के अनुसार प्रभाव और सामर्थ्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'सामर्थ्यें च प्रभावे च प्रभवोह्युद्भवेद् स्मृतः' और आदि शब्द कारणवाची है। भगवान का अभिप्राय यह है कि- मैं देवता और महर्षि इन दोनों का कारण हूँ, ये दोनों मेरे कार्य हैं। कार्य कारण को नही जानते। संयोग से तुम इन्द्रपुत्र होने से देवता तथा नरावतार होने से महर्षि, ये दोनों हो। तुम्हारा अभिन्न निमित्तोपादान कारण मैं हूँ। इसलिए तुम भी मुझे नहीं जानते चूंकि तुम मेरी बात सुनकर प्रसन्न होते हो इसलिए सुनो और जानने का प्रयास करो।

संगति—अर्जुन ने फिर प्रश्न किया- हे शरणागत बज्रपंजर गिरिधर ! आप मुझे अपना सामर्थ्य जनाकर किस लाभ से युक्त करेंगे? इस पर प्रणत योगक्षेम निर्वाहक विप्रसस्यवलाहक योगेयश्वर श्रीकृष्ण बोले —

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। १०/३

रा०कृ०भा० सामान्यर्थ—हे अर्जुन्! जो मुझे अजन्मा, आदि रहित तथा लोकों का महेश्वर जानता है, वह सम्पूर्ण मनुष्यों में मोह रहित होकर सभी पापों द्वारा मुक्त कर दिया जाता है।

व्याख्या—तुम अत्यन्त आस्तिक होने से पापों से डरते हो, गीता १-३६ गीता १-३९, और गीता १-४५ में तुमने स्वयं स्वीकार किया है। गीता २-७ में तुमने अपने को "धर्म संमूढ चेता" कहा, इसीलिये मैं तुम्हें सभी पापों तथा मोह से छूटने का उपाय बताता हूँ। "अजं" मैं सामान्य प्राणी की भाँति कर्मवश शरीर धारण नहीं करता। "अनादिं" "नास्ति आदि: यस्य, स:अनादि: अर्थात मैं आदि वर्जित हूँ, अथवा नास्ति आदि: कारणं यस्मात् स: अनादि:" जिससे श्रेष्ठ कोई कारण नहीं है, अर्थात् मैं सारे संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण हूँ।

अथवा यहाँ एक नवीन चमत्कृत भाव उपस्थित किया जा रहा है- भगवान कहते हैं कि- मैं अज अर्थात् ब्रह्मा हूँ, और मैं ही अनादि अर्थात् विष्णु भी हूँ, तथा मैं ही लोकों का

महेश्वर संहारकर्ता शिव हूँ। इस प्रकार जो मुझे अज अर्थात् ब्रह्मा अनादि अर्थात विष्णु लोक महेश्वर शिव रूप में जानता है, वह सभी मनुष्यों में मोह रहित हो जाता है, और पाप मुक्त हो जाता है। क्योंकि मैं ही सत्वगुण से युक्त होकर विष्णु, रजोगुणमय होकर ब्रह्मा और तमोगुणावच्छिन्न होकर शंकर, इन तीनों गुणों से युक्त होने से सगुण बनकर श्रीरामकृष्ण रूप में प्रकट होता हूँ, यही भगवान का हार्द है।

संगति—विभूति अन्तरंग और बहिरंग भेद से दो प्रकार की होती है, "विभूयते इतरत् यया सा विभूति" जिसके द्वारा सामान्य वस्तु दबादी जाये उसे विभूति कहते हैं। अर्थात् जहाँ असाधारण चमत्कार का अनुभव हो, वह विभूति है। इन दोनों विभूतियों में पहले भगवान दो श्लोकों से अन्तरङ्ग विभूति की व्याख्या कर रहे हैं—

"बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपोदानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।। १०/४-५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! "बुद्धि" भगवद् विषय बोध, "ज्ञान" सेवकसेव्यभावका ज्ञान, 'असंमोह' मै दास हूं भगवान स्वामी हैं इस प्रकार का निःसन्देह निश्चय, "क्षमा" शीतोष्णादि द्वन्द्वों की सहिष्णुता, "सत्य" यथर्थ भाषण, अथवा सन्तो के लिये हितकर आचरण, "दम" इन्द्रियों का भगवद् भागवत् विरुद्ध व्यापारों से हटाना, "शम" भगवान के नामरूपलीलाधाम से अतिरिक्त भावों का मन में प्रशमन, "सुख" भजनानन्द, "दुःख" भगवान के विस्मरण से उत्पन्न प्रतिकूलता, "भव" प्राणियों का जन्म, अथवा हृदय में भगवद् रसकी उत्पत्ति, "भव" प्राणियों का जन्म, अथवा हृदय में भगवद् रस की उत्पत्ति, "अभाव" भगवद् विरुद्ध आचरणों का न होना, अथवा प्रलय, "भय" विकर्मो से डर, "अभय" मृत्यु के प्रति निर्भीकता, "अहिंसा" वेद से अविहित किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना, "समता" सबमें ब्रह्मदर्शन, "तुष्टि" भगवद् भजन से सन्तोष, "तप" एकादशी आदि कठोर निर्जल व्रतों का अनुष्ठान, "यश" वैष्णवोचित आचरण से उत्पन्न कीर्ति, "अयश" अपकीर्ति, इस प्रकार जीवों के बीस अन्तरंगभाव मुझ परमात्मा से अनेक विधावों के साथ उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या—अब यहाँ प्रश्न है कि दुःखादि हेय भाव भगवान से कैसे उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर—जो भगवद् विमुख होते हैं, भगवान उन्हीं के लिये इन भावों का सर्जन करते हैं। जैसे कैकेयी, मन्थरा, रावण, शिशुपाल, पूतना आदि को इन भावों का साक्षात्कार हुआ।

संगति—हे अर्जुन् ! इतना ही नहीं, प्रजापति मनु आदि भी मेरे अंश से ही उत्पन्न हुये हैं—

''महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।। १०/६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जिन प्रजापतियों से लोक में ये प्रजायें उत्पन्न हुयीं, वे सात मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, तथा वशिष्ठ ये सात महर्षिगण, और सबके पूर्वज चारों सनकादि, और स्वायम्भुव आदि चौदह मनु ये सभी मेरे ही मानस भाव हैं, अर्थात् मेरे ही "मन" सङ्कल्प से उत्पन्न हुये हैं ।

व्याख्या—सात महर्षियों का नाम महाभारत में इस प्रकार है—

''मरीच्यत्र्यंगिरसः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वशिष्ठश्चेति सप्तैते सदृशाश्च स्वयंभुवः ।।
सप्तब्रह्माण एवैते पुराणेषु प्रचक्षते ।। महा०भारत- शान्तिपर्व २०५-४,

''चत्वारः'' रामचरितमानस में सनकादिकों का परिचय बड़ी रोचक पद्धति से प्रस्तुत किया गया है -

''ब्रह्मानन्द सदा लय लीना । देखत बालक बहु कालीना ।।
रूप धरे जनु चारिउ वेदा । समदरसी मुनि विगत विभेदा ।।
आसा वसनव्यसन यह तिन्हहीं । रघुपति चरित होइ तहं सुनहीं ।।
मानस ७-३२-४,५,६,

संगति—इस प्रकार अन्तरंग विभूतियों का संक्षेप में वर्णन करके अब भगवान फलश्रुति कहते हैं—

''एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।। १०/७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन् ! जो साधक मेरी इस विभूति को तथा मेरे अघटित घटना सामर्थ्यरूप योग को तत्वसे जानता है । वह निश्चल भक्तियोग से युक्त हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं ।

व्याख्या—"योगं" यहाँ योग शब्द भगवान के लोकोत्तर सामर्थ्य के लिये प्रयुक्त हुआ है, "योगेन" इस तृतीयान्त योग शब्द का भक्तियोग अर्थ समझना चाहिये ।

संगति—अब भगवान चार श्लोकों से अपनी भक्ति का माहात्म्य कह रहे हैं—

"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधाः भावसमन्विताः ।। १०/८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन् ! इस सम्पूर्ण जगत का मैं ही प्रभव अर्थात् उपादान कारण ब्रह्मा हूँ, मुझ विष्णुरूप निमित्त कारण से ही पालित यह सम्पूर्ण चिदचिदात्माक जगत् अपने व्यापार में प्रवृत्त हो रहा है। इस प्रकार मुझे ब्रह्मा और विष्णुरूप में सम्पूर्ण जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानकर मेरे तत्त्व के जानने वाले महानुभाव सेवकसेव्य भाव से समन्वित होकर मुझे भजते हैं।

व्याख्या—"प्रभव" शब्द उपादान कारण तथा ब्रह्माजी का वाचक है, "मत्तः" शब्द यहाँ पञ्चम्यन्त से तसिल् प्रत्यय करके नहीं बना है, यह तृतीयान्त अस्मद् शब्द से "आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्" वार्तिक से तसि प्रत्यय करके बना है। मया इति मत्तः, "प्रवर्तते" शब्द स्पष्टरूप से विवर्तवादका निषेध कर रहा है। "भाव" शब्द सेवकसेव्य भावके लिये अभिप्रेत है, अथवा शान्त-वात्सल्य-दास्य-सख्य और मधुर इन रससम्प्रदाय सम्मत भावों का वाचक है, अर्थात् इनमें से किसी एक भाव से समन्वित होकर भगवान का भजन करना चाहिये। इसीलिये भावुक आचार्यों का मानना है कि जैसे प्रियतम से पूर्णरूपेण चित्तकी एकता होने पर भी प्रिययता अपने प्राणेश्वर को घूँघट की ओट से देखकर ही अधिक रसानुभूति करती है। उसी प्रकार पूर्णतया अभेद का निश्चय होने पर भी साधक भगवान को कसी न किसी भक्ति सहित भाव से ही स्मरण करना चाहिये।

प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते
चैलांचलव्यवहितेन निरीक्ष्यणीयः ।

विश्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः ।।

इसीलिये भगवती सीताजी ने ग्रामवधूटियों का उत्तर देते समय अपना मुख अंचल से ढाँक लिया—

बहुरि वदन विधु अंचत ढाँकी। पिय तनु चितई भौंह करि बाँकी।
मानस २-११७-६ ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान भजन का प्रकार कह रहे हैं—

"मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।। १०/९

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन् ! जिनका चित्त मुझ में लीन है, जिनके प्राण मुझे प्राप्त हो गये हैं, ऐसे महानुभाव परस्पर सत्सङ्ग गोष्ठियों मे मेरे ही सम्बन्ध में एक दूसरे को समझाते हुये, तथा रामायण महाभारत एवं भागवत की कथाओं में मेरी ही चर्चा करते हुये जो निरन्तर सन्तुष्ट होते रहते हैं, और मेरे श्रीचरणारविन्दों मे रमते रहते हैं।

व्याख्या—मुझमें चित्त होने से मुझे समझाते हुये, वे प्रसन्न होते हैं, और मेरी कथा से रम जाते हैं। "रमन्ति" यहाँ अनुदात्तेत्वलक्षण आत्मनेपद की अनित्यता के कारण परस्मैपद हुआ।

संगति—जिनका चित्त आपमें लगा हुआ है, और जिनके प्राण आपके श्रीचरणों में लीन हैं, उनके लिये आप क्या करते हैं ? इस प्रकार अर्जुन को प्रश्न करने की इच्छा करते हुये समझकर कमल लोचन भगवान बोले-

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रतीपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।। १०/१०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इस प्रकार मेरे भजन में निरन्तर लगे हुए एवं प्रीतिपूर्वक मुझे भजते हुये महानुभावों को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मेरे निकट आ जाते हैं।

व्याख्या—बुद्धि योगकी चर्चा द्वितीय अध्याय में विस्तार से की जा चुकी है, "उपयान्ति" यहाँ उपका सामीप्यार्थ है।

संगति—मैं उनके लिये और भी बहुत कुछ करता हूँ। इसी विषय को भगवान स्पष्ट कर रहे हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन-भास्वता ।। १०/११

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! प्रीतिपूर्वक भजन करनेवाले उन्हीं श्रीवैष्णवों पर कृपा करने के लिए उनके द्वारा स्वीकृत भाव में स्थित होकर मैं देदीप्यमान ज्ञानदीपक से उनके अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को नष्ट कर देता हूँ। यहाँ एक शब्द अवैष्णवों का व्यवच्छेदक है तात्पर्य यह है कि जो प्रेमपूर्वक भगवान का भजन करते हैं, उन्हीं परम वैष्णवों पर भगवान की अनुकम्पा भी होती है।

आत्मभावस्थः—आत्मा के भाव में स्थित। यहाँ भगवान का ऐसा अभिप्राय प्रतीत होता है कि शान्त, वात्सल्य, दास्य, सख्य और मधुर इन पाँचों भावों में जिस भाव से साधक भगवान को भजता है भगवान उसी भाव में स्थित होकर अर्थात् वही बनकर भक्त

के मनोरथों को पूर्ण करते हैं। यहाँ भगवान के अभिप्रायों को अपनी अल्पमति से निबद्ध करने का प्रयास किया गया है। देखिए मेरे द्वारा रचित छः श्लोक—

सख्येन चेन्मां भजतेऽथ कोऽपि विश्वासयुक्तेन दृढानुरागात्।
अहं तदा तस्य सखैव भूत्वा सुदामवत्तं विभवैर्बिभर्मि।।

भगवान कहते हैं—यदि कोई दृढ़ अनुरागपूर्वक, विश्वास युक्त सख्य भाव से मुझे भजता है- तब मैं उसका मित्र ही बनकर सुदामा की भाँति उसे धनधान्य से पूर्ण कर देता हूँ।

शान्तेन भावेन च शान्तचित्तो मां सर्वलोकप्रभुमार्तबन्धुम्।
शुकादिवच्चिन्तयते हृदिस्थो तं ज्योतिषा स्वेन विभासयामि।।

यदि कोई शान्त चित्त होकर सारे संसार के प्रिय आर्तबन्धु मुझ परमात्मा को श्रीशुकाचार्य आदि की भाँति शान्त भाव से भजता है, तब मैं उसे अपने दिव्य ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित कर देता हूँ।

वात्सल्यभावेन पिताथ माता गुरूर्भवन् कोऽपि भवेदजस्रम्।
तदा तदीयश्च सुतो विधेयो भूत्वानुगच्छामि यथा वसिष्ठम्।।

यदि कोई वात्सल्य भाव से पिता माता अथवा गुरू बनकर मुझे निरन्तर भजता है, तब मैं उसका पुत्र या शिष्य बनकर असका उसी प्रकार अनुगमन करता हूँ जैसे वसिष्ठ जी का किया था।

दास्येन चेत्कोऽपि निरात्तमानो यथा हनूमान् भजतेऽनुरक्तः।
तदैव, तन्मानसराजहंसो भावं सुमुक्तामयमाचिनोमि।।

यदि कोई अभिमान छोड़कर श्रीहनुमान जी की भाँति दास्यभाव से अनुरागपूर्वक मेरा भजन करता है, तब मैं उसके मनमानसरोवर का राजहंस बनकर उसके भावमोतियां को चुनता हूँ।

माधुर्यतश्चेद् व्रजगोपिकावन्मां कान्तभावेन-भजेत भक्तया।
तदा तदीयामृतभावभोजी भुनज्मि नित्यं भुजवल्लिकाभिः।।

यदि कोई स्त्री व्रजांगनाओं की भाँति माधुर्य का आश्रय लेकर कान्तभाव से मुझे भक्ति पूर्वक भजती है, तब मैं उसके अमृतभाव का आस्वादन करता हुआ उसको अपनी भुजालताओं से अनुरंजित करता हूँ।

यत्र स्नेहो लसति सततं कृष्णभक्ति स्वरूपो,
यत्र ज्योतिः प्रहत तिमिरं दास्मेवानद्यम्।
यत्र प्रेमारूचिरनिकरोवर्तिका स्याद् विरक्तिः
सोऽयं प्रोक्तो भुवनपतिना ज्ञानदीपोऽत्र भास्वान्।।

जहाँ भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति ही स्नेह है और जहाँ निर्मल दास्यभाव ही अन्धकार को नष्ट करनेवाली ज्योति है तथा जहाँ प्रेम ही सुन्दर प्रकाश है और जहाँ वैराग्य ही बाती है, उसी भाव को भगवान श्रीकृष्ण ने यहाँ ज्ञानदीपक कहा ।

अथवा यहाँ आत्मशब्द जीवात्मा के अर्थ में है । और जीवात्मा का मुख्य भाव दास्यभाव ही है । 'अहं दासः हरिः स्वामी' ।

इस प्रकार जीवात्मा के मौलिक दास्यभाव में स्थित होकर उनके अज्ञानान्धकार को नष्ट करता हूँ । अथवा यहाँ भाव शब्द व्यापार के अर्थ में है ।

अर्थात् भगवान कहते हैं - कि अनन्य भाव से भजनेवाले भक्तों के व्यापार अर्थात् प्रवृत्ति में स्थित होकर प्रकाशमान ज्ञान दीपक से मैं उनके अज्ञानान्धकार को नष्ट करता हूँ ।

संगति—अब धनंजय श्री अर्जुन भगवान के श्रीमुख से विभूतियोग को विस्तार से सुनने की इच्छा करके स्तुति के साथ सप्तश्लोकी में पुण्यश्लोक शिखामणि परमेश्वर श्रीकृष्ण भगवान से जिज्ञासा कर रहे हैं । उसमें प्रथम चार श्लोकों में स्तुति और पश्चात् के तीन श्लोकों में अर्जुन ने प्रश्न किया है,० यह विवेक रखना चाहिए ।

श्री अर्जुन ने प्रश्न किया—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरूषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।। १०/१२/१३

अर्जुन कहते हैं-हे देवकी नन्दन ! आप परब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं। हे भगवान् ! सम्पूर्ण ऋषिगण तथा देवर्षि नारद असित, देवल एवं व्यास ये सभी लोग आपको पूर्णतम पुरूष, शाश्वत, दिव्य आदि देव, अजन्मा और सर्वव्यापक कहते हैं तथा आप स्वयं भी अपने सम्बन्ध में मुझसे इसी प्रकार कहते हैं । यहाँ 'पर' शब्द कारणपरक है । अर्थात् आप कारण ब्रह्म और कारणज्योति हैं । आप परम पावन हैं अर्थात् जगत को पवित्र करने वाली गंगा जी भी आपके श्रीचरण से प्रकट हुई हैं । सभी लोग आपको

पुराणपुरूष, नित्य, अलौकिक, आदिदेव भगवान नारायण कहते हैं। अर्थात् ऋषियों और आप इन छहो द्वारा आपका अवतार सिद्ध किया गया है। यहाँ का क्रम भी बहुत रोचक है। यहाँ कहनेवाले भी छः है और भगवान के विशेषण भी छः हैं। अर्थात् आपको ऋषिगण पुरूष, देवर्षिनारद शाश्वत, असित दिव्य, केवल आदिदेव व्यास अज, तथा स्वयं आप विभु सर्वव्यापक कहते हैं। 'न चैव सुकृतं विभुः' (गीता ५/१४)

संगति—कदाचित् भगवान पूछ सकते हैं कि- जो कुछ मैंने अथवा ऋषियों ने कहा है, उसे तुम असत्य मानते हो ? इस पर अर्जुन कहते हैं-

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।। १०/१४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे केशव ! ब्रह्म एवं शिव को भी वश में करनेवाले सर्वसमर्थ प्रभो ! आप मुझसे जो कहते हैं यह सब मैं सत्य ही मानता हूँ। हे भगवान् ! आपके प्राकट्य को इन्द्रादि देवता और प्रह्लाद आदि दानव भी निश्चय पूर्वक नहीं जानते। उन्हें कहीं न कहीं सन्देह रहता है पर मुझे सन्देह नहीं है।

व्याख्या—अब गीताजी का पूर्वार्ध पूर्ण हो चुका है। अतः क्रम से भगवान के प्रति अर्जुन की श्रद्धा बढ़ रही है। पहली बार यहाँ भगवान के प्रति अर्जुन ने इतने आदरणीय विशेषण प्रयोग किये। परब्रह्म भगवान ये दोनों विशेषण भगवान के प्रति अर्जुन के हृदय में छिपे अगाध आदर एवं अपरिमित श्रद्धा सलिल को उडेल रहे हैं।

संगति—भगवान् प्रश्न करते हैं—यदि देवता और दानव भी मुझे नहीं जानते तो फिर जानता कौन है ? इस पर अर्जुन कहते हैं—

स्वयमेवात्मानात्मानं वेत्थ त्वं पुरूषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।। १०/१५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे पुरूषोत्तम् ! हे प्राणियों को उत्पन्न करनेवाले भूतभावन ! हे जीवों के शासक भूतेश ! हे देवताओं के भी देवता देवदेव ! हे तीनों लोकों के स्वामी जगत्पते ! आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते हैं।

व्याख्या—अपने स्वरूप से अथवा आप पूर्ण तब होते हैं जब रामावतार में श्रीसीता जी के साथ एवं कृष्णावतार में श्रीराधाजी के साथ होते हैं। इसलिए तृतीयान्त आत्मशब्द सीता जी से अभिन्न राधा जी के अर्थ में है। अर्जुन द्वारा दिये गये पाँच सम्बोधन भी बहुत रोचक है। इनमें एक सम्बोधन भगवान के एक एकरूप की ओर संकेत करता है। आप पर है क्योंकि पुरूषोत्तम हैं, आप व्यूह हैं क्योंकि चित्त रूप वासुदेव अहंकार रूप प्रद्युम्न बुद्धिरूप संकर्षण और मनरूप अनिरूद्ध के उत्पादक होकर इन्हीं द्वारा सम्पूर्ण जीवों

को उत्पन्न करते हैं। आप विभव हैं इसलिए भूतेश होकर श्रीरामकृष्ण रूप में सब पर शासन करते हैं। आप अन्तर्यामी हैं अत: देवदेव के रूप में देवताओं को भी दीप्त करते रहते हैं। आप अर्चावतार हैं इसीलिए श्रीचित्रकूट विहारी वृन्दावन विहारी आदि विशिष्ट ठाकुर के रूप में जगत का पालन करते हैं

संगति—इस प्रकार भगवान की चार श्लोकों से स्तुति करके अब तीन श्लोकों से प्रश्न प्रस्तुत करते हैं-

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूति भिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।। १०/१६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे परमेश्वर ! जिन विभूतियों द्वारा इन तीनों लोकों को व्याप्त करके आप साकेताभिन्न गोलोक में तथा मेरे नन्दिर्घोषरथ पर विराजमान हैं, उन लोकोत्तर अपनी विभूतियों को सम्पूर्ण रूप से आप मुझे श्रवण कराने के लिए योग्य हैं। अर्थात् कृपया श्रवण कराइये।

व्याख्या—यहाँ यह प्रश्न है कि-वच् धातु सकर्मक है और विभूति शब्द उसका कर्म होगा। क्योंकि अर्जुन विभूतियों को सुनाने की प्रार्थना कर रहे हैं। अत: यहाँ विभूती: इस प्रकार द्वितीया होनी चाहिए थी ! उत्तर-प्रश्न बहुत मनोरम है। 'अनभिहिते' पा. अ. २/३/१ सूत्र की व्याख्या में कृदन्त, तिङन्त, तद्धित ओर समासों द्वारा अभिधान कहकर 'क्वचिन्निपातेनाभिधानम्' कहीं पर निपात अव्यय से भी कारकों का अभिधान हो जाता है, इस प्रकार कहा गया है। वहाँ निपात से कारकाभिधान में 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तु मसाम्प्रतम्' यह माघ काव्य का उदाहरण प्रस्तुत किया गया। यहाँ असाम्प्रतम् के अवयव 'साम्प्रतम्' निपात द्वारा छेदन धातु के कर्म का अभिधान हो इसलिए विषवृक्ष शब्द में प्रथमा हुई। उसी प्रकार 'दिव्या ह्यात्मविभूतय:' गीता १०/१६ शब्द में 'हि' निपात के द्वारा वच् धातु के कर्मरूप विभूति शब्द का अभिधान है। इसीलिए यहाँ प्रथमा हो गई। यह श्रीराघवकृपा से स्फुरित समाधान प्रभु से प्रेरित मेरी मनीषा का मनीषित है।

संगति—आज अर्जुन ने भगवान को धर्मसङ्कट में डाल दिया है। क्योंकि समय है अल्प और विभूतियाँ हैं अनन्त। इसलिए भगवान की लीलाशक्ति ने ही अर्जुन से प्रश्न का आकार छोटा करा दिया। और पार्थ ने सम्पूर्णता से विभूतियों को सुनने का हठ छोड़ दिया। और सहजता से बोले-

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।। १०/१७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे योगेश्वर ! मैं सर्वकाल में चिन्तन करता हुआ अनन्तविभूतिनायक आप परमात्मा को कैसे जानूँ ? हे भगवान् ! मुझ जैसे सीमित समय और सीमित शक्ति वाले साधारण जीवों द्वारा आप संसार के किन पदार्थों में चिन्तन के विषय बनाए जा सकते हैं ?

व्याख्या—भाव यह हैं कि- मैं अणुजीव हूँ । मेरा सामर्थ्य भी सीमित है । अभी संसार के सभी पदार्थों में आपका चिन्तन मैं नहीं कर सकूँगा । इसलिए कुछ ऐसे चमत्कारपूर्णपदार्थ बताइये जिनमें मैं सहजत: आपका चिन्तन करूँ । श्री ।

संगति—भगवान अन्तर्प्रश्न करते हैं कि हे अर्जुन ! तुम अपना परिच्छिन्नत्व अर्थात् अपने ज्ञान ओर सामर्थ्य की सीमा जानते हो इसीलिए तुमको मैंने संक्षेप में चार श्लोकों में अपनी विभूतियों का वर्णन सुना दिया था । फिर इनका विस्तार क्यों पूछ रहे हो ?

प्रभु के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अर्जुन कहते हैं—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूय: कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।। १०/१८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे जनार्दन ! अपने लोकोत्तर सामर्थ्य एवं विशिष्ट भूति अर्थात् विभूति को कृपया विस्तार से मुझे श्रवण कराइये । क्योंकि आपके मुख चन्द्र से विनिर्गलित यह गीतामृत पान करते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ।

व्याख्या—विशिष्ट भूति को ही विभूति कहते हैं । अर्जुन का अभिप्राय है कि यद्यपि मैं अपनी सीमाएँ जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि मैं सम्पूर्ण रूप से आपकी विभूतियों को नहीं श्रवण कर सकता । फिर भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही है । इसलिए पूर्णरूप से नहीं किन्तु विस्तार से सुनाइये । अथवा 'अमृतम्' शब्द में दो शब्द मिले हुए हैं- अम्, ऋतम् । ऋतम् अम् श्रृण्वत: । तात्पर्य यह है कि आप स्वयं ऋत अर्थात् सत्य स्वरूप हैं और वही मेरे भाग्य से 'अम्' अकाररूप में प्रकट हैं । 'अकारो वै सर्वा वाक्' अकार ही सम्पूर्ण वाणी है । अर्थात् ऋतस्वरूप आपको 'अम्' वाग् रूप में परिणत देखकर 'श्रृण्वत:' आज वागाकार ब्रह्म का श्रवणेन्द्रिय द्वारा साक्षात्कार करते हुए मैं तृप्त नहीं हो रहा हूँ । प्रभो ! अब तक नेत्रों से नराकार ब्रह्म का साक्षात्कार किया था आज श्रवणों से अक्षराकार ब्रह्म का श्रवण कर रहा हूँ ।

संगति—इस प्रकार सात श्लोकों द्वारा परमात्मा के प्रति विभूतिविषयक प्रश्न करने पर कुन्ती जी के तृतीय पुत्र श्री अर्जुन को आनन्दित करते हुए यादव नन्दन भगवान श्रीकृष्ण बोले—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरूश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। १०/१९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—इस प्रकार विभूतिविषयक जिज्ञासा की प्रार्थना करते हुए निरभिमान शरणागत कपिध्वज के प्रति उत्तर देने का उपक्रम करते हुए शरणागतभक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण प्रसन्नतापूर्वक बोले-हे कुरूवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! अब मैं तुम्हें काव्य रूप से कुछ दिव्य अपनी विभूतियों को वाक्य प्रबन्ध के द्वारा कहूँगा। क्योंकि मेरी दिव्यविभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है । इसलिए विस्तार का भी आग्रह मत रखो । क्योंकि विस्तार से सुनने के लिए न तो तुम्हारे पास समय है और न अभी मेरे पास ।

व्याख्या—'आत्मविभूति' शब्द अनुवृत्त होकर षष्ठी वहुवचनान्त से युक्त होकर विस्तर शब्द के साथ अन्वित होगा । और वाक्य बनेगा- मे आत्मविभूतीनां विस्तरस्य अन्तः नास्ति । अर्थात् मेरी आत्मविभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है । इसलिए भगवान ने कहा- "प्राधान्यतः कथयिष्यामि ।" मुख्य रूप से ही कहूँगा । विस्तार से नहीं ।

'हन्त' शब्द यहाँ प्रसन्नता और विस्मय दोनों अर्थों में है । क्योंकि कुछ कौरव भगवान का अपमान करते हैं और कुछ तटस्थ रहते हैं । केवल अर्जुन प्रभु की विभूतियाँ सुनना चाह रहे हैं । इसलिए प्रभु को प्रसन्नता है । और विस्मय इस वात का कि अर्जुन तुम विलक्षण व्यक्तित्व हो । युद्ध सिर पर मँडरा रहा है और तुम मेरी विभूतियाँ सुनना चाह रहे हो।

संगति—यह सम्पूर्ण जड़चेतनात्मक जगत जीवसंज्ञक प्रत्यगात्मा और शिव संज्ञक परमात्मा से व्याप्त है । और परमात्मा भी अन्तर्यामी रूप से संयोग एवं सामीप्य सम्बन्ध से आत्मा का उपशलेष करके अर्थात् जीवात्मा से चिपके हुए सर्वत्र चिन्तनीय हैं । जैसे-भगवान श्रीराम भरत जी के गले से लिपटे हुए स्मरणीय होते हैं । इसलिए पहले आत्मारूप भाव में ही मैं चिन्तनीय हूँ । इसी तथ्य को सिद्ध करने के लिए भगवान सर्वप्रथम आत्मा शब्द की चर्चा करते हुए 'अहं' पद का प्रयोग करते हैं । विभूतियाँ सम्बन्ध से भगवान से अभिन्न होती हुई भी स्वरूप से भिन्न ही हैं । इसलिए जिनजिन विभूतियों का इस प्रकरण में प्रथमान्त निर्देश हो वहाँ सर्वत्र औपश्लेषिक आधार की महिमा से प्रथमान्त शब्द में सप्तमी का ही अर्थ समझना चाहिए । जैसे-'मञ्चाः क्रोशन्ति' मंच चिल्ला रहे हैं । 'सिंहो माणवकः' छोटा ब्रह्मचारी सिंह है, इत्यादि स्थलों में शक्यतावच्छेदक के आरोप के कारण सिंहत्व और मंचक्रोशन गौण हैं । उसी प्रकार यहाँ भी प्रथमान्त व्यवहार गौण है । भगवान ने 'आत्मविभूतयः ते कथयिष्यामि' गीता १०/१९ 'मैं तुमसे अपनी विभूतियों को कहूँगा' इस प्रकार कर्म और कर्ता का पृथक निर्देश करके विभूति और विभूतिमान के बीच अभेदवाद नहीं स्वीकारा । इन विभूतियों में यह जीवात्मा परमात्मा श्री कृष्ण भगवान की सर्वप्रथम

विभूति है। यह भगवान का मित्र भी है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'। इसलिए भगवान अपनी प्रथम विभूति मित्र जीवात्मा से उपश्लेष करके अर्थात् चिपककर विराजते हैं। इसलिए आधार ओर आधेय की एकता मानकर आत्मा के साथ परमात्मा शब्द में भी प्रथमान्त का व्यवहार कर दिया गया। वस्तुत: 'अहमात्मा' शब्द का अर्थ है 'मयि आत्मा' अर्थात् यह जीवात्मा मुझसे सटा हुआ है। अथवा 'अहं आत्मनि' मैं जीवात्मा से चिपका हुआ हूँ। इसलिए अत्यन्त सामीप्य होने के कारण इस औपश्लेषिक आधार को भी औपचारिक प्रथमान्त निर्दिष्ट कर दिया गया। अथवा सर्वत्र विभूतियों में प्रथमा का व्यवहार सप्तमी के अर्थ में ही है। वह छान्दस प्रयोग होने के कारण प्रथमा विभक्ति दिखाई पड़ रही है। अर्थात् 'अहं' प्रथमान्त और विभूतियों में सप्तम्यर्थक प्रथमा विभक्ति है। जैसे 'आदित्यानामहं विष्णु:' १०/२१ (आदित्य में विष्णु मैं हूँ) यहाँ विष्णु पद की प्रथमा सप्तमी के अर्थ में है। अर्थात् आदित्यों में श्रेष्ठ विष्णु में मैं चिन्तनीय हूँ। क्योंकि वे मेरी विभूति हैं। इस व्याख्यान से इस प्रकरण में परपक्ष द्वारा कल्पित ब्रह्म और जीव का अभेदवाद निरस्त हो गया। यदि कहो कि विभूतियों में सप्तमी के अर्थ में प्रथमा है इस पक्ष में क्या युक्ति है ? तो इसका उत्तर है कि- अर्जुन का प्रश्न ही। क्योंकि अर्जुन ने भावाधिकरणक भगवत्कर्मक चिन्तन की जिज्ञासा की है। 'केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।' गीता १०/१७ (किन किन भावों में मैं आपका चिन्तन करूँ) यही भाव भगवान की विभूतियाँ हैं। यदि प्रश्न में अधिकरण सप्तमी है तो उत्तर में भी होनी चाहिए। यहाँ चिन्तनीय के अधिकरणरूप में भाव है। अधिकरण को ही आधार कहते हैं। 'आधारोऽधिकरणम्' पा. अ. ४/१/४५ चकार का तात्पर्य है कि विभूतियों की गणना में दो अवतारों की भी गणना की गई है-परशुराम और बलराम की। वहाँ शुद्ध प्रथमान्त माना जायगा। शेष उन उन प्रसङ्गों में ही स्पष्ट किया जायेगा।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित:।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। १०/२०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे निद्रा को जीतने वाले कुटिल कुन्तल वाले अर्जुन! सम्पूर्णभूतों के शरीरों में स्थित जीवात्मा में मैं ही चिन्तनीय हूँ, तथा प्राणियों के आदि अर्थात् बाल्यावस्था, मध्य युवावस्था,अन्त्यजरावस्था में मैं चिन्तनीय हूँ।

व्याख्या—इस श्लोक में भगवान ने अपने चिन्तन के आधार रूप में चार भाव अर्थात् अनुभव में आनेवाले आत्मा, शैशव, युवा, वृद्धावस्था इन चार पदार्थों की चर्चा की है। इन चारों में भगवान चिन्तनीय हैं। इस सम्वन्ध में मेरी दो श्लोक कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं—

बाल्ये च यौवने चेव वार्धकेऽप्यहमात्मनि ।
चिन्तनीयश्चिदानन्दश्चेतसा चिन्मयेन हि ।। १ ।।

आत्मन्यादौ तथा मध्ये तथैवान्ते अनन्यधीः ।
चिन्तयेच्चेतसा नित्यं चिदचिद्भ्यां विलक्षणम् ।। २ ।।

भावार्थ—

आत्मा बाल जुवा जरा, सब महँ चिन्तन मोर ।
करहु निरन्तर चित्त दै वारथ पाण्डुकिशोर ।।

आदि मध्य अरू अन्त महँ आत्मा महँ चितचोर ।
चिन्तनीय चिदचिद् विगत नस्वट नन्दकिसोर ।।

संगति—फिर भगवान् चार विभूतियों का संग्रह श्लोक कह रहे हैं ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योर्तिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरूतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।। १०/२१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं आदित्य के बारह पुत्रों में विष्णु रूप से चिन्तनीय हूँ । प्रकाशों में अथवा प्रकाशमान अग्नि, सूर्य, चन्द्र में किरणमाली सूर्यरूप से, उनचास मरूद् गणों में मरीचि के रूप में तथा तारागणों में चन्द्र के रूप में चिन्तनीय हूँ ।

व्याख्या—अंशु शब्द किरण परक है । अंशुमान् शब्द में नित्ययोग में मतुप् प्रत्यय हुआ है ।

वामन मैं आदित्य मँह ज्योतिन मँह रविरूप ।
मैं मरीचि बिच मरूतगन उडगन मँह तिज भूप ।।

संगति—अव फिर भगवान चार विभूतियों का संग्रहश्लोक कह रहे हैं-

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।। १०/२२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! वेदों में सामवेद के रूप से, अग्नि आदि देवताओं में इन्द्र के रूप से ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के मध्य मन रूप से, समस्त प्राणियों की चेतना रूप से अथवा साम, इन्द्र, मन और चेतना में मैं चिन्तनीय हूँ ।

व्याख्या—सामवेद गान प्रधान हैं। वासव अर्थात् इन्द्र ने सौ अश्वमेघ यज्ञ किये हैं। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय का नियन्ता और उनसे सूक्ष्म मन ही है। और चेतना शक्ति मेरी ही शक्ति है।

सामवेद अरू इन्द्र मँह मन मँह चिन्तन मोर।
जीव चेतना मध्य अरू कीजे पाण्डु किशोर ।।

संगति—अब भगवान फिर चार विभूतियों का संग्रह श्लोक कह रहे हैं—

रूद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरूः शिखरिणामहम् ।। १०/२३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं एकादश रूद्रों के मध्य भगवान शंकर हूँ, यक्षो और राक्षसों का शासक मैं हूँ, धनाध्यक्ष कुबेर मैं हूँ। वसुओं में अग्नि मैं हूँ और सुन्दर शिखरों वाले पर्वतों में सुमेरू पर्वत मैं हूँ।

व्याख्या—यहाँ शंकर शब्द तमोगुणावच्छिन्न त्रिनेत्रधारी शिवजी के लिए अभिप्रेत हैं। आठ वसुओं में अग्नि और श्रेष्ठ शिखरों वाले पर्वतों में सुमेरू। इसीलिए हनुमान जी ने स्वर्ण पर्वत का शरीर धारण किया।

शंकर धनद स्वरूप मैं अरु मैं पावक रूप।
पर्वत बीच सुमेरु मैं भजत मिटैभव कूप ।।

संगति—फिर भगवान तीन विभूतियों का संग्रह कह रहे हैं—

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।। १०/२४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! पुरोहितों में श्रेष्ठ बृहस्पति मुझे ही जानों। अर्थात् उनके रूप में मेरा चिन्तन करो। सेनानियों में कार्तिकेय तथा जलाशयों में सागर मैं ही हूँ।

व्याख्या—बृहत्याः पतिः बृहस्पति अथवा बृहतां पतिः बृहस्पति। बृहतीशब्द वाणी का वाचक है। 'ब्रह्माणी बृहती वाणी' और बृहत शब्द देवता वाचक है। यहाँ 'तद्बृहतोःकर पत्योस्चौर देवतयोः' इस वार्तिक से बृहत के 'त्' का लोप ओर सुट् का आगम अनुबन्धकार्य करके बृहस्पति शब्द सिद्ध किया जाता है।

पुरोहितन मँह देव गुरू कार्तिकेय कँह जानु।
सेनानिन महँ, वारिनिधि मोहि सर बीचनु मानु ।।

संगति—फिर भगवान चार विभूतियों का संग्रह कह रहे हैं-

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।। १०/२५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! महर्षियों के मध्य भृगु में तथा वाणियों में एक अक्षर प्रणव ॐ और राम में, यज्ञों में ओंम और राम के उपांशु जपयज्ञ के रूप में, स्थिर पदार्थों में सबसे विशाल हिमालय के रूप में मैं चिंतनीय हूँ ।

व्याख्या—यहाँ एक शब्द प्रधान के अर्थ में है । ओंम और राम ये दोनों ही प्रधान हैं । इनका क्षरण भी नहीं होता इसलिए ये अक्षर है । जैसा कि गोस्वामी जी कहते हैं—

एक छत्र एक मुकुटमणि सब वरनन पर जोऊ ।
तुलसी रघुवर नाम के बरन विराजत दोऊ ।।

इसका अर्थ दूसरे प्रकार से यों किया जा सकता है कि मैं महर्षियों में भृगु हूँ। वाणी में एक अक्षर प्रणव हूँ, यज्ञों में जपयज्ञ मैं हूँ, स्थिर पदार्थों में हिमालय मैं हूँ

भृगु मैं मध्य महर्षि कै वाणी मँह ओंकार ।
मख मँह जप मख स्थिरन मँह हिमगिर परम उदार ।।

संगति—फिर भगवान चार विभूतियों का संग्रह कह रहे हैं—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।। १०/२६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं सभी वृक्षों में अश्वत्थ अर्थात् पीपल, देवरूप ऋषियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ तथा सिद्धों में कपिल मुनि हूँ । अर्थात् इनमें और इनके रूप में मेरा चिन्तन करना चाहिए ।

व्याख्या—चित्ररथ भगवान की विभूति है । परसुराम की मां रेणुका जलक्रीडा करते हुए चित्ररथ गन्धर्व पर कुछ आसक्त हो गयी थी । 'होमवेलां न सस्मारकिंच्चत् चित्ररथस्पृहा' तब परसुराम जी ने मां का सिर काट दिया । यहाँ भगवान का तात्पर्य यह था कि जब मैं ईश्वर आपका पुत्र ही बन गया तो फिर चित्ररथ पर आसक्ति की क्या आवश्यकता थी। वह मेरी विभूति है, प्रकारान्तर से आप मुझ पर ही आसक्त हुईं इसलिए यह शरीर अब मेरे लिए प्रणम्य नही रहा । अतः परसुराम जी ने मां का सिरच्छेदन कर दिया ।

पीपर मोकह तरून मँह मुनि मँह नारद जानु ।
गन्धर्वन मँह चित्ररथ कपिल सिद्ध मँह मानु ।।

संगति—अब तीन विभूतियों से भगवान अपनी चिन्तनीयता कह रहे हैं-

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।। १०/२७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! घोड़ों में अमृत की उत्पत्ति में हेतु क्षीर सागर में उत्पन्न उच्चैश्रवा घोड़ा मुझे ही जानों तथा श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत एवं मनुष्यों में नरों का अधिकार पूर्वक पालन करने आदि राज पृथु मुझे ही जानो ।

व्याख्या—अमृतं उदभावयति इति अमृतोद्भवः, अर्थात् अमृत की उत्पत्ति में उच्चैश्रवा भी कारण है- 'नराधिपम्' यहाँ अन्य टीकाकारों ने नराधिप का अर्थ राजा किया है । यह सर्वथा असंगत है क्योंकि यहाँ पौराणिक विशिष्ट विभूतियों की चर्चा की जा रही है इसलिए नराधिप शब्द का पृथु अर्थकरना ही शास्त्रीय और न्याय संगत होगा ।

उच्चैश्रवाहयन मँह ऐरावत गज माँहि।
राजन मँह पृथुराज मोहि, मानि शरन जाहि ।।

संगति—फिर भगवान् चार विभूतियों का संग्रह श्लोक कह रहे हैं—

आयुधानामहं वज्रं धेंनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।। १०/२८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं शस्त्रों में वज्र, गॉयों में कामधेनु तथा भगवत भक्ति संतति की उत्पत्ति में उपयोगी काम मैं हूँ और सर्पों में वासुकि नाग मैं हूँ। इन चारों विभूतियों में मेरा चिन्तन करना चाहिए ।

व्याख्या—साधारण काम जिससे सूकर, कूकर, नास्तिक, राष्ट्रदोही, धर्मद्रोही और भ्रष्टाचारी संतति का जन्म हो वह प्रजन नही होता । और न वह काम मेरी विभूति है। मेरी विभूति तो वह काम है जिससे भगवत भक्त संतान का जन्म होता है जैसे- श्री प्रह्लाद जी के जन्म के सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है । जब हिरण्याकशिपु ने भगवान पर आक्रमण किया तव हिरण्यकशिपु को ब्रह्मा जी के वरदान के कारण अपने से अजेय मानकर भगवान विष्णु हिरण्याकशिपु के हृदय में छिप गये । प्रह्लाद की माँ कयाधु को इस रहस्य का ज्ञान हो गया । इसलिए उसने उस रात स्वयं हिरण्याकशिपु के साथ सहवास किया । वह प्रह्लाद की प्रजननि क्रिया में प्रयोजक हिरण्याकशिपु का काम साक्षात् नारायण स्वरूप ही था । यहाँ 'प्र' उपसर्ग का यही तात्पर्य है । इसीलिए मानस में सुमित्रा जी भी कहती हैं—

पुत्रवती जुवती जग सोई।
रघुपति भगति जासु सुत होई।।

शस्त्रन मँह पवि धेनु मँह कामधेनु मैं मित्र।
प्रजन काम मैं सर्प मँह वासुकि नाग विचित्र।।

संगतिं—फिर भगवान चार विभूतियों के संग्रह से युक्त श्लोक कह रहे हैं—

अनन्तश्चास्मि नागानां वरूणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।। १०/२९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं पाताललोक निवासी आठ नागों में पृथ्वीधारण करने वाला अनन्तनाग हूँ। मैं जलचरों का शासक वरूण हूँ पित्र देवताओं का स्वामी अर्यमा मैं हूँ तथा बन्धन करनेवालों में यमराज मैं ही हूँ।

व्याख्या—अनन्तनाग ने पृथ्वी को धारण किया है वे ही श्रीरामावतार में लक्ष्मण और कृष्णावतार में बलराम रूप में विराजते हैं। यादस्य शव्द जलचर का वाचक है।

नागन बीच अनन्त मैं वरूण जल चरं काज।
पितरन मँह मैं आर्यमा दण्ड धरन यमराज।।

संगति—फिर भगवान चार विभूतियों का संग्रह श्लोक कहते हैं—

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाग्।। १०/३०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूँ, समय की संख्या करने वालों में काल मैं हूँ, मृगों में सिंह मैं हूँ, और पक्षियों में गरूण मैं हूँ।

व्याख्या—प्रह्लाद विशिष्ट भगवत विभूति हैं क्योंकि भगवान के कीर्तन मण्डल में उन्हें ताल बजाने की सेवा मिली थी। गरूड़ देव मेरे आसन ही हैं।

दैत्यन मँह प्रह्लाद मैं सँख्या मँह प्रियकाल।
मृगन माँहि मैं केसरी खग मंह विनिता लाल।।

संगति—अबकि भगवान चार विभूतियों का संग्रहात्मक श्लोक कह रहे हैं—

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।। १०/३१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं पवित्र करने वालों में पवन तथा शस्त्र धारियों में श्रेष्ठ भगवान राम हूँ मछलियों में मकर और नदियों में भगवती गंगा मैं ही हूँ।

व्याख्या—यहाँ राम शब्द भगवान श्रीराम का वाचक है परसुराम का नहीं क्योंकि दो आविर्भावों की भी यहाँ चर्चा है।

पवन पवित्री करणमँह शस्त्रि मँह रघुचन्द।
जसन माँहि मैं मकर सरि गंगाधार अमंद ।।

संगति—फिर भगवान पांच विभूतियों का संग्रह कह रहे हैं—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्यानां विनां वादः प्रवदतामहम् ।। १०/३२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! देव तिर्यक मनुष्यों की सृष्टियों में उत्पत्ति पालक संहारक मैं हूँ विद्याओं में अध्यात्म विद्या मैं हूँ। विवाद करने वालों का वाद मैं ही हूँ।

व्याख्या—यहाँ आदि मध्य अन्त से उत्पत्ति पालन और प्रलय अभीष्ट है। सांख्ययोग, न्याय वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तरमीमांसा से युक्त भक्ति विद्या ही अध्यात्म विद्या मैं ही हूँ। प्रवदतां, प्रवाद का आश्रय करने वालों के जल्पादि में वाद मैं ही हूँ। क्योंकि तत्सुवुमुत्सु कथा को वाद कहते हैं।

संगति—फिर भगवान् चार विभूतियों का संग्रहात्मक श्लोक कह रहे हैं—

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।। १०/३३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं अच्छरों में अक्षर और अव्ययी भाव, कर्मधारय, द्विगु, तत्पुरूष, बहुव्रीहि और द्वन्द समास में मैं ही अविनाशी काल महाकाल शिव हूँ। मैं ही धाता अर्थात् विष्णु हूँ मैं ही चतुर्मुख ब्रह्मा हूँ।

व्याख्या—द्वन्द उभय पद प्रधान होता है। और प्रकृति में सीताराम राधाकृष्ण के रूप में शक्ति और शक्तिमान दोनों की प्रधानता है। यहाँ अक्षय का शिव धाता से, पालन करता विष्णु, विश्वतो मुख से चतुर्मुख ब्रह्मा का ग्रहण हैं।

संगति—अब भगवान नौ विभूतियों का संग्रह श्लोक कह रहे हैं—

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।। १०/३४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणियों का हरण करने वाला मृत्यु मैं हूँ, आगामी जीवों का उत्पत्ति कारण मैं हूँ। स्त्रियों में कीर्ति श्रीवाणी, स्मृति, मेघा, क्षमा मैं ही हूँ।

व्याख्या—यहाँ कीर्ति से पार्वती, श्री से महालक्ष्मी, सीताजी एवं राधाजी, वाग् से सरस्वतीजी का ग्रहण है।

संगति—फिर भगवान् चार विभूतियों का संग्रहात्मक श्लोक कह रहे हैं—

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।। १०/३५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! साम श्रुतियों में वृहतसाम मैं हूँ। लौकिक वैदिक छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ, महीनों में मार्गशीष मैं हूँ और ऋतुओं में वसंत मैं हूँ।

व्याख्या—इसलिए मार्गशीर्ष में भगवान राम का विवाह हुआ, मंगलमूल लगन दिन आव। हिम ऋतु अगहन मास सुहावा॥ और वसंत में भगवान राम का जन्म हुआ। नवमी तिथि मधुमास पुनीता। शुकल पक्ष अभिजित हरिप्रीता।

संगति-फिर पाँच विभूतियों का श्लोक भगवान प्रस्तुत करते हैं—

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।। १०/३६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! छल करने में जुआ मैं हूँ, तेजस्वियों का तेज मैं हूँ, विजय मैं हूँ, निश्चय मैं हूँ, और धैर्यशालियों का धैर्य मैं हूँ।

व्याख्या—द्यूत को अपनी विभूति कहकर भगवान यह संकेत कर रहे हैं कि मेरी भक्ति को बढ़ाने के लिए मेरी विभूति द्यूत ने ही तुम्हें पराजित किया है।

संगति—फिर भगवान तीन विभूतियों और एक स्वयं के आर्विभाव से इस श्लोक का संग्रह करते हैं—

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामपयहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।। १०/३७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! वृष्नवंशियों में वासुदेव अर्थात् वसुदेव देवकी का आठवां पुत्र कृष्ण मैं हूँ। सम्पूर्ण विभूतियों का नायक तुम्हारा मित्र पाण्डवों में धनञ्जय तुम अर्जुन भी मैं हूँ। मुनियों में सत्यवती नन्दन व्यास मैं हूँ और बुद्धिमानों में शुक्राचार्य मैं हूँ।

व्याख्या—यहाँ तीन विभूति और एक आविर्भाव का संग्रह है। धनञ्जय कहकर संकेत करते हैं कि तुम अपने में भी मेरा चिन्तन कर सकते हो।

संगति—फिर चार विभूतियों से भगवानश्लोक प्रस्तुत करते हैं—

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।। १०/३८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! दमन करने वालों का दण्ड मैं हूँ विजय की इच्छा करने वालों की नीति मैं हूँ गोपनीय विषयों का मौन मैं हूँ तथा ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ।

व्याख्या—यहाँ नीति रश्म का तात्पर्य यह है कि तुम्हें विजय श्री प्राप्त होगी क्योंकि नीति तुम लोगों के पास है। 'ध्रुर्वानीतिर्मतिर्मम'।

संगति—अब भगवान योग का संहार कर रहे हैं।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।। १०/३९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन्! जो सम्पूर्ण भूत प्राणियों का बीज अर्थात् अभिन्न निमित्तोपादान कारण है वह भी मैं हूँ। जड़ या चेतन ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मेरे बिना स्थित हो।

व्याख्या—यहाँ बीज का अर्थ है अभिन्निमित्तोपादान कारण इसी श्लोक से भगवान जीव के साथ अपना आविनाभाव सम्बन्ध सिद्ध कर रहे हैं।

संगति—अब अपने विषय को संक्षिप्त कर रहे हैं।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे परंतप मेरी अलौकिक विभूतियों का अन्त नहीं है। किन्तु मेरे द्वारा यह अपनी विभूतियों का विस्तार नाम मात्र गिनाकर कह दिया गया अर्थात् इसकी व्याख्या नहीं की गयी।

व्याख्या—'उद्देश्यतः उद्देश्य शब्द का अर्थ है नाम लेकर वस्तुओं का संकीर्तन। यहाँ ध्यान रहे कि इस विभूति प्रकरण में भगवान की तीन विभूतियां साक्षात् सम्बन्ध से श्री और भूति परम्परा सम्बन्ध से तथा स्वयं भगवान सम्पूर्ण विभूतियों के नायक पाण्डवों के पक्ष में ही हैं। दुर्भाग्य से कौरव पक्ष में भगवान की कोई विभूति नहीं है। जैसा

कि स्वयं संजय कहते हैं—यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः तत्रश्री विजियोभूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम (गीता-१८/७८)

संगति—अब भगवान विभूति योग का तटस्थ लक्षण कहते हैं—

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं, श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं ममतेजोंऽशसम्भवम् ।। १०/४१

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन्! इस संसार में जो-जो विभूतिमान, शोभायुक्त, एवं ओजस्वीं पदार्थ दीख पड़े वह सब मेरा तेजोमय अंश से उत्पन्न जानो।

व्याख्या—यहाँ यत्-यत् तत्-तत् कहकर सम्पूर्णता का संकेत करते हैं अर्थात् जहाँ भी अति मानवीय व्यक्तित्व दिखाई पड़े उसे मेरे तेजोमय अंश से उत्पन्न जानों।

संगति—अब भगवान विभूति योग का सारांश कहते है।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।। १०/४२

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन्! अथवा इस विपुल विभूति योग के जानने से तुम्हारा क्या लाभ। वस्तुतः इस सम्पूर्ण चराचर जगत को अपने एक अंश से ही अपने में मैं समाविष्ट करके स्थित हूँ।

व्याख्या—सारा संसार भगवान के एक अंश से व्याप्त है। इसीलिए शुक्ल- यजुर्वेद ३१।३ में कहा गया है "पादौऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिविः"।

राघवकृपाभाष्यवर अनुपम दशमाध्यायः।
रामभद्र आचार्य करि प्रभु कर प्राप्ति उपाय।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामीरामभद्राचार्य प्रणीतं श्रीराघवकृपा भाष्ये श्रीमद्भगवत्गीतासु भक्तियोगोनाम दशमोऽध्यायः।

श्री राघवः शन्तनोतु

●

"श्रीमद्राघवो विजयते"

"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

एकादशोऽध्यायः

मंगलाचरणं

जयति जनककन्या धन्यताधानहेतु-
र्विबुधबुधभूरुहभानुवंशैककेतुः ।।
दनुजकुलविनेता जानकीनेत्रनेता
शुचिचरितसुचेता राघवः सत्प्रणेता ।।१।।

निजजनसुखदाता वेदमार्गप्रमाता ।
दनुजनिकरहन्ता पामराणां नियन्ता ।।
निजनखगिरिधर्ता रुक्मिणीप्राणभर्ता ।
विनततिविधाता पातु गीताभिधाता ।।२।।

भारतीभाग्यसर्वस्वभारतीभाग्यभारती ।
भारते भारते भायात् श्रीगीताभव्यभारती ।।

अथ समाकर्ण्य महाविभूतिपतेः श्रीपतेः पतितपावनस्य परमात्मनः श्रीमुखारविन्दात् विभूतियोगम् । विनष्टविश्वाधिपतिविश्ववियोगं निरीक्ष्य निजनाथस्य निर्हेतुनिजनियोगं सव्यसाची भूरिभाग्यमनुशंसन् भगवन्तमभाणीत भागवतशिरोमणिः पार्थः ।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।। ११-१

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे प्रभो ! मयि अनुग्रहः मदनुग्रहः तस्मै मदनुग्रहाय मयि कृपां कर्तुमिति भावः यत्तु ममानुग्रहः मदनुग्रहः इति कैश्चिद् व्याख्यातं

तदसंगतम् प्रकरणविरोधात् अनुग्रहस्य आधारसापेक्षत्वात् । परमं सकलश्रुतिसारत्वात्। वन्दनीयं गुह्यं गोपनीयं संज्ञासंज्ञितम् । "भावे क्त" अध्यात्मं द्वितीयाध्यायप्रोक्तं आत्मानात्मज्ञानं संज्ञितं संज्ञा यस्य एवं भूतं त्वया यत्र भवता भगवता यद्वच: वचनमुक्तं तेन अयं द्वितीयध्यायप्रोक्तं वर्तमान: त्वत्स्वरूपविस्मृतिकारक: वर्तमान: मम अर्जुनस्य मोह: विगत: न तु नष्ट: गत: परावर्तते नष्टो न निवर्तते अतो मोहनाशाय भगवता प्रयत्न: करणीय: इति पार्थभारती भणति ।श्री: ।

प्रथमे श्लोके प्रथमाध्यायषट्कान्तर्गतं भगवत्प्रोक्तं स्वेनावधारितं समनुवाद्य अथ सप्तमाध्यायात् दशमाध्यायं यावच्छ्रुतं तदनुवदति भवाप्ययौ इत्यादिना ।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्त: कमलपत्राक्ष महात्म्यमपि चाव्ययम् ।।

(गीता. ११।।२१)

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—कं जलं अमलयति निर्मलयति इति कमलं (शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । कमलस्य पत्रं कमलपत्रं कमलपत्रमिव अक्षिणी नेत्रे यस्य स कमलपत्राक्ष: (तत्सम्बोधने) हे कमलपत्राक्ष ! हे पद्मपलाशनेत्र मया अर्जुनेन त्वत्त: भवतस्सकाशात् भूतानां भव: जन्म सप्तमाध्यायस्य पूर्वार्धे अप्यय: प्रलय: अष्टमेऽध्याये नवमेऽध्याये च भवश्च अप्ययश्च इति भवाप्ययौ उत्पत्तिप्रलयौ विस्तरश: विस्तरेण श्रुतौ च तथा, क्वचित् सप्तमे, क्वचित् क्वचित् अष्टमे नवमे, दशमे समग्रे तव अव्ययं व्ययवर्जितं माहात्म्यं लोकोत्तरं सामर्थ्यं विस्तरेण श्रुतम् ।।श्री:।। किं मत्कथने कश्चन संदेहस्तव हृदि इत्यत आह—

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।।

(गीता ११/३)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे परमेश्वर ! परमश्चासौ ईश्वर: (तत्सम्बद्धौ) हे परमेश्वर आत्मानं स्वं त्वं यथा येन प्रकारेण आत्थ, कथयसि एतत् एवमेव तत्सर्वमक्षरश: सत्यम् । अहो भवन्मुखचन्द्रनिर्गलितषडैश्वर्यसम्पन्नयोगवर्णनसुधया मम कर्णौ तु तृप्तौ । न पुनस्तावन्नेत्रे अत: हे पुरुषोत्तम ! ईश्वरस्य इदमैश्वरं सकलैश्वर्यं ते रूपं द्रष्टुं विलोकयितुमिच्छामि । श्री: ।

नन्वेतादृशमैऐश्वरं रूपं द्रष्टुं क्षमसे ? इति भगवत: सम्भावितजिज्ञासामालक्ष्य स्वयमेव प्राह—

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।।

(गीता - ११/४)

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—यद्यपि अहं साधारण: क्षोदिष्ठो जीव: कथमनन्तवैभवे भवन्तं द्रष्टुं प्रभवामि, परन्तु असमर्थोऽपि द्रष्टुमिच्छामि । त्वं तु सदा सेवकरुचिरञ्जन:, त्वमेव त्वद्रूपदर्शनार्थं मयि पात्रतां धेहि । हे योगीश्वर योगिनां योगामीईश्वर योगेश्वर: तत् सम्बोधने हे योगेश्वर, हे सकलयोगपते, हे प्रभो सर्वसमर्थ सर्वेश्वर ! यदि तद्रूपं मया अर्जुनेन द्रष्टुं शक्यं, अहमिति यदि मन्यसे विश्वसिसि तदा अव्ययं विनाशवर्जितं अविनाशितनम् आत्मानं, स्वं मे मह्यं अर्जुनाय दर्शय, प्रत्यक्षं कारय यदि मन्यसे न द्रुष्टं शक्यते तदा मा दर्शय इत्यपि न । तत: प्राह प्रभो ! यतस्त्वं सर्वसमर्थ: अयोग्येष्वपि योग्यतामाधातुं शक्नोषि प्रणतिवाच्छा-परिपालनाय इत्यभिप्रायेण प्रभो इति विशेषणम् । श्री ।

एवं चतुभि: श्लोकै: प्रार्थितश्चतुरचक्रचूड़ामणिश्चतुर्थ: श्रीकृष्ण: प्रसन्न: प्राह चतुर्भि: श्रीभगवान् उवाच—

पश्य मे पार्थरूपाणि शतशोऽथ सहस्रश: ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।।

(गीता ११/५)

रा०कृ०भा०—हे पार्थ अथ अनन्तरं शतश: शतानि सहस्रश: सहस्राणि नाना विधानि अनेकप्रकाराणि दिव्यानि लोकोत्तराणि वर्णा: शुक्लादय: आकृतय: आकारा: येषां तानि नाना वर्णाकृतीनि, अनेकवर्णाकाराणि मे मम रूपाणि पश्य अवलोकय, चाक्षुषसाक्षात्कारविषयाणि कुरु ॥ श्री: ॥

'किञ्च''—

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।।

(गीता ११/६)

रा०कृ०भा०—हे पार्थ, आदित्यान् विवस्वादीन् द्वादश वसून् द्रोणादीन् अष्टौ, रुद्रान् एकादश, अश्विनौ द्वौ, मरुतः ऊनपञ्चाशत्, एवं हे भारत पूर्वं दृष्टानि दृष्टपूर्वाणि, "सुप् सुपा" इति समासः । न दृष्टपूर्वाणि इति अदृष्टपूर्वाणि यानि पुरा कदापि न दृष्टानि तानि आश्चर्याणि आश्चर्यमयानि पश्य । इत्यनेन स्वाधीनसंसारप्रवर्तनत्वं जगतश्च स्वशरीरत्वं सूचितम् । श्रीः । अथ इमानि रूपाणि क्व क्व द्रष्टव्यानि इत्यत आह—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ।।

(गीता. ११/७)

रा०कृ०भा०—हे गुडाकेश गुडाकां निद्रामीईष्टे शास्ति इति गुडाकेश तत्सम्बुद्धौ हे गुडाकेश ! निद्रायां नेत्रे विमुद्रिते भवतः त्वं तु निद्रायाः विजयी, अतो प्रेम्णा द्रष्टुं पारयसि इत्यभिप्रायेणाह गुडाकेश इति, इह मम देहे अलौकिके स्वेच्छामये शरीरे एकस्थम् एकस्मिन् तिष्ठतीति एकस्थं न तु बहुस्थं चराणि चेतनानि अचराणि जडानि इति चराचराणि तैः सह वर्तमानं जगत् अद्य पश्य । एवमन्यदपि स्वेच्छया त्वं यदि द्रष्टुमिच्छसि अभिलषसि तदपि पश्य ।श्रीः। परमकारुणिको भगवान् पार्थसौलभ्यार्थं तस्मै दिव्यं चक्षुर्दित्सन् प्रतिजानीते—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।

(गीता ११-८)

रा०कृ०भा०—हे पार्थ, तु किन्तु अनेन स्वेन एतेन प्राकृतेन चक्षुषा परिमित विलोकनशक्तिकेन चक्षुषा नेत्रेण मां निरवधिगुणाकरं प्रकटित चिकीर्षितानेकरूपं द्रष्टुं साक्षात् कर्तुं न शक्यसे न क्षमसे, तेन ते तुभ्यं दिव्यमलौकिकं चक्षुः नेत्रं ददामि, अर्पयामि । मे ऐश्वरमीश्वरं इदमैश्वरम् परमैश्वर्यसम्पन्नं योगमघटितघटनासामर्थ्यं पश्य चाक्षुषप्रत्यक्षविषयं कुरु । श्रीरामावतारे भ्रष्टचारित्र्यकारणात् एकस्येन्द्र पुत्रस्य जयन्तस्य देवस्यापि चक्षुर्मया नाशितं । श्रीकृष्णावतारे उर्वशीप्रसंगे चारित्र्य रक्षाकारणात् तुभ्यं दिव्यं चक्षुः ददामि, इत्येव चारित्र्यमहिमा ॥ श्रीः ॥

अथ पार्थाय भगवता दिव्यं चक्षुः प्रदानानन्तरं किं जातं इति सविशेषं जिज्ञासमानं धृतराष्ट्रं प्रत्याह संजयः इत्यवतारयति वैशम्पायनः जनमेजयं प्रति—

"संजय उवाच"

व्यासप्रसादाल्लब्धदिव्यचक्षुः रागद्वेषादिविजेता संजयोऽनन्तरभाविनीं घटनां वर्णयामास-

"एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।। ११/९।।

रा०कृ०भा०—हे राजन् ! अर्जुने भगवतः श्रुत्वाप्येतादृशीं कृपां पाण्डवैः सह सन्धिं न चिकीर्षसि राज्यं लिप्ससे अधर्मिकाय पुत्राय इत्येव तव दुस्त्यजो राज्यमोहः इत्याशयेन सम्बोधयति । राजन् हे दुस्त्यजराज्यमोहवान् योगानामीईश्वरः योगेश्वरः महाचासौ योगेश्वरश्च इति महांयोगेश्वरः नवयोगेश्वरेभ्योऽपि विलक्षणः श्रीहरिः ते दिव्यं चक्षुः ददामि इत्येवमुक्त्वा ततः तदनन्तरं यद्वा ततः सर्वव्यापकः, यद्वा ततः अशेषजगतां पिता, ततः पिता नोदितो मे ततद्रुहम् इत्यादि दर्शनात् । पृथानन्दनाय ईश्वरः अस्त्यस्मिन् इत्यैश्वरं परमं पूज्यं रूपं विराड्रूपं दर्शयामास प्रत्यक्षविषयं कारयामास इत्यनेन दिव्यचक्षुप्रदानं व्यज्यते । यदि दिव्यचक्षुर्नामिलिष्यत् तदा मामर्जुनो भगवन्तं नादृक्षत् ।।श्रीः।।

"कीदृग् विधं तद्रूपं इति प्रपंचयति द्वाभ्याम्"-

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ।।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनं ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ।।११/१०-११।।

रा०कृ० भा०—अनेकानि वक्त्राणि मुखानि नयनानि नेत्राणि यस्मिन् तत् अनेकवक्त्रनयनं, अनेकानि असंख्यानि अद्भुतानि आश्चर्यमयानि दर्शनानि यस्मिन् तत् अनेकाद्भुतदर्शनं, एवम् अनेकानि दिव्यानि अलौकिकानि आभरणानि अलङ्कराः यस्मिन् तत् अनेकदिव्याभरणं,तथा दिव्यानि लोकोत्तराणिा अनेकानि नानाविधानि उद्यतानि प्रहर्तुं सज्जीकृतानि आयुधानि शस्त्राणि यस्मिन् तत् दिव्यानेकोघतायुधम् । तथा च दिव्यानि माल्यानि नन्दनवनकुसुमस्त्रजः एवं भूतानि अम्बराणि वस्त्राणि इति दिव्यमाल्याम्बाराणि धरतीति धरम् दिव्यानां माल्यानां अम्बराणां धरम् धारणकर्तु ततः षष्ठीसमासः दिव्यमाल्याम्बराणां धरम् दिव्यमाल्याम्बरधरम् ततः षष्ठीसमासः । दिव्यगन्धमनुलिम्पतीति दिव्यगन्धानुलेपनं अथवा दिव्यगन्ध एव अनुलेपानं यस्य तत्

दिव्यगन्धानुलेपनम् तत् दिव्यगन्धानुलेपनं । सर्वाणि आश्चर्याणि प्राचुर्येण सन्ति यस्मिन् इति सर्वाश्चर्यमयं, नास्ति अन्तो यस्य तदनन्तं, विश्वतः सर्वाणि मुखानि सन्ति यस्मिन् तद् विश्वतोमुखं, एवं तं देवं द्योतनात्मकं निजं परमैश्वर्यसम्पन्नरूपं पार्थाय दर्शयामास महायोगेश्वरो श्रीहरिः ।।श्रीः।।

अथकीदृशं तद्रूपं किमुपमानं तस्य इति जन्मतो ऽनवलोकितसूर्यं धृतराष्ट्रं प्रति संजयः प्राह—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।।२/१२।।

रा० कृ० भा०—हे धृतराष्ट्र ! निरस्तसकलोपमं तद्भगवतो रूपम् अतः असंभावितोपमानं परिस्थितिमाह दिवि अन्तरिक्षे युगपत् एकसार्धं सूर्याणां सहस्रं सूर्यसहस्रं तस्य सूर्यसहस्रस्य कोटि कोटि सूर्याणां भाः प्रकाशः यदि उत्थिता स्यात् समुदीयात् यदि कदाचित् सा यौगपद्येन नभसि समुत्थिता कोटि कोटि सूर्याभाः तस्य महात्मनः श्रीकृष्णस्य धृड्वपुषः सदृशी स्यात् तुल्या भवेत् ।।श्रीः।। एवं भगवद्रूपं वर्णयित्वा अर्जुनवृत्तमाह—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।।११/१३।।

रा० कृ० भा—तदा तस्मिन्काले पाण्डवः तृतीयः पाण्डुपुत्रः अनेकधा अनेकैः प्रकारैः प्रविभक्तं एकस्थं एकीभूतं कृत्स्नं सम्पूर्णं चिदचिदात्मकं जगत् संसारं देवानां ब्रह्मादीनामपि देवः इति देवदेवः तस्य देवदेवस्य श्रीकृष्णस्य तत्र शरीरे अपश्यत् दिव्येन चक्षुषा व्यलोकयत् ।।श्रीः।।

अनन्तरं किं जातं किमर्जुनः परिव्राजतां गतः इत्यत आह संजयः—

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।।११/१४।।

रा० कृ० भा०—ततः विराट्रूपदर्शनानन्तरं विस्मयेन आश्चर्येण आविष्टः आवेशवान् हृष्टानि प्रसन्नानि रोमाणि यस्य सः हृष्टरोमा पुलकाङ्गः स धनञ्जयः देवानामपि दुर्लभं मुनिजनधनं भगवद्रूपं साक्षात्कृत्य जितवानस्ति इति धनञ्जयत्वं सार्थकमस्ति । शिरसा देवं प्रणम्य दण्डवत् प्रणिपत्य कृताञ्जलिः सम्पुटीकृत-हस्तयुगलः अभाषत रूपदर्शनान्तरसमुद्भूतस्वानुभवं समनुभावयितुं अवदत् ।।श्रीः।।

अथार्जुनः सप्तदशभिः गृहीतषोडशकलं भगवन्तं श्रीकृष्णं प्रति दृश्यमानरूपं वर्णयितुमुपक्रमते-"अर्जुन उवाच"

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।।११/१५।।

रा० कृ० भा०—हे देव ! परमात्मन् श्रीकृष्ण तव भवतः देहे श्रीविग्रहे सर्वान् देवान् इन्द्रादीन् भूतविशेषां सङ्घान् विशिष्टप्राणिसमूहान् ये खलु भजनमहिम्ना भगवत्सामीप्यं प्राप्तवन्तः नित्याः मुक्ताश्च जीवाः ब्रह्माणं चर्तुर्मुखं कमलासनस्थं हत्-कमलमेरुकर्णिकायां विराजमानं ईशं शिवं तथा सर्वान् ऋषीन् वसिष्ठादीन् दिव्यान् अनन्तवासुकिप्रभृतीन् उरगान् सर्पांश्चं पश्यामि विलोकयामि ।।श्रीः।। अन्यच्च—

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पंश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ।।११/१६।।

रा० कृ० भा०—विश्वस्य ईश्वरः- विश्वेश्वरः तत् सम्बुद्धौ हे विश्वेश्वर सकलजगत्नियन्तः विश्वानि समस्तानि रूपाणि यस्य यद्वा विश्वं संसारः रूपं यस्य स विश्वरूपः जगत् सर्वं शरीरं ते इति वचनात् । हे सर्वसंसाररूप अनेके बाहवः भुजाः उदराणि वक्त्राणि नेत्राणि च तेषां समाहारः बाहूदरवक्त्रनेत्रं अनेकं बाहूदरवक्त्रनेत्रं यस्य स तं, सर्वतः सर्वेभ्य सर्वत्र वा अनन्तानि अन्तरहितानि रूपाणि यस्य तं, त्वां पश्यामि । तथा च तव न अन्तं, न मध्यं न पुनः आदिं पश्यामि आश्चर्यद्योतनार्थं पौनरुक्त्यम्, त्वां आद्यन्तमध्यरहितं विभावयामि ।।श्रीः।।

किंच न केवलं तत्रानन्त्यं प्रत्युत् सायुधत्वं दुर्धर्षत्वं च—

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।
११/१७।।

रा० कृ० भा०—किरीटमस्त्यस्य स किरीटी तं किरीटिनं गदा अस्त्यस्य इति गदी तं गदिनं "व्रिह्यादीत्वादिनी" चक्रमस्त्यस्य इति चक्री तं चक्रिणं चक्रायुधं, चकारात् कम्बुकञ्जयुक्तं च तेजसां राशिं सवर्त:सर्वेषु विभागेषु अत्र तसिरः न तु तसिल्। दीप्तिमन्तं प्रकाशवन्तं समन्तात् सर्वेभ्यः विभागेभ्यः दुर्निरीक्ष्यं दुःखेन निरीक्षितुं शक्यम् अनलः अग्निः अर्कः सूर्यः अनलश्च अर्कश्च अनलार्कौ लक्षणहेत्वो-क्रियायाः पा० अ० ३/२/१२६ इत्यनेन पूर्वनिपातस्य अनित्यत्वज्ञापनात् अनल्पाच्तरत्वेऽपि अनलशब्दस्य पूर्व निपातः, यद् वा वेदे सर्वप्राथम्येन कीर्तनात् "अग्निमीले पुरोहितं" ऋ० १-१-१ इत्यादिभिः अग्नेरभ्यर्हितत्वं, दीप्तौ प्रकाशमानौ अनलार्कौ वह्निभास्करौ तयोर्द्युतिरिद्युतिर्यस्य स तं दीप्तार्कनलकिद्युतिं प्रकाशमानवह्निसूर्यौ शोभमप्रमेयं प्रमाणातीतं त्वां पश्यामि ॥श्रीः॥ किंच त्वां पश्यन् त्वद्विषये किमप्यनुमिनोमि—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं ।
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

रा० कृ० भा०—त्वं भवानेव वेदितव्यो ब्रह्मवादिभिः ज्ञातुं योग्यं परममक्षरं परमं व्यापकतत्त्वं जीवव्यावृत्यर्थं परमं इति विशेषणम् । तथा अस्य विश्वस्य संसारस्य त्वमेव पदमुत्कृष्टं निधानं रत्नं निधीयते इति निधानं इति व्युत्पत्तेः, यथोक्तंव्रजाङ्गनाभिः—

ईहशा पुरुषभूषणतेचया
भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः ।
धिक्तदीयकुलशीलयौवनं धिक् तदीयगुणरूपसंपदः ।

किंच त्वमेवाव्ययः षड्विकारवर्जितः शाश्वतस्य वैदिकस्य धर्मस्य गोप्ता रक्षकः, त्वमेव सनातनपुरुषः महाविष्णुःमे मम मतः पूज्यः पूजित इतः पूर्व सुभद्रापतित्वात् अहं भवतां पूज्यं मन्य आसम् । किन्त्वधुना भवतो गुरुत्वाद् गोविन्दत्वाच्च निरस्तभवद्भगिनीपतिभावोऽहं भवन्तमेव पूजये । अत्र एकं मम गीतम्—

हृदये निवेश्य रामं नयने निमील्य श्यामं,
पूजनमहं करिष्येऽर्चनमहं करिष्ये ।

श्यामलरूपं यदुकुलभूपं निजहृदये प्रणिधाय,
आवाहमासनं विधास्ये कमलं मनो विधाय ।
पाद्यं प्रपत्तिभावं अर्घ्यं निजं स्वभावम्,
पूजनमहं करिष्येऽर्चमहं करिष्ये ।
करुणामयमाचमनं दिव्यं स्नपनं लोचनवारि
भावसुवस्त्रं विफलितशस्त्रं स्नेहं सूत्रमघारिः ।
गन्धं मनोरथं मे सुमनो मनःपथं मे
पूजनमहं करिष्येऽर्चनमहं करिष्ये ।
श्रद्धाधूपं सुस्मृतिदीपं नैवेद्यं मृदु प्रेम,
सुमनो ऽञ्जलिं त्वदीयं अर्पितवपुर्मदीयं
पूजनमहं करिष्येऽर्चनमहं करिष्ये ।
नीराजनां मदीयां प्रणतिं स्वीकुरु दीनानाथ
गीतागायक पाहि गिरिधरं नरभूषण यदुनाथ
दर्शय मुखं स्वकीयं मण्डय मनो मदीयं
पूजनमहं करिष्येऽर्चनमहं करिष्ये ।।श्रीः।।

किंच—

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।।१९।।

रा० कृ० भा०—न विद्यन्ते आदिमध्या यस्य तं अनादिमध्यान्तं आदिमध्यान्तरहितं, अनन्तं वीर्यं सामर्थ्यं यस्य तम्अनन्तवीर्यं, अनन्ता: रविः सूर्यो नेत्रे यस्य तं शशिसूर्यनेत्रम्, भक्तानां कृते चन्द्रसदृशशीतलनेत्रं दुष्टानां कृते सूर्यसदृशतापकलोचनं, हुतं हवनं अश्नातीति हुताशः हवनीयाग्निः दीप्तः ज्वलनशीलः हुताशः अग्निः वक्त्रं मुखं यस्य तं, स्वतेजसा इदं विश्वं संसारं तपन्तं तापयनतं त्वां भवन्तं पश्यामि ।।श्रीः।।

किं मां पश्यन् त्वं विभेषि वा प्रसीदसि वा इत्यत आह-

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।।२०।।

रा० कृ० भा०—द्यावापृथिव्योः स्वर्गमर्त्यलोकयोरिदम्अन्तरम्अन्तरालं यदन्तरिक्षं, तत् त्वया एकेन अनन्तरूपधारिणा व्याप्तं तथा सर्वा दिशोऽपि व्याताः, हे महात्मन् ! महान्तः त्वदनन्यमनसो भक्ता आत्मवत् प्रिया यस्य स महात्मा तत् सम्बोधने हे महात्मन् इदं तव उग्रं भयङ्करं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं आकाशपातालमर्त्यात्मकं प्रव्यथितं, अहमपि तदन्तर्गतत्वात् प्रव्यथित एव अत उपसंहर इति व्यज्यते ।।श्रीः।।

किंच "यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः" इति पार्थशङ्कां निराकरिष्णुना भगवता यद् दर्शितं तदप्याह—

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ।।२१।।

रा० कृ० भा०—हे प्रभो अमी इमे पुरोवर्तमानाः सुरसङ्घाः त्वामेव विशन्ति प्रविशन्ति, केचिद् देवाः गृणन्ति । महर्षीणां भृग्वादीनां सिद्धानां कपिलादीनां सङ्घा समूहा स्वस्तिः इत्युक्त्वा कल्याणं भवतु पुष्कलाभिः अनेकाभिः स्तुतिभिः त्वां भवन्तं स्तुवन्ति । एवं प्रभावो भगवान् यस्य सारथिस्तस्य विजये न सन्देहः इति स्वयमेव पार्थो निःशङ्को भवति ।।श्रीः।।

किंचास्माकं का कथा विशिष्टाः देवा अपि त्वां विस्मिताः विलोकयन्ति—

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।।२२।।

रा० कृ० भा०—रुद्राः शङ्करादयः आदित्याः विश्वादयः, वसवोद्रोणादयः, साध्याः साध्यगणाः, विश्वे विश्वेदेवाः, अश्विनौ अश्विनीकुमारौ, उष्मपा उष्माणं पिबन्ति उष्णीकृत्य दुग्धादिकं गृणन्ति ये ते पितरः ऊष्मभागा हि पितरः इति श्रुतेः । गन्धर्वाः देवगायकाः यक्षाः कुबेरादयः असुराः वैरोचनादयः, सिद्धानां सङ्घा कपिलादयः, यद् वा सिद्धान्तानां द्वन्दः पुनश्च ते सङ्घाः इति तत्पुरुषः । इमे सर्वेऽपि त्वां भवन्तं विस्मिताः आश्चर्यान्विताः वीक्षन्ते सविशेषं पश्यन्ति ।।श्रीः।।

किंच त्वद् दर्शनेन शान्तिर्मिलति परन्तु अस्मिन् महती अशान्तिः इत्यत आह—

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।।२४।।

रा० कृ० भा०—नभः आकाशं स्पृशति इति नभःस्पृशं अतिविशालं परमव्योम स्पर्शनं शीलं वा दीप्तं प्रकाशमानं अनेकानि वर्णानि यस्य तमनेकवर्णं, व्यात्तानि विवृतानि आननानि यस्मिन् तं व्यात्ताननं, दीप्तानि प्रकाशितानि विशालानि कर्णान्तविस्तृतानि नेत्राणि लोचनानि यस्य तं, दीप्तविशालनेत्रं, एवं विधं त्वां दृष्ट्वा विलोक्य हे विष्णो ! सर्वव्यापिन् प्रव्यथितः भयाकुलः अन्तरात्मा अन्तःकरणं यस्य सोऽहं धृतिं धैर्य शमं शान्तिं च न विन्दामि न लभे, अतः इदं रूपं उपसंहर ।।श्रीः।।

तामेव व्यव्यथां भूयः विवृणोति—

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।२५।।

रा० कृ० भा०—हे देवेश ! देवानामीश श्रीकृष्ण हे जगतां निवास जगन्निवास, अथवा जगति निवासः यस्य स जगन्निवास अथवा जगतःनिवासः यस्मिन् स जगन्निवासः तत्सम्बुद्धौ हे जगन्निवास दंष्ट्राभिः करालानि भयङ्कराणि कालानलेन कालाग्निना सन्निभानि तुल्यानि ते तव श्रीकृष्णस्य मुखानि दृष्ट्वा अहं दिशः पूर्वादीन् न जाने न वेद्मि भयेन मे दिग्भ्रमो जातः । तथा च शर्म सुखमपि न लभे न प्राप्नोमि, हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसीद प्रसन्नो भव ।।श्रीः।।

अथ तव व्यथाया: को हेतु: इतीमं प्रश्नं स्पष्टयति पञ्चभि:—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्रा:
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घै: ।
भीष्मो द्रोण: सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यै: ।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गै: ।।२६-२७।।

रा० कृ० भा०—हे प्रभो धृतराष्ट्रस्य अमी पुरो दृश्यमाना: शतं पुत्रा: सर्वेऽपि अवनिपालानां राज्ञां सङ्घै: सहैव भीष्म: गाङ्गेय अस्मत् पितामह: द्रोण: अस्मद्धनुर्वेद सम्प्रदायगुरु: दिव्यास्त्रसम्पन्न:, तथा असौ अयं सूतपुत्र: कर्ण: इत्यनेन कर्ण प्रति जिघांसानिमित्तं क्रोधं द्योतयति । अस्मदीयै: अस्मत् पक्षीयैरपि योधमुख्यै: योधानां मुख्यै: धृष्टद्युम्नप्रभृतिभि: सहैव इमे सर्वे त्वरमाणा: त्वरया धावमाना: भयानकानि भयङ्कराणि दंष्ट्राभि: करालानि ते वक्त्राणि विशन्ति मुखेषु प्रवेशं कुर्वन्ति । केचित् तव दशनान्तरेषु विलग्ना: मुखेपु प्रवेशं कुर्वन्ति । केचित् तव दशनान्तरेषु विलग्ना: चूर्णितै: कूर्चितै: उत्तमाङ्गै: शिरोभि: उपलक्षिता: संदृश्यन्ते सम्यक् विलोक्यन्ते । अहो योगेश्वरेण भगवता भाविप्रलयस्य दर्शनं कारितं पार्थाय ।।श्री:।।

अथ कियता वेगेन भवतां मुखमिमे प्रविशन्ति इति द्वाभ्यां दृष्टान्तयति—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगा:
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।।
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगा: ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगा: ।।२८-२९।।

रा० कृ० भा०—यथा येन प्रकारेण नदीनां सरितां बहवः असंख्याः अम्बुवेगाः जलप्रवाहजवाः अभिमुखा सन्तः समुद्रमेवाभिद्रवन्ति द्रुतगत्या अभिपतन्ति तथा तेनैव प्रकारेण इमे नरलोकवीराः नरलोकस्य सुभटाः अभिज्वलन्ति अभितः प्रकाशशीलानि तव भवतः वक्त्राणि मुखानि अपि निश्चयेन विशन्ति प्रविशन्ति, तत्र गत्वा निरस्तनामरूपाणि भवन्ति । अथ च यथा समृद्धः उद्भूततरः वेगः जवः येषां ते समृद्धवेगाः पतङ्गाःदीपप्रिया कीटाणुविशेषाः प्रदीप्तं प्रकाशमानस्फुलिङ्गव्याप्तं ज्वलनमग्निं नाशाय भस्मीभवनायैव विशान्ति तथा समृद्धः वेगः येषां ते समृद्धवेगाः इमे लोकाः नाशाय तव वक्त्राणि मुखान्येव विशन्ति प्रविशन्ति ।।श्रीः।।

अथाहं किं करोमि ? इत्यत आह—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्रा प्रतपन्ति विष्णो ।।३०।।

रा० कृ० भा०—त्वं च हे विष्णो ! ज्वलद्भिः ज्वलनशीलैःवदनैः मुखैः समन्तात् चतुर्दिक्तः तान् ग्रसमानः भक्षयन् लेलिह्यसे रसनया लेह्यमिव अतिशयेन लेक्षि, तेजोभिः निजप्रतापैः समग्रं सम्पूर्णं जगत् आपूर्य निजमहोभिः पूरयित्वा तव उग्राः भयहेतव भासः प्रभाः प्रतापयन्ति, परितापं नयन्तीति भावः ।।श्रीः।।

अथ निष्कर्षमाह—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।३१।।

रा० कृ० भा०—हे देवेषु वर श्रेष्ठ ! ते भवते नमः मे आख्याहि कथय, उग्राणि भयङ्कराणि रूपाणि यस्य एवं विधः भवान् कः आदौ भवः आद्यः तमाद्यं भवन्तं विज्ञातुं इच्छामि विशेषेण ज्ञातुं वाञ्छामि । हि यतः अहं तव प्रवृत्तिं व्यापारं किमिति न जानामि, अस्मिन् समये किंचिकीर्षुर्भवान् प्रवृत्तः इति जिज्ञासेऽहम् ।।श्रीः।।

एवं भय विह्वलात्मानं पार्थं निरीक्ष्य भगवान् प्राहः त्रिभिः—

"श्रीभगवानुवाच"

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिता प्रत्यनीकेषु योधाः ।।३२।।

रा० कृ० भा०—हे पार्थ ! लोकानां क्षयं विनाशं करोतीति लोकचक्षयकृत् लोकविनाशकारी प्रवृद्धः एभिः रूपैः समेधितः कालोऽस्मि प्रलयकालिक कृतान्तो भवामि । इह संसारे अस्मिन् समये वा लोकान् आसुरजनान् समाहर्तुं विनाशयितुमहं प्रवृत्तः । हस्वाः अन्यः अनीकानि प्रतिकूलानि अनीकानि प्रत्यनीकानि तेषु प्रत्यनीकेषु प्रतिपक्षलघुसेनासु ये सुभटाः अवस्थिताः ते सर्वे त्वां कृतोधमर्जुनं विनापि सर्वे न भविष्यन्ति न स्थास्यन्ति । त्रय एव अश्वत्थामकृतवर्मकृपाचार्याः स्थास्यन्ति, इमे पुरैव मम सत्येन संकल्पेन हताः ॥श्रीः॥

पार्थमुत्साहयति पार्थसारथिः—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

रा लोकोत्तराणि० कृ० भा०—तस्मात् अत एव त्वमुत्तिष्ठ रथोपस्थोपविष्टः गृहीतगाण्डीवः रथादुत्थितो भव इह शास्त्रे चतुः उत्तिष्ठेतिप्रयोगः, "त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप गीता २-३, "तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय" गीता २-३७ "आतिष्ठोत्तिष्ठ भारत" गीता ४-४२ "तस्मात्वमुत्तिष्ठ" गीता ११-३३ पुरुषार्थचतुष्टयेऽपि जीवोत्थानमेव सूचयति। युद्धं कृत्वा यशः कीर्तिं लभस्व, शत्रून् दुर्योधनादीन् जित्वा समृद्धं निष्कण्टकं राज्यं भुङ्क्ष्व प्रजारञ्जनजनितानन्दोपभोगविषयं कुरु । एते पूर्वमेव द्रौपदीकेशाभिमर्षणकाले एव राजसभायां इतस्त्रयोदशवर्षात् पूर्वसत्यसङ्कल्पेन निहताः । हे सव्यसाचिन् सव्येन वामेन करेण सचति शरान् समवैति तच्छीलः इति सव्यसाची तत्समुबुद्धौ हे सव्यसाचिन् इदं तव वामहस्तक्रीडामात्रं अत एव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिनिति सम्बोधनं पार्थस्य विस्मृतयुद्धकौशलं स्मारयितुं यथोक्तं भारते अर्जुनः फाल्गुनः जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः । वीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनंजयः ॥ उभौ मे दक्षिणौ चापि गाण्डीवस्य विकर्षणे । तेन देवमनुष्येषु सव्यचीति मां विदुः ॥ (महाभारत-विराट्पर्व ४४,९,२९) श्रीः

अथ मुख्यविपक्षपराजयसौलभ्यं सूचयति—

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्य नपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ गीता ११,३४

किञ्च द्रोणं दिव्यास्त्रसम्पन्नं तव धनुर्विद्यागुरुं भीष्मं लब्धस्वेच्छामृत्युवरं जयद्रथं, शिवाराधनलब्धशक्तिकं कर्णं सूतपुत्रं पुरन्दरतोलब्धामोघशक्तिदुर्जयं तथा अन्यापि योधवीरान् योधाश्च ते वीरा योधवीरा:तान् योधवीरान् वाह्निकादीन् अपि निश्चयेन मया हतान् मारितान् त्वं जहिं, शस्त्रेण मारय, मा व्यथिष्ठा: व्यथितो मा भव युध्यस्व युद्धं कुरु रणे युद्धे सपत्नान् शत्रून् जेतासि, इह अनद्यतने लुट्० पा० अ० ३-३-१५ अद्य नहि किन्तु दशमे दिने भीष्मं पञ्चदशे द्रोणं त्रयोदशे जयद्रथं, सप्तदशे कर्णं च । अभिभवितासि, यत्तु जेतासि इत्यस्य जेस्यसि इति कैश्चित् व्याख्यातं, तत्ववैयाकरणत्वात्, एवं त्रिभि: पार्थविजयं सुनिश्चिन्वन् तं भगवान् सान्त्वयामास: । ॥श्री:॥

अथ अर्जुनविजयं प्रति दृढनिश्चयं परमात्मानं पार्थं प्रति दत्ताश्वासनं निशम्य दुर्योधनं प्रति भग्नविजयाशं निराशं तदनु पार्थप्रतिक्रियां कुनूहलेन जिज्ञासमानं धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जय: उवाच

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेवमान: किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीत: प्रणम्य ॥

(गीता ११/३५)

सञ्जयो धृतराष्ट्रं प्रति निवेदयामास हे राजन् केशवस्य श्रीकृष्णस्य भगवत: एतत् अनुपदमेवोक्तम् श्लोकत्रयात्मकं वचनं श्रुत्वा समाकर्ण्य वेपमान: कम्पमान: किरीटी अर्जुन: भूय एव पुनरेव कृष्णं नमस्कृत्वा ननु नमस्कृत्य इति कथं न, यथा मनुस्मृतौ, स्वयम्भुवे नमस्कृत्य मनुस्मृति १,१ इतिचेत् समासाभाव: एव अथ कथं समासाभाव: ? इतिचेत्- 'विभाषा' (पा.अ. २/१/११) इति महाविभाषा विधानात् 'कुगतिप्रादय:' (पा. अ. २/२/१८) इत्यस्य नित्यत्वाभावात् । यद्वा 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (पा. अ. २/१/५७) इत्यत्र बहुलग्रहणात् रामो जामदग्न्य: इत्यादिवत् नमस्कृत्वा इत्यत्रापि समासाप्रवृत्ते: । भावुकास्तु इत: पूर्वमर्जुन: नाङ्गीकृतवानासीद् भगवदादेशम् । अतस्तं 'नमस्कृत्वा' इति -ल्यबादेशवर्जितप्रयोग: पुनर्यदा भीतभीतोऽर्जुनो निश्चिनोतिस्म भगवदादेशं पालयितुं तदा प्रणम्येति ल्यबादेश-सहित: प्रयोग: इति विपश्चितस्तुष्यन्तु । कृष्णं प्रणम्य भीतभीत: अत्यन्तं भीत: पुनरपि

श्री कृष्णं प्रणम्य गद्गदं भयविक्लवस्वर:, तेन सहितं यथा स्यात्तथा; भूय: पुरपि आह अवदत् ।।श्री:।।

अथ विश्वरूपदर्शनजातहर्षविषाद: प्रेप्सितपरमात्मपदपद्मप्रपिष्ट प्रसाद': अर्जुन: स्तोतमुपक्रमतें एकादशाभि: ।

अर्जुन उवाच

अर्जुन: तुष्टाव

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृस्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति ।
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघा: ।।

(गीता ११/३६)

अर्जुन: प्रसन्नतया पुञ्जीभूतं भाग्यधेयं यदूनामेकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां मूर्तीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां श्यामीभूतं ब्रह्म मित्रं स्वकीयं साश्रुनयन: गद्‌गदकण्ठ: परमात्मानं प्रार्थयते हे हृषीकेश सकलेन्द्रियनियामक मयि अनुग्रहं कर्तुं प्रदर्श्यमानविराटविग्रहं तत्र भवन्तं भगवन्तं निरीक्ष्य तव मया क्रियमाणया प्रकीर्त्या अथवा वैष्णवैर्विधीयमानेन तव प्रकृष्टेन कीर्तनेन जगत्प्रहृष्यति, आनन्दमनुभवति, त्वयि तत्र भवति भगवति अनुरज्यते, अनुरागं करोति, इतो विरुद्धान् यानि रक्षांसि राक्षसा: तानि भीतानि भयत्रस्तानि दिश: पूर्वादीन् पलायन्ते च तथा सिद्धसंघा: सर्वे नमस्यन्ति तत्र भवन्तं नमस्कारं कुर्वन्ति, इदं स्थाने उचितमेव स्थाने इत्यव्ययम् । श्री: सर्वेषां नमस्कारे उपपत्तिमाह-

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्तदेवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।।

(गीता २१/३७)

हे महात्मन् ते सर्वे सिद्धसंघा: ब्रह्मणोऽपि विधातुरपि गरीयसे श्रेयसे आदिकर्त्रे आदिश्चासौ कर्ता आदिकर्ता तस्मै आदिकर्त्रे कस्मात् न नमेरन् कस्मात् न प्रणमेयु:

गरीयसे आदिकर्त्रे इत्युभत्र चतुर्थी तु क्रियार्थोऽपपदस्य पा. अ. २/३/१४ कर्मणि स्थानिनः इति सूत्रेण तथा हि ब्रह्मणोऽपि गरीयांसमादिकर्तारं त्वामनुकूलयितुं प्रसादयितुं वा ते कथं न नमेरन्। हे अनन्त, नाशरहित, हे देवादीनां ब्रह्मादीनामीश, सर्वदेवस्वामिन्। हे जगन्निवास निखिलजगदधिष्ठान त्वमक्षरं अविनाशि तत्त्वं सत् जीवतत्त्वं ततः असत् प्रकृतितत्त्वं ततः परंचिदचिदविशिष्टाद्वैतं यद् ब्रह्म तदपि त्वमेवासि सत् असत् इत्युभयत्र छान्दसत्वात् लुप्ता पञ्चमी ॥श्रीः॥ अन्यच्च—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

(गीता ११/३८)

अनन्तानि अपरिमितानि रूपाणि यस्य सः अनन्तरूपः तत्सम्बुद्धौ हे ! अनन्तरूप त्वमादिदेवः श्रीरामो महाविष्णुः पुराणः पुरापि नवः पुरुषः अस्य विश्वस्य संसारस्य निधीयते यस्मिन् इति निधानम् परं कारणं उत्कृष्टं रत्नं वा त्वमेवास्य विश्वस्य वेत्ताऽसि, सर्वज्ञत्वात् ज्ञाता असि, यः सर्वज्ञः सर्वविद् (मुण्डक १.१.९) इति श्रुतेः त्वमेव एतस्य जीवात्मनः वेद्यं ज्ञातव्यं विशिष्टाद्वैततत्त्वं, त्वमेव परं धाम परमज्योतिः 'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इतिश्रुतेः इदं विश्वं जड़चेतनात्मकं त्वया परमात्मना श्री कृष्णेन ततं व्याप्तम् ॥श्रीः॥

अथ काश्चिद् भगवतो विभूतीः संकीर्तयति,

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

(गीता ११/३९)

त्वमेव वायुः पवनः यमः दण्डधरः अग्निर्हवनीयः वरुणः अपां पतिः शशाङ्कश्चन्द्रः प्रजापतिः कश्यपादिः प्रपितामहः पितामहब्रह्मणोऽपि पिता जलशायी नारायणस्त्वं अतः सहस्रकृत्वः संख्यायाः कृयायां वृत्तिगणने कृत्वसुच् पा० अ० ५/४/१७ इत्यनेन कृत्वसुच्प्रत्ययः पुनश्च ते नमः प्रभूयोऽपि तुभ्यं नमः इति भक्त्युद्रेकः। श्रीः ॥

श्री कृष्णं प्रणम्य गद्गदं भयविक्लवस्वरः, तेन सहितं यथा स्यात्तथा; भूयः पुरपि आह अवदत् ।।श्रीः।।

अथ विश्वरूपदर्शनजातहर्षविषादः प्रेप्सितपरमात्मपदपद्मप्रपिष्ट प्रसादः अर्जुनः स्तोतमुपक्रमतें एकादशाभिः ।

अर्जुन उवाच

अर्जुनः तुष्टाव

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृस्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति ।
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ।।

(गीता ११/३६)

अर्जुनः प्रसन्नतया पुञ्जीभूतं भाग्यधेयं यदूनामेकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां मूर्तीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां श्यामीभूतं ब्रह्म मित्रं स्वकीयं साश्रुनयनः गद्गदकण्ठः परमात्मानं प्रार्थयते हे हृषीकेश सकलेन्द्रियनियामक मयि अनुग्रहं कर्तुं प्रदर्श्यमानविराटविग्रहं तत्र भवन्तं भगवन्तं निरीक्ष्य तव मया क्रियमाणया प्रकीर्त्या अथवा वैष्णवैर्विधीयमानेन तव प्रकृष्टेन कीर्तनेन जगत्प्रहृष्यति, आनन्दमनुभवति, त्वयि तत्र भवति भगवति अनुरज्यते, अनुरागं करोति, इतो विरुद्धान् यानि रक्षांसि राक्षसाः तानि भीतानि भयत्रस्तानि दिशः पूर्वादीन् पलायन्ते च तथा सिद्धसंघाः सर्वे नमस्यन्ति तत्र भवन्तं नमस्कारं कुर्वन्ति, इदं स्थाने उचितमेव स्थाने इत्यव्ययम् । श्रीः सर्वेषां नमस्कारे उपपत्तिमाह-

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्तदेवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।।

(गीता २१/३७)

हे महात्मन् ते सर्वे सिद्धसंघाः ब्रह्मणोऽपि विधातुरपि गरीयसे श्रेयसे आदिकर्त्रे आदिश्चासौ कर्ता आदिकर्ता तस्मै आदिकर्त्रे कस्मात् न नमेरन् कस्मात् न प्रणमेयुः

गरीयसे आदिकर्त्रे इत्युभत्र चतुर्थी तु क्रियार्थोऽपपदस्य पा. अ. २/३/१४ कर्मणि स्थानिनः इति सूत्रेण तथा हि ब्रह्मणोऽपि गरीयांसमादिकर्तारं त्वामनुकूलयितुं प्रसादयितुं वा ते कथं न नमेरन् । हे अनन्त, नाशरहित, हे देवादीनां ब्रह्मादीनामीश, सर्वदेवस्वामिन् । हे जगन्निवास निखिलजगदधिष्ठान त्वमक्षरं अविनाशि तत्त्वं सत् जीवतत्त्वं ततः असत् प्रकृतितत्त्वं ततः परंचिदचिदविशिष्टाद्वैतं यद् ब्रह्म तदपि त्वमेवासि सत् असत् इत्युभयत्र छान्दसत्वात् लुप्ता पञ्चमी ।।श्रीः।। अन्यच्च—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।

(गीता ११/३८)

अनन्तानि अपरिमितानि रूपाणि यस्य सः अनन्तरूपः तत्सम्बुद्धौ हे ! अनन्तरूप त्वमादिदेवः श्रीरामो महाविष्णुः पुराणः पुरापि नवः पुरुषः अस्य विश्वस्य संसारस्य निधीयते यस्मिन् इति निधानम् परं कारणं उत्कृष्टं रत्नं वा त्वमेवास्य विश्वस्य वेत्ताऽसि, सर्वज्ञत्वात् ज्ञाता असि, यः सर्वज्ञः सर्वविद् (मुण्डक १.१.९) इति श्रुतेः त्वमेव एतस्य जीवात्मनः वेद्यं ज्ञातव्यं विशिष्टाद्वैततत्त्वं, त्वमेव परं धाम परमज्योतिः 'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इतिश्रुतेः इदं विश्वं जड़चेतनात्मकं त्वया परमात्मना श्री कृष्णेन ततं व्याप्तम् ।।श्रीः।।

अथ काश्चिद् भगवतो विभूतीः संकीर्तयति,

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।

(गीता ११/३९)

त्वमेव वायुः पवनः यमः दण्डधरः अग्निर्हवनीयः वरुणः अपां पतिः शशाङ्कश्चन्द्रः प्रजापतिः कश्यपादिः प्रपितामहः पितामहब्रह्मणोऽपि पिता जलशायी नारायणस्त्वं अतः सहस्रकृत्वः संख्यायाः कृयायां वृत्तिगणने कृत्वसुच् पा० अ० ५/४/१७ इत्यनेन कृत्वसुच्प्रत्ययः पुनश्च ते नमः प्रभूयोऽपि तुभ्यं नमः इति भक्त्युद्रेकः । श्रीः ।।

भूयोऽपि नमस्कारं व्याहरति

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।

(गीता ११/४०)

हे सर्व, हे सर्वस्वरूप पुरस्तात् अग्रतः पृष्ठतश्च ते तुभ्यं नमः सर्वतः सर्वस्मात् स्थानात् ते तुभ्यं नमः अनन्तानि वीर्याणि यस्य स अनन्तवीर्यः अमितः विक्रमः पराक्रमः यस्य स च स अनन्तवीर्यामितविक्रमः अपरिमितसामर्थ्यसमधिक-पराक्रमसम्पन्नः सर्वसंसारं समाप्नोषि सम्यक् व्याप्नोषि, स्वयमपि सर्वत्र ततः व्याप्तः । अतः सर्वं असि, परिपूर्णोऽसि ।।श्रीः।।

अथ चतुर्भिः क्षमां याचते—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ।।

(गीता ११/४१)

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।।

(श्रीभ. ११/४२)

हे मधुसूदन तव भवतः महिमानमजानता ऐश्वर्यमविदुषा मया प्रमादात् अनवधानात् प्रणेयन वा मित्रभावेन वा सर्वजगच्छरण्यं भवन्तं सखा मित्रं इति मत्वा हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे, इति इदमथवा इदं महिमानमित्यनेन सह अन्वेति । तथा इ:कामः तं द्यति खण्डयति इति इदम् कामखण्डकम् तिरस्कारपूर्वकमुक्तम्, हे सखे इति इत्यत्र अयादेशे, यकारलोपे हे सख इति स्यात् इह तु हे सखेति इत्थमुक्तम्

तथाचापणिनीयमिति चेन्न । व्यत्ययो बहुलम् ३/१/८५ इति सूत्रेण यलोपेऽपि पूर्वत्रासिद्धमित्यस्याप्रवृत्तौ हे सख इत्यत्र गुणः अथवा नायं सखि शब्दः किन्तर्हि खम् आकाशः तेन सह वर्तमानः इति सखः तत्सम्बुद्धौ हे सख, इति हे सखेति इति नवीनं समाधानं, यदपि चान्यत् हे अच्युत विहारः विनोदः चरणव्यायामो वा शय्या पर्यङ्कशयनमासनमुपवेशनं भोजनं एषु हे अच्युत । यः कदापि न च्यवति, तथाभूतः एकः एकाकी अथवा तेषां कुरुपाण्डवानां समक्षं पुरः अवहासार्थं सम्बन्धिविनोदाय यच्चापि असत्कृतोऽसि अपमानितो भवसि तत्त्वामप्रमेयं सर्वप्रमाणतः परे भूतं परमेश्वरं त्वां क्षामये क्षमां कारये ।।श्रीः।।

ननु मां प्रति कथं क्षमां याचसे बहुधा अपमानमपि कृतम् इत्यत आह—

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
नत्वत्समोऽस्त्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव

(गीता-११/४३)

चराचरस्य चिदचिदात्मकस्य लोकस्य जगतः पिता जनयिता पूज्यःअर्चनीयः गुरुः सद्गुरुः गरीयान् श्रेष्ठः असि हे अप्रतिमप्रभाव न विद्यते प्रतिमा सादृश्यं यस्य स अप्रतिमः अप्रतिमः अद्वितीयः प्रभावः अनुभावः यस्य सः अप्रतिमप्रभावः तत्सम्बोधेन हे अप्रतिमप्रभाव लोकत्रये त्रिलोक्यामपि त्वत्समः त्वत्सदृशः न कोऽपि, त्वत्तः अन्यः अधिकः कुतः स्थानात् स्यात् अर्थात् न कोऽपि । श्रीः

न त्वत्समोस्त्यभिधिकः इति श्रुतेः भगवान् निरुपमः अतएव तं निरुपमं कारुण्यकल्लोलिनीवल्लभं परमात्मानं प्रसादयितुं साष्टाङ्गं दण्डवत् मुद्रां प्रस्तौति ।

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्

(गीता ११/४४)

तस्मात् भवतः सर्वजगत्पितृत्वात् कायं शरीरं प्राणिधाय भुवि दण्डवत् प्राणिपत्य ईड्यं स्तुतियोग्यं ईशं भवन्तं प्रसादये प्रसन्नं कुर्वे हे प्रभो पुत्रस्य तनयस्य

पिता इव जनक इव वत्सलः सख्युः मित्रस्य सखा इव सौहार्द्रनिधिः प्रियायाः पत्न्याः प्रियः इव पतिरिव तत्प्रेमपाशपरतन्त्रः यथोक्तं सुभाषितरत्नभाण्डागारे—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमबन्ध इति बन्धनमन्यत्।
काष्ठभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्भवति हि पंकजकोशनिबद्धः ।।

देव ममापराधं सोढुं क्षन्तुमर्हसि, यत्तु केचन प्रियः प्रियाय इति चतुर्थ्यन्तत्वेन व्याहरन्ति, तन्मन्दं सहचरितासहचरितयोःसहचरितस्यैव ग्रहणमिति नियमात् पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः इत्यत्र उभयत्रापि षष्ठी सामानाधिकरणेन पार्थस्योपमेयत्वदर्शनात् पुनस्तृतीये चतुर्थ्यन्तत्वेन पार्थोपमेयता शास्त्रविरुद्धा ।

ननु षष्ठ्यन्तपक्षे प्रियायाः अर्हसि प्रिय इव इति वाक्ये योजनायां वक्तव्यायां प्रियः प्रियायार्हसि इति कथमुक्तम् दीर्घवेलायां आष्टमिकस्य यलोपस्य असिद्धत्वात् इति चेन्मैवं व्यत्ययो बहुलम् पा० अ० ३/१/८५ इत्येनन ङससकारविकारभूत-यकारलोपे दीर्घच एव अकार लोपस्य सुलभत्वात् यदि प्रियायाः नस्यादत्रोपमानं तदा प्रिय इति पदं न दीयेत प्रभो प्रियायार्हसि देव सोढुं इत्येवोच्येते त्यलं समधिकप्रपञ्चनेन ।।श्रीः।। अथ स्वाभिप्रायमाह द्वाभ्याम्—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा,
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।

(गीता ११/४५)

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।४६।।

रा० कृ० भा०- हे देव ! न पूर्वं दृष्टमिति अदृष्टपूर्वं अविलोकितपूर्वमिदं विराट् रूपं दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि रोमाञ्चितोऽस्मि तथा च मम अर्जुनस्य मनः भयेन प्रव्यथितं परां व्यथामापादितं तस्मात् तदेव पुरावर्तमानं चतुर्भुजं रूपं मे दर्शय । इदं च विराट् रूपं शीघ्रमुपसंहर । हे देवेश । हे जगन्निवास प्रसीद मयि प्रसन्नो भव,

अनेन विराट्रूपदर्शनेन तव रोषोऽनुमीयते । तथा च किरीटिनं गदिनं किरीटियुक्तं गदायुक्तं च चक्रं हस्ते यस्य स चक्रहस्तः तं चक्रहस्तं एवं विधं त्वामहं तथैव द्रष्टुमिच्छामि । हे सहस्रबाहो ! अनन्तभुज ! सहस्राणि बाहवो यस्य स सहस्रबाहुः तत् सम्बोधने सहस्रबाहो, विश्वमूर्ति र्यस्य स विश्वमूर्ति स्तत् सम्बोधने हे विश्वमूर्ते संसारविग्रह । इत्यनेन शरीरित्वं सिद्ध्यति परमात्मनः तेनैव चत्वारो भुजा यस्मिन् तत् चतुर्भुजे तेन चतुर्भुजेन रूपेण शङ्खचक्रगदापद्मधरेण युक्तो भव ॥श्रीः॥

अथ वेपमानं निजचरणकमलशरणागतं पार्थं समाश्वासयति भगवान् त्रिभिः तस्य स्तुत्याः सन्तुष्टः-

श्री भगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

रा० कृ० भा०—हे अर्जुन अहं त्वयि प्रसन्नोऽस्मि न तु रुष्टः अत एव प्रसन्नेनैव सन्तुष्यता मया आत्मयोगात् निजाचिन्त्यसामर्थ्येन तेजोमयं तेजः प्रचुरं विश्वं विश्वात्मकं अनन्तमन्तरहितमादौ भवं यत् त्वदन्येन केनचिदपि जनेन दृष्टपूर्वं न, न पूर्वं दृष्टं तदेव सुदुर्लभं रूपं तव कृते दर्शितम् ॥श्रीः॥

इदं रूपं मम प्रसादेनैव द्रष्टुं शक्यमतस्ततोऽन्यान् उपायान् निषेधति—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

रा० कृ० भा०—हे कुरुप्रवीर कुरूणां प्रकृष्टवीर एवंरूपः अहं विराट्रूपावच्छिन्नः तव सखा भगवान् त्वदन्येन केनचिदपि कर्त्रा वेदानां ऋग्यजुःसामाथर्वाणां, यज्ञानां कल्पादिसूत्राणां, अध्ययनैः अभ्यसनैः न द्रष्टुं शक्यः, न वा दानैः सात्त्विकैः न वा होमादिक्रियाभिः, न वा उग्रैः चान्द्रायणादिभिस्तपोभिः, अहं तु त्वया मत्प्रसादनरूपेण साधनेनैव दृष्टः ॥श्रीः॥

निष्कृष्टमाह—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।।४९।।

रा० कृ० भा०—ईदृम् एवंविधं घोरं भयङ्करं ममेदं रूपं दृष्ट्वा ते व्यथा मा भवतु, मूढभावः मोहोऽपि माऽस्तु, त्वं व्यपेतभीः विगतभयः व्यपेता भीः यस्मात् तथाविधः प्रीतं प्रसन्नं मनः यस्य स त्वं तदेव पूर्वानुभूतमिदमतिनिकटस्थं चतुर्भुजरूपं पुनः प्रपश्य, भूयः प्रकर्षेण विलोकय ।।श्रीः।।

अथ संजयः धृतराष्ट्रं सम्बोधयति यत् पश्य पार्थे परमेश्वरस्य कृपां, क्व ते पुत्राणां एतावद्भाग्यं- "संजय उवाच"

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।।५०।।

रा० कृ० भा०—इति पूर्वोक्तप्रकारेण तथैव त्वत् प्रतिज्ञानानुसारं वासुदेवः श्रीकृष्णः अर्जुनं प्रत्युक्त्वा भूयः पुनः स्वकं स्वेभ्यः आत्मीयेभ्यः कं सुखं यस्मात् एवं भूतं प्रपन्नसुखकरं रूपं दर्शयामास । पुनश्च सौम्यवपुः द्विभुजशरीरावच्छिन्नः भूत्वा भीतं भयमग्नमेनमर्जुनमाश्वासयामास । इह प्रकरणे पार्थाय भगवता त्रीणि रूपाणि दर्शितानि विराट्रूपं तदेव बहुभुजरूपं चतुर्भुजरूपं, द्विभुजरूपं च द्विभुजं परात्परं प्रोक्तं अतस्तद् दृष्ट्वा अर्जुनस्य मानसे महांस्तोष यत्तु व्याख्या त्रिभिः "सौम्यवपुः" इत्यत्र चतुर्भुजरूपो भूत्वा इत्यादिव्याख्यातं तद् दुराग्रहवशात् अग्रे अर्जुनेन मानुषं रूपमिति कथनविरोधात् नहि मानुषत्वे चतुर्भुजत्वमुपपद्यते, तत्तु देवत्वे । प्रकृतश्लोकेऽपि वाक्यद्वयं स्वकं रूपं दर्शयामास पुनः सौम्यवपुर्भूत्वा आश्वासयामास एकस्मिन्नेव चतुर्भुजे रूपे दर्शनीयतव्ये वाक्यद्वयानौचित्यं स्यात् । पूर्वं चतुर्भुजं रूपं दर्शयामास, तथा सत्यपि अर्जुनं भीतं विलोक्यं चतुर्भुजरूपं व्यक्त्वा सौम्यवपुः श्रीराम इव मानुषाकारं प्राप्य आश्वासयामास ।

अथार्जुनः प्रसन्नः प्राह-

"अर्जुन उवाच"

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।।५१।।

रा० कृ० भा०—हे जनार्दन ! भक्तवाञ्छाकल्पतरो तवेदं द्विभुजलक्षणं सौम्यं मानुषं मनुष्यस्येदं मानुषं मनुष्याकारं रूपं दृष्ट्वा इदानीमस्मिन् समये सचेताः चेतसा सहितः प्रकृतिं स्वभावापरपर्यायां दास्यभावलक्षणां गतः संवृत्तः अस्मि परं शान्तोऽस्मि । ।।श्रीः।।

अथ भगवान् एकैकशस्त्रयाणामपि रूपाणां दौर्लभ्यख्यापनार्थं त्रीणि श्लोकानि एकैकस्य कृते यथाक्रमं एकैकमाह—

"श्रीभगवानुवाच"

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ।।५२।।

रा० कृ० भा०—हे पार्थ ! यत् ममेदं विराट्रूपं दृष्टवानसि अवलोकितवानसि दिव्यचक्षुषा तदिदं सुदुर्दर्शं सुतरां दुःखेन द्रष्टुम शक्यं, किंच देवाः इन्द्रादयोऽपि अस्य विराट्रूपस्य नित्यं सदैव दर्शनकाङ्क्षिणः दर्शनाभिलाषिनस्तिष्ठन्ति । किन्तुदिव्यचक्षुरभावात् ते न पश्यन्ति ।।श्रीः।।

किंच—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।५३।।

रा० कृ० भा०—यथा येन प्रकारेण चतुर्भुजरूपं मां दृष्टवानसि एवंविधः एवंरूपोऽहं कृष्णः वेदैः स्वाध्यायैः, तपसा शरीरकृच्छ्रेण, दानेन सत्पात्राय द्रव्योत्सर्गेण ईज्यया यज्ञेन च न द्रष्टुं शक्यः ।।श्रीः।।

अथ द्विभुजमाहात्म्यमाह—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।५४।।

रा० कृ० भा०—हे अर्जुन ! हे परंतप । शत्रुनाशक किन्त्वहमेनंविधः द्विभुजः परात्परः श्रीकृष्णः अनन्यया भक्त्या एव ज्ञातुं तत्त्वेन द्विभुजत्वेन द्रष्टुं प्रवेष्टुं च प्रवेशविषयं कर्तुं शक्यः । इह शक्य अहमित्यत्र "व्यत्ययो बहुलम् पा. अ. ३/१/८५ इत्यनेन विसर्गलोपः दीर्घाभावश्च । एवमेव "शक्य अहं नृलोके" इत्यत्रापि ॥श्रीः॥

सिद्धान्तमुपसंहरति—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

रा० कृ० भा०—हे पाण्डव तृतीयपाण्डुपुत्र यः मत्कर्मकृत् मह्यं करोति तथा भूतः अहं परमः इष्टो यस्य समत्परमः मदिष्टदैवतः, मम भक्तः मद्भक्तः पुत्रकलत्रादीनां सङ्गेन वर्जितः सर्वभूतेषु निर्वैरः निर्गतं वैरं यस्मात् स निर्वैरः एवं भूतो जनः मामेवैति प्राप्नोति ।

एवमेका दशाध्यायो विश्वरूपदिदृक्षमः ।
श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीगीतासु मयोदितः ॥श्रीः॥

इति चित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्यश्रीरामभद्राचार्यप्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासु विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥

श्रीराघवः शन्तनोतु

"श्रीमद्राघवो विजयते"
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

एकादशोऽध्यायः

मंगलाचरण

जयति जनक कन्या धन्यताधानहेतु-
र्विवुध बिबुध भूरूड भानुवंशैक केतुः ।
दनुज कुल विनेता जानकी नेत्र नेता
शुचि चरित सुचेता राघवः सत्प्रणेता ।। १ ।।

अर्थ—जनकराज कन्या श्रीसीताजी में धन्यता का आधान करने वाले, देवताओं के मनोरथ के लिये देववृक्ष के समान, राक्षसकुल को नष्ट करनेवाले, भगवती सीताजी के नेत्रों के नायक सुन्दर चरित्र एवं पवित्र मनसे युक्त सज्जनों के प्रणेता श्रीराघव सरकार की जय हो, जय हो ।

निजजन सुखदाता वेदमार्ग प्रमाता
दनुजकरहन्ता पामराणां नियन्ता ।
निजनखगिरिधर्ता रुक्मिणी प्राणभर्ता
विनततति विधाता पातु गीताभिधाता ।। २ ।।

अर्थ— अपने जनों को सुख देने वाले, वैदिकमार्ग को प्रमाणतः सिद्ध करने वाले, राक्षसों का नाश करने वाले, और दुष्टों का नियन्त्रण करने वाले, अपने नखपर गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले, रुक्मिणी के प्राणपति और प्रणत समूहों का पालन करने वाले श्रीगीता के वक्ता भगवान श्रीकृष्ण हमारी रक्षा करें ।

''भारती भाग्य सर्वस्व भारती भाग्यभारती ।
भारते भारते भायात् श्रीगीताभव्यभारती ।। ३ ।।

अर्थ—भगवती सरस्वती की भाग्य सर्वस्वरूप भारती है जिसकी ऐसी भाग्य की भारतीरूप श्रीगीताकी भव्य सरस्वती इस ज्ञानमय भारत में सुशोभित रहे।

संगति—इसके अनन्तर सम्पूर्ण विभूतियों के पति भगवान श्रीपति के मुख से नष्ट कर दिया है विश्वाधिपति भगवान का वियोग जिसने ऐसे अपने प्रभु के निर्हेतुक नियोग

से युक्त विभूति योग का श्रवण करके अपने भाग्य की प्रसंशा करते हुये परम प्रसन्न पृथानन्दन सव्यसाची अर्जुन बोले -

अर्जुन उवाच

"मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।। ११/१

रा०कृ०भा०सामान्यर्थ— हे भगवान् ! मुझ पर कृपा करने वाले आपके द्वारा जो गोपनीय अध्यात्म संज्ञक वचन कहा गया, उससे मेरा यह मोह चला गया है । अर्थात् अभी नष्ट नहीं हुआ, उसके लिये आपको प्रयत्न करना चाहिये ।

व्याख्या — यहाँ "मयि अनुग्रहः मदनुग्रहः" यह सप्तमी समास समझना चाहिये । जो लोग षष्ठी समास की कल्पना करते हैं, उनका पक्ष ठीक नहीं है । क्योंकि अनुग्रह आधार सापेक्ष होता है, आधार में सप्तमीं होती है, इसीलिये यहाँ सप्तमी समास ही उचित होगा । "विगत" शब्द का तात्पर्य है, कि अभी मेरा मोह नष्ट नहीं हुआ है । वह केवल चला गया है, उसके नाश के लिये आप यत्न करिये ।

संगति— प्रथम श्लोक में प्रथम छः अध्यायों में भगवान के द्वारा कहे हुये विषय का अनुवाद करके अब द्वितीय श्लोक से सातवें अध्याय से दशम अध्याय पर्यन्त भगवान द्वारा वर्णित विषयका अर्जुन अनुवाद करते हैं—

"भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ।। २ ।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे कमलपत्र के समान नेत्रवाले प्रभो ! आपके श्रीमुख से मेरे द्वारा जीवों की उत्पत्ति और विनाश विस्तार से सुने गये, और आपका विनाश रहित माहात्म्य भी सुना गया ।

व्याख्या—"भवश्च अप्ययश्च भवाप्ययौ" अप्यय का अर्थ होता है विनाश, अर्थात सप्तम अध्याय के पूर्वार्ध में मैनें आपसे भूतों की उत्पत्ति सुनी, और आठवें अध्याय में और नवम् अध्याय में भी जीवों का विनाश सुना और दशम् अध्याय में जीवका समग्र माहात्म्य सुना । "विस्तरशः विस्तरेण" यहाँ तृतीया विभक्ती में शस् प्रत्यय है ।। श्री ।।

संगति—क्या मेरे कथन में तुम्हे कोई सन्देह है? भगवान के इस प्रकार सम्भावित प्रश्न पर अर्जुन कहते हैं—

"एवतेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।। ११/३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे परमेश्वर ! आप अपने स्वरुप को जैसा कह रहे हैं, वह अक्षरशः सत्य है । हे पुरुषोत्तम ! आपके ईश्वर सम्बन्धित रूप को देखने की इच्छा करता हूँ, अर्थात् देखना चाहता हूँ ।

व्याख्या— "आत्थ, कथयसि" यहाँ ब्रूव धातु को लट्लकार में आह आदेश और हकार को थकार तथा "सिप" को "थल" आदेश हुआ है । आपके वचन पीयूष से मेरे कान तो तृप्त हुये पर नेत्र नहीं तृप्त हो रहे हैं, इसीलिये मैं आपका ईश्वरीय अर्थात् ऐश्वर्य सम्पन्न रूप देखने को इच्छुक हूँ ।

संगति— क्या तुम इस प्रकार के ऐश्वर्य सम्पन्न रूप को देखने की क्षमता रखते हो? इस प्रकार भगवान की सम्भावित जिज्ञासा को समझकर स्वयं अर्जुन कहते हैं—

"मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।। ११/४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे योगेश्वर ! यदि आप मानते हैं, कि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जा सकता है, तो हे प्रभो ! आप मुझ अर्जुन के लिये विनाशवर्जित अपना स्वरूप का दर्शन कराइये ।

व्याख्या—प्रभो ! यद्यपि मैं साधारण एक छोटा से छोटा जीव हूँ, अनन्त वैभव सम्पन्न आपको कैसे देख सकता हूँ ? परन्तु असमर्थ होकर भी देखने की इच्छा करता हूँ । आप तो निरन्तर सेवकों की रुचि की रक्षा करते हैं, आप ही अपने रूप का दर्शन कराने के लिये मुझे पात्रता दें । इसीलिये "योगेश्वर" सम्बोधन करते हैं । आप योगियों के ईश्वर हैं, सर्वसमर्थ हैं, यदि आपको विश्वास है कि आपका रूप मैं देख सकता हूँ, तो आप मुझे उसका प्रत्यक्ष कराइये । यदि आप विश्वास करते हैं कि अर्जुन यह रूप देख नहीं सकते, तो भी आप मत दिखाइये ऐसा भी नहीं । चाहे मुझमें योग्यता हो या न हो, आपको मुझे दिखाना ही होगा । इसीलिये आज यहाँ "प्रभो" विशेषण दे रहे हैं, क्योंकि आप सर्व समर्थ हैं, आप प्रणतों की इच्छा का पालन करने के लिये आप अयोग्य को योग्य बना सकते हैं, असमर्थ में सामर्थ्य दे सकते हैं ॥ श्री ॥

संगति—इस प्रकार अर्जुन के द्वारा चार श्लोकों से प्रार्थना किये जाने पर तुरीय चैतन्य चतुरचक्रचूड़ामणि भगवान श्रीकृष्ण चार श्लोकों से उत्तर दे रहे हैं

भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।। ११/५

रा०कृ०भा० सामान्यर्थ—हे अर्जुन् । अब तुम अनेक प्रकार वाले, और अनेकवर्ण तथा अनेक आकृतियों से युक्त मेरे सैकड़ो और सहस्त्रों रूपों को देखो ।

व्याख्या—"शतश!" और "सहस्त्रश:" में प्रथमान्त जस् विभक्ति के अर्थ में स्वार्थिक शस् प्रत्यय हुआ शतानि इति शतशः, सहस्त्राणि इति सहस्त्रश: "नानाविधानि" मेरे रूपों के अनेक विधायें है, यहाँ तीन विधायें दिखाये जायेंगी । 'विराट् विश्व, चतुर्भुज और द्विभुज ॥ श्री ॥

संगति—भगवान और भी स्पष्ट कर रहे हैं —

"पश्यादित्यान्वसन् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।। ११/६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे अर्जुन् हे भरतवंश प्रसूत ! द्वादश आदित्यों को, आठ वसुओं को, एकादश रुद्रों को, दो अश्विनी कुमारों को तथा उन्चास मरुद्गणों को, तथा बहुत से पूर्व में कभी भी न देखे गये आश्चर्यमय पदार्थों को आज देखो ।

व्याख्या—"पूर्वदृष्टानि दृष्ट पूर्वाणि न दृष्ट पूर्वाणि अदृष्ट पूर्वाणि, यहाँ "सुप् सुपा" से समास हुआ । इस श्लोक से भगवान यह सिद्ध कर रहे हैं कि सारा संसार उनके अधीन है, और वह उनका शरीर भी है ॥ श्री ।

संगति—अब यहाँ प्रश्न है कि ये रूप कहाँ कहाँ देखे जा सकेंगे, अलग-अलग या एकत्र ? अर्जुन के इस प्रश्न समाधान करते हुये भगवान कहते हैं—

"इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचरान्नरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ।। ११/७

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे निद्रा विजयी अर्जुन् आज मेरे अलौकिक शरीर में एक स्थान पर स्थित जड़ और चेतन के साथ वर्तमान सम्पूर्ण जगत को देख लो, इससे अतिरिक्त और भी जो कुछ देखना चाहते हो वह भी देख लो ।

व्याख्या— "गुडाकेश" संस्कृत में निद्रा को गुडा का कहते हैं, तुम गुडा का अर्थात् निद्रा के ईश अर्थात् शासक हो, तुम्हारी आँखें खुली हैं, यहि "मन्यसे यदि तच्छक्यं" गीता ११-४ का उत्तर है । चर और अचर के साथ वर्तमान चिदचिदात्मक जगत् मुझमें है वर्तमान है । "यच्चान्यत्" इससे अतिरिक्तअनन्त ब्रह्माण्ड मुझमें विद्यमान हैं ॥ श्री ॥

संगति— परम कारुणीक भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र अर्जुन की सुगमता के लिए उन्हें दिव्य नेत्र देने की इच्छा करते हुए प्रतिज्ञा करते हैं—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।। ११/८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — किन्तु हे अर्जुन ! इस सीमित शक्ति वाले सामान्य नेत्र से तुम मुझे नही देख सकते। इसलिए मैं तुम्हें दिव्य नेत्र दे रहा हूँ, अब मेरे परमैश्वर्य सम्पन्न लोकोत्तर सामर्थ्य को देखो।

व्याख्या—इन नेत्रों की सामर्थ्य सीमित है। ये सामान्य सूर्य की किरणों के चकाचौंध में पड़ जाते हैं। मेरे शरीर में तो अनन्त कोटि सूर्यों का प्रकाश है। इसलिए मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ, ये चकमकायेंगे नहीं। श्रीरामावतार में चरित्र हीनता के कारण देवेन्द्र पुत्र जयन्त का नेत्र समाप्त कर दिया था इस अवतार में इन्द्रपुत्र को दिव्यनेत्र दे रहा हूँ, क्योंकि ऊर्वशी प्रकरण में तुमने अपने चरित्र की रक्षा की थी।

संगति—अर्जुन को भगवान द्वारा दिव्य चक्षु प्रदान करने के पश्चात क्या हुआ ? इस प्रकार अत्यन्त जिज्ञासु धृतराष्ट्र के अन्तर प्रश्न का संजय उत्तर दे रहे है। संजय के इस उत्तर वाक्य की प्रस्तावना वैशम्पायन के द्वारा महाराज जनमेजय के प्रति की जा रही है—

संजय उवाच

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— वेदव्यास की कृपा से संजय को भी दिव्यनेत्र प्राप्त है। वे रागद्वेष से रहित हैं इसलिए निष्पाप हृदय से भगवान द्वारा अर्जुन को दिखाये हुए विश्वरुप की झांकी का छह श्लोकों में वर्णन करते हैं —

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।। ११/९

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे राजन् ! 'तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ,' अर्जुन के प्रति इस प्रकार कहकर तदनन्तर महायोगेश्वर श्री हरि ने पृथानन्दन अर्जुन को ऐश्वर्य सम्पन्न अपना परम दिव्य रुप दिखाया।

व्याख्या— यहाँ राजन् शब्द अत्यन्त सारगर्भित है। संजय का अभिप्राय है कि महाराज ! अर्जुन पर भगवान श्रीकृष्ण ने कितनी बड़ी कृपा की है कि, आज अपने विराट रुप का दर्शन कराने के लिए उन्हें दिव्य नेत्र दे डाला। इतने पर भी आप पाण्डवों के साथ सन्धि नहीं करना चाहते। अपने धर्महीन पुत्र दुर्योधन के लिए राज्य की लिप्सा कर रहे हैं। अहो ! आपका यह राज्य मोह कितना दुस्त्यज है।

'एवमुक्त्वा' अर्जुन के प्रति दिव्य नेत्र प्रदान की प्रतिज्ञा करके। इसके अनन्तर अथवा तत:सर्वव्यापक अथवा ततः सबके पिता महायोगेश्वर श्री हरि ने अर्जुन को विराट रूप का दर्शन कराया। यहाँ दिव्य नेत्र प्रदान का दृश्य संजय ने नही देखा अर्थात् भगवान के वचन मात्र से अर्जुन को दिव्य नेत्र मिल गये। अत एव वे भगवान के विराट रूप का दर्शन कर सके।

संगति— भगवान का वह विराट रुप कैसा है। इसी विषय को दो श्लोकों से सविस्तार कह रहे हैं —

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ।। ११/१०

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ।। ११/१

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे राजन्! अनेक मुखों और नेत्रों से युक्त तथा अनेक अद्भुत दृश्यों से सम्पन्न एवं अनेक अलौकिक आभूषणों से सुशोभित तथा प्रहार करने के लिए उद्यत, अलौकिक अनेक अस्त्र-शस्त्रों से सम्पन्न, नन्दनवन के पुष्पों से रचित, लोकोत्तर माला तथा वस्त्रों को धारण किये हुए तथा अलौकिक श्रीखण्ड अष्टगन्धादि लेपों से अनुलिप्त, सम्पूर्ण आश्चर्यमय, अन्त रहित, परम प्रकाश युक्त, चारों ओर मुखवाले, ऐसे परमदिव्य विराट रुप को महायोगेश्वर श्री हरि ने अर्जुन को दर्शन कराया।

व्याख्या—यहाँ प्रायः बहुव्रीह समास परक शब्द है और सभी का अन्य पदार्थ भगवान का विराट स्वरुप ही है, उन सब पदों का हिन्दी विग्रह दिखाया जा रहा है। वक्त्र शब्द का मुख अर्थ हैं। अनेक हैं वक्त्र अर्थात् नयन जिसमें। अनेक हैं अद्भुत दर्शन जिसमें। अनेक हैं दिव्य आभरण जिसमें। दिव्य और अनेक उद्यत हैं आयुध जिसमें। दिव्य गन्ध ही है अनुलेपन जिसका। विश्वतः अर्थात् चारो और मुख हैं जिसके। ऐसे सर्वाश्चर्य में विराट रुप का भगवान ने अर्जुन को दर्शन कराया।

संगति— अब यहाँ धृतराष्ट्र को जिज्ञासा होती है कि-भगवान का रुप कैसा है, उसका क्या उपमान है ? इस प्रकार जन्म से ही जिसमें सूर्य को नही देखा ऐसे धृतराष्ट्र के प्रति संजय कते हैं।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।। ११/१२

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे धृतराष्ट्र ! यदि आकाश में सहस्त्रों सूर्यों की प्रभा एक साथ उदित हो तो वह कदाचित् उन महात्मा श्रीकृष्ण की आभा के समान हो।

व्याख्या— यह असंभावित उपमा है। क्योंकि एक आकाश एक ही सूर्य के लिए प्रचरित होता है तो एक छोटे से आकाश में करोडों सूर्य एक साथ उदित होंगे कैसे ? एक कल्प में परमात्मा एक ब्रह्माण्ड के लिए एक ही सूर्य की रचना करते है, तो एक ब्रह्माण्ड में अनन्त सूर्य आयेंगे कहां से ? इसलिए भगवान का वह रूप सर्वथा अनुपम था।

संगति— इस प्रकार भगवान के रूप का वर्णन करके अब अर्जुन के चरित्र की चर्चा करते हैं।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।। ११/१३

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे राजन् ! उस समय तृतीय पाण्डव श्री अर्जुन ने देवताओं के भी देवता भगवान श्रीकृष्ण के शरीर में अनेक प्रकार से प्रविभक्त इस चिद्चिदात्मक सम्पूर्ण जगत को देखा।

व्याख्या—'प्रविभक्तम्'— यह जगत चौरासी लाख योनियों और चार अकारों में विभक्त है 'देवदेवस्य' भगवान श्रीकृष्ण ब्रह्मादि देवताओं के भी देव हैं।

संगति—धृतराष्ट्र जिज्ञासा करता है कि-इसके पश्चात् क्या हुआ, क्या अर्जुन परिव्राजक हो गये ? धृतराष्ट्र की इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए संजय ने कहा—

ततः सः विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।। ११/१४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— इसके अनन्तर विस्मय से युक्त हुए रोमांचित शरीर वाले वे धनंजय अर्जुन, देवाधिदेव श्रीकृष्ण को साष्टांग प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—

व्याख्या— अर्जुन विस्मय से अविष्ट हो गये। प्रारम्भ में उनमें कृपा का आवेश था आज विस्मय का आवेश आ गया। उनके रोम खड़े हो गये। आज मुनि जन धन प्रभु श्रीकृष्ण को पाकर और उन्हे अपने प्रेम से जीतकर उन्होंने अपना धनंजयत्व चरितार्थ कर लिया और प्रभु को प्रणाम करके, उन्हें विराट दर्शन का अनुभव सुनाने लगे।

संगति— अब अर्जुन शोडपकलासम्पन्न भगवान श्रीकृष्ण से सत्रह श्लोकों में अपने विराट रूप दर्शन का अनुभव कहने का उपक्रम करते हैं —

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।।११/१५

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे देव भगवान श्रीकृष्ण ! मैं आपके शरीर में सभी देवताओं को तथा विशिष्ट प्राणियों के समूहों को ब्रह्मा को, एवं पद्मासन पर विराजमान भगवान शंकर को एवं सभी ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ।

व्याख्या—प्रथम देवदर्शन से मङ्गलाचरण करते हैं। 'भूतविशेष संघान्' तात्पर्य है कि जो नित्यमुक्त जीव हैं, उन्हें भगवान के शरीर में विशिष्ट स्थान मिला है। और वे ही यहाँ भूत विशेष से अभिप्रेत हैं। 'दिव्यान्' अनन्त वासुकि आदि सर्प दिव्य हैं।

संगति— और भी, अर्जुन कह रहे हैं—

अनेकबाहूदर वक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।
११/१६

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे विश्व के ईश्वर ! हे विश्व रुप प्रभो ! आपको मैं सब ओर से अनेक भुजाओं, अनेक उदरों, अनेक मुखों एवं अनेक नेत्रों से सम्पन्न और अनन्त रूप वाला देख रहा हूँ। हे प्रभो ! मैं न तो आपका अन्त देख रहा हूँ, न मध्य देख रहा हूँ और न आदि देख रहा हूँ।

व्याख्या—प्राणी का अंग होने से बाहु, उदर, वक्त्र और नेत्र इन चारों का समाहार द्वन्द्व हुआ। अनेकम् बाहूदर वक्त्रनेत्रं यस्य सा तम्। इस प्रकार विग्रह समझना चाहिए। तृतीय चरण में भगवान को आद्यन्त मध्यरहित कहते हैं। पश्यामि की पुनरूक्ति अर्जुन के आश्चर्य को सूचित करने के लिए है।

संगति— अर्जुन कहते हैं-हे प्रभो ! आपके रूप में केवल अनन्यता ही नहीं है, इसके साथ सायुधता और भयंकरता भी है। इस पर कहते हैं-

किरीटनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।।११/१७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे परमेश्वर ! मैं आपको किरीटधारी, गदाधर, चक्रपाणि, और तेजों के राशि, सब ओर से आभामय और चारों ओर से भयंकरता के कारण दुर्निरीक्ष्य अर्थात् न देखे जाने योग्य, प्रकाशमान, अग्नि और सूर्य की शोभा के समान तथा प्रमाणों से परे देख रहा हूँ।

व्याख्या—यहाँ चकार से शंख और कमल का भी संग्रह समझना चाहिए। लक्षण हेत्वो क्रियायाः (पा० अ० ३/२/१२६) सूत्र से पूर्व निपात प्रकरण के अनित्य होने के कारण अर्धक अच् होने पर भी अनन्त शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ। अथवा अग्नि अभ्यर्हित

हैं। क्योंकि वेद में सबसे प्रथम अग्नि की चर्चा की गयी है। इसलिए 'अग्निमीलेपुरोहितम्' ऋग्वेद १/१ प्रयोग हुआ है।

संगति—हे प्रभो ! आपको देखकर आपके सम्बन्ध में कुछ सोच भी रहा हूँ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरूषो मतो मे ।।११/१८।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे भगवन ! आप ब्रह्मवादियों द्वारा जानने योग्य परम अक्षर हैं। आप इस विश्व के परमरत्न या खजाने हैं। आप विनास रहित तथा सनातन धर्म के रक्षक हैं। आप मेरे पूज्य सनातन पुरूष महाविष्णु हैं।

व्याख्या—इस विश्व के भगवान परमरत्न हैं। इसीलिए श्री व्रजाङ्गनाएं कहती हैं-

ईदृशा पुरूषभूषणेन या भूषयन्ति हृदयं न शुभ्रुवः।
धिक् तदीय कुलशीलयौवनं धिक् तदीयगुणरूपसंपदः ।।

अर्थात्—

भूषित न करती हृदयं जो इस पुरूष ललित ललाम से।
रमणीय होती रमणियां जो न इस जन अभिराम से।।

धिक्कार उनके शीलयौवन वंश को सौ बार है।
गुणरूप सम्पद को अहो धिक्कार है धिक्कार है।।

मतो मे-यहाँ पूजन अर्थ में वर्तमान् काल में 'क्त' प्रत्यय हुआ है। तथा उसी अर्थ में षष्ठी हुई है। अर्जुन का तात्पर्य यह है कि-अब तक आपकी बहिन सुभद्रा का पति होने से मैं अपने को ही आपका पूज्य मानता था क्योंकि आप साले थे मैं बहनोई। परन्तु आज वह सम्बन्ध समाप्त हो गया। इस समय आप गुरू और और गोविन्द दोनों हैं। अत: मतो मे-आप मेरे पूजित हैं मैं आपकी पूजा करता हूँ।

इस प्रसंग पर मेरा संस्कृत गीत भी प्रस्तुत है—

हृदये निवेश्य रामं, नयने निमील्य श्यामं
पूजनमहं करिष्ये अर्चनमहं करिष्ये।
श्यामलरूपं यदुकुलभूपं निजहृदये प्रणिधाय
आवाहनमासनं विधास्ये कमलं मनो विधाय।

पाद्यं प्रपत्ति भावं अर्घ्यं निज स्वभावम् पूजन । महं करिष्ये अर्चन...
करूणामयमाचमनं दिव्यं स्नपनं लोचनवारि
भावसुवस्त्रं विफलितशस्त्रं स्नेहं सूत्रमधारि ।
गन्धं मनोरथं मे सुमनो मनः पथं मे । पूजनमहं करिष्ये...।
श्रद्धाधूपं सुस्मृतिदीपं नैवेद्यं मृदुप्रेम,
तुलसीपत्रं प्रणयमपत्रं तुभ्यं मुदा दिशेम
सुमनोंऽजलिं त्वदीयम् अर्पितवपुर्मदीयम् पूजनमहं करिष्ये ।
नीराजनां मदीयां स्वीकुरू दीनानाथ
गीतागायक पाहि गिरिधर नरभूषण यदुनाथ
दर्शयमुखं स्वकीयं मण्डय मनो मदीम् ।पूजनमहं करिष्ये...।। श्री ।।

संगति—अर्जुन भगवान से और भी निवेदन कर रहे हैं-

अनादिमध्यान्तमनत्तवीर्य मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।।
११/१९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे परमेश्वर ! मै आपको आदि, मध्य, अन्त रहित अनन्त पराक्रम वाले, असंख्य भुजाओं से युक्त चन्द्र और सूर्य के समान नेत्र वाले दीप्त अग्नि, हवनीयअग्निमुख वाले तथा अपने तेज से इस विश्व को तप्त करते हुए देख रहा हूँ ।

व्याख्या—शशिसूर्यनेत्रं-भक्तों के लिए भगवान के नेत्र चन्द्रमा के समान शीतल हैं और दुष्टों के लिए सूर्य के समान उष्ण । 'दीप्त हुताशवक्त्रं' हुतम् अश्नाति इति हुताशः अर्थात् भगवान का मुख उस अग्नि के समान है जिसमें शास्त्रीय आहुति डाली जा रही हो ।

संगति—भगवान अन्तर प्रश्न करते हैं, क्या तुम मुझे देखते हुए डर रहे हो या प्रसन्न हो रहे हो ? इस पर अर्जुन कहते हैं-

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्टवाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।।११/२०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे महात्मन् ! एक मात्र आप द्वारा ही पृथ्वी और स्वर्ग का यह अन्तर अत: अन्तरिक्ष व्याप्त है और सभी दिशाएं भी आप से ही व्याप्त

हो रही हैं । आपके इस उग्र रूप को देखकर 'भूर्भुवः स्वः' ये तीनों लोक व्यथित हैं इसलिए यह रूप समेट लीजिए यह व्यंजना है ।

व्याख्या—महात्मन्-भगवान को उनके भक्त बहुत प्रिय हैं ज्ञानी त्वात्मैव मेमतम् (गीता ७/१८)

अतः महान्तः आत्मानः यस्य । भगवद्भक्त अर्थत् ज्ञानी जिनकी आत्मा हैं, ऐसे प्रभु ही महात्मा है । प्रव्यथितं, जब तीनों लोक ही भयभीत है तो उनमे रहने से मैं भी भयभीत हूँ।

संगति—अर्जुन ने २/६ में अशंका की थी कि-इस युद्ध में हम विजयी होंगे या कौरव ? इस शंका का भी समाधान करने के लिए भगवान ने जो प्रायोगिक दर्शन कराया इस पर अर्जुन कहते हैं -

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्ध सङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ।।
११/२१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे प्रभो ! ये देवताओं के समूह आप में ही प्रवेश कर रहे हैं । कुछ देवता भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपसे क्षमा माँग रहे हैं । भृगु आदि महर्षियों एवं कपिल आदि सिद्धों के समूह जगत का कल्याण हो, ऐसा कह कर अनेक स्तुतियों से आपकी स्तुति कर रहे हैं ।

व्याख्या—कुछ देवताओं ने अपराध किया है । कर्ण के रूप में सूर्य ने भीष्म के रूप में, आठवें वसु ने धृतराष्ट्र के रूप में, भग ने अश्वस्थामा के रूप में, काल ने। इससे ये भयभीत होकर भगवान से क्षमा मांग रहे हैं, क्योंकि इनके अंशों ने भगवान के परिकर पाण्डवों को बहुत सताया है ।

संगति—अर्जुन कहते है-इतना ही नहीं, हम लोगों क्या बात हैं, आपके उग्ररूप को देखकर विशिष्ट लोग भी डर जाते हैं-

रूद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरूतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।।
११/२२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे भगवान ! एकादश रूद्र, द्वादशआदित्य, अष्टवसु तथा साध्यगण, विश्वदेव, दो अश्विनी कुमार, उन्चास मरूतगण और गरमदूध पीने वाले

पितरगण, गन्धर्व, यक्ष, दैत्य और सिद्धों के समूह ये सभी लोग आप को विस्मित होकर विशेष रूप से निहार रहे हैं ।

व्याख्या—उष्मणा – उष्मानं पिवन्ति इति उष्मया: । अर्थात् पितृगण श्राद्धों में उष्णदुग्ध एवं उष्णपिण्ड दान स्वीकारते हैं । इसलिए वचन है कि 'उष्णपाना: हि पितर:'

संगति—हे प्रभो ! इतना ही नहीं, आपके इस भयंकर रूप को देखकर तीनों लोकों के साथ 'वीभत्सु' मैं भी डर रहा हूँ । इसी तथ्य को इस श्लोक में और स्पष्ट कर रहे हैं—

रूपं महत्ते बहूवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरूपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोका: प्रव्यथितास्तथाहम् ।। ११/२३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे महाबाहो ! अगणित मुख, नेत्रों वाले बहुत से भुजा, जंघे तथा चरणों वाले, बहुत से पेटों वाले, बहुत से जबड़ों के कारण भयंकर आपके इस महान रूप को देखकर सभी लोग भयभीत है और आपके इस महान रूप को देखकर सभी लोग भयभीत हैं और मैं अत्यन्त भयभीत हूँ ।

व्याख्या—यहाँ रूप के जितने विशेषण आये हैं वे सव बहुव्रीहि से समस्त है। जैसे- बहुवक्त्र नेत्रं यस्य इत्यादि ।

संगति—अर्जुन आश्चर्य से कह रहे हैं कि हे प्रभो ! सामान्यत: आपके दर्शन से शान्ति मिलती है । परन्तु इस विराट रूप के दर्शन से वड़ी अशान्ति मिल रही है।

नभ:स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्टवा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।।
११/२४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे सर्वव्यापक महाविष्णु ! आकाश को स्पर्श करते हुए प्रकाशमान अनेक वर्णो से युक्त व्यात्त अर्थात फैले हुए मुखों वाले, चमकते हुए विशाल नेत्रों से युक्त ऐसे आपको निहारकर अत्यन्त व्यथित हैं जिससे मैं न तो धैय धारण कर पा रहा हूँ और न ही शान्ति पा रहा हूँ ।

व्याख्या—यहाँ भगवान की अपूर्व लोकोत्तरता का वर्णन करते हैं क्योंकि अर्जुन ने पहले ही कहा था, 'दृष्टुमिच्छामित्ति ते रूपमैश्वरं पुरूषोत्तम:' । (गीता ११/४) इसलिए भगवान इन्हें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा का दर्शन करा रहे हैं, जव कि इससे पहले श्रीरामावतार में भगवान ने माता कौसल्या जी को अद्भुत रूप का दर्शन कराया था—

दिखरावा माताहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम-रोम प्रतिलागे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड ।। मा० १/२०१

परन्तु वह सौन्दर्य प्रधान रूप था। यद्यपि वहां भी कौसल्या जी डर गयीं थीं। पुनः द्वापर में मां यशोदा को भी मृत्तिका भक्षण लीला में भगवान ने अद्भुत रूप का दर्शन कराया था, उसमें मां को अपने मुख में ही उनके साथ अपने को भी दिखा दिया था-

एतद् विचित्रं सह जीवकाल स्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम्।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहात्मानमवाप शंकाम्।।

अर्थ—परीक्षित्! जीवकाल, स्वभाव, कर्म उनकी वासना और शरीर आदि के द्वारा विभिन्न रूपों में दीखने वाला यह सारा विचित्र संसार, सम्पूर्ण व्रज और अपने आपको भी यशोदा जी ने श्रीकृष्ण के नन्हें से खुले हुए मुख में देखा और वे बड़ी शंका में पड़ गयीं। (भा० ८/१०/३९) परन्तु यह रूप पहले के सभी रूपों की अपेक्षा उग्र और भयंकार था।

संगति—अर्जुन उसी व्यथा को फिर विस्तार से कह रहे हैं-

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानल सन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।।
११/२५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे देवताओं के ईश्वर देवेश! जिसमें जगत का निवास है अथवा जिसका जगत में निवास है, ऐसे हे जगन्निवास! कालाग्नि के समान भयंकर जबड़ों के कारण आपके विकराल असंख्य मुखों को देखकर मैं न तो पूर्वादिदिशाओं को जान सका हूँ और न ही सुख प्रप्त कर पा रहा हूँ। अब प्रसन्न हो जाइये।

व्याख्या—'कालानल सन्निभानि' सन्निभ, निभ, शंकास ये सभी सदृश्य अर्थ के वाचक हैं और इनका नित्य समास में ही प्रयोग होता है। शर्म शब्द सुख के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

प्रसीद—आप प्रसन्न हो क्योंकि मैं आपके मन्द मुस्कान से पूर्ण स्मित मुखार-विन्द देखने का अभ्यस्त हूं।

संगति—अब भगवान प्रश्न करते हैं कि-तुम्हारी व्यथा का कारण क्या है? प्रभु के इस अन्तर प्रश्न को अर्जुन इस पाँच श्लोकों से उत्तरित कर रहे हैं।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ।।

११/२६,२७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—और हे प्रलयंकर श्रीकृष्ण ! राजसूमूहों के साथ में सभी धृतराष्ट्र के सौ पुत्र, भीष्म, द्रोण, और वह सूतपुत्र कर्ण, ये सभी, हमारे पक्ष के भी मुख्ययोद्धा विराट, द्रुपद, धृष्टद्युम्न आदि के साथ दौड़ते हुए आपके जबड़ों से विकराल भयंकर मुखों में प्रवेश कर रहे हैं । कुछ लोग आपके दांतों के कोनों में चिपके हुए आपके द्वारा कूँचे हुए उत्तमाङ्ग तथा शिरोभागों से उपलक्षित ठीक-ठीक से दिखाई पड़ते हैं ।

व्याख्या—यहाँ दोनों श्लोकों में भगवान यह दिखाना चाहते हैं कि, सभी प्रभु के द्वारा पहले ही तहसनहस किये जा चुके हैं । यह महाभारत तो केवल लीला के लिए हो रहा है ।

संगति—आपके मुख में ये कितने वेग से प्रवेश कर रहे हैं, इसी तथ्य को अर्जुन दो श्लोकों में दृष्टांतबद्ध करते हैं-

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोका स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।।

११/२८,२९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे महायोगेश्वर ! जैसे बहुत से जल प्रवाहों के वेग सामने से समुद्रमें पड़ते हैं उसी प्रकार ये मनुष्यलोक के वीर आपके प्रकाशमान मुखों में प्रवेश कर रहे हैं । जिस प्रकार उत्कट वेग वाले पतंगे विनाश के लिए ही जलते हुए अग्नि में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार उत्कट वेग से ये सभी लोग विनाश के लिए ही आपके मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ।

व्याख्या—प्रथम दृष्टांत में परमात्मा में जीवों का विश्राम सूचित किया गया और द्वितीय दृष्टांत में जीवों के शरीर के विनाश का निमित्त परमात्मा को कहा गया ।

संगति—भगवान ने कहा-मैं क्या कर रहा हूँ ? इस पर अर्जुन ने कहा-

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।।११/३०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे विष्णो ! आप उन सबको अपने ज्वलनशील मुखों द्वारा चारों ओर से ग्रसते अर्थात् भक्षण करते हुए चटनी की भाँति बार-बार चाट रहे हैं । आपकी उग्र प्रभायें सम्पूर्ण जगत को अपने तेजों से व्याप्त करके प्रतप्त होती हुई सारे संसार को जला रहीं हैं ।

व्याख्या—लेलिह्यसे-यह यङन्त प्रयोग है । प्रभु के इस प्रलय वर्णन में अर्जुन द्वारा कठोपनिषद् का यमराज द्वारा कहा हुआ दूसरी वल्ली का अन्तिम मन्त्र यथावत अनूदित हुआ है । मंत्र में यमराज कहते हैं कि-ब्राह्मण और क्षत्रियों से उपलक्षित सभी प्राणी जिस परमात्मा के लिए ओदन अर्थात् पके हुए चावल के समान भक्ष्य हैं, मृत्यु जिसका उपसेचन अर्थात् दाल, साग, चटनी इत्यादि व्यंजन पदार्थ हैं -

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्थावेद यत्र सः ।।क० ढ० २/२५

संगति- अब अर्जुन अपने वक्तव्य का निष्कर्ष कह रहे हैं—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।
११/३१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे देवश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो । आप कृपा करके मुझे बताइये इन भयंकर रूपों वाले आपकौन हैं । मैं आदि पुरूष आपको जानने की विशेष इच्छा करता हूँ । क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति को ठीक-२ नहीं जानता ।

व्याख्या—अब अर्जुन भगवान की प्रवृत्ति के सम्दन्ध में जिज्ञासा करते हैं । अर्थात् इस समय यह प्रलय व्यापार आप किस कारण कर हे हैं । वह हेतु मुझे बताइये ।

संगति—इस प्रकार भय से विह्वल अर्जुन को देखकर भगवान तीन श्लोकों में उत्तर देते हैं—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।।
११/३२।।

श्रीभगवानुवाच

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं सम्पूर्ण लोक का विनाश करनेवाला, इन उग्ररूपों से सम्पन्न बढ़ा हुआ काल हूँ । मैं इन आसुर लोगों का संहार करने के लिए

ही प्रवृत्त हुआ हूँ। जो इस समय तुम्हारी प्रतिपक्ष सेनाओं में योद्धा स्थित हैं, ये सब तुम्हारे बिना भी अर्थात् तुम्हारे युद्ध न करने पर भी जीवित नहीं रहेंगे।

व्याख्या—यहाँ भगवान अपने कालरूप की व्याख्या कर रहे हैं। ऋतेऽपि त्वाम् -यद्यपि 'अन्यारादितरर्त्ते' इत्यादि सूत्र से यहाँ पञ्चमी होनी चाहिए परन्तु 'विवक्षाधीनानि कारकाणि भवन्ति' नियम की दृष्टि से द्वितीया हो गई। 'न भविष्यन्ति' ये नहीं रहेंगे। क्योंकि उन्हें मैंने अपने सत्यसंकल्प से मार डाला है। यहाँ अस् धातु के भविष्यत् काल में प्रथम पुरूष बहुवचन में भविष्यन्ति बना है।

संगति—अब पार्थसारथि श्रीकृष्ण भगवान पार्थ को उत्साहित कर रहे हैं।

तसात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्रमात्रं भव सव्यसाचिन्।।
११/३३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इसलिए तुम उठो। यश प्राप्त करो। शत्रुओं को मारकर समृद्धराज्यसुख का उपयोग करो। ये भीष्मादि तो मेरे द्वारा पहले ही मार डाले जा चुके हैं। हे सव्यसाचिन् ! तुम केवल निमित्त बन जाओ।

व्याख्या—मया हताः - ये मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। इन्हें तुम बाएँ हाथ से भी मार सकते हो। इसी सुलभता के लिए 'सव्यसाचिन्' शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसा कि महाभारत में कहा भी गया है—

अर्जुनः फाल्गुनः विष्णुः किरीटी श्वेत वाहनः।
वीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनञ्जयः ।।
(महा० वि० प० ४४/९)

उभौमे दक्षिणौ चापि गाण्डीवस्य विकर्षणे।
तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः ।।
महाभा० विराटपर्व ४४/१९

संगति- अब मुख्य विपक्ष के पराजय की सुलभता कह रहे हैं—

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।
१३/३४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन द्रोण, भीष्म, जयद्रथ तथा कर्ण और अन्य भी मेरे द्वारा मारे गये योद्धा वीरों को अपने शस्त्र से मारो। युद्ध करो। युद्ध में शत्रुओं को शीघ्र जीत लोगे।

व्याख्या—यहाँ भगवान अपने मारने के क्रम का उल्लेख करते हैं। अर्थात् द्रौपदी केशकर्षण के समय अपने सत्यसङ्कल्प से सर्वप्रथम मैंने द्रोण को मारा, क्योंकि वे विकर्म कर रहे थे। उन्हें गुरू होने के कारण दुर्योधन को रोकना चाहिए था। इसके अनन्तर मैंने भीष्म को मारा। जिन्होने शान्तनु महाराज से स्वेच्छामृत्यु वर पाया है। उन्होंने भी द्रौपदी के प्रति अन्याय करते हुए दुर्योधन को नहीं रोका। उनके पश्चात् मैंने जयद्रथ को मार डाला। जयद्रथ दुर्योधन का बहनोई था। उसे भी दुर्योधन को रोकना चाहिए था। कर्ण दुर्योधन का मित्र था। उसने केवल एक ही अपराध किया कि उसने द्रौपदी को वेश्या कहा। इसलिए उसको मैंने सबसे अन्त में मारा। इसके पश्चात् ज्ञाताज्ञात उन सभी वीरों को मैंने मारा जो द्रौपदी के अपमान के समय उस सभा में बैठे थे।

जेतासि—यहाँ अनद्यतने लुट् (पा. अ. ३/३/११५) सूत्र से अनद्यतन भविष्यदर्थ में लुट्लकार हुआ है। अर्थात् आज नहीं। आज के दसवें दिन भीष्म को, चौदहवें दिन जयद्रथको, पन्द्रहवें दिन द्रोण को और सत्रहवें दिन कर्ण को जीतोगे। जो लोग 'जेतासि' का 'जेष्यसि' अर्थ करते हैं वे व्याकरण का सिद्धान्त नहीं जानते।

संगति—इसके अनन्तर अर्जुन के विजय के प्रति दृढ़ निश्चय श्रीकृष्ण को, अर्जुन को विजय का आश्वासन देते हुए सुनकर, दुर्योधन की विजय के प्रति निराश धृतराष्ट्र को जिज्ञासा करते हुए जानकर, संजय बोले—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।। ११/३५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—संजय ने धृतराष्ट से कहा। हे राजन्! इस प्रकार अभी अभी तीन श्लोकों में कहे हुए केशव अर्थात् ब्रह्मा और शङ्कर को भी वश में करनेवाले भगवान श्रीकृष्ण के वचन सुनकर कम्पित होते हुए किरीटी अर्जुन अत्यन्त भयभीत होकर, हाथ जोड़कर प्रभु को नमस्कार करके, फिर भयभीत मुद्रा में भगवान को साष्टाङ्ग प्रणाम करके, गदगद स्वर में ग्यारह श्लोकों में प्रार्थना करते हुए बोले।

व्याख्या—यहाँ 'नमस्कृत्वा' और 'भीतभीतः प्रणम्य,' अर्जुन की दो प्रणाम क्रियाएँ उनके अन्तर्मन का अत्यन्तभय सूचित कर रही हैं। पहले अर्जुन ने कृताञ्जलि होकर नमस्कार किया था। फिर अत्यन्त भयभीत होकर साष्टांग प्रणाम किया। अब प्रश्न उठता है कि-यहाँ 'नमस्कृत्वा' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ? जैसे- स्वयम्भुवे नमस्कृत्य (मनुस्मृति १/१) उसी प्रकार यहाँ नमस्कृत्य का प्रयोग होना चाहिए था ?

उत्तर—नमस्' शब्द 'साक्षात् प्रभृतीनि च' (पा. अ. १/४/७४) सूत्र से गतिसंज्ञक है। जब 'कुगति प्रादयः' (पा. अ. २/२/१८) सूत्र से नमस् शब्द के साथ 'कृ' धातु का समास होगा तब समासनिमित्तकल्यप् प्रत्यय होकर अनुबन्ध कार्य और तुगागम से नमस्कृत्य बनेगा। पर संयोग से 'विभाषा' (पा. अ. २/१/११) सूत्र के अधिकार क्षेत्र में होने से 'कुगतिप्रादयः' (पा. अ. २/२/१८) सूत्र नित्यसमास नहीं करता। अतः समासाभाव पक्ष में ल्यप् न करने पर मूलप्रत्यय, 'क्त्वा', ही रह गया।

'नमस्कृत्य' यह ल्यबादेशात्मक प्रयोग न करके भगवान वेदव्यास यह संकेत भी कर रहे हैं कि अभी तक अर्जुन ने भी भगवान का आदेश नहीं माना है। अपने मूल स्वभाव में ही हैं। इसलिए 'नमस्कृत्वा' यह ल्यप् आदेशरहित प्रयोग किया गया। फिर भयभीत होकर अर्जुन भगवान का आदेश मानने का निश्चय कर लेते हैं। इसलिए वेदव्यास जी भी 'प्रणम्य' यह ल्यबादेशात्मक प्रयोग कर रहे हैं।

संगति—अब भगवान के विश्वरूप दर्शन से जिनके मन में हर्ष और विषाद दोनों उत्पन्न हो गये है। तथा जिनको परमात्मा श्रीकृष्ण के चरण कमल के प्रसाद की इच्छा है ऐसे अर्जुन ग्यारह श्लोकों में भगवान की प्रार्थना करते हैं।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।। ११/३६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—अब यदुकुलके पुञ्जीभूतभाग्यरूप श्रुतियों के मूर्तिमान गोपनिय धन तथा गोपियों के पुञ्जीभूतप्रेम अपने श्यामसुन्दर अनन्यमित्र भगवान श्री कृष्ण से प्रार्थना करते हुए तृतीय पाण्डव अर्जुन कहते हैं-हे इन्द्रियों के नियन्ता श्रीकृष्ण! यह उचित ही हैं कि आपके संकीर्तन से जगत प्रसन्न होता है और आपमें प्रेम करता है। राक्षस भगयभीत होकर भिन्न-भिन्न दिशाओ में भाग जाते हैं और सिद्धों के समूह आपको प्रणाम करते हैं।

व्याख्या—यहाँ 'प्रकीर्त' शब्द कीर्तन के अर्थ में है। 'स्थाने' शब्द अव्यय है और इसका औचित्य के अर्थ में प्रयोग होता है। यहाँ अर्जुन भगवान नाम संकीर्तन की प्रसंशा करते हैं।

संगति—सभी लोग क्यों नमस्कार करते है। इसपर अर्जुन युक्ति देते हैं—

कस्माच्च ते न नमेरनमहात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादि कर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।। ११/३७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे परमात्मन्! ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ आदि कर्त्ता आपको वे लोग क्यों न प्रणाम करेंगे। हे अनन्त, हे देवताओं के ईश्वर, हे जगन्निवास, आप अक्षर हैं, और आप सत् और असत् से जो परे हैं, वह चिद चिद विशिष्ट ब्रह्म है।

व्याख्या—यहाँ 'गरीयसे-आदिकर्त्रे' इन दोनों स्थानों पर क्रियार्थो पद चतुर्थी है। सत् और असत् इन दोनों स्थानों पर लुप्त भगवान के विशेषण हैं।

संगति—अर्जुन और भी कह रहे हैं—

त्वमादिदेवः पुरूषः पुराणः
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।११/३८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अनन्त रूपों वाले परमात्मन्! आप आदि देव भगवान राम हैं। आप ही पुराण पुरूष हैं, आप ही इस विश्व के श्रेष्ठ रत्न अथवा अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं, आपही सवर्ज्ञ होने से इस विश्व के ज्ञाता है। और आपही प्रमाता इस जीवात्मा के वेद्य अर्थात् ज्ञेय तत्व हैं और आपके ही द्वारा यह विश्व व्याप्त हैं -

व्याख्या—यहाँ आदिदेव शब्द भगवान राम के लिए आया है और पर शब्द उपादानकारण और निधान शब्द निमित्त कारण के अर्थ में हैं। वेद्य शब्द ज्ञेय का पर्याय है।

संगति—अब भगवान की कुछ विभूतियों की चर्चा करते हैं-

वायुर्यमोऽग्निर्वरूणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।। ११/३९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे भगवान! आप वायु हैं, आप यमराज हैं, आप अग्नि हैं, आप वरूण हैं, आप चन्द्र हैं, और आप प्रजापति है और आप ही प्रपितामह

हैं अर्थात् पितामह अर्थात ब्रह्मा के भी पिता हैं । आपको हजार बार नमस्कार हैं नमस्कार है, आपको फिर नमस्कार है, आपको फिर से नमस्कार है ।

व्याख्या—सहस्रकृत्वा पद क्रिया की आवृत्तिगणना में कृत्व शुच् प्रत्यय करके हुआ है । बार-बार नमस्कार भक्ति के उद्रेक में कहा गया है ।

संगति—फिर नमस्कार की चर्चा करते हैं ।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्त वीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।। ११/४०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे सर्वरूप ! आपको आगे से भी नमस्कार और पीछे से भी नमस्कार हो । हे सर्वरूप आपको सब ओर से नमस्कार हो । आप अनन्त शक्तिसम्पन्न अमितपराक्रम वाले हैं । आप सबको समाप्त करते हैं और फिर सबको व्याप्त करके सर्वरूप से स्थित रहते हैं ।

व्याख्या—आज अर्जुन के हृदय में भक्ति का अतिरेक है । इसलिए अर्जुन आगे से पीछे से सब ओर से भगवान को नमस्कार कर रहे हैं । क्योंकि आप अनन्त शक्तिमान हैं और आपका पराक्रम असीम है । इसलिए आप अपने में ही सबको समाविष्ट कर लेते हैं । और फिर सबमें व्याप्त हो जाते हैं ।

संगति—अब अर्जुन चार श्लोकों से भगवान से क्षमा माँग रहे हैं ।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणेयन वापि ।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहार शय्यासन भोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं, तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।।
११/४१,४२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अच्युत ! आप के संसारकामनाशक महामहिम ऐश्वर्य को नहीं जानते हुए मेरे द्वारा प्रमाद से अथवा मित्रप्रेम से सर्वशरण्य परमात्मा आपको मित्र ऐसा मानकर हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इस प्रकार जो कुछ अपमान पूर्वक कहा गया और विहार, शयन और भोजन के समय अकेले अथवा बहुत लोगों के समक्ष विनोद के लिए जो मेरे द्वारा आप अपमानित किये गये हों उन सब अपराधों के लिये

आपसे क्षमा माँगता हुआ मैं आपसे क्षमा करवा रहा हूँ अर्थात् क्षमा करने की प्रार्थना कर रहा हूँ ।

व्याख्या—यहाँ अर्जुन का भक्ति-उद्रेक फूट पड़ा है । 'सखा इति' यहाँ इति शब्द के कारण प्रथमा हुई । क्योंकि इति शब्द स्वरूप का परिचायक है । इसलिए प्रथमान्त का अनुकरण हुआ । 'हे सखेति', हे सखे, और, इति, इन दो शब्दों की सामान्यतः सन्धि करने पर अय् आदेश और यकार का लोप करके 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८/२/१) के कारण गुण का अभाव होने से 'हे सख इति' इस प्रकार पाणिनिसम्मत रूप बनना चाहिए । परन्तु यहाँ 'हे सखेति' ऐसा रूप बना है ऐसा क्यों ? कुछ लोग यहाँ 'आर्पत्वात्' कहकर टाल देते हैं । पर सत्य तो यह है कि आज तक किसी टीकाकार ने इस पर विचार ही नहीं किया । यहाँ व्यत्ययोवहुलम् (३/१/८५) सूत्र के कारण एकार का लोप करके पुनः गुणादेश से 'हे सखेति' रूप सम्पन्न किया गया है । अथवा गुणाभावप्रयोजक, पूर्वत्रासिद्धम्, की प्रवृत्ति ही नहीं हुई ।

संगति—अब भगवान अन्तरप्रश्न करते हैं कि-तुमने मेरा बहुत अपमान किया फिर क्यों मुझसे क्षमायाचना कर रहे हो । इस पर अर्जुन कहते हैं-

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरूर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।
११/४३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अद्वितीय प्रभाव सम्पन्न परमेश्वर ! आप सम्पूर्ण जड़चेतनात्मक जगत के पिता हैं । आप इस जगत के पूज्य सद्गुरू और श्रेष्ठ भी हैं । कोई आपके समान भी नहीं है । इस त्रिलोकी में आपसे अधिक दूसरा कहाँ से होगा ?

व्याख्या—पुत्र पिता से अपराध करके भी क्षमा माँगने का अधिकारी है । तीनों लोकों में कोई भी आपके समान नहीं है । श्रुति कहती है 'न तस्य प्रतिमास्ति यस्य ज्ञानं महद्यशः' इसलिए आपका प्रभाव भी अप्रतिम है । जैसा कि गोस्वामी जी कहते हैं-

अब जाना मैं श्री चतुराई । तुम्हहि भजै सब देव विहाई ।।
जेहि समान अतिसय नहिं कोई । ताकर सील कस न अस होई ।।
(मानस ३/६/७८)

संगति—भगवान निरूपम हैं इसलिए उन अकारणकरूणाकल्लोलिनी बल्लभ प्रभो को प्रसन्न करने के लिए अर्जुन दण्डवत मुद्रा का प्रस्ताव कर रहे हैं—

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेन सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।
११/४४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे प्रभो ! इसलिए अपने शरीर को आपके चरणों में साष्टांग प्रणिपात करके आप श्री को प्रसन्न कर रहा हूँ। जिस प्रकार पिता-पुत्र के मित्र-मित्र के तथा पति-पत्नी के अपराध को क्षमा करता है, उसी प्रकार आप मेरे अपराध को क्षमा करने योग्य हैं।

व्याख्या—यहाँ अर्जुन ने भगवपन से तीन सम्बन्धों की बात की , पिता-पुत्र का, मित्र-मित्र का, पति-पत्नी का। इसीलिए उन्होंने गुह्य, गुह्यतर और गुह्यतम इन तीनों ज्ञानों का अधिकार प्राप्त किया। यहाँ एक संदेह है कि-भगवान वेदव्यास ने 'प्रियायार्हसि' यह प्रयोग करके शुद्ध चतुर्थेन्त्य का निर्देश किया है तो फिर यहाँ षष्ठयन्त की कल्पना कैसे। क्योंकि यदि षष्ठेन्त के साथ अर्हति के अकार की सन्धि होगी तो यहाँ पर यकार का लोप करके दीर्घ नहीं हो सकता, क्योंकि 'पूर्वत्रासिद्धम्' से यहाँ यकार लोप असिद्ध हो जायेगा। इसलिए 'प्रियायअर्हसि' यही सन्धि उचित होगी।

उत्तर—यदि चतुर्थेन्त्य ही मानेगे तब तो सहचरित नियम टूट जायेगा। क्योंकि दो स्थलों पर अर्जुन षष्ठेन्त के उपमेय हैं, अब तृतीय में चतुर्थेन्त्य के उपमेय कैसे बनेंगे। इसलिए षष्ठेन्त पक्ष ही उचित है। यहाँ तेवहुलं ३/१/८५ सूत्र से या तो यकार का लोप होगा अथवा पूर्वत्रासिद्धम् की प्रवृत्ति का अभाव।

संगति—अब अर्जन दो श्लोकों से आपना अभिप्राय कह रहे हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्टवा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास।।
किरीटीनं गदिनं चक्रहस्त मिच्छामि त्वां दृष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।
११/४५,४६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे देवेश ! पहले कभी न देखे हुए इस विराट रूप को देखकर मैं अत्यन्त पुलकित हूँ। मेरा मन भय से अत्यन्त व्यथित हो रहा है। इसलिए हे देव अब मुझे वही रूप दिखाइये। हे जगन्निवास ! मुझ पर प्रसन्न हो जाइये। मैं किरीट और गदा से युक्त सुदर्शन चक्र हाथ में लिए हुए आपको उसी प्रकार देखना चाहता हूँ। हे सहस्त्रबाहो ! हे विश्वमूर्ति ! आप उसी चतुर्भुज रूप से युक्त हो जाइये।

व्याख्या—यहाँ अर्जुन का मन्तव्य है कि-आपके विराटरूप दर्शन से आपके क्रोध का अनुमान हो रहा है। इसलिए चतुर्भुज रूप दिखाइये। विशमूर्ते शब्द से संसार को प्रभु का शरीर सिद्ध करते हैं।

संगति—अब कांपते हुए अपनी शरणागत अर्जुन को आश्वसित करते हुए तीन श्लोकों में भगवान अर्जुन को धैर्य बँधा रहे हैं।

श्री भगवान बोले

मया प्रसन्नेन तवार्जु नेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।। ११/४७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! तुम्हारे ऊपर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए मेरे द्वारा अपने अलौकिक सामर्थ्य से तेजोमय अन्तरहित आद्य विश्वात्मक दिव्यस्वरूप दिखाया गया। जिसको तुम्हारे अतिरिक्त किसी अन्य ने पहले कभी नहीं देखा।

व्याख्या—मैं तुम पर प्रसन्न ही हूँ इसलिए जिसे किसी ने नहीं देखा वह रूप तुम्हें दिखा दिया।

संगति—यह रूप मेरी कृपा से ही देखा जा सकता है-इसलिए अन्य उपायों का निषेध करते हैं—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैंन च क्रियाभिर्न तपोभिरूग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरूप्रवीर।। ११/४८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे कुरूओं में श्रेष्ठ वीर अर्जुन! तुम्हारे अतिरिक्त और किसी के द्वारा मैं न तो वेद, यज्ञ, अध्ययन के द्वारा देखा जा सकता हूँ, न क्रियाओं से और न ही उग्र तपस्या से। इस प्रकार रूपवाला मैं इस मनुष्यलोक में केवल अपनी कृपा से तुम्हारे द्वारा देखा गया।

व्याख्या—मेरे दर्शन में वेद, यज्ञ, अध्ययन, दान, क्रिया, तपस्या, चन्द्रायण आदि व्रत इन में से कोई भी साधन नहीं होता। मैं केवल अपनी कृपा से ही देखा जाता हूँ।

संगति—अब भगवान अपना निष्कर्ष कह रहे हैं—

मा ते व्यथा मा च विमूढ़भावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।११/४९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! इस प्रकार मेरे इस घोर रूप को देखकर तुम्हारे मन में न तो व्यथा हो और न तुम्हें मोह हो। तुम निर्भय हुए। परम प्रसन्न मन होकर फिर तुम मेरे उसी रूप को देखो। भगवान कहते हैं कि—

व्याख्या- इसमें व्यथा और मोह का कोई प्रश्न नहीं । तुम निर्भीक होकर प्रसन्न मन होकर चतुर्भुजरूप देखो । क्योंकि यह तो मेरी कृपा का फल है ।

संगति- अब संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं । अर्जुन पर परमेश्वर की कृपा देखो तुम्हारे पुत्रों का इतना बड़ा कहाँ सौभाग्य है ?

संजय उवाच

संजय धृतराष्ट्र से बोले—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।।११/५०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे राजन् ! इस प्रकार अर्जुन के प्रति चतुर्भुज रूप का आश्वासन देकर भगवान वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ने अपनाभक्तसुखकारी रूप दिखाया । तथा सौम्यरूप अर्थात् द्विभुजरूप धारण करके भयभीत अर्जुन को अश्वस्त किया ।

व्याख्या—'स्वकम्' स्वेभ्यः आत्मीयेभ्यः कम् सुखं यस्मात् । तत् स्वकम् । जिससे प्रपन्न जनों को अत्यन्त आनन्द मिलता है ऐसा रूप दिखाया । इस प्रकरण में अर्जुन को भगवान ने विराट बहुभुज चतुर्भुज रूप और द्विभुज रूप दिखाया । द्विभुज परात्पर रूप है इसलिए अर्जुन को उसे देखकर संतोष हुआ। जो लोग कहते हैं कि चतुर्भुज रूप से ही भगवान ने अर्जुन को आश्वस्त किया वह असंगत है । क्योंकि एक ही रूप के दर्शनीय होने पर स्वकं रूपं 'दर्शयामास' यह पद देकर फिर भूत्वा पद का क्यों प्रयोग करते हैं। इसलिए जब भगवान राम की भाँति मनुष्य रूप के दर्शन हुए तब अर्जुन प्रसन्न हो गये। क्योंकि अग्रिम श्लोक में अर्जुन मानुष रूप की चर्चा करते हैं। मनुष्य रूप में चतुर्भुजत्व सम्भव नहीं है ।

संगति—द्विभुज रूप का दर्शन करके अब अर्जुन प्रसन्नता पूर्वक बोले-

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।। ११/५१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे जनार्दन ! आपके इस अत्यन्त सौम्य मनुष्य रूप को देखकर इस समय मैं चित्त के साथ हूँ । अपने स्वभाव को प्राप्त करके परमशान्त हो चुका हूँ ।

व्याख्या—अब मेरा चित्त मुझमें आ गया है प्रकृति अर्थात् मुझे दास्य भाव की अनुभूति हो गयी है ।

संगति—अब भगवान तीन श्लोकों से क्रमशः विराट, चतुर्भुज और द्विभुज रूप की दुर्लभता कहते हैं—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ।।११/५२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—भगवान् श्री कृष्ण बोले—हे अर्जुन ! जिस विराट रूप का तुमने दर्शन किया है यह रूप अत्यन्त कठिनता से देखा जा सकता है। इन्द्र आदि देवता भी नित्य ही इसके दर्शन की इच्छा करते रहते हैं।

व्याख्या—इन्द्रादि देवताओं के पास दिव्य चक्षु न होने से उन्हें इसके दर्शन नहीं होते।

संगति—भगवान अब चतुर्भुज रूप की दुर्लभता का वर्णन करते हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।। ११/५३

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जिस प्रकार तुमने मुझ चतुर्भुज भगवान को देखा है इस प्रकार मैं वेद, तपस्या, दान और यज्ञ के द्वारा भी नहीं देखा जा सकता।

व्याख्या—'इज्या' का अर्थ है यज्ञ।

संगति—अब भगवान द्विभुजरूप के दर्शन का माहात्म्य कहते हैं।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ।। ११/५४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! हे शत्रुनाशक ! इस प्रकार द्विभुजरूप वाला मैं अनन्य भक्त से ही तत्त्व से जाना जा सकता हूँ, लोचन भर देखा जा सकता हूँ और प्रवेश का विषय भी बनाया जा सकता हूँ।

व्याख्या—शक्य एवं विधः- यहाँ भी पहले की भाँति व्यत्ययो बहुलम् पा. अ. ३/१/८५ सूत्र से यकार का लोप और दीर्घ का अभाव समझना चाहिए।

संगति—अब भगवान सिद्धान्त का उपसंहार कर रहे हैं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।। ११/५५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो मेरे लिए कर्म करता है, जो मुझको परम देवता मानता है, जो मेरा भजन करता है और जो संसार में असक्ति रहित होता है तथा सम्पूर्ण भूतों के प्रति निर्वैर रहता है, वह मुझे प्राप्त करता है।

व्याख्या—'मत्परम:' मैं ही हूं परम देवता जिसका। इस प्रकार पांच विशेषताएं कहकर भगवान ने अर्थपंचक ज्ञान का संकेत किया।

रामभद्र आचार्यकरि गीता भाष्य अनूप।
एकदश अध्याय पर सुनत मिटहिं भवकूप ।।

इतिश्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरूरामानन्दाचार्यश्रीरामभद्राचार्यप्रणीतेश्रीराघवकृपाभाष्ये-श्रीमद्भगवद्गीतायांविश्वरूपंदर्शनयोगनामएकादशोध्याय:

श्रीराघव: शन्तनोतु



"श्रीमद्राघवो विजयते"
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

द्वादशोऽध्यायः

मंगलाचरणम्

वन्दे विदेहवरवैभववैजयन्तीं
श्रीभानुवंशविजयैकविभां जयन्तीम् ।
सीतां सितेतरसमानसरोजनेत्राम् ।
रामप्रियां प्रियचकोरनवेन्दुलेखाम् ।।१।।

रामभद्रपदपद्मसेवया लब्धजीवनगवीशगौरवः ।
भैरवं न गणयामि कर्हिचिद्रावयामि रूचिवेगरौरवम् ।।२।।

रामराम रटतो ममात्र भो किं करिष्यसि कले करालकः ।
सिंहशावकममोघविक्रमं किं शशोऽपि परिभावयेदहो ।।३।।

कृष्णचन्द्रमुखचन्द्रचन्द्रिकालोललोचनचकोरकैरवः ।
रैखप्रथितभीतिभैरवं गौरवेण गणये न रौरवम् ।।४।।

भानुजा पुलिनभानुजाभवे भानुजारिभव भानुजारवे ।
भानुनन्दनभयेन भूरिणा सूरिणाथ क्रियते चिरं रतिः ।।५।।

नाहं विप्रो न च नृपसुतो नैव वैश्यो न शूद्रो
नाहं नारी न च किल नरो नेव षण्ढः कदाचिद्
नाहं वर्णी न खलु भवनी ना वनी नो यतिर्वा ।
सीताभर्तुः पदजलजयोर्दासदासनुदासः ।।६।।

अथैतस्य मध्यमषट्कस्य चरमे विभागे सानुरागो गोविन्दपदपद्मपरागो गौरीपतितोषणप्रथितशीलो विख्यातधर्नुलीलो लवितु लोलतां त्रिभंगललितं श्रीकृष्णं प्रति संदिहानस्वरेण जिज्ञासातीव्रतरेण प्रश्नाकारमवतारयति पार्थः ।

यतो हि पूर्वषट्कान्ते श्रद्धावान् भजते यो मां स मेयुक्ततमो मतः पुनश्च बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । (गीता ७/११) तत्र सन्देह एष जागर्ति जागतिकानां यत् को नाम मत् पदार्थः ? निराकारः साकारो वा, निराकार इति चेत्, तर्हि किं प्रमाणं, साकार इतिचेत् तत्रापि प्रमाणमन्वेषणीयम् इति । तर्हि नास्ति तत्र भगवान् निराकार इति ब्रूमहे । ननु अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् इति काठकश्रुति विरोधः, इति चेत् मैव भाणी । अत्र सर्वत्र अव्यक्ताः शब्दस्पर्शरूपरसादयःयास्मिन् तथा भूतम् इति व्याख्याने न दोषात् । ननु अस्मिन् व्याख्याने का विनिगमना । रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव (क० १.३.८) तथा हि नैवाकारनिषेधे श्रुतेस्तात्पर्यम् यद्याकारनिषेधो विवक्षितः स्यात्तदा अनाकार इति ब्रूयात् अनावश्यकमनुचितमित्यादिवत् । अरूपमित्यत्र तु अव्यक्तं रूपं यस्य तदरूपम् । इति व्याख्यानम् न तस्य प्रतिमास्ति इत्यत्र च न तस्य नम्रीभूतस्य भगवतः श्री रामचन्द्रस्य बालराघवस्य प्रतिमा मूर्तिः अस्ति, अतएव निराकार शब्दे विविधं व्याचक्ष्महे । तथा हि निरूपमः आकारः यस्य निराकारः, निःशेषाआकराः यस्य निराकारः सः नित्याः आकाराः यस्य स निराकारः, निरन्तरा आकाराः यस्य स निराकारः निश्चिता आकाराः यस्य स निराकारः निःश्रेयस्करा आकाराः यस्य स निराकारः निर्गताः आकाराः यस्मात् स निराकारः, निर्लीनाः आकाराः यस्मिन् स निराकारः निरुक्ताः आकाराः यस्य स निराकारः, निरूपद्रवा आकाराः यस्य स निराकारः इत्येवमादि । तत्र अर्जुनः सगुणनिर्गुणयोः उपासनयोः कतरस्यचिद् ज्यायस्त्वम् ।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।।(गीता १२।।१)

रा० कृ० भा०—अर्जुनः पप्रच्छ–हे परमेश्वर अष्टमाध्याये अक्षरं ब्रह्म परममित्यादिना भवता अक्षरब्रह्मोपासना प्रोक्ता, पुनश्च मामेव ये प्रपद्यन्ते (७।।२४) इमं प्राप्य भजस्व माम् (गी. ९।।३३) मन्मनाभव मद्भक्तो (३।।३४) इत्यादिभिः तत्र भवतैव स्वस्य सगुणस्य समुपासनं प्रोक्तं, द्वयोर्मध्ये कतरच्छ्रेयः इति जिज्ञासितं स्पष्टयति, एवं पूर्वाध्यायस्य चरमश्लोकानुसारं सततं निरन्तरं युक्ताः

भवच्चरणारविन्दकैंकर्यरता: ये भक्ता: भवदनन्यशरणा: त्वां तत्रभवन्तं श्रीकृष्णं पर्युपासते परित: सेवन्ते च अथवा ये नीरसहृदया: अव्यक्तमवाङ्मनसगोचरमक्षरं निगुणं ब्रह्म, यद्वा अक्षरं क्षरणधर्मरहितं अविनाशिनं प्रत्यगात्मानमुपासते । आत्मा वा अरे दृष्टव्य: इत्यादि श्रुतीनाम् आपाततस्तात्पर्यमवगच्छन्त उपासते, तेषामुभ्येषां मध्ये के योगवित्तमा: नामयोगं भक्तियोगं जानन्ति विन्दन्ति लभन्ते वा इति योगविद: (कर्तरिक्विप्) अतिशयेन योगविद: इति योगवित्तमा: अत्राक्षरशब्द: द्वेधाव्याख्यास्यते । निर्गुणब्रह्मपरतया प्रत्यगात्मपरतया च द्वावप्यस्माकमिष्टौ, निर्गुणब्रह्मोपासनायां शास्त्रतो विप्रतिपन्नायामपि पूर्वपक्षस्त्वभ्युपगमवादेन ।

तथाहि ये त्वदनन्यमनस: त्वामेव श्री कृष्णापरपर्यायं श्रीराघवं साकेतनिकेतं सेवन्ते ये वा अक्षरमव्यक्तं निर्विशेषं चिन्तयन्ते, उभयेषामेषां के समधिकं भक्तियोगं लभन्ते जानन्ति वा । अथवा ये निरन्तरमनन्यमनस: त्वामेव निरस्तसमस्तदूषणं सकल श्रेयस्करसद्गुणगणार्णवं भूषणं धनञ्जयस्यन्दनभूषणं प्रभुमुपासते । अथवा ये अवाङ्मनसगोचरं प्रत्यगात्मानमेवानात्मांशत्यागेन विभावयन्ति । एषामुभयेषां केऽधिकं भक्तियोगं जानन्ति प्राप्नुवान्तिवा ।

इमामशेषकल्याणैकलक्ष्यां सन्निहितपार्थसारथिपदपद्मपरिवाहनप्रतीक्षां जिज्ञासां वहुमानयन् मनोजमोहनो मधुसूदन:प्राह—

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता: ।। (गीता १२॥२)

रा० कृ० भा०—ये नित्ययुक्ता: नित्यमेव मनसा वचसा कर्मणा मच्चरणारविन्द सन्निधियुता: परया सत्वरजस्त्मोनिखच्छिन्नया तैलधारावदविच्छिन्नया श्रद्धयाआस्तिक बुद्ध्या उपेता: सामीप्येन सेविता: युक्ता इति भाव: मयि समाश्रितवात्सल्यसौन्दर्यौदार्य कारूण्यतारूण्यसारल्यतारल्यसौजन्यसौशील्य-दयादाक्षिण्यकान्तिशान्तिच्छान्तिगौरवमार्दवार्जवशौर्यधैर्यप्रभृत्यसंख्यप्रणतप्रपन्नान्तनुग्रहय कातरनिरतिशयानन्दगुण गणमहासागरे मन: निरस्तसकलकल्मकलुषवासनं पसमनुरतकोटिकोटिमन्मथमन्मथसौन्दर्यसारसर्वस्वमाधुर्यमन्दाकिनीकीलाललिततललित-नवनलिनचरणे मयि अशरणशरणे शान्तस्वान्तं मन: आवेश्य ये भक्ता: सगुणसाकारं ह्रियमाणसंसारभारं राधाहृदयालंकारं उपासते । ते युक्ततमा अतिशयेन युक्ता: किञ्च ते एव मे मता: पूजिता:, एवं निर्गुण उपासकेभ्य: सगुणोपासका: प्रत्यगात्मोपासकेभ्य:

परमात्मनोपासका: गरीयांस: इति निर्णीतम् निर्णयसिन्धुना स्वयमेव प्रणतबन्धुबलभद्रबन्धुना श्री: -

तर्हि निर्गुणोपासका: प्रत्यगात्मोपासका: किं भवन्तं न प्राप्नुवन्ति,

इति जिज्ञासां परिहरति श्री हरि: द्वाभ्याम्-

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धय: ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरता: ।।

गीता १२/३/४।।

रा० कृ० भा०—तु शब्द: अवरपक्षत्वसूचनार्थ: तु ये सर्वत्र समबुद्धय: सर्वभूतहितेरता: इन्द्रियग्रामं सन्नियम्य अनिर्देश्यमव्यक्तं च सर्वत्रगमचिन्त्यं, कूटस्थ मचलं ध्रुवमचरं पर्युपासते ते मामेव प्राप्नुवनि इत्यन्वयप्रकार: । तु किन्तु इत्यनेन निर्गुणोपासनायां, प्रत्यगात्मोपासनायां च अरुचि: सूच्यते । ये सगुणोपासकेभ्य: परमात्मोपासकेभ्यश्चेतरे अवैष्णवा:, सर्वत्र भगवद्विमुखेषु भगवदीयेषु सज्जनेषु च समा बुद्धिर्येषां भगवदीयानिव भगवद्विमुखानापि समाद्रीयन्ते, एवं विधा: सर्वेषां भूतानां हिते कल्याणे रता: इति सर्व भूतहितेरता: । इन्द्रियाणां कर्मात्मनां ज्ञानात्मनां चोभयेषां ग्रामं समूहं संयम्य निरुद्ध्य तानि मत्कैंकर्ये संयोज्य । अनिर्देश्यं न निर्देष्टु शक्यमव्यक्तवाङ्मनसगोचरं, सर्वत्रगच्छति तथा भूतं सर्वत्रगमचिन्त्यं न चिन्तयितुं शक्यं कूटस्थं परमात्मपक्षे भक्तभावकूटेस्थितं जीवात्मपक्षे च कूट इव गिरिशिखर इव स्थिरतया स्थितम् । अचलं केनापि विकारेण न चालयितुं शक्यं ध्रुवमेकस्थानम् एवं सप्तविशेषणयुक्तं प्रत्यगात्मानं निगुर्णं ब्रह्म वा ये उपासते ते मामेव प्राप्नुवन्ति यान्ति श्री: ।

तर्हि द्वयोर्मध्ये कतरद् गरीय: ? इति चेत् सगुणब्रह्मोपासनं परमात्मोपासनं वा। निर्गुणे प्रत्यगात्मनि वा क्लेशवत्वात् देहाभिमानिर्भिदुष्प्राप्यत्वाच्च सगुणब्रह्मोपासनं निर्गुण त: प्रत्यगात्मनश्च गरीय: इति सिद्धान्तयन् आह श्री हरि:-

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते ।।(गीता १२।। ५)

रा० कृ० भा०—अव्यक्ते निर्विशेषे प्रत्यगात्मनि वा आसक्तं लग्नं चेतः येषां तेषां निर्गुणोपासकानां प्रत्यगात्मोपासकानां च मत्प्राप्तौऽधिकतरः क्लेशः । अत्यन्तस्वार्थिकस्तरप् एकैकशः इति भाष्यकृन्निर्देशात् । तथा हि अव्यक्ता निर्गुणब्रह्मद्वारिका प्रत्यगात्मद्वारिका वा गतिः देहवद्भिः देहात्मवादिभिः कृच्छ्रमवाप्यते। यत्तु मधुसूदनसरस्वतीप्रभृतिभिः इत्थं व्यवस्थापितं यदक्षरोपासकाः स्वातन्त्र्येण परमात्मानं प्राप्नुवन्ति । सगुणोपासकाश्च ईश्वराधीनत्वात् परतन्त्राः तत्तु बालभाषितमेवेति न श्रद्धधेमहि । पदातिना दक्षिण सागरतो गोमुखम् बहुभिर्दिनैः स्वातन्त्र्येण समासादनं सुखावहम् । किं वा वायुयानेन होरावधिना तदासादनं पदगमनवायुयानगमनयोः किं स्वतन्त्रं किं परतन्त्रम् इति सुधियो जानन्तु । एकत्र मातुरङ्के स्वच्छन्दकेलिः, अपरत्र गजस्येव निजपृष्ठे सम्पूर्णभारवहनं । निर्गुणोपासकः प्रत्यगागात्मोपासको वा वानर शिशुखि भक्तस्तु मार्जारशिशुरिव इति विवेकः ।

किम्बहुना ज्ञानी भगवन्तमुपैति भगवान् भक्तमेव इति चित्रम् ।।श्रीः ।।

अथ द्वाभ्यां सगुणपरमात्मसमाराधनायां सौलभ्यमाह प्रणतकल्पसाखिशिरोमणि भगवान्-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।६-७।।

रा० कृ० भा०—हे पार्थ ! पृथायास्तार्तीयकः तु इति पक्षान्तरे । सगुणपरमात्म समाराधनपक्षे च ये सर्वाणि नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि श्रौतस्मार्तानि मयि परमात्मनि संन्यस्य समर्प्य अहमेव परदैवतं येषां ते मत्पराः अनन्येन मदतिरिक्तालम्बनाभाववता योगेन समाधिना मां धनुर्धरं मुरलीधरं वा-

धनुर्धर वा मुरलीधरं वा किरीटिनं वा शिखिमौलिनं वा ।
सीतावरं वा वृषजावरं वा ध्यायन्नरो मां व्रजतीतिहार्दम् ।।

एवं विधं ध्यायन्तः ये माम् उपासते परमानुरक्तविषयं कुर्वन्ति, तेषां मयि कृष्णे आवेशितचेतसां आवेशमितानि आवेशितानि चेतांसि अन्तः करणानि येषां तेषां महाभागवतानां अहमेव । गजेन्द्रविभीषणप्रह्लादद्रौपदीनामिवनृ गृहीतहरिराघव-केशरीवस्त्रादिनानावतारः निजपदपद्मप्लवः मृत्युना सहिता संसारसागरात्

निजपदपद्मप्लवेन समुद्धर्ता उद्धारकर्ता नचिरात् शीघ्रं भवामि । अत एव तेषां श्रैष्ठ्यम्। अक्षरोपासकाः स्वसाधन प्लवाः कदाचित् पतन्ति, किन्तु मद्भक्ताः न कदापि पतन्तीति चित्रम् । तद्यथा श्री भागवते-

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरूह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।।

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् ।
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयिबद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायका नीकपमूर्धसु प्रभो ।।

भागवत १०-२-३२,३३।। श्रीः।।

एवं सगुणब्रह्मपरमात्मनः समाराधने सौलभ्यं सौकर्यं च प्रतिपाद्य तत् समाराधनमेव विधत्ते-

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत उर्ध्वं न संशयः ।।१२/८।।

रा० कृ० भा०—हे पार्थ ! अत एव मयि भगवति कृष्णे सगुणब्रह्मपरमात्मन्येव मनः सङ्कल्पात्मकमन्तःकरणमाधत्स्व । किं च मद् विषयकमेव संकल्पं कुरु । यथा श्रीमद्भागवते श्रीमान् अक्रूरः-

तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम् ।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः ।।

अथावरूढः सपदीशयोरथात्
प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये ।
धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं
नमस्य आभ्यां च सखीन् वनौकसः ।।

भागवत् १०-३८-१४,१५

किंच मयि त्वत्सखे परमात्मश्रीकृष्ण एव बुद्धिं व्यवसायलक्षणां निवेशय। मय्येव व्यवसायं कुरु इति भावः। यथा तत्रैव महाभागवतोऽक्रूरः-

न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक्।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा।
अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा।
सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम्॥

भागवत १०-३८,१८,१९

अतः अस्माच्छरीरादूर्ध्वं शरीरत्यागादनन्तरं मय्येव कृष्णे निवसिष्यसि निवत्स्यसि वसेरनिट्कत्वेऽपि पचाद्यजन्ताच् नामघातोः तिङ्कार्ये इट् तथा हि निवसतीति निवसः निवसइव आचरिष्यतीति निवसिष्यसि, अस्मिन् विषये संशयः सन्देहो नहि॥श्रीः॥

अथ सौलभ्यातिशयं द्योतयितुं उपायचतुष्टयमाह त्रिभिः-

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥९॥

रा० कृ० भा०—अथेति पक्षान्तरे, यदि चेत् मयि श्रीकृष्णे स्थिरं चाञ्चल्य रहितं चित्तं समाधातुं न शक्नोषि तदा हे धनञ्जय! युधिष्ठिरराजसूये राज्ञो विजित्य विपुलधनमानीतवानसि, अतः अभ्यासपूर्वकेण योगेन एकस्मिन्नेव मदीये स्वानुकूले स्वरूपे मानसः पुनः पुनः समाधानेन मामेव परमधनमाप्तुं प्राप्तुम् इच्छ समभिलष॥श्रीः॥

अभ्यासो नाम एकस्मिन् ध्येये मनसः पुनः पुनः नियोजनम् अभ्यासः, अस्मिन् यदि मनो न क्षमेत तदा अपरमुपायं कथयामि-

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥१०॥

रा० कृ० भा०- एवं मदुक्ते अभ्यासे चित्त समाधाने सरलेऽपि यदि असमर्थः सामर्थ्याभाववानसि। तदा मदर्थानिकर्माणि मत् कर्माणि तान्येव परमाणि पूज्यानि पूज्य बुद्धया कर्तव्यानि यस्य स मत्कर्मपरमः। एवं मदर्थं भागवतानि कर्माणि कुर्वन् अभ्यासयोगेन मयि मनोबुद्धी स्थिरीकृत्य मत्प्राप्तिलक्षणां सिद्धिमवाप्स्यसि प्राप्स्यसि॥श्रीः॥

पुनः पक्षान्तरमाह-

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।११।।

रा० कृ० भा०—अथ पक्षान्तरे, असमर्थत्वात् एतद् मदर्थं कर्माणि कर्तुमशक्तोऽसि असमर्थोऽसि चेत् तदा मद्योगं मयि भगवति भक्तियोगमाश्रितः प्राप्तः यतते मत्प्राप्तये यत्नं कुरुते इति यतः यत्नशीलः, आत्मा मनः यतात्मा प्रशस्तः अस्त्यस्य इति यतात्मवान् प्रशस्तमत्प्राप्ति यत्नशीलचेताः । ततः तदनन्तरं सर्वेषां कर्मणां फलानां त्यागं तृतीयाध्याये प्रोक्तदृशा कुरु, कर्मत्यागेन भगवन्निमित्तकर्मकरण सामर्थ्यं तेन अभ्यासः तेन च चित्त समाधानं, तेन मत्प्राप्तिः ।।श्रीः।।

सगुणपरमात्मोपासनायाम् अन्तिम विकल्पभूतत्वात् कर्मफलत्यागमेव स्तौति-

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

रा० कृ० भा०—हि यतो हि अभ्यासात् अज्ञानपुरःसरात् ज्ञानमभ्यासपुरः सरं श्रेयः, ज्ञानाद् ध्यानं मच्चरणारविन्दचिन्तनं विशिष्यते विशिष्टं कथ्यते । एवं ध्यानात् कर्मफलत्यागः स्वत एव सिद्धयति, त्यागादनन्तरं च जीवेन सकलोपद्रवोपमर्देन शान्तिः प्राप्यते ।।श्रीः।। एवं निर्गुणब्रह्मतः सगुणब्रह्मप्रत्यगात्मतः परमात्मा इत्येतद्वयस्य श्रेयो विधानं वर्णयित्वा ततः लब्धश्रीवत्सलाञ्छनुचरणसरोजभक्तीनां जीवनुक्तानां संसारव्यवहाराः सप्तभूमिकामया धर्म्यामृतप्रकरणे निरूप्यन्ते सप्तभिः भगवतैव-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ।।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१३-१४।।

रा० कृ० भा०—हे पार्थ ! न द्वेष्टीति अद्वेष्टा यः सर्वभूतानि न द्वेष्टि सर्वेषां भगवच्छरीरत्वात् । सः सर्वभूतानामद्वेष्टा मैत्रः न द्वेष्टि सर्वेषां भगवच्छरीरत्वात् । सः सर्वभूतानामद्वेष्टा मैत्रः मैत्रमस्त्यस्मिन् तथा भूतः मैत्रः "अर्श आदित्वात् अच्" करुणा अस्त्यस्मिन्निति करुणः अत्रापि तथैवाच् । निर्गतं ममं निर्गतः अहङ्कारश्च यस्मात् स निर्ममः निरहङ्कारो ममत्वअहङ्काररहितः, तथा क्षमी नित्यंक्षमाशीलः । सततं निरन्तरं

सन्तुष्टः योगी कर्मयोगी । युक्तः, यतः आत्मा अन्तःकरणं यस्य स यतात्मा यत्नशीलान्तः करणः दृढः मद्भजने अचलः निश्चयः यस्य एवं भूतः मयि भगवति एव अर्पिते मनोबुद्धी येन तादृग् मयि समर्पित समग्रमनोबुद्धिव्यापारः । एवं भूतः द्वादश भूमिकावान्ः यो मम भक्तःस मे मह्यं प्रियः ।।श्रीः।।

किंच प्रियतायां भूयस्तिस्रो भूमिकाः वर्णयति-

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।१५।।

रा० कृ० भा०—यस्मात् जनात् लोकः प्राणिलोकः न उद्विजते न उद्विग्नो भवति । यश्च लोकात् संसारात् न उद्विजते, भगवच्चिन्तनेन स्वयं भगवद्रसमयो भवति, संसारं च रसमयं पश्यति । एवं हर्षः प्रसन्नता, अमर्षः, क्रोधः, भयं, भीतिः, उद्वेगः, मनोऽनवस्थानं एभिर्मुक्तः यः भूमिका त्रय युक्तः स मे मम कृष्णस्य प्रियः प्रेम भाजनम् ।।श्रीः।।

भूयश्च षड्भूमिकाः वर्णयति-

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१६।।

रा० कृ० भा०—नास्त्यपेक्षा यस्य सोऽनपेक्षः संसारे निरपेक्षतया वर्तमानः शुचिः पवित्रः दक्षः परलोकसाधने चतुरः उदासीनः सर्वत्र रागद्वेषरहितः, गताव्यथा यस्य यस्माद् वा स गतव्यथः व्यथारहितः, आरभ्यन्ते इत्यारम्भाः कर्मफलानि सर्वान् आरम्भान् कर्मफलानि परितस्त्यजति तच्छीलः सर्वारम्भपरित्यागी एवं भूतः यः मद्भक्तः षड्भूमिका निर्वहणशीलः स मे प्रियःमम प्रेमपात्रम् ।।श्रीः।।

भूयःपञ्च भूमिका वर्णयति-

योन हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।।१७।।

रा० कृ० भा०—यः इष्टं प्राप्य न हृष्यति, प्रतिकूलं प्राप्य च न द्वेष्टि, प्रिय वियोगं न शोचति, अभीप्सितं च न कांक्षति नाभिलषति । एवं शुभाशुभे अनुकूल प्रतिकूले कर्मफले परितस्त्यजति तच्छीलः, एवं भूतः भक्तिमान् भक्तियुक्तो जनः पञ्चभूमिका निर्वाहकः मे मम प्रियः प्रेमभाजनम् ।।श्रीः।।

भूयः नवभूमिकात्मकं श्लोकयुग्मं प्राह-

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिन्मे प्रियोनरः ।।१८-१९।।

रा० कृ० भा०—शत्रौ रिपौ, मित्रे सुहृदि, मानापमानयोः आदरानादरयोः समः शीते ऊष्णे, सुखे अनुकूले दुःखे प्रतिकूले च समः समबुद्धिः सङ्गेन आसक्ता विजर्जितः तुल्ये निन्दास्तुती यस्य स तुल्यनिन्दास्तुतिः निन्दास्तुत्योः समानः, येन केनचिद् वस्तुना संतुष्टः, अल्पभाषणशीलः न विद्यते निकेतं गृहं गृहासक्तिर्यस्य स अनिकेतः, स्थिरा मतिः बुद्धि यस्य स स्थिरमतिः । एवं नवभूमिका युक्तः प्रशस्तभक्तियुक्तो नरः मे मम प्रियः प्रेमभाक् ।।श्रीः।।

प्रकरणमुपसंहरति-

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्ते ऽतीव मे प्रियाः ।।२०।।

रा० कृ० भा०—एवं ये इदं पञ्चत्रिंशत् गुणात्मकं धर्मादनपेतं धर्म्यं धर्मसंयुतं, धर्म्यमेवामृतं धर्म्यामृतं धर्ममय सुधारूपं मया यथोक्तममुनतिक्रम्य मयि श्रद्धधानाः अस्तिकबुद्धिं विदधानाः अहं परमः सर्वस्वभूतः येषां ते मत्परमाः एवं भूता ये जनाः इदं धर्म्यामृतं पर्युपासते ते भक्ताः मे अतीव प्रियाः अत्यन्तं प्रेमभाजनानि।

एतद्बाण गुणाख्यया विलसितं भान्वाभिधाध्यायके
प्रोक्तं ब्रह्ममयेन लोकगुरूणा गीतासु वै शर्ङ्गिणा ।
ऊह्यं श्रीभरते च वायुतनये राधादिगोपीषु वै
पार्थे श्रीविदुरे च वैष्णववरे धर्म्यामृतं भक्तिमत् ।।

द्वादशोऽयं मयाध्यायो श्रीगीतासु यथामति ।
व्याख्यातो भक्तियोगाख्यो भाष्येऽस्मिन् श्रीपतेर्मुदे ।।

इति श्रीचित्रकूट तुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य कृतौ श्रीमद्भगवद् गीतासु श्रीराघव कृपाभाष्ये भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।।

श्री राघवः शन्तनोतु ।

●

"श्रीमद्राघवो विजयते"
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

द्वादशोऽध्यायः

मंगलाचरण

वन्दे विदेहवरवैभववैजयन्तीं
श्रीभानुवंशविजयैकविभां जयन्तीम्।
सीतां शितेतरसमानसरोजनेत्रां
रामप्रियां प्रियचकोरनवेन्दुलेखाम् ।। १ ।।

अर्थ—मैं जनक राज के वैभव की पताका, सूर्य वंश के विजय की शोभा, नीले कमल के समान नेत्र वाली, प्रियतम श्रीराम रूप चकोर की नवीन चन्द्ररेखा भगवान् श्रीराम की प्रिया सवसे उत्कृष्ट जनकनन्दिनी भगवती श्रीसीता की वंदना करता हूँ।

रामभद्रपदपद्मसेवया लब्धजीवनगवीशगौरवः।
भैरवं न गणयामि कर्हिचिद्रावयामि रुचिवेगरौरवम्।। २ ।।

अर्थ—भगवान् श्रीरामचन्द्र के चरण कमल की सेवा से अपने जीवन वाणी के शासक वृहस्पति का गौरव प्राप्त करनेवाला मैं कभी भी भैरवी यातना की कोई चिन्ता नहीं करता और प्रभु के प्रेम से ही उच्छृंखल मन में उत्पन्न हुई रुचियों के वेग वाले रौरव को भी अपने से दूर भगाता रहता हूँ और रुलाता रहता हूँ।

राम राम रटतो ममात्र भो किं करिष्यसि कले करालक।
सिंह शावकममोघविक्रमं किं शशोऽपि परिभावयेदहो ।।३।।

अर्थ—अरे! कराल कलिकाल! सदा राम राम रटते हुए मेरा तुम क्या कर लोगे। अहो अमोघ बलशाली सिंह के शावक को कहीं छोटा सा खरगोश कुचल सकता है।

कृष्णचन्द्रमुखचन्द्रचन्द्रिका लोललोचनचकोरकैरवः।
रौरवप्रथितभीतिभैरवं गौरवेण गणये न रौरवम्।। ४ ।।

अर्थ—भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र के मुखचन्द्र की चन्द्रिका के लिए जिसके चंचल नेत्र चकोर और कैरव बन रहे हैं ऐसा मैं रौरव अर्थात् धन के लिए चिल्लाने वालों को जिसमें

प्रसिद्ध भय और भैरवीयातना का अनुभव करना पड़ता है ऐसे रौरव नरक को भी मैं प्रभु के प्रेमगौरव से कुछ भी नहीं गिनता ।

भानुजापुलिनभानुजाभवे भानुजारिभवभानुजारवे ।
भानुनन्दनभयेन भूरिणा सूरिणाथ व्रियते चिरं रतिः ।। ५ ।।

अर्थ—भानुनन्दन यमराज के भय से त्रस्त मुझ मेधावी आचार्य द्वारा यमुनातट और यमुना के पति श्रीकृष्ण तथा भानुज अर्थात् कर्ण के अरि अर्थात् शत्रु अर्जुन के भव कल्याण के लिए प्रभु के मुखसे निकलते हुए यमुना की कल कल धार रूप गीता गान में चिरस्थायिनी रति वरण की जाती है । अर्थात् भानुजा यमुना, पुलिन अर्थात् तट, भानुजाभव-यमुना के पति भगवान् श्रीकृष्ण, भानुज-कर्ण, उनके अरि शत्रु, अर्जुन, उनके भव कल्याण के लिए भानुजारवे-यमुना के रव अर्थात् कलरव गीता गान में यमराज के भय से त्रस्त सूरि अर्थात् आचार्य मैं रति-मांग रहा हूँ ।

नाहं विप्रो न च नृपसुतो नैव वैश्यो न शूद्रो
नाहं नारी न च किल नरो नैव षण्ढः कदाचिद् ।
नाहं वर्णी न खलु भवनी नो वनी नो यतिर्वा
सीताभर्तुः पदजलजयोर्दासदासानुदासः ।। ६ ।।

अर्थ—नाहीं मैं हूँ ब्राह्मण नाही मैं राजपुत्र अरे
नाहीं मैं बनिक सुत शूद्र न कुपास हूँ ।
नहीं ब्रह्मचारी न मैं गृही गृह मे धरत
वानप्रस्थ नहिं नहिं जती मैं उदास हूँ ।
नाहीं मैं हूँ नारी नहिं पुरुष परुषरत
नहीं मैं नपुंसक सतत प्रभु पास हूँ ।
रामभद्राचार्य मैं तो रामानन्दाचार्य नित
सीतापति पद दास दास अनुदास हूँ ।

संगति—अब इस मध्यम षट्क के अन्तिम अध्याय में गोविन्द पदपद्मपराग के मधुकर अनुरागपूर्ण तथा युद्ध में भगवान् शंकर को संतुष्ट करने वाले प्रख्यात धनुर्धर पृथानन्दन श्री अर्जुन अपनी चंचलता समाप्त करने के लिए त्रिभंगललित श्रीकृष्ण के समक्ष प्रश्न का आकार उपस्थित करते हैं । क्योंकि प्रथम षट्क के अन्त में भगवान् कहते हैं— जो श्रद्धावान् होकर मुझे भजता है वह मुझे प्रिय है । इस प्रकार ७/१६, ७/१९ इत्यादि श्लोकों में माम् या मे की चर्चा की गयी है । उसपर संसार वालों को संदेह होता है कि

यह 'मत्' पदार्थ क्या है ? यदि कहो कि निराकार है तो फिर उसमें क्या प्रमाण है । यदि कहो साकार है तो भी प्रमाण ढूढ़ना पड़ेगा । इस प्रकार प्रश्न करने पर हम यह कहेंगे कि- भगवान् निराकार नहीं हैं । यदि कहें कि जो भगवान् को निराकार नही माना जायेगा तो कठश्रुति का विरोध होगा । (क०-१/३/१५) में भगवान् को अशब्द अस्पर्श अरूप, अरस और अगंध कहा गया है । वह साकार पक्ष में कैसे संगत होगा ?

उत्तर—वहाँ अशब्द का अर्थ है अव्यक्त शब्द वाले इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस, गंध, के साथ भी समझना चाहिए अर्थात् भगवान् के शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध, प्राकृत नहीं होते

प्रश्न—इस व्याख्यान में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' यह श्रुति ही प्रमाण है । यदि श्रुति के अकार का निषेध में तात्पर्य होता तब भगवान् को निराकार न कहकर अनाकार कहा जाता । जैसे- अनुचित, अनावश्यक अनुपयुक्त आदि शब्द कहे जाते हैं । इसी प्रकार अरूपं का अर्थ है अव्यक्तं रूपं यस्य । जिसका रूप अव्यक्त हो उसे अरूप कहते हैं । यदि कहे कि वेद में स्पष्ट कहा गया है कि 'न तस्य प्रतिमास्ति' भगवान् की मूर्ति नहीं है ?

उत्तर—यहाँ प्रतिमा शब्द तुलना के अर्थ में है । मूर्ति के अर्थ में नहीं । अर्थात् भगवान् की किसी से तुलना नहीं है । यदि प्रतिमा शब्द का मूर्ति ही अर्थ किया जाय तो न शब्द को त के साथ जोड़कार 'नत' शब्द की षष्ठी करके यह अर्थ कर लेना चाहिए कि प्रेम वश नत अर्थात् झुके हुए बालक । क्या कहूँ निराकार शब्द से भी साकार का निषेध नहीं होता । इसकी हमने बहुत व्याख्यायें की हैं जैसे-निर्गत अर्थात् निकले हैं आकार जिससे वह निराकार है । निःशेषः आकारः यस्य स निराकारः । सारा संसार जिसका आकार है उसे निराकार कहते हैं । निरन्तरम् आकारः यस्मिन् सः निराकारः । जिसमें निरन्तर आकार हो वह निराकार है । अर्थात् जो विना आकार के कभी रह ही नहीं सकता । अथवा निरूपमः आकारः यस्य या निराकारः । जिसके आकारोंकी कोई उपमा नही है वह निराकार है । अथवा निर्लीनः आकारः यस्मिन् सः निराकारः जिसमें सभी अकार छिपे हैं वे प्रभु निराकार हैं । अथवा निरूपद्रवः आकारः यस्य सः निराकारः । जिसके आकार निरूपद्रव है वह निराकार है । अथवा आकारात् निष्क्रान्तः सः निराकारः । जो कौसल्या आदि के गर्भ से प्रकट होते हैं वे प्रभु निराकार हैं । अब अर्जुन सगुण और निगुर्ण ब्रह्म में किसी एक की श्रेष्ठता के सम्वन्ध में जिज्ञासा करते है ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्क्तं तेषां के योगवित्तमाः ।। १२/१

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—अब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि-हे परम कारुणिक ! इस प्रकार जो भक्त आपके नाम रूप, लीला धाम में निरन्तर युक्त होकर आप सगुण साकार खलकुलकमलतुषार परमउदार श्रीरामाभिन्न श्रीकृष्ण की उपासना करते हैं तथा जो अव्यक्त अक्षर निगुर्णब्रह्म की उपासना करते हैं, उन दोनों में अधिक योगवेत्ता कौन है ? अथवा जो आपके अनन्य शरण होकर आपकी उपासना करते हैं अथवा जो सकल उपद्रववर्जितप्रत्यगात्मा की उपासना करते हैं उन दोनों में आपकी दृष्टि में कौन श्रेष्ठ है ? सगुण ब्रह्म या निगुर्ण ब्रह्म, जीवात्मतत्त्व या परमात्मतत्त्व ?

व्याख्या—उपासनाएँ दोनों सुनी जाती हैं निगुर्ण और सगुण । उनमें श्रेष्ठ किसे माना जाय ? यहाँ अक्षर शब्द निर्गुण ब्रह्म और जीवात्मा दोनों के लिए प्रसिद्ध है ।

न क्षरति—इति अक्षरं दोनों ही क्षरणशील नहीं हैं । अर्थात् सगुण-निर्गुण या जीवात्मा परमात्मा के उपासकों में कौन अधिक योगवित्तम हैं ? अर्थात् किसको अधिक योग का लाभ हुआ है ।

संगति—अर्जुन की इस जिज्ञासा को बहुत सम्मान देते हुए मनोजमोहन भगवान् बोले-

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।। १२/२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो भक्त निरन्तर निष्काम कर्म योग से युक्त हुए मुझ सगुण साकार सच्चिदानन्द में अपने वासना रहित मन को लगाकर परम आस्तिक बुद्धि से युक्त हुए मुझ सगुण साकार की उपासना करते हैं, वे युक्ततम हैं । अर्थात् श्रेष्ठ योगी हैं तथा उन्हीं की मैं पूजा भी करता हूँ ।

व्याख्या—यहाँ 'मयि'-का तात्पर्य है, मुझ सगुण साकार परमात्मा में 'परमश्रद्धया'- तीनों गुणों से रहित आस्तिक बुद्धि से युक्त होकर । 'मे मता' -अतः सगुण साकार उपासकों की पूजा मैं करता हूँ ।

तात्पर्य यह है कि आत्मा और परमात्मा के उपासकों में परमात्मा का उपासक और निगुर्णसगुण उपासकों में सगुणोपासक श्रेष्ठ होता है । क्योंकि भगवान् की मुक्ति सबको मिल जाती है, पर भक्ति तो विरले ही पाते हैं । 'मुक्तिं' ददाति कर्हिचित् न तु भक्तियोगम् ।

सगुन उपासक मोक्ष न लेहीं । तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं ।।
(मानस. ७/११२/२)

संगति—तो क्या निर्गुणोपासक या प्रत्यगात्मा के उपासक आपको नहीं प्राप्त करते ? अर्जुन की इस जिज्ञासा का भगवान् श्री हरि दो श्लोकों से समाधन कर रहे हैं-

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।। १२/३

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।। १२/४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! किन्तु जो लोग सर्वत्र समान बुद्धि रखते हुए, सभी जीवों के हित में लगे हुए, अपनी इन्द्रियों के समूह को वश में करके किसी भी प्रकार न निर्दिष्ट किये जाने योग्य, अव्यक्त मन वाणी से परे, सर्वत्र गामी चिन्तन से परे, कूटस्थ किसी के द्वारा भी जिसे चलायमन नहीं किया जा सकता, ऐसे स्थिर स्वभाव वाले अक्षर निर्गुण ब्रह्म अथवा प्रत्यगात्मतत्व की उपासना करते है । वह मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं ।

व्याख्या—यहाँ 'तु' शब्द दूसरे पक्ष की निकृष्टता सिद्ध कर रहा है । और अरुचि सूचक भी है । अर्थात् ऐसे लोग जो सर्वत्र वैष्णवों और अवैष्णवों में समान बुद्धि रखते हैं भगवद्भक्तों और भगवद्विमुखों को समान रूप से आदर देते हैं । उनके प्रति 'तु' शब्द से भगवान् अरुचि का संकेत कर रहे हैं ।

कूटस्थं—निर्गुण पक्ष में भक्त के भावकूट में स्थित और प्रत्यगात्मा के पक्ष में पर्वत के शिखर की भाँति सुस्थिर ये दो कूटस्थ शब्द के अर्थ है ।

संगति—तो फिर दोनों में कौन श्रेष्ठ है ? अर्जुन के इस प्रकार पूँछने पर सिद्धान्त रूप से श्री हरि कहते हैं-निगुर्णोपासना से सगुणोपासना श्रेष्ठ है और जीवात्मा उपासना से परमात्मा उपासना । क्योंकि निर्गुणोपासना और जीवोपासना में बहुत क्लेश भी हैं और वह देहात्मवादियों द्वारा प्राप्त भी नहीं की जा सकती । इसी सिद्धान्त को भगवान् इस श्लोक में स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं-

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।। १२/५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! अव्यक्त अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म में अथवा प्रत्यगात्मा में जिनका चित्त आ सकता है, उनको मेरी प्राप्ति में अधिक क्लेश होता है । क्योंकि देहाभिमानियों द्वारा अव्यक्तगति अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति अथवा स्वात्मानुभूति बहुत कष्ट से प्राप्त हो पाती है ।

व्याख्या—यहाँ अव्यक्त शब्द निर्गुण ब्रह्म और प्रत्यगात्मतत्त्व दोनों का संकेतक है। 'अधिकतर:' शब्द का तात्पर्य है कि सगुणोपासना की अपेक्षा निर्गुणोपासना और आत्मोपासना में अधिक क्लेश है। यह तरप प्रत्यय अत्यन्त स्वार्थिक है। जो लोग यह कहते हैं कि निर्गुणोपासना में स्वतन्त्रता है और सगुणोपासना में सबकुछ ईश्वर की कृपा पर आधीन है, वस्तुत: उनका पक्ष बालभाषण के समान तथ्यहीन है। क्योंकि यहाँ स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का इतना ही अन्तर है, जैसे एक ओर गोमुख से गंगासागर तक पैदल जाना और दूसरी ओर वायुमान से बहुत थोड़े समय में मुस्कराते हुए गंगासागर पहुँच जाना। अब यहां किसे स्वतन्त्र और किसे परतन्त्र कहा जाय। एक ओर माता की गोद में आनन्द से खेलना और दूसरी ओर हाथी की भाँति सारा भार अपनी पीठ पर लाद लेना। वास्तव में ज्ञानी वानर के बच्चे की भाँति स्वतन्त्र हैं और भक्त बिल्ली के बच्चे की भाँति परतन्त्र।

संगति—अब प्रणतवत्सल भगवान् दो श्लोकों से सगुणब्रह्मोपासना की सुलभता कह रहे हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा: ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नाचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।। १२/६,७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इसके अतिरिक्त सगुण ब्रह्म की उपासना के पक्ष में जो श्री वैष्णव मुझ रामाभिन्नश्रीकृष्ण को इष्ट देवता मानते हुए सभी नित्यनैमित्तिक श्रौत स्मार्त कर्मों को मुझमें ही समर्पित करके मेरे अतिरिक्त अन्य अवलम्बन से शून्य, समाधियोग से मेरा ध्यान करते हुए, मेरी उपासना करते हैं। मुझमें आविष्ट चित्तवाले उन श्री वैष्णवमहानुभावों का इस मृत्यु रूप संसारसागर से मैं अत्यन्त शीघ्र सम्यक्उद्धारकर्ता हो जाता हूँ। अर्थात् अपने चरण कमल की नौका पर बैठाकर उनका संसारसागर से उद्धार कर देता हूँ।

व्याख्या—'तु' इससे अतिरिक्त सगुणोपासना में बड़ी सुलभता है क्यों ? 'अहं समुद्धर्ता'। मैं उद्धार करता हूँ। इसलिए 'समुद्धर्ता' सम्यक् उद्धार करता हूँ। अर्थात् पतित तो होने देता ही नहीं। कब उद्धार करते हैं ? इस पर कहते हैं 'न चिरात्' अत्यन्तशीघ्र अर्थात्—

जैसे गजेन्द्र की टेर सुने निज नंगे ही पायन आतुर धायो।
जैसे परी प्रह्लाद पै पैज वन नृसिंह विलम्ब न लायो।।

जैसे सभा मँह द्रौपदी के हित धाय के धाम ते लाज बचायो।
वैसे ही शीघ्र उद्धार करौ जन गिरिधर साँचि कछू न दुरायो ।।

पार्थ—तुम पृथा के पुत्र हो, जैसे पृथा को पंच कन्याओं की श्रेणी में स्थान दिला दिया, उसी प्रकार मुझमें आविष्टचित्तवालों का संसारसागर से उद्धार कर देता हूँ।

संगति—इस प्रकार सगुणब्रह्म की आराधना में सुलभता और सुकरता की चर्चा करके उसी को विधि रूप में भगवान् सिद्धान्तित कर रहे हैं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।। १२/८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इसीलिये अब तो मुझ सगुण साकार वसुदेवनन्दनश्रीकृष्ण में ही अपना संकल्पात्मक अन्तःकरण मन आदर पूर्वक लगा दो। और मुझमें ही अपनी व्यवसात्मिकका बुद्धिको लगा दो। इसके अनन्तर अर्थात् इस शरीर त्याग के पश्चात् मुझमें ही निवास करोगे, इस विषय में कोई संशय नहीं है।

व्याख्या—मुझमें मन लगाकर मेरे विषय में ही संकल्प करो, जैसा की परम भागवत अक्रूर ने किया था—

तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम्।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः ।।
अथावरूढः सपदीश यो रथात् प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये।
धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं नमस्य आभ्यां च सखीन् वनौकसः ।।
भागवत १०,३८-१४,१५

अर्थ—इसमें सन्देह नहीं कि आज मैं अवश्य ही उन्हें देखूँगा। वे बड़े-बड़े संतों और लोकपालों के भी एकमात्र आश्रय हैं। सबके परम गुरु हैं। जो नेत्रवाले हैं, उनके लिये वह, आनन्द और रसकी चरम सीमा हैं ! इसीसे स्वयं लक्ष्मी जी भी, जो सौन्दर्यकी अधीश्वरी हैं, उन्हें पाने को ललकती रहती हैं। हाँ, तो मैं उन्हें अवश्य देखूँगा। अच्छे-अच्छे शकुन दीख रहे हैं।

जब मैं उन्हें देखूँगा तब सर्वश्रेष्ठ पुरुष बलराम तथा श्री कृष्ण के चरणों में नमस्कार करने के लिए तुरन्त रथ से कूद पड़ूँगा। उनके चरण कितने दुर्लभ हैं बड़े बड़े योगी-यति आत्मसाक्षात्कार के लिए मन ही मन अपने हृदय में उनके चरणों की धारणा करते हैं और मैं, मैं तो उन्हें प्रत्यक्ष पा जाऊँगा। उन दोनों के साथ ही उने वनवासी सखा एक-एक ग्वाल बाल के चरणों की भी वंदना करूँगा।

इसी प्रकार बुद्धि को मुझमें निविष्ट करो अर्थात् सम्पूर्ण व्यवसाय मेरे लिए करो। जैसा कि अक्रूर जी ने किया था—

न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक् ।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा ।।
अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा ।
सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम् ।।
भागवत १०-३८-१८,१९

अर्थ—मैं कंसका दूत हूँ। उसी के भेजनेसे उनके पास जा रहा हूँ। कहीं वे मुझे अपना शत्रु तो न समझ बैठेंगे ? राम राम ! वे ऐसा कदापि नहीं समझ सकते। क्योंकि वे निर्विकार हैं, सम हैं, अच्युत हैं, सारे विश्व के साक्षी हैं, सर्वज्ञ हैं, वे चित्तके बाहर भी हैं और भीतर भी। वे क्षेत्रज्ञरूपसे स्थित होकर अन्तः करण की एक-एक चेष्ठा को अपनी निर्मल ज्ञानदृष्टि के द्वारा देखते रहते हैं।

तब मेरी शङ्का व्यर्थ है। अवश्य ही मैं उनके चरणों में हाथ जोड़कर विनीतभाव से खड़ा हो जाऊँगा। वे मुस्कराते हुए दयाभरी स्निग्ध दृष्टिसे मेरी ओर देखेंगे। उस समय मेरे जन्म-जन्म के समस्त अशुभ संस्कार नष्ट हो जायेंगे और मैं निःशङ्क होकर सदा के लिये परमानन्द में मगन हो जाउँगा ॥ "अत एव" इस श्लोकमें अत एव शब्द दो बार आवृत्त हुआ (१) श्लोक के पहले यहाँ वह हेतुवाचक है, (२) 'निवसिष्यसि'' के साथ यहाँ अतएव का अर्थ शरीरत्याग के पश्चात् अर्थात् 'अस्मात् शरीरात् अनन्तरम्। 'निवसिष्यसि' यद्यपि यह धातु अनिट् है, अतः यहाँ 'निवत्स्यसि' होना चाहिये, फिर 'निवसिष्यसि' कैसे ?

उत्तर—नहीं जानते, श्रीकृष्ण स्वयं जगद्गुरु हैं 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्' और व्याख्याता भी जगद्गुरु। भला स्वयं परमात्मा सान्दीपनीके सुयोग्य शिष्य भगवान् श्रीकृष्ण व्याकरण विरुद्ध कैसे बोलेंगे। यह आचार क्विबन्त नाम धातु प्रयोग हैं, 'निवसतीति' निवसः निवस इवाचरिष्यसीति निवसिष्यसि, इस प्रकार इस श्लोकका वाक्यार्थ होगा, हे अर्जुन ! इस कारण तुम अपने मनको मुझमें आदरपूर्वक लगा दो, और अपनी बुद्धिको मुझमें निविष्ट कर दो, शरीर त्याग के पश्चात् मुझे ही प्राप्त कर लोगे, इसमें कोई संशय नहीं है।

संगति—अब भगवान् सगुण ब्रह्मकी उपासना में अत्यन्त सुलभता का द्योतन करने के लिए तीन श्लोकों में चार उपायों का वर्णन कर रहे हैं-

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।। १२/९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे धनञ्जय ! यदि तुम निश्चल चित्तको मुझ परमात्मा में धारण करने के लिये समर्थ नहीं हो, तो फिर अभ्यासयोग द्वारा मुझे पाने की इच्छा करो।

व्याख्या- 'अथ' यह शब्द पक्षान्तरके लिये है, भगवान् के नाम, रूप, लीला धाम का बारम्बार मनमें चिन्तन करनेका नाम अभ्यासयोग है। तेन अभ्यास योगेन। 'धनञ्जय' अर्थात् युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञमें राजाओं को जीतकर तुम विपुल धन ले आये थे, उसी प्रकार अभ्यास योग से मुनि जनों के धन मुझ कृष्ण को प्राप्त कर लो।

संगति- एक ही ध्येय में बारंबार मनको लगाने को अभ्यास कहते हैं। यदि इसमें भी मैं समर्थ न हूँ तो फिर क्या करूँ ? इस पर भगवान् कहते हैं-

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।। १२/१०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! यदि अभ्यास कर्ममें भी तुम असमर्थ हो, तो फिर पूज्य बुद्धि से मेरे निमित्त कर्मों को करो। मेरे लिये कर्मों को करते हुये तुम ईश्वर प्राप्तिरूप सिद्धि प्राप्त कर लोगे।

व्याख्या—"मत्कर्मपरमः" यहाँ परम शब्द पूज्य के अर्थ में है, "मदर्थानि कर्माणि परमाणि पूज्यानि यस्य सः तादृशो भव" मेरे निमित्तक कर्म ही है पूज्य जिसके ऐसे हो जाओ, अर्थात् पूज्य बुद्धिसे मेरे निमित्तक कर्मोंको करो।

संगति—भगवान् फिर दूसरा पक्ष कहते हैं—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरू यतात्मवान् ।। १२/११

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! असमर्थ होने से यदि यह भी अर्थात् मेरे निमित्त कर्म भी नहीं कर सकते, तो फिर मेरी प्राप्ति के लिये यत्नशील है मन जिसका ऐसे होकर तुम संपूर्ण कर्मों के फलोंका त्याग कर दो।

व्याख्या—"यतात्मवान्" यतते इति यतः, यतश्चासौ आत्मा यतात्मा, प्रशस्तः यतात्मा अस्ति यस्य इति यतात्मवान्" अर्थात् मेरी प्राप्ति के लिये तुम्हारे मनको श्रेष्ठ विधि से यत्न करना चाहिए। कर्मफल के त्याग से मेरे निमित्त कर्म करने का सामर्थ्य मिलेगा, और मेरे निमित्त कर्म करने का अभ्यास होगा, अभ्यास से मुझमें तुम्हारे चित्तका समाधान होगा।

संगति—सगुण परमात्माकी उपासना में कर्म फलों का त्याग अन्तिम विकल्प है, इसीलिये भगवान् उसीकी प्रशंसा करते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२/१२

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! अज्ञानपूर्वक अभ्याससे अभ्यासपूर्वक ज्ञान श्रेष्ठ है, और ध्यानसे कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है, त्याग के पश्चात् स्वयं शान्ति प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—अभ्यास के साथ अज्ञानपुरःसर शब्द जोड़ना चाहिये, अर्थात् अज्ञानपूर्वक अभ्यास से अभ्यासपुरःसर ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से ध्यान इसी लिये श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे भगवत्चरण में प्रीति उत्पन्न होती है, उसके पश्चात् त्याग स्वयं सिद्ध हो जाता है। इस पर गोस्वामी जी की वैराग्यसंदीपनी देखने योग्य है-

रैनि को भूषन इंदु है, दिवसको भूषन भानु।
दासको भूषन भक्ति है, भक्ति को भूषन ज्ञान ।।

ज्ञानको भूषन ध्यान है, ध्यानको भूषन त्याग।
याग को भूषन सान्तिपद, तुलसी अमल अदाग ।।

वैराग्य सन्दीपनी-४३-४४

संगति—इस प्रकार निगुर्ण ब्रह्म से सगुण ब्रह्मकी और प्रत्यगात्मा से परमात्माकी उपासनाकी श्रेष्ठताका वर्णन करके, अब भगवान् स्वयं ही 'धर्म्यामृत' प्रकरणमें अपने श्रीमच्चरणों में भक्ति प्राप्त करने वालों का सात श्लोकों से निरूपित कर रहे हैं-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनो बुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१२/१३-१४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो सम्पूर्ण भूत प्राणियों के सम्बन्धमें द्वेष नहीं करता, जो सबका मित्र है, जो अत्यन्त करुण तथा ममता और अहंकार से रहित है, जो सुख और दुःखको समान मानता है, जो निरन्तर क्षमाशील है, तथा जो मेरे भजनसे सन्तुष्ट एवं निष्काम कर्मयोगी है। एवं जिसका मन मेरी प्राप्ति के लिए यत्नशील रहता है, मेरे भजनमें जिसका निश्चय दृढ़ है, मुझमें जिसने मन और बुद्धिको अर्पित कर दिया है, इस प्रकार जिसने बारह भूमिकायें निभा लीं हैं, वह भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

व्याख्या—यहाँ 'सर्वभूतानां' में सम्बन्ध में षष्ठी है, जिसमें मैत्रीभाव है उसे मैत्र कहते हैं, 'मैत्री अस्ति अस्य' इति मैत्रः, 'क्षमा अस्ति अस्य इति क्षमी' यहाँ व्रीह्यादित्वात् 'इनि' प्रत्यय हुआ। योगी शब्द निष्काम कर्म योगी के अर्थ में है।

संगति- भगवान् अपनी प्रियतामें फिर तीन भूमिकाओं का वर्णन कर रहे हैं-

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।। १२/१५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जिससे संसार उद्विग्न नहीं होता, और जो संसार से उद्विग्न नहीं होता, इस प्रकार जो हर्ष-क्रोध-भय और उद्वेगसे मुक्त है, वह मुझ कृष्णको प्रिय है।

व्याख्या—जो भगवद् रसमय होता है, उसको सर्वत्र रसकी अनुभूति होती है, वह किसी से उद्विग्न नहीं होता, और लोग भी उससे उद्विग्न नहीं होते। मनकी अनवस्थाको उद्वेग कहते हैं, जैसा की मानसमें भगवान् शिव कह रहे हैं—

उमा जे राम चरन रत विगत काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।।

मानस ७-११३-(ख)

संगति—भगवान् फिर अपने भक्तों की छह भूमिकाओं का वर्णन करते हैं-

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। १२/१६

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो किसीसे कोई अपेक्षा नहीं करता, जो पवित्र तथा परलोक साधन में चतुर है, जो उदासीन अर्थात्-शत्रुमित्रभाव से रहित, और अपनी व्यथाको समाप्त कर चुका है, ऐसा स्वभावसे सम्पूर्ण कर्म फलों का त्यागी, इन छें भूमिकाओं से सम्पन्न मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

व्याख्या—जिसे भगवान् में विश्वास हो जाता है, वह संसार में किसी से कोई अपेक्षा नहीं करता, उसकी दृष्टि में 'राम एक देवता भिखारी सारी दुनिया'। अपेक्षा ही अपवित्रता का कारण है। जैसे भीष्म द्रोण आदिने दुर्योधन से अपेक्षा की "बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः" इसीलिए वे अपवित्र हो गये, जो अनपेक्ष होता है, वही 'शुचि' अर्थात् पवित्र होता है। और वही परलोक साधन में चतुर भी होता है, वही राग-द्वेषसे रहित होकर व्यथा से दूर हो जाता है और वही मेरे प्रेमका पात्र बनता है।

संगति—फिर भगवान् पाँच भूमिकाओं का वर्णन कर रहे हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।। १२/१७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो न प्रसन्न होता है, और न द्वेष करता है, जो न शोक करता है, और न ही कोई इच्छा करता है, ऐसा शुभ और अशुभ फलों का परित्यागी मेरा जो भक्त है, अर्थात् जिसकी मुझमें परमानुरक्ति है, वह भक्त मुझे प्रिय है।

व्याख्या—'न हृष्यति' का तात्पर्य है, कि जो अनुकूल वस्तुओंसे न तो प्रसन्न होता है, तथा 'न द्वेष्टि' जो प्रतिकूल वस्तुओं से न तो द्वेष करता है, 'न शोचति' जो किसी प्रिय के बिछुड़ने पर शोक नहीं करता, 'न कांक्षति' जो किसी वस्तुकी आकांक्षा भी नहीं करता, इस प्रकार शुभ अशुभ फलों को त्यागकर केवल भगवान् में ही परम प्रेम रखता है, वह उनको प्रिय है ।

संगति—अब भगवान् दो श्लोकों में भक्तों की नवभूमिकाओं का वर्णन कर रहे हैं-

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।।१२/१८-१९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—जो शत्रु-मित्र, मान, अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख,दुःख इन सबमें समान तथा संसार में आसक्ति रहित है, जो निन्दा और प्रशंसाको तुल्यमानता है, और जिस किसी वस्तु से जो सन्तुष्ट हो जाता है, किसी से भी भगवत् चरित्र के अतिरिक्त कुछ नहीं बोलता, जिसको घर में आसक्ति नहीं है, ऐसा स्थिरबुद्धिवाला जो मुझमें शास्त्र विहित प्रशस्त भक्तिसाधना करता है, वह मनुष्य मुझे प्रिय है ।

व्याख्या—ये सभी गुण, जीवको भगवदीयता के पश्चात् प्राप्त होते हैं, 'अनिकेत:' जिसको निकेत अर्थात् गृह में आसक्ति नहीं है, मुझमें केवल भक्ति है, वह नर 'न रमते' जो संसार के पदार्थ में न रमकर केवल राम में रमता है, वह मुझे बहुत प्रिय है ।

संगति—अब भगवान् 'धर्म्यामृत' प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं-

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।। १२/२०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इस प्रकार मेरे द्वारा जैसा कहा गया है, उसी प्रकार इस ३५ भूमिकाओं से युक्त धर्म्यामृत को जो भजते हैं अर्थात् आस्तिक होकर मुझको परम देवता मानकर उपासनाकी बुद्धिसे जीवन में आचरण करते हैं, वे भक्त मुझे बहुत प्रिय हैं ।

व्याख्या—'धर्म्यामृतम्' धर्म्यमेव अमृतं । जो धर्मसे पतित न हुआ हो उसे धर्म्यं कहते हैं, वही यहाँ अमृत है । अथवा गीताशास्त्र स्वयं धर्म्य है, धर्म्यं संवादमावयोः गीता १८-७० 'धर्म्यस्य अमृतं धर्म्यामृतं' यह प्रकरण धर्म्यरूप गीताशास्त्रका अमृत है, अर्थात् इसे पीकर साधक भगवत्प्रीतिसुधाका अधिकारी बन जाता है ।

गीताशास्त्र पुनीत सकल सद्ग्रन्थ शिरोमणि
यह द्वादश अध्याय भक्तिरस मंगल सुरधुनि ।
राघवकृपा सुभाष्य रच्यो निज बुद्धि विलासा
यहि ते लहहिं मोद अधिक रघुवरकरदासा ।।

विविधशास्त्र उपपत्ति ते शरणागति रति रस भरी ।
रामभद्र आचार्यने भाषा यह व्याख्या करी ।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसापीठाधीश्वरजगद्गुरूरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामभद्राचार्य कृतौ श्रीमद्भगवद्गीतासु श्रीराघवकृपाभाष्ये भक्तियोगोनाम द्वादशोऽध्यायः

श्रीराघवः शंतनोतु



श्रीमद्राघवो विजयते
श्री रामानन्दाचार्याय नमः

त्रयोदशोऽध्यायः

नवनीलतमालसुन्दरं भगवन्तं भगवार्धिमन्दरम्।
मधुरं गुणमञ्जुमन्दिरं सुचिरं ब्रहन भजामि राघवम्।।१।।
वृषभानुसुतातदित्त्विपा परिसंप्तक्त नवाम्बुदच्छटम्।
हरितं हरिमेमि नित्यशो निभृतं नित्य निकुञ्ज के लिकम्।।२।।
धृततांत्र रथाश्वरश्मिकं कमहं कारुणिकं कदाचन।
करवाणि दृशोः पथि स्मृतिं ददतं शाश्वत सव्यसचिनेः।।३।।

अथ मध्यमषट्कस्य चरमाध्याये योगेश्वरेण श्री हरिणा प्रोक्तो भक्तियोगः स च भेदभक्तिमूलकः, सा च भेद भक्तिः सुचिरं समयेक्षते जीव ब्रह्मभिदां सैव प्रणतमनोरथ विबुधवल्ली शरीररूपमानलवालमपेक्षते। यत्र भगवन्नामरूप नीला धाम श्रवणकीर्तनस्मरणयाद सेवन भेजनवन्दनदास्य सख्यात्म निवेदन प्रभृति भक्ति वीजानि प्रोरोहन्ति तदेव क्षेत्रम्। यत् सदैव प्रत्यगात्म क्षेत्र ज्ञापरनामध्येयो मालीव लालयति वनमालिनः कृपाभाजनभूतः। किञ्च ज्ञानकाण्डेस्मिन् ज्ञानज्ञातृ ज्ञेयानामपि आध्यात्मिक त्रिपुरी संज्ञानां शास्त्रतो विशुद्धिरा वश्यकी, अत एव क्षेत्र क्षेत्रज्ञविभागयोग संज्ञोऽयमध्यायः प्रारम्भ्यते।

किंच क्षराक्षर पुरुषोत्तमानां त्रयाणामपि शास्त्रसिद्धानां ज्ञेयकोटि निविष्टानां तत्त्वतः शोधनमावश्यकम्। तस्मान् पार्थ मुखेन प्रश्नमवतारयति – "अर्जुन उवाच"

अर्जुनः पप्रच्छ—

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव।। १३/१।।

रा.कृ.भा.— यद्यप्ययं श्लोकः प्रायशो गीताप्रतिपु न दृश्यते, नवा शङ्कररामानुजनिम्बार्कमध्वैर्विवृतः। तथापि अमृततरङ्गिण्यादौ प्राचीनैष्टिका-कृद्भिर्व्याख्यातत्वात्, मयाऽप्येष स्वीकृतो निजभाष्यव्याख्याने। केचन निजधिया यं गूढं मन्यन्ते तमेव विषयं विवृण्वते सरलं जहति। किन्तु तेषां त्यागस्य त्याग्यासत्वे

न तात्पर्यम्। किन्तु तद्दृष्ट्या सारल्ये, यथा सन्त्यपि पाणिनीयाष्टध्याय्यां बहुत्र बहूनि सूत्राणि भगवद्भिः श्रीपतञ्जलिपादैः न व्याख्यातानि महाभाष्ये। विषयसारल्यकाठिन्ययोः प्रत्याचार्य स्व-स्वचिन्तनं प्रमाणम्। किंच क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोगोऽयं प्रकृतस्य ज्ञानकाण्डस्यैतस्य परिगणितेषु षट्स्वध्यायेषु सर्वप्राथम्यमाटीकते। अध्यात्मविद्यायाः प्रारम्भो हि प्रश्नपूर्वक प्रायो विलोक्यते। भवन्तु नाम भक्तौ भक्तकारुण्यवशंवदतया मध्यमषट्के ज्ञानविज्ञानयोग, राजविद्या-राजगुह्ययोग, विभूतियोगाः पार्थप्रश्ननिरपेक्षाः भगवतैव वात्सल्यमहोदधिना तदीयानन्तर प्रश्नानालक्ष्य प्रोक्ताः। किन्तु ज्ञानकाण्डे लोकसंग्रहार्थमपि पार्थजिज्ञासया स्फुटया भाव्यं, 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' इति स्मृतेश्च। अतो भाष्यबहिर्भूतोऽपि पञ्चानामाचार्याणां तत्समकक्षप्राचीनटीकाकृतामनुरोधेन मूलतो बहिर्भूतो नानुभूतो मया। अत्र पार्थस्य षड्जिज्ञास्यविषयाः, तदनुरोधेन षट् प्रश्नाः— कं ब्रह्माण, मीशं शिवं वशयति नियमयति इति केशवः तत्सम्बोधने हे केशव! 'शब्द क्रमादर्थक्रमो बलीयान्' इति नियमात्, पाठे तृतीये प्रश्नतांगतोऽपि उत्तरानुरोधेन क्षेत्रमिति शब्दः प्रथमतया अन्वीयते। किञ्च अर्थक्रमानुरोधेन सर्वोऽप्यत्रान्वयो व्यतिक्रम्यते। हे केशव! क्षेत्रं, क्षेत्रज्ञं च एव ज्ञानं, ज्ञेयं, प्रकृतिं, पुरुषमेव च इत्यनेन क्षेत्रविकारान् 'प्रकृतिं पुरुषं चैव' इत्यत्र प्रयुक्तेन चैव इति निपातयुगलेन प्रकृतिगुणान् पुरुषस्य संसारिता हेतुत्वादयः अपरेऽप्यवान्तरप्रश्नाः। एतत्सर्वं प्रश्नषट्कं अवान्तरप्रश्न निकरं च तत्र भवतः सकाशात् वेदितुं ज्ञातुमिच्छामि।।श्रीः।।

अथार्थक्रमेणार्थज्ञो भगवान् व्यतिक्रम्य पार्थप्रश्न शाब्दं पूर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञविज्ञान मुत्तरयितुमुपक्रमे।

'श्रीभगवानुवाच'

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। १३/२।।

रा.कृ.भा.— एवं पार्थेन षट्प्रश्नान् पृष्टः, श्रिया सहितो भगवान् निरवधिक नित्यनिःशेषनित्यनिरन्तरनिःसीमनिरतिशयनिरुपमनिरुपद्रवज्ञानशक्तिबलैश्वर्य तेजो-वीर्यसम्पन्नः भगवान् उवाच उत्तरयामास। कुन्त्याः अपत्यं पुमान् कौन्तेयः तत् सम्बुद्धौ हे कौन्तेय! परमभागवत्याः मातुः कुन्त्याः केनोपनिषदि ब्रह्मविद्वरिष्ठ तया प्रसिद्धेन बृद्धश्रवसा साक्षादिन्द्रेण शतक्रतुना सात्विकसंकल्पेन समुत्पादितः परमभवतहृदयस्त्वं जानन्नपि लोकहितार्थं जिज्ञाससे। अत आदरार्थं कौन्तेय इति

संबोध्यते। इदमेतत् पुरोदृश्यमानं पञ्चीकृतपञ्चभूतं शरीरं शीर्यते शीर्णं भवति यत् तथा भूतम्। श्रयति, श्रयते वा मां सेवते दशभिरिन्द्रियैः चतुर्भिरन्तःकरणैश्च यत्तच्छरीरं। यथा श्रीभागवते ब्रह्मवाक्यम्—

'एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्तामेकादशैव हि वयं वत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते।।
भागवत् १०-१४-३३

शीर्यते अन्तर्यामितया मयापि सर्वैर्देवैश्चापि यत्तच्छरीरं। 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' गीता १०-२०। क्षतात् त्रायते इति क्षेत्रं, क्षरतीति- क्षेत्रं, क्षीयते इति क्षेत्रं, क्षीयन्ति निवसन्ति भक्तिबीजानि यस्मिन् तत् क्षेत्रमित्येवं प्रकारेण अभिगीयते। एतत् क्षेत्रं यस्तत्त्वेन वेत्ति तं तद्विदः (क्षेत्रक्षेत्रज्ञरहस्यज्ञातारः) क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः कथयन्ति। क्षेत्राणि जानातीति क्षेत्रज्ञः, यथा कोऽपि गृहस्वामी निजानि सर्वाणि क्षेत्राणि जानाति, तेषां सस्योत्पादनक्षमतामपि जानाति। तथैव अयमपि संसार रूपस्य गृहस्य स्वामी (मद्दासभूतः) पूतात्मा प्रत्यगात्मा सर्वाणि क्षेत्राणि जानानः कस्मिन् उत्तमसस्यानामिवोत्तमकर्मणां बीजान्युप्तानि कस्मिन् तदित रेषामिति।।श्रीः।।

अथ क्षेत्रज्ञनिरूपणे तेन सह स्वकीयाभेदमाह, श्री हरिः —

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।१३/३।।

रा.कृ.भा.— हे भारत! भरतवंशप्रसूत। सर्वाणि क्षेत्राणि जानानं यं तद्विदः क्षेत्रज्ञ इति कथयन्ति स क्षेत्रज्ञः पुरुषः प्रत्यगात्मा 'क्षेत्रज्ञः पुरुषः आत्मा' इति कोषवचनात्। तं सर्वेषु क्षेत्रेषु शरीरेषु वर्तमानं क्षेत्रज्ञं चकारात् क्षेत्रमपि मां मदभिन्नसम्बन्धता शरीरशरीरीभावेन मदात्मकं निश्चयेन विद्धि। अत्रेदं रहस्यम्।

(१) अस्मान् मायी सृजते विश्वरूपः।

(२) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

(३) मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं च महेश्वरम्।।

(४) क्षरं प्रधानममृताक्षरो हरः। इत्येवमादयः शतशः श्रुतयः ब्रह्म, जीवः प्रकृतिरिति त्रीणि तत्त्वानि व्यवस्थापयन्ति। तत्र प्रकृतौ कर्तृत्वं प्रत्यगात्मनि भोक्तृक्तं परमात्मनि प्रेरकत्वं च साधयन्ति। 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा' इति श्रुतेः। एवं जीवश्चित्, अचित् प्रकृतिः ताभ्यां विशिष्टं ब्रह्म। इयं प्रकृतिः द्विधा सूक्ष्मावस्था,

स्थूलावस्था च। अस्यामेव प्रकृतौ भगवता गर्भरूपेण चेतनांशस्याधानं क्रियते, 'मम योनिर्महद्‌ब्रह्म तस्मिन्गर्भंदधाम्यहम्' (गीता १४-३) इति वक्षमाणत्त्वात्।

ततश्च तत्सृष्ट्वा तदनुप्राविशत् (तैत्तरीय ३-४) इतिश्रुतेः, पत्न्यामिव पतिः चिदंशेन सह परमात्मापि जगतिप्रविवेश कदा प्रभृति? इत्यत आह प्राविशत् जीवागमनसमकालमेव जगदागमत्। यथा पुत्रागमन समकालमेव पुत्रचेतनांशेन सह पितुश्चेतनांशोऽपि सम्मिलितो भवति, अतएव 'श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' इति मन्त्रवर्णः संगच्छते। अतएव च 'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५-७) इत्यपि वक्ष्यते भगवतैव।

ननु जगतः शरीरत्वे भगवतः किंमानमिति चेत्? शतपथब्राह्मणीयो बृहदारण्यकीयश्च अन्तर्यामिप्रकरणपरो ब्राह्मणः तथा हि 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यः पृथिवीं यमयति त एष आत्मान्तर्याम्यमृतः' (शतपथ ब्राह्मण-१४ बृहदारण्यक ३-६४) एवमेव पृथिवीमारभ्य यावद्रे तोवर्णनं एकविंशतिकृत्वः भगवता सह जगतः चिदचिदात्मकस्य शरीरशरीरिभावसम्बन्धो व्यस्थापितः। अतएव श्रीमद्‌रामायणे बाल्मीकीये 'जगत्सर्वं शरीरं ते' (वा.रा. ६-११७, २७) इति संगच्छते। तदन्तर्यामित्वं श्रीसीतारामयोरेव। अतएव गोस्वामितुलसीदासेन मानसे द्वितीयसोपाने तयोरेवान्तर्यामित्वं समभ्यधायि ':अन्तर्यामी रामसिय' (मानस २-२५६) एवं कदापि प्रत्यगात्मानमजहत्परमात्मा ताटस्थेनान्तर्यामितया प्रतिशरीरं जीवात्मना सह तिष्ठतीति शास्त्रार्थः'

'द्वासुपर्णासयुजा सखाया' (मुण्डक ३-३-१)

इत्यादिश्रुतयोऽपि प्रमाणमत्र। यत्तु एको विशुद्धात्मा अपरो विज्ञानात्मेति कैश्चत् प्रलपितं, तत्तु अनास्वादितभगवच्चरणारविन्दमकरन्दमाधुरीककषायकल्मषमलीमसमानसानां कुतर्ककल्पजल्पितमेवोपेक्ष्यम्। नहि घटाकाशमहाकाशयोर्मैत्री समानशीलत्वाभावात्। उपाधिश्चानित्यः तदुपहितविज्ञानात्माचानित्यः कथं नित्यानित्ययोः संयुक्तत्व 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् (कठ-१-३-१२) इत्यस्याः श्रुतेः दुर्धरोविरोधपरिहारः। उपाधिश्चाज्ञानरूपो वा अविद्यारूपो वा सत्यो वासत्यो वा नित्यो वानित्यो वा आश्रयो वा आश्रितो वा प्रकाशरूपो वा तमो रूपो वा। सत्यश्चेद्‌द्वैतहानिः, असत्यश्चेत् आवरणं दुर्धरं, नित्यश्चेत् ब्रह्मनिष्ठसजातीयभेदशून्यता व्यपघातः, अनित्यश्चेत् ब्रह्मण्याधेयताव्यपघातः।

उपाधेयता योग्यता हानिश्च आश्रयश्चेत् ब्रह्मणोव्यापकत्वानापत्तिः। आश्रितश्चेत् तदावरणासामर्थ्यम् तस्मात् जीवात्मना जगता च सह ब्रह्मणः शरीरशरीरीभाव एव सुगमः पन्थाः।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यत्र अत्यन्तसादृश्ये लक्षणा। 'सिंहो माणवकः' 'गौर्वाहीकः' 'देवदत्तो गर्दभः' इतिवत्। तथैव क्षेत्रज्ञं मां मम सदृशं विद्धि। ननु जीवात्मनो ब्रह्मसादृश्ये किं मानम्? इति चेत्। 'तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति मुं. ३/१/३। न तु स एव भवति तत्सदृशो भवति। अत एव 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यत्र ब्रह्मणः आ इव भवति इति पदच्छेदः। विभक्तिलोपे वृद्धिश्च। आशब्दः ईषदर्थे, अत एव ङित् तस्मात् निपातत्वेऽप्याङ्त्वेन स्पष्टस्वरसन्धिः। आङ् च ङित्, अनाङ्स्वरसन्धिविपरहितो भवति। अत एव 'निपात एकाजनाङ्' पा.अ. १-१-१४ इत्यनुशासनात्। 'अनाङ् वाक्यस्मरणयोः' 'आ एवं नु मन्यसे' 'आ एवं किल तत्' इत्युभे उदाहरणे तत्र, तथा हि तत्रत्यं महाभाष्यम्—

'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधावपि।
एतमातं ङितं विद्यात् वाक्यस्मरणयोरङित्।।

तथा ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मणः परमात्मनः आ ईषत् इव सदृशो भवति। ङित्वादेव तत्र आकारस्य इकारेण सह गुणः ततो वृद्धिः। ब्रह्मघटकमकारोत्तराकारेण सह एवकार घटकस्य, एकारस्य। भगवद् वचनानां विश्वतो मुखत्वात् श्रीराघवकृपया मया नवीनं व्याख्यानं प्रस्तूयते। अत्र क्षेत्रज्ञलक्षणं न वर्ण्यते किं तर्हि? क्षेत्रज्ञत्वाधार-निर्धारणं क्रियते,। क्षेत्रज्ञलक्षणस्य 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञं इति तद्विदः' गीता १३-२ इत्यत्रैव वर्णितत्वात्। हे पार्थ! चित्स्वरूपत्वात् सर्वाणि क्षेत्राणि जानानोऽपि सर्वेपु क्षेत्रेपु तिष्ठन्नपि क्षेत्रज्ञः नैकाकी, तेन सह गृहीतमैत्रत्वात्, अहमपि तिष्ठामि। अतः सर्वक्षेत्रेपु वर्तमानं क्षेत्रज्ञं तेन सहैव स्थितं मामपि विद्धि, चकाराद् द्वयोः समुच्चयः। नन्वेतत् कथने भगवतः कोऽभिप्रायः? इति चेत् तदाश्वासनमेवेति मन्महे। हे पार्थ! इयानेव भेद आवयोः यत्त्वं क्षेत्रज्ञः अहं सर्वज्ञः, इदमेव चकारेण अपिना च ध्वन्यते। अत्ररथरूपकेऽपीत्थं, यथा भारतयुद्धे तव रथे अश्वाः त्वं रथी अहंच सारथिः प्रग्रहश्च। तथैवात्र शरीरेऽपि रथिस्थानी त्वं जीवात्मा क्षेत्रज्ञः, सारथिस्थान्यहं, अश्वस्थानीयानीन्द्रियाणि, प्रग्रहस्थानीयं मनश्च, रथस्थानीयं चेदं शरीरं, पापस्थानीया कौरवसेना, पुण्यस्थानीया च त्वदीया चमूः तस्मान्न त्वम् एकाकी त्वया क्षेत्रज्ञेण सह अहमपि तव शरीररूपे क्षेत्रे तिष्ठामि। ततस्त्वं मया

सारथिना सञ्चालित शरीररथः पापसेनामिमां जेष्यसीति भारत सम्बोधनेन सर्वं सूच्यते। नन्वस्मिन् व्याख्याने किं मानम्? श्रुतिरेवेति प्रत्येमि 'द्वा सुपर्णासयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।मु.उ.३-१।

किं च ये अप्यर्थमे कारंव मन्वानः चकारं च तथार्थं, क्षेत्रज्ञं च मामेव विद्धीति श्रुतिविरुद्धं कालकूटं वमन्ति, तैः कथं न श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रुतिरियं श्रूयते उच्चैः श्रवोभिः 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' श्वे.उ. ६-१६। प्रधानं प्रकृतिः क्षेत्रज्ञो जीवात्मा प्रधानं क्षेत्रज्ञश्च प्रधानक्षेत्रज्ञौ तयोः प्रधानक्षेत्रज्ञयोः पतिः प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः इति तत्र द्वन्द्वगर्भःषष्ठीतत्पुरुषसमासः। एवं भूतं क्षेत्रं च क्षेत्रज्ञश्च इतिक्षेत्रक्षेत्रज्ञौ तयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः चिदचितोः यज्ज्ञानं तदेव ज्ञानं मम मतम्। मम ज्ञानं तु विज्ञानमिति। किं च सप्तमाध्यायप्रारम्भे परापराविभागतः प्रकृतिद्वयं वेद्यम्। अपरा प्रकृतिश्च अष्टधा विभक्ता, भिन्ना स्वरूपतः परमात्मनः। परा च अभिन्ना यथोक्तम्—

भूमिरापोऽनलोवायुः खंमनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। गीता ७-४, ५

इमे एव परापरेप्रकृती, क्षेत्रज्ञः क्षेत्रमिति त्रयोदशाध्याये समामनति मनोजमनोमोहनः, क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति। बद्धावस्थे चिदचिती, कार्यरूपे तद् विशिष्टं ब्रह्माद्वैतम्। एवमेव कारणावस्थायामपि चिदचिती सूक्ष्मे, ताभ्यां च विशिष्टं कारणं ब्रह्म। तथा हि चिदचिद्भ्यां कारणावस्थापन्नाभ्यां विशिष्टं कारणं ब्रह्म। पुनश्च चिदचिद्भ्यां कार्यावस्थापन्नाभ्यां विशिष्टं कार्यं ब्रह्म। विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे कारणकार्य ब्रह्मणी तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतं। अस्मन्नये श्रीरामः कारणब्रह्मभूमिकां भजते, सोऽपि लक्ष्मणसीताभ्यां विशिष्टः। श्रीसीतापि कार्यब्रह्म सा च लक्ष्मणहनुमद्भ्यां विशिष्टा। तथा च द्वयोः विशिष्टयोः कार्यकारणब्रह्मोपमानयोः श्रीसीतारामयोरद्वैतं इति विशिष्टाद्वैतम्। 'रामः सीता जानकी रामचन्द्रः' इति श्रुतेः।

सौन्दर्यसारसर्वस्वं माधुर्यगुणबृंहितम्।
ब्रह्मैकमद्वितीयं तत् तत्त्वमेकं द्विधाकृतम्।।

अतएव श्रीरामचरित मानसे प्राहुः तुलसी हर्षवर्धनास्तुलसीदासमहाभागाः—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम पद जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न।

(मानस बालकाण्ड १८)

गिरार्थौ जलवीची इव वचो भिन्नावभिन्नकौ।
सीतारामौ भजे ब्रह्म ययोः क्षीणा ह्यति प्रियाः।।

एवं सीतारामविशिष्टाद्वैतवादराद्धान्तोऽस्माकं रामानन्दीयश्रीवैष्णवानाम्। एवं शरीरशरीरिभावेन परमात्मना च पृथक् सिद्धयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञोर्यज्ज्ञानं तदेव ज्ञानं मम श्रीकृष्ण मतं पूज्यम्। अथवा क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः मम च यद् ज्ञानं तद्ज्ञानं मतम् पूज्यम् ।।श्रीः।।

अथ प्रतिज्ञामवतारयति —

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मेश्रृणु।।

(गीता. १३//४)

रा.कृ.भा.— तत् मया व्याख्यातुमिष्यमाणं तत्क्षेत्रं यत् प्रमाणकं यदवयवकं च ये च ते विकाराः यद्विकाराः ते सन्त्यस्मिन् इति यद् विकारि, यतः यस्माद्धेतोः लब्धजन्म तया यत् लब्ध, चतुर्थ्यन्तमिदं यस्मै प्रयोजनाय इति भावः, तदपि समासेन मे मत्तः श्रणु। च तथा स क्षेत्रज्ञः यः यत्प्रभावश्च यत् प्रभावावच्छिन्नः तत्सर्वमपि के मम कृष्णस्य सकाशात् समासेन् संक्षेपतः श्रृणु आकर्णय ।।श्रीः।।

किञ्च न केवलं मयैवेदंगीयते मत्तः पूर्वमेव वहुभिर्गीतम्। इत्यत आह—

ऋषिभिर्वहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।। १३/५।।

रा.कृ.भा.— इदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञविज्ञानं ऋषिभिः वशिष्ठपाराशरवाल्मीकिवेद व्यासप्रभृतिभिःविविधैरनेकविधा सम्पन्नैः छन्दोभिः वैदिकमन्त्रैः पृथगनेकविधं, किञ्च हेतवः उपपत्तयः ते सन्ति प्रशस्ताः येषु तानि हेतुमन्ति तैः हेतुमद्भिः प्रशस्तोपपत्तिमद्भिः, विनिश्चितैः वि, विशिष्टाद्वैतं निश्चितं निश्चयपूर्वकं सिद्धान्तितं येषु तानि विनिश्चतानि तैः एवं भूतैः ब्रह्मसूत्रपदैः ब्रह्मसूत्राणां मत् कलावतारभूतपारा- शर्यवादरायणापरनामधेयश्रीमद्राममन्त्रादेशिकपारम्पर्य सप्तमाचार्यश्रीमद्वेदव्यासेन- प्रणीतानाम् चतुर्ष्वध्यायेषु विभक्तानाम् 'अथातो ब्रह्म

जिज्ञासा' अनावृत्ते शब्दात् अनावृत्ते शब्दात् 'इत्येवमाद्यन्तानां पदैः पद्यते प्राप्यते ब्रह्म यैस्तानि पदानि ब्रह्मप्रतिपादकवाक्यानि 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इत्यादीनि। तैः ब्रह्मसूत्रपदैः विस्तरेण बहुधा गीतम् 'यत्तु केचन ब्रह्मसूत्रपदैः इत्यत्र ब्रह्मप्रतिपादक सूत्रभूतपदैः इति व्याचक्षते तत्र च उपपत्तिं ददति यत् गीताब्रह्मसूत्रयोः रचनाक्रमे पौर्वापर्यतः तथा व्याख्यानमुचितं यतोहि ब्रह्मसूत्रे स्मृतितित्वेन गीता स्मर्यति परतः प्रामाणाय। स्मृतेश्च स्मर्यते च इत्यादि सूत्रेपु। कथं प्रमाणशास्त्रे प्रमेयं प्रामाणेन प्रस्तूयते। इति चेन्न मैवम्— श्रीगीतायाः। 'या स्वयं पद्मनाभस्य मुख पद्माद्' इत्यादि वचनात् प्रयत्ननिरपेक्षतया भगवन्मुखकमलनिर्गलितत्वेन वेदव्यासप्रणीतत्वाभावे न दोषात्। त्रिकालज्ञतया च वेदव्यासस्य प्राकट्यात् पूर्वं श्रीगीतायाः ब्रह्मसूत्रेपु स्मृतत्वोपपत्तेः, गीतासु च स्वकलावतारकृतित्वात् ब्रह्मसूत्राणां स्मृतित्वे दोषाभावोपपत्तेश्च, वेदान्तकृत् इति गीतायां वक्ष्यणत्वात् च गीतोपदेशात् पूर्वं ब्रह्मसूत्ररचनायाः स्वकर्तृकायाः भगवतैवप्रमाणीकृतत्वाच्च। ऋषीणां छन्दसां ब्रह्मसूत्रनिहितब्रह्मप्रतिपादकवाक्यानां च सारभूतमिदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञविज्ञानं समासेन मे श्रृणु इति पूर्णमनुसज्जते ।।श्रीः।।

अथ क्षेत्रं तद्विकारान् द्वाभ्यामुदिशति—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।
इच्छा द्वेपः सुखं दुःखं संधातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।। १३/६-७।।

रा.कृ.भा.— महाभूतानि पञ्च पृथ्व्यप्तेजोवाय्वाकाशानि अहंकारो सत्त्विको राजसस्तामसश्च, बुद्धिर्व्यवसायलक्ष्यमन्तःकरणमव्यक्तं प्रकृतिः इन्द्रियाणि दश चक्षुःश्रोत्रस्पर्शरसनाघ्राणानि ज्ञानात्मकानि वाक्यपाणिपादपायूपस्थानि, एकम् उभयात्मकं मनः, पञ्चेन्द्रियगोचराः इन्द्रियाणां विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः इच्छा अभिलापः, द्वेपः प्रतिकूलावाप्तिजनितमनोभाव विशेपः, सुखमनुकूलवेदनीयं दुःखं प्रतिकूलवेदनीयंसंघातः संहन्यन्ते समूह्यन्ते अवयवाः यास्मिन् सः संघातः पञ्चीकृतपञ्चभूतरचितकर्णद्वयसंवलितरसरक्तमांसमज्जामेदोऽस्थिशुक्रात्मकः प्राणापानव्यानोदानसमानयुक्तः नागकृकलकूर्मधनंञ्जयवैश्वानरसमीरितः नख रोमचर्मवसाश्लेष्मादि परिपूर्णः करचरणजंघाजानूरूकट्युदरवक्षोग्रीवचिबुकमुख्यदन्तरसनामूर्धतालुनासिक नेत्रौष्ठश्रवणशिरस्समन्वितः संघातः तदवच्छिन्ना चेतना,

धृतिः धैर्यं भगवतोदर्शनाभावे व्याकुलीभावः। भावहेतुः घृतिर्विकारः राजसी तामसी वा व्यथा, तत्र भगवते व्याकुलीभावाभावे धैर्यहानिः गुणाय न तु दूषणाय—

तद्धैर्यं हानये प्रोक्तं यत्प्रभोर्विरहे सति।
शरीरधारणे हेतुः यदीयो निरयादपि।

यथा तत्र भवान् विल्वमंगलः —

हे देव हे दयित हे करुणैकसिन्धो, हे कृष्ण हे चपल हे भुवनैकवंधो।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम हाहा कदानुभवितासि पदं दृशोर्हि।

यथा च श्रीरूपगोस्वामिपादः

कृष्णप्रेमरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्रमूल्यमपि लौल्यमेकलं जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते।

एवमेव सप्तविकाराः, एतत् सविकारं विकारै, सह वर्तमानं क्षेत्रम् एकत्रिंशत् विकारात्मकं मया श्रीकृष्णेनोदाहृतम्। उद्देश्यतः नामसंकीर्तनं कृतम्।।श्रीः।। ननु ज्ञेयं ब्रह्म तज्ज्ञानार्थं कानि सधनानियतो हि क्षेत्रक्षेत्रज्ञविपयौ प्रश्नावुत्तरितौ इदानीं ज्ञानं ज्ञेयमिति तृतीय चतुर्थे प्रष्टव्ये अवशिष्येते, तत्र तृतीयप्रष्टव्ये ज्ञानमिति,। ज्ञानशब्दोऽत्र कर्णसाधनः न तु भावसाधनः, तथा हि ज्ञायते ज्ञेयं परब्रह्म अनेनेति ज्ञानम्। (करणाधिकरणयोश्च पा.अ. ३/३/११७ इत्यनेन ल्युट्) तानि यानि साधनानि स्पष्टम् द्वादशपूर्वार्धेम् सार्धचतुश्श्लोक्यां वर्णितानि विंशतिसंख्याकानि तत्र सप्तमेन साधनक्रमे प्रथमे ज्ञेयविपयकज्ञानस्य नवसाधनान्युपदिश्यन्ते।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।। १३-८।।

रा.कृ.भा.— मानोऽस्त्यस्मिन्निति मानी, न मानी अमानी तस्य भावः अमानित्वम् मानाभावः। मानशब्दोऽत्र सम्मानापनानोभयपरः समानापमानान्वितत्वम अमानित्वम्। अदम्भित्वं दम्भाचरणप्रदर्शनं तदभावः अदम्भित्वम्। अहिंसा हिंसा कायवाङ्मनोभिः परपीडा, तदभावः अहिंसा शास्त्राविहितहिंसाप्रतियोगिकाभावः, क्षान्तिः शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता परापचिकीर्षाभावो वा, आर्जवं ऋजोः भावः आर्जवम् सर्वान्प्रति सर्वदा सरलता कौटिल्याभाव इति यावत्। आचार्याणां भगवत्प्राप्तिसहायकविद्यासम्प्रदायदेशिकानामुपासनम्। सेवनं समीपस्थानं च। शौचं वाह्याभ्यन्तरशुद्धिः स्थैय, भजने चाञ्चल्याभावःआत्मनः मनसा विशेषेण निग्रहः,

मच्चरणारविन्दयोर्निबन्धनं आत्मविनिग्रहः यथा श्रीमद्रामचरितमानसे विभीषणं प्रति श्रीमुख वचनम्।

जननी जनक वंधु सुतदारा।
तनु धन भवन सुहृद परिवारा।
सब कर ममता ताग वटोरी।।
मम पद मनहि बांधि वर डोरी। (मा. ५/४८/४,५)

जनन्यां जनके बन्धौ सुते दारेषु वै तनौ।
धने च भवने मित्रे तथा चैव कुटुम्बके।।१।।
सर्वस्थममतातन्तून् समुह्य तेन रश्मिना।
वघ्नीयात् च प्रयत्नेन मत्पदाम्भोजयोर्मनः।।२।। ।।श्रीः।।

अथ साधनत्रयात्मिकं श्लोकं व्याहरति।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिःदुःखदोषानुदर्शनम् ।।१३/९।।

रा.कृ.भा.— इन्द्रियाणामर्थेषु विषयेषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु वैराग्यम्। विरतिः भगवदीयरूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु अनुरागः। अनहंकारः कर्तृत्वाभिमानाभावः। जन्म च, मृत्युश्च, जरा च, व्याधयश्च, इति जन्ममृत्युजराव्याधयः दुखं च दोषश्च दुःखदोषौ, तयोः, अनुक्षणं दर्शनमिति दुःखदोषानुदर्शनं, जन्म मृत्युजराव्याधिषु, दुःखदोषानुदर्शनमं, इति जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्। जन्मनि मृत्यौ जरायां व्याधिषु च पौनः पुन्येन दुःखदोषयोश्च चिंतनम्।

यथा—

मलाच्छन्नः क्लिन्नोकलितदशमासावधि वसन्।
शयानः संव्यानो मलमलिनवासो विशि वहन्।।
शिरो ग्रीवं पापी परिभवकलापी पवनतो।।१।।
वहिर्गच्छन् योनेरहहः जननं दुःखितंमलात्।
मुखात् ष्ठीवंन् भयकलितजीवं परिजह -।
ज्जरन् जारं जारं धृतवहुविकारान् निजवपुः।।
त्यजन्स्नेहं गेहं भयविहित मेहं विवृतयो—
र्दृशोस्त्यक्षन् प्राणान् अहह मरणं याति मनुजः।।

कचान् श्वेतान् विभ्रत् दशनरहितं विस्वरमुखम्।
गलं श्लेष्माच्छन्नं घरघरितकण्ठं कफमयं।।
करे धृत्वा यष्टिं स्वनिकट विनष्टिं परिभृशन्।
मृषावादि क्रन्दन्नहहः जरठः शोचति खलः।। ३।।

क्वचिद्वातः पित्तं क्वचिदपि कफः कुप्यतिफले।
क्वचित् फेरूश्वासं विगलिविलासं ज्वरतनुः।।
क्वचित्पादे पीड़ा क्वचिदपि शिरो वेदनमलम्।
अहोदुष्टव्याधिस्त्रिशिखविशिखैर्विध्यति तनुम्।। ४।। ।।श्रीः।।

पुनः साधनत्रयात्मकं श्लोकं पठति—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।। १३/१०।।

रा.कृ.भा.— असक्तिः सङ्गराहित्यं, पुत्राश्च दाराश्च गृहादयश्च पुत्रदारगृहादयः तेषु पुत्रदागृहादिषु सुतकलत्रभवनादिषु, अभिष्वङ्गः रागात्मकः सम्बन्धः तदभावः अनभिष्वङ्ग। इष्टमनुकूलम् अनिष्टं प्रतिकूलं तयोः इष्टानिष्टयोः उपपत्तयः प्राप्तयः तासु अनुकूलप्रतिकूलोपलब्धिषु समचित्तत्वं, समं चित्तं यस्य सः समचित्तः तस्यभावः समचित्तत्वं हर्षशोकरहितत्वेन समानचित्तता।।श्रीः।।

अथ पुनस्त्रीणि साधनान्युद्घाटयति—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।। १३/११।।

रा.कृ.भा.— तथा मयि अनन्तासंख्येयानतिशयानुपमामलकल्याणगुणगण-निलये अनन्ययोगेन अन्याश्रयरहितसमाधिना अव्यभिचारिणी मदेकनिष्ठा प्रेमलक्षणा-भक्तिः। विविक्तम् एकान्तं देशं सेवते इति तच्छीलः विविक्तदेशसेवी तस्य भावः विविक्तदेशसेवित्वं, जनानां संसत् जनसंसत् जनसमूहनिवासः तस्यां जनसंसदि जनसमूहे अरतिः अनुरागाभावः।।श्रीः।।

भूयः साधनद्वयात्मकं श्लोकं पठति—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।। १३/१२।।

रा.कृ.भा.— आत्मनि इति अध्यात्मम्, अध्यात्ममेव ज्ञानं इति अध्यात्मज्ञानम्

आत्मविषयकं ज्ञानं 'अव्ययीभावगर्भ सुप् सुपा समासः। यद्वा अधिश्रितं आत्मा येन तदध्यात्मम् अध्यात्मं च तज्ज्ञानमध्यात्मज्ञानम्, अध्यात्मज्ञाने नित्यत्वम् इति अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं आत्मविषयकज्ञाने नित्यबुद्धिः। तत्त्वं चिदचिद्विशिष्टमद्वैतं तस्य ज्ञानं, तस्यार्थस्य दर्शनम्, इदं खलु मन्त्रार्थचिन्तनेन भवति। तद्यथा—

देहासक्तात्मबुद्धिर्यदि भवति तदा साधु विद्या तृतीयं।
स्वातन्त्र्यान्धो यदि स्यात्प्रथममितरशेषत्वधीश्चेद् द्वितीयम्।।

आत्मत्राणोन्मुख स्यात् विषयचपलधीश्चेच्चतुर्थीं प्रयन्तः शब्दं रामाभिधेयं नम इति हि पदं बान्धवाभापलोलः।। एवं विशंतिसाधनसमूहं ज्ञानं ज्ञेयप्राप्ति प्राप्तिसाधनमुक्तम्। यत्, अतः एतस्मादन्यथा मानित्वादिकं तदज्ञानं, ज्ञेयप्राप्तिसाधन विरोधि। इति तृतीयप्रश्नस्य समाधानम्।।श्रीः।।

'अथ चतुर्थप्रश्नसमाधानम्' पड्भिः, चतुर्थश्च, प्रश्नः ज्ञेयविषयकः ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयं ब्रह्मैव, जीवात्मा तु प्रमातृत्वाद् ज्ञाता। वस्तुतस्तु अद्वैतवादसमर्थनचुञ्चुभिः शङ्कराचार्यचरणैः अर्जुनप्रश्नात्मकं प्रथमं श्लोकं 'प्रकृतिं पुरुषं चैव' इत्यादिकं अनुपन्यस्य क्षेत्रज्ञसर्वज्ञेयोरेकत्वं व्यवस्थापयद्भिर्धूलिप्रक्षेपः कृतः। दुर्भाग्यवशात् तदितरवैष्णवाचार्यैरपि तस्यैव वर्त्मनोऽन्धानुकरणमकारि। ज्ञेयप्रश्नोत्तरे कण्ठरवेणोक्तानां ब्रह्मविशेषणानां जीवात्मपक्षे साधु समाधानानि नोपलभमानाः जीवस्यापि ब्रह्मेति नाम हठात् साधितवन्तः। यद्यपि तेषां पक्षे जीवस्य अणुत्ववादः ब्रह्म च ब्रह्मणात् बृंहण हेतुत्वाच्च कथ्यते। अणुः कथं बृंहेत् कथं वा इतरान् बृंहयेत् यदि जीवस्यापि ब्रह्मनाम तर्हि जीवब्रह्मभेद जगड्वालः कथम्? अत्र मया जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यचरणारविन्दनखमणिज्योतिसंस्मरण लब्धदृष्टिना नवीनमिदं समाधानमन्विष्टम्। वस्तुतस्तु 'प्रकृतिं पुरुषं चैव' इति श्लोको मौलिक एव, नतु मूलतो बहिर्भूतः। वज्रायमाणादस्माद्द्वैतवादविन्ध्याचलभङ्गमाशङ्कमानः शङ्कराचार्यस्तत्याज प्रौढवादमिदम्। अविचारितशास्त्रार्थगाम्भीर्यशङ्कराचार्यदुरभिसन्धयः वैष्णवाचार्यबन्धवोऽपि नित्यं जीवते ह्यविनाशिनेऽप्यस्मै तिलाञ्जलिमेव दत्तवन्तः। वस्तुतस्तु जागरूकोऽयम् अस्मिन् सति षट्सु प्रश्नेषु ज्ञेयश्चतुर्थः उत्तरदाता प्रश्नप्रतीकमुच्चार्यैव प्रश्नोत्तरं ददाति। यदि पार्थेन क्षेत्र-क्षेत्रज्ञं, ज्ञानं, ज्ञेयं, प्रकृतिः, पुरुषः, इति न पृष्टाः स्युः, तदा भगवता, एतज्ज्ञानं 'गीता १३-११' ज्ञेयं यत् 'गीता १३-१२ 'प्रकृतिं पुरुषं चैव' गीता १३-१९ 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः' गीता १३-१४ इति कथं प्रतीकान्युच्चारितानि भवेयुः। तस्मात् प्रथमश्लोको युक्तितः शास्त्रतश्च सिद्धः। तत्रैकेन प्रश्नः, षड्भिःक्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरुत्तरं,

सार्धचतुर्भिः तृतीयप्रश्नोत्तरं पुनः षड्भिश्चतुर्थं प्रश्नमुत्तरयति। यत्त्वया 'ज्ञानं ज्ञेयं च केशव' इति पृष्टं तज्ज्ञानं व्याख्याय अनुपदमेव ज्ञेयं व्याख्यामि—

'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१३/१३।।

रा.कृ.भा.— यद् ज्ञेयं ज्ञातुं योग्यं, कथमित्यत आह- यज्ज्ञात्वा सेवकसेव्यभावरूपेण व्यवस्थाप्यामृतं मृत्यु भिन्नं परमानन्दसुधामश्नुते भुङ्क्ते। किंच तदेव ज्ञेयं वक्ष्यामि स्फुटं वदिष्यामि, तत्परं ब्रह्म सकलकारणकलापरहित-मनादिमत्, अनादयः देवाः सन्त्यस्मिन् इति अनादिमत्, आदिरहितगणेशादि देववत्। ननु कथमेतदनुधावनं? न आदिः अस्ति अस्य इति अनादिमत् इत्येव कथं न विगृह्येत्? इति चेत् सत्यम्। कर्मधारयगर्भमत्वर्थीयो 'न कर्मधारयान् मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकरः' इति नियमात् 'कर्मधारयगर्भमत्वर्थीये महाभाष्य-वचनविरोधः। तस्मात् न विद्यते आदिर्येषां ते अनादयः गणपत्यादयो देवाः ते सन्ति अस्मिन्निति अनादिमत्, इति नव्यं समाधानम्। तथा च तत्सदपि न चेतनं, असदपि न जडं, तत्तु सदसदुभयात्मकं। यत्तु ब्रह्मशब्दोजीववाचकः 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इत्युक्तेः, तत् असङ्गतम्। ब्रह्म शब्दस्य ब्रह्मणो धर्मत्वेनाणुत्व धर्मिणे जीवे तात्पर्यग्राहकत्वासंभवात्। किंच कुत्रापि कोषादौ जीवपर्यायत्वेन ब्रह्मणोऽनुपलम्भात्। किंच ज्ञेयत्वेन क्षेत्रज्ञव्याख्यानात् स्वसिद्धान्ताविरोधाच्च। किंच श्रुतिस्मृतिपुराणेषु कदापि नपुंसक लिङ्गत्वेन जीवनिर्देशानुपलम्भात्।।श्रीः।।

एवं सद्जीवः, असत् प्रकृतिः, ताभ्यां ब्रह्मणो वैलक्षण्य साधयित्वा पुनस्तस्य व्यापकत्वमाह—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१३/१४।।

रा.कृ.भा.— सर्वतः इति षष्ठ्यां, सप्तम्यां पञ्चम्यां प्रथमायां वा तसि। सर्वेभ्यः सर्वेषु, सर्वेषां वा पाणयः पादाश्च यस्य, तथैव सर्वेषु सर्वेभ्यः सर्वाणि वा अक्षीणी, शिरांसि, मुखानि, ग्रीवाः यस्य, सर्वेभ्यः श्रुतयः सन्ति यस्य। एवं तद् ब्रह्म सर्वतः पाणिपादं, सर्वतो हस्तचरणं, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं, सर्वत्र नेत्रमूर्धवदनं, सर्वत्र श्रुतिमत्, सर्वत्र श्रवणम् सर्वमिदंचिदचिदात्मकं जगदावृत्य लोके स्वे महिम्नि प्रकाशमये सरयूविरजाविमलवारिविगतरजस्के कोटि-कोटिस्वर्ण सौध कलधौत-चामीकरचमत्कृतवैदूर्यकुट्टिमनिपक्तहरिन्मणिपरमप्रसृमरप्रभाभासुर दिगन्तरे सिद्ध-

गन्धर्वकिन्नरनरयक्षसुरासुरसकलमहर्षिमुनिवृन्दपुण्यपूगसुकृत स्वीकृतनित्यकैङ्कर्य-बालदिवाकरचारुचम्पकचपलाचमत्कृतीपलायनहेतु भूतमङ्गलमयसकलसतीसतीत्व-संग्रहविहितवामास्वभावनिग्रहे, परमवात्सल्य मञ्जुलसद्ग्रह, शरणागतवैष्णव-प्रपन्नपक्षपातविशेषाग्रहसततवितीर्ण विनतविमलानुग्रह, विशुद्धविग्रहश्रीसीतापरिग्रह-परमकारुणीकल्लोलिनीविमलवीचिविच्छालितप्रान्तरनिजनाथनवनलिनचरणपरिचरण-चिकीर्षातृणीकृत भुक्तिमुक्ति चतुर्वर्गस्वर्गापवर्गपरमभागवतपरमहंसपरिव्राजका-चार्यजेगीयमाननिरभिमानविश्वविश्रुतरामायणादिसद्ग्रन्थश्रुत श्रुतिस्मृतिपुराणादि-संस्तुतविमलकीर्तिभाजनाञ्जनीनन्दनसमाभिनन्दननन्दनकानन समानीतपरमपावन-प्रसूनपरिस्फुटपरागप्रसन्नपरिमलविमलीकृतसमाधिनिर्मलान्तःकरणभग्नावरणविमल-विरागयोगाभरणसततसंसृतदशकन्धरारिसरसिजचरणशरणसनकादिकसेविते- परम-विशोकेसाकेतलोके सकलविभूतिनायकतया तिष्ठति।

किंच अपरमप्याह स्वरूपलक्षणम् -

सर्वेन्द्रियगुणाभासंर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृच।। १३/१५।।

सर्वेषामिन्द्रियाणां गुणानाम् आभासाः यस्मिन् तत् सर्वेन्द्रियगुणाभासं, पुनश्च सर्वेन्द्रियविवर्जितं सर्वैरिन्द्रियैः चक्षुरादिभिः रहितं न ग्रहीतुं शक्यमिति भावः। ब्रह्मणि हि सर्वेषामिन्द्रियाणां गुणा आभासन्ते, यद्यपि सर्वाणि तद ब्रह्म अवबोधयितुं न प्रभवन्ति यथोक्तं श्रीमानसे -

विनुपग चलइ सुनइ विनु काना। कर विनु कर्म करइ विधि नाना
आनन रहित सकल रस भोगी। विनु वानी वकता बड़ जोगी
तन विनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइघ्रान विनु वास असेषा
मानस १-११७ ५-६-७

रूपान्तरम् -

विना पद्भ्यां स चलति श्रृणोति श्रवणं विना
कराभ्यां च विहीनोऽसौ नानाकर्म करोत्यलम्
आननेनापि रहितोभुङ्क्ते स सकलान् रसान्
विना वाण्यापि वक्ता स महायोगी रघूत्तमः
तनुं विनापि स्पृशति विना नेत्रं च पश्यति
सर्वं च सौरभं रामो विना घ्राणेन जिघ्रति

श्रुतिरपि श्वेताश्वतरोपनिषदि "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रम् पुरुषं महान्तम्" एवसक्तं सर्वत्रआसक्तिवर्जितं सर्वं विभर्तीति सर्वभृत् । - "निर्गुणं निर्लीनगुणकं गुणभोक्तृ भक्तानां भजनगुणान् भुङ्क्ते। यद् वा गुणभूतं प्राकृतमपि भगवदीयं मत्वा तच्चरणकैङ्कर्यजुषां गुणान् गौणभूतानपि कार्यविशेषानपि भुङ्क्ते। यद्वा भुज धातुः पालनार्थः ब्रह्म निर्गुणं सदपि गुणान् त्रीनपि, भुनक्ति पालयति इत्यनेन सगुणत्वं, यद्वा गुणान् अप्रधानान् पतितान् भङ्क्ते पालयति, इति गुणभोक्तृ, यद्वा गुणशब्दः कुटिलपरः स्वयं निर्गुणं सारल्यशीलं भवदपि गुणान् कुटिलानपि जनान्भुङ्क्ते इति गुणभोक्तृ। ।।श्री।।

अपरमप्याह—

बहिरन्तश्च भूतानांमचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।। १३/१७।।

रा.कृ.भा.— तद् ब्रह्म मदभिन्नं भूतानां बहिः "कच्छमत्स्यवाराहनृसिंह वामानादि, मदवताररूपेण कालरूपेण वा, अन्तश्च अन्तर्यामिरूपेण वा विराजते, तत्, अचरं न चरति तथा भूतं अन्तर्यामिरूपम्। चरति सर्वत्र गच्छति कालरूपेण गत्वा सर्वान् कालयति। यद् वा अचरं न चरति भक्षयति इत्यचरं विष्णुरूपं, चरति सर्वान् भक्षयतीति चरम् शिवरूपम्। सूक्ष्मत्वाद्धेतोः तत्परमात्मतत्त्वमविज्ञेयं न विशेषं ज्ञातुं योग्यं, सामान्यतस्तु ज्ञेयमेव। तदेव निजविमुखानां कृते दूरस्थं, पुनश्च भक्तानां कृते अन्तिके निकटे। चकारान्मध्यमपि। इदमेवाह ईशावास्योप निषच्छ्रुतिः-

तदेजति तन्नैजति तद् द्वरे तद्द्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तत् सर्वस्यास्य वाह्यतः।।

"उ" निश्चये।। श्री।।

किंच अन्यमपि ज्ञेयस्य महिमानं श्रुणु -

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृच तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।। १३/१७।।

रा.कृ.भा.— किंच भूतेषु देवतिर्यङ्मनुष्येषु ब्रह्मतयाविभक्तमपि नृसिंह वामन श्रीरामकृष्णरूपेण विभक्तं अनेकाकारमिव स्थितम्। तत्त्वया पृष्टं ज्ञेयं भूतभर्तृ भूतानि बिभर्ति इति भूतभर्तृ विष्णुरूपं, सर्वं ग्रसते इति ग्रसिष्णु शिवरूपं, प्रभावयतीति प्रभविष्णुः ब्रह्मरूपं, चकारात् सर्वरूपमपि।।श्रीः।।

किंच अन्यदपि विख्यातप्रभावं तद् ब्रह्म -

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।। १३/१८।।

रा.कृ.भा.— तद् ब्रह्म ज्योतिषामपि प्रकाशानां सूर्यचन्द्रादीनां ज्योतिः यथोक्तं श्रीमद्रामायणे -

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्नि प्रभोः प्रभुः।
श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाः क्षमा।।
दैवतं दैवतानां च भूतानां बोधसत्तम।
तस्य केते गुणा देवि वने वाऽप्यथवा पुरे।।
वा.रा. २/४४/१५,१६।

तमसः अन्धकारात् परं प्रकृतेः परमितिभावः, उच्यते कथ्यते। तदेव ज्ञानं ज्ञायते इति ज्ञानं "कर्मणिल्युट् बाहुलकात् "तदेव ज्ञेयं ज्ञातुं योग्यं, ज्ञानैः ज्ञानसाधनैः ज्ञानेन वेदान्तज्ञानेन, ज्ञानैः, ज्ञानवद्भिः गम्यं प्राप्यं। एवं भूतं सर्वस्य हृदि विष्ठितम् विशेषेण अन्तर्यामितया स्थितम्।।श्रीः।।

फलश्रुतिमाह -

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।। १३/१९।।

रा.कृ.भा.— इत्येवं रुपेण क्षेत्रं, चकारात् क्षेत्रज्ञं, तथा ज्ञानं ज्ञेयमेवं प्रश्नचतुष्टयं समासतः सङ्क्षेपतः मयोक्तं दत्तोत्तरं कथितं। मद्भक्तः एतन् मयोक्तं विज्ञाय मद्भावाय मयि भावः कैङ्कर्यलक्षणः, तस्मै उपपद्यते योग्यो भवति।।श्रीः।।

अथ "प्रकृतिं पुरुषं चैवेति" पञ्चमषष्ठप्रश्नौ उत्तरयति -

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। १३/२०।।

रा.कृ.भा.— प्रकृतिं मायां पुरुषं जीवात्मानमुभावपि अनादी आदि रहितौ विद्धि जानीहि। एवं षोडशविकारान् सत्वरजस्तमो। गुणांश्चैव प्रकृतेः सम्भवोमोयेषां ते प्रकृतिसंभवाः। एवं भूतान् प्रकृतिप्रसूतान् विद्धि अनादी उभौ, इह इदन्तद्विवचन लक्षणप्रगृह्यत्वात् सन्ध्यभावः।।श्री।।

अथ प्रकृतिपुरुषयोः को भेदः इत्यत आह -

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।। १३/२१।।

रा.कृ.भा.— कार्याणां घटादीनां, कारणानां मृत्तिकादीनां, कारणानां वा समवायादीनां कर्तृत्वे प्रकृतिः हेतुः कारणम्। तथा सुख दुःखे स्तः येषु तानि सुख दुःखानि तेषां सुखदुःखानां सुखदुःखात्मकर्मफलानां भोक्तृत्वे हेतुः कारणपुरुषः जीवात्मा, उच्यते कथ्यते श्रुतिभिः। एवं प्राकृतानि भोग्यानि, पुरुषः भोक्ता परं पुरुष परमात्मा द्वाभ्यां विलक्षणः।।श्रीः।।

ननु कथं ? असङ्गो जीवात्मा प्रकृतिगुणानां भोक्ता, कथंवायं परमात्मपादपद्मं विहाय सदसद्योनिषु जायते, कथ्यते च श्रुतिभिः "पुण्येन पुण्यःपापेन पाप" इत्यत आह -

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।। १३/२२।।

रा.कृ.भा.— हि निश्चयेन प्रकृत्यां तिष्ठतीति प्रकृतिस्थः "औपश्लेषिकी सप्तमी सामीप्ये" प्रकृतिसमीपस्थः पुरुषो जीवात्मा, प्रकृतिजान् प्रकृतिसम्भवान् गुणान् भुङ्क्ते अनुभवति। अस्य च पुरुषस्य तेषु भोग्येषु गुणेषु सङ्गः आसक्तिः, अस्य सतीषु असतीषु च योनिषु जन्म कारणं भवति। यथोक्तं श्रीभागवते -

ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः
समीरवेगानुगतं विभाव्यते।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान्
गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति।। भागवत १०-१-४३

एवं यदि मत्स्थः स्यात् तदा मद्गुणभोगी स्यात्। यदा च मद्गुणसङ्गः स्यात्, तदा सदसद्योनिषु जन्म न स्यात्, इति वाक्यार्थः।।श्रीः।।

एवं चकारात् प्रकृति पुरुषाभ्यां विलक्षणं किमपि तत्त्वं प्राह -

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।। १३/२३।।

रा.कृ.भा.— अस्मिन्देहे वर्तमानात् पुरुषादतिरिक्तोऽपि अहं पञ्चभिर्नामभिः प्रसिद्ध प्रोच्ये श्रुतिभिः। उपद्रष्टाः उप समीपतः, सर्वकर्मणां साक्षी, तथा चानुमन्ता,

सर्वकर्मणामनुमोदयिता, भर्ता भरणपोपणकर्ता, भोक्ता यज्ञतपसां, महेश्चरः महान् शासकः परमात्मा सर्वकारणकारणं परंपिता परमात्मापि अस्मिन्देहे पञ्च- विधैर्जः पसञ्चप्रकारेण उक्तो भवामि।।श्रीः।।

फलश्रुतिमाह -

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।। १३/२४।।

रा.कृ.भा.— एवं मदुक्तप्रकारेण यो जनः पुरुषं गुणैः सह प्रकृतिं चकारात् द्वाभ्यां विलक्षणं मां परमात्मानं वेत्ति। स सर्वथा वर्तमानः कर्मणि प्रवृत्तिमान् भवन्नपि, भूयः पुनः मच्चरणकमलात् पृथक् भूत्वा न अभिजायते, नाभिभूतः कर्मभिर्जन्म गृह्णाति।।श्रीः।।

अथ हृदयस्थस्य उपद्रष्टुः अनुमन्तुः, भोक्तुः, महेश्वरस्य परमात्मनः प्राप्त्युयायभूतान् चतुरः प्रकारानाह द्वाभ्याम्—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायाणाः।।
(गीता १३-२५-२६)

केचिद्अनन्यनिष्ठा आत्मनि निजहृत्कमले आत्मना आन्तरेण चक्षुपा आत्मानं परमात्मानं मां पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति, अन्ये सांख्येन योगेन समत्वलक्षणेन मां चिन्तयन्ते, अपेर कर्मयोगेन मयि सर्वकर्मसमर्पणलक्षणेन मम साक्षात्कारं कुर्वन्ति, अन्ये तु एव मुपायत्रय जानन्तः अन्येध्यः महात्मभ्यः मम नामरुपलीलामधामानि श्रुत्वा मामुपासते, दैन्यभावनया तेऽपिश्रुतिपारायणाः मत्गुणगणश्रवणतत्पराः मुत्युं संसारसागरं अतितरन्त्येंव। पारं गच्छन्त्येव। श्रीः। वक्तव्यमुपसंहरति-

यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्पभ।। १३/२७।।

रा.कृ.भा.— हे भरतर्पभ - भरतेपु भरतवंशीयेपु ऋपभ श्रेप्ठ इह यावत्किञ्चित् चिदचिदात्मकं तत्त्वंजायते तत्क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः प्रकृतिपुरुपयोः संयोगादेव प्रवृत्तिः स्थातन्त्र्येण न कारणं, अपितु, ईश्वरपारतन्त्र्येण। आभ्यां विलक्षणस्य निजस्य स्वभावमाह भगवान्—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्वस्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। १३/२८।।

रा.कृ.भा.— सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्थावरपर्यन्तेषु सामीप्य सम्बन्धेनोपाश्लिस्य तिष्ठन्तं वर्तमानं विनश्यत्सु नाशं गच्छत्सुसत्सु , अविनश्यन्तं विनाशं न प्राप्नुवन्तं मां क्षराक्षरविलक्षणं, यः पश्यति स पश्यति सैव यथार्थं पश्यति। एतद् विपरीतं पश्यन् यथार्थं न पश्यति। श्रीः-

ब्रह्मदर्शनस्य फलमाह -

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानततो यातिपरां गतिम्।। १३/२९।।

रा.कृ.भा.— यः सर्वत्र सर्वेषु भूतेषु समं समवस्थितमर्न्तयामितया व्यवस्थित मीश्वरं सकलजगन्नियन्तारं सर्वसर्वेश्वरं कायक्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टं पुरुषविशेषं मां पश्यन् साक्षात्कुर्वन् आत्मानमात्मना कालरूपेण मया न हिनस्ति, नैव हन्ति, ततो शरीरत्यागं कृत्वा परां श्रेष्ठां गतिं याति श्रीः -

आत्मनः कृर्तत्वं निराकरोति -

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यःपश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।। १३/३०।।

रा.कृ.भा.— प्रकृत्या अचिद्भूतया मम मायया सर्वशः सर्वाणि कर्माणि क्रियमाणनि आत्मना न क्रियमाणानि पश्यति, एवमकर्तारं कर्तृत्व भावर्जितं आत्मानं विशुद्धं चैतन्यधनं मां परमात्मानं पश्यति अथवा मत्कैंकर्यैकलालसं निरस्त देहाभिमानमात्मानं प्रत्यागात्मानं पश्यति। श्रीः। -

अथ ब्रह्मसम्पत्तिप्रकारमाह -

यदा भूत पृथग् भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।। १३/३१।।

रा.कृ.भा.— यदा साधक : भूतानां पृथग्भाव मेकास्मिन् परमात्मनि तिष्ठति तथा भूतमेकस्थमनुपश्यति, तत एव परमात्मनः सकाशाद्विस्तारं संसारस्य प्रपञ्चं विभावयति, तदा स मां परमात्मानं ब्रह्म संपद्यते, सम्यक् पद्यते प्राप्नोति, यतु संपद्यते एतस्य भवतीत्यर्थो व्याख्यातः। तदनुचितं पदे प्राप्त्यर्थत्वात्। श्रीः नुचि ननु शरीरस्थोऽपि परमात्मा जीवदोषैरनुविद्धोभवेदेव, इत्याशंकां परिहरति—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।। १३/३२।।

रा.कृ.भा. - अयं परमात्मा अनादित्वादादिरहितत्वात् परमात्मा निर्गुणत्वात् हेयगुणवर्जितत्वात्- निर्लीनगुणकत्वाच्च, अव्ययः, हे कौन्तेय। शरीरेषु तिष्ठतीति, शरीरस्थः सर्वेषां शरीरेषु तिष्ठन्नपि न कर्माणि करोतीति, न वा कर्मभिःलिप्यते, यतो हि आदिमान् परिच्छिन्नो भवति, परिसीमितगुणो हि व्ययी भवति, मयि भगवति द्वयोरभावः। श्रीः।

अथ परमात्मनोऽपि निर्लेपत्वमाहदृष्टान्तेन—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।। १३/३३।।

रा.कृ.भा. सामान्यार्थः- यथा आकाशं नभः सर्वगतं सर्वव्यापकं सदपि सौक्ष्म्यात् अतिसूक्ष्मतरत्वात् केनापि न लिप्यते तथैव, सर्वत्र देहे शरीरे उपश्लेषेण अवस्थितोऽपि अन्तर्यामी परमात्मा न लिप्यते, जीवदोषेण् न लिप्यते श्रीः-

अथ जीवात्मनः प्रकाशकत्वमाह-

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।। १३/३४।।

रा.कृ.भा. - यथा एको रवि सूर्यः कृत्स्नं सम्पूर्णं लोकं निजरश्मिभिः प्रकाशयति तथा क्षेत्रमस्ति अस्य इति क्षेत्री क्षेत्रज्ञः जीवात्मा, सम्पूर्णमिदं शरीरं क्षेत्रं प्रकाशयति।

भारतेति सम्बोधनं समादरार्थं श्रीः।।

अथ प्रकरणमुपसंहरन् फलश्रुतिं वर्णयति।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।। १३/३५।।

रा.कृ.भा. - एवमनेन प्रकारेण क्षेत्रं शरीरं क्षेत्रज्ञो जीवात्मा तयोरन्तरं प्रकाशप्रकाशकभावरुपं च ममापि जीवात्मना सहभेदं क्षेत्रज्ञपतित्वात्। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः (श्वेताश्वतरोपनिषद ६-१६) इति श्रुतेः।

ज्ञानमयेन चक्षुषा ये विदुः जानन्ति, पश्यन्ति च, एवं भूतानां प्रकृतिमोक्षं प्रकृति संसर्गनिरासं ते परं यन्ति ताद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः (इतिश्रुतेः)

त्रयोदशो मयाऽध्यायः श्री गीतासु यथाश्रुतम्।
श्री राघवकृपाभाष्ये भाषितो रामतुष्टये।।

इतिश्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानंदाचार्यस्वामीश्रीरामभद्राचार्य विरचितेश्रीराघवकृपाभाष्येक्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगोनाम त्रयोदशोऽध्यायः।

"श्री राघवः शंतनोतु"



"श्रीमद्राघवो विजयते"
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

त्रयोदशोऽध्यायः

मंगलाचरण

नवनील तमालसुन्दरं भगवन्तं भववार्धिमन्दरम्।
मधुरं गुणमञ्जुरमन्दिरं सुचिरं ब्रह्म भजामि राघवम् ।। १ ।।

अर्थ—नवीन नीले तमाल के समान सुन्दर भवसागर के मन्दराचल स्वरूप, अत्यन्त मधुर, श्रेष्ठ गुणों के मन्दिर भगवान् परब्रह्म श्रीराघवको मैं निरन्तर भजता हूँ।

वृषभानुसुतातडित्त्विषा परिसंपृक्तनवाम्बुदच्छलम्।
हरितं हरिमेमि नित्यशो निभृतं नित्यनिकुञ्ज केलिकम् ।।२।।

अर्थ—वृषभानुनन्दिनी राधारूप विद्युत् से सम्पृक्त नवीन बादलकी शोभावाले अत्यन्त शान्त, निभृत निकुञ्जमें रासलीला करनेवाले ऐसे हरित कान्ति सम्पन्न परमेश्वर श्रीकृष्णको मैं निरन्तर स्मरण करता हूँ।

धृततोत्ररथाश्वरश्मिकं कमहं कारुणिकं कदाचन।
करवाणि दृशोः पथि स्मृतिं ददतं शाश्वतसव्यसाचिनेः ।। ३ ।।

अर्थ—वह कौन सा क्षण आयेगा, जब मुझे यह सौभाग्य मिलेगा, हे प्रभो ! हाथमें कोड़ा एवं रथके घोड़ों की लगाम पकड़े हुये अपने नित्य परिकर अर्जुनको गीतोपदेशके बहाने विस्मृत स्वरूपकी स्मरण कराते हुए, परमकारुणिक परब्रह्म श्रीकृष्ण को क्या कभी अपने नेत्रोंके मार्ग पर ले आ पाऊँगा।

संगति—मध्यम षट्कके अन्तिम अर्थात् बारहवे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्णने भक्तियोगका वर्णन किया, वह भक्ति भेदमूलक है, और वह ब्रह्म जीवका भेद जो कि शरणागतों के मनोरथके लिए कल्पलता के समान है, शरीररूप एक आलवाल अर्थात् थालीकी अपेक्षा करता है। यह शरीर इसीलिये क्षेत्र है, क्योंकि इसमें श्रवण-कीर्तन-स्मरण-पादसेवन-अर्चन-वन्दन-दास्य-सख्य-आत्मनिवेदन जैसे भक्तिके बीज अंकुरित होते हैं। इसी

शरीररूप खेतको वनमाली श्रीकृष्णका कृपापात्र यह जीवात्मा मालीकी भाँति सदैव सँवारता सुधारता रहता है, इसीलिये इसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

और भी इस ज्ञानकाण्ड में ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान इन तीनोकी आवश्यकता है, जिन्हें अध्यात्म में त्रिपुटी कहते हैं। इन तीनों की शास्त्र से शुद्धता अपेक्षित है, इसीलिये यहाँ उनके भी विभागका वर्ण करने के लिये "क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग" नामक इस अध्यायका आरम्भ किया जाता है। और भी क्षर-अक्षर और पुरुषोत्तम इन तीनों का विभाग वर्णन भी आवश्यक है, क्योंकि ये ही ज्ञेय कोटिमें प्रविष्ट हैं। इसीलिये अर्जुन के मुखसे ही इस अध्याय में कहे जानेवाले विषयों को प्रश्नबद्ध करके उपस्थित किया जा रहा है—

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ।। १३/१

रा०कृ०भा सामान्यर्थ—अर्जुन प्रश्न करते हैं- हे केशव ! मैं आपके पाससे प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, तथा ज्ञान और ज्ञेय इन छः वस्तुओंको जाननेकी इच्छा करता हूँ।

व्याख्या—यद्यपि यह श्लोक प्राय: गीताजीकी प्रतियोंमें नहीं दिखायी पड़ता और शङ्कराचार्य-रामानुजाचार्य-निम्बार्काचार्य मध्वाचार्य आदि आचार्यों ने इसकी व्याख्या भी नहीं की है। फिर भी 'अमृततरङ्गिणी' इत्यादि प्राचीन प्रामाणिक टीकाओंमें यह श्लोक उपलब्ध होता है, इसीलिये मैंने भी अपने श्रीराघव कृपाभाष्यमें व्याख्या के लिये इस श्लोक को स्वीकर किया है। प्राय: कुछ लोगों का नियम होता है वे जिस विषय को कठिन मानते हैं उसी की व्याख्या करते हैं। सरल विषय को छोड़ देते हैं। किन्तु उनके त्याग का यह तात्पर्य नहीं होता कि उनके द्वारा त्याज्य वस्तु मूल ग्रन्थ में नहीं है। किन्तु उनकी दृष्टि से उनके त्याज्य विषय की सरलता में ही तात्पर्य होता है। जैसे पाणिनी अष्टाध्यायी में बहुत से ऐसे सूत्र हैं जिनपर भगवान् पतंजलि ने भाष्य नहीं लिखा है। कौन विषय सरल है कौन विषय कठिन है इस सम्बन्ध में प्रत्येक आचार्य का अपना-अपना चिन्तन प्रमाण है। इतना ही नहीं इस ज्ञान काण्ड नामक तृतीय षट्क में परिगणित छह अध्यायों में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ नाम अध्याय सर्वप्रथम है। अध्यात्म विद्या का प्रारम्भ प्रायशः प्रश्न पूर्व देखा जाता है। ठीक है मध्यम षट्क भक्त प्रधान है, इसलिए वहां भले ही सातवें, नौवें और दसवें अध्याय का प्रारम्भ अर्जुन के प्रश्न के बिना ही वात्सल्य वारांनिधि भगवान् ने कर दिया परन्तु ज्ञान काण्ड में ऐसा सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, मनु महाराज भी कहते हैं कि बिना पूंछे किसी को कुछ भी ज्ञान नहीं देना चाहिए। इसलिए अर्जुन को प्रश्न करना अनिवार्य होगा। अर्जुन के यहाँ छह प्रश्न हैं और उन्ही के अनुसार यहाँ अर्जुन ने प्रश्न भी किये हैं। केशव—क का अर्थ है ब्रह्मा, और ईश का अर्थ है शंकर।

इन दोनों का नियमन करने से भगवान् को केशव कहते हैं। शब्द के क्रम से अर्थ का क्रम बलवान होता है। पाठ में तृतीय संख्या को प्राप्त हुआ भी क्षेत्र शब्द अर्थ की दृष्टि से प्रथम होगा। इसीलिए अर्थ क्रम के अनुरोध से इस श्लोक का सम्पूर्ण अन्वय परिवर्तित होगा। अर्थात् हे केशव ! क्षेत्र क्षेत्रज्ञ चकार से क्षेत्र के विकार ज्ञान, ज्ञेय, वहां प्रयुक्त चकार से ज्ञेय के गुण प्रकृति, पुरुष "च एव" इन दो निपातों से प्रकृति के विकार और सांसारिकता, इन सब प्रश्नों का संग्रह समझना चाहिए।

संगति—अब अर्थज्ञ भगवान् अर्थ के क्रम से ही अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हैं। अर्थात् पहले क्षेत्र क्षेत्रज्ञ की चर्चा करते हैं।

श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यमिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।। १३/२

इस प्रकार अर्जुन के द्वारा छह प्रश्न किये जाने पर निरतिशय, निरवधिक, निरुपद्रव, कल्याण गुणगण निलय, निरस्त निखिलहेयगुणक, स्वीकृत समतिशयज्ञानशक्ति बल-ऐश्वर्य, तेज और वीर्य से सम्पन्न भगवान् बोले—

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! यह शरीर "क्षेत्र" (खेत) इस प्रकार कहा जाता है। इसको जो जानता है उसे क्षेत्र का रहस्य जानने वाला क्षेत्रज्ञ इस प्रकार कहते हैं।

व्याख्या—कौन्तेय कहने का तात्पर्य यह है कि- तुम परम भागवत कुन्ती के बेटे हो और तुम्हे केनोपनिषद् के ब्रह्मविद्वरिष्ठ इन्द्र ने अपने सात्विक संकल्प से उपन्न किया है। इसलिए तुम सब कुछ जानते हुए भी लोक संग्रह के लिए प्रश्न कर रहे हो। इदं- जो दृश्यमान है। शीर्यते इति शरीरं-जो क्षीण हो जाता है उसे शरीर कहते हैं। अथवा श्रयति इति शरीरं - जो भगवान् की सेवा में लगता है उसे शरीर कहते हैं- अथवा श्रयते देवैः यत तत् शरीरम् जो सम्पूर्ण देवता जिसमें निवास करते हैं उसे शरीर कहते हैं। जैसा कि श्री मद्भागवत जी में ब्रह्मा जी कहते हैं—

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः
शर्वादयोऽङ्ध्र्युदजमध्वमृतासवं ते ।।

हे अच्युत ! इन व्रजवासियों के सौभाग्य की महिमा तो अलग रहा. मन आदि ग्यारह इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेवता के रूप में रहने वाले महादेव आदि हम लोग बड़े ही भाग्यवान् हैं । क्योंकि इन व्रजवासियों की मन आदि ग्यारह इन्द्रियों को प्याले वनाकर हम आपके चरण कमलों का अमृत से भी मीठा, मदिरा से भी मादक, मधुर मकरन्द रसपान करते रहते हैं। जव उसका एक इन्द्रिय से पान करके हम धन्य-धन्य हो रहे हैं तब समस्त इन्द्रियों से उसका सेवन करने वाले व्रजवासियों की तो बात ही क्या है ।

भा० क्षेत्रम्—क्षरति जो नष्ट हो जाता है । क्षीयते—जो क्षीण होता है । क्षीयन्ति यस्मिन् जिसमें सभी बीज निवास करते हैं उसे क्षेत्र कहते हैं । एतत्—इस प्रकार जो जानता है वह क्षेत्रज्ञ जीवात्मा है । तात्पर्य यह है कि- क्षेत्र जड़ और उसे जानने वाला जीवात्मा चेतन है परन्तु उसके क्षेत्रज्ञ कहा किसने? तद्विदः-तच्च, सच्च, ते विदन्ति इति तद्विदः अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जानने वाले वे कौन । क्या क्षेत्र, और क्षेत्रज्ञ से कोई अतिरिक्त तत्त्व है, हाँ उसे ही परमेश्वर कहते हैं और उस परमेश्वर ने ही इसे क्षेत्रज्ञ संज्ञा दी है । इसी से तीनों तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं ।

संगति—अव क्षेत्रज्ञ के निरूपण में उसके साथ भगवान् अपना भेद कह रहे हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।१३/३

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे भरतवंशी अर्जुन ! सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे भी वर्तमान समझो । अथवा सम्पूर्ण क्षेत्रों में वर्तमान क्षेत्रज्ञ और सभी क्षेत्रों को भी मुझसे अभिन्न समझो । जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है अथवा जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा मेरा ज्ञान है वही वास्तविक ज्ञान माना गया है ।

व्याख्या—तात्पर्य यह है कि- क्षेत्रों को जानते हुए जिसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है, वह क्षेत्रज्ञ जीवात्मा ही है । इसे कोष में भी 'क्षेत्रज्ञ, पुरुष, आत्मा' कहा गया है । वह क्षेत्रज्ञ जीवात्मा और 'च' से सभी क्षेत्र तथा शरीर मैं ही हूँ अर्थात् शरीर, शरीरीभाव से क्षेत्र क्षेत्रज्ञ से मेरा अभेद सम्बन्ध है । अर्थात् क्षेत्र अचिद् वर्ग, क्षेत्रज्ञ चिद् वर्ग ये दोनों ही मेरे शरीर हैं । यही माम् का अभिप्राय है । यहाँ यह रहस्य है — **"अस्मान् मायी सृजते विश्वरूप :" "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" "मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं च महेश्वरम्" "क्षरं प्रधानममृताक्षरो हरः"** इस प्रकार सैकड़ों श्रुतियाँ प्रकृति-जीव और ब्रह्म इन तीनों का प्रतिपादन करती हैं । तथा प्रकृति में कर्तव्य, जीवमें भोक्तृत्व और ब्रह्म में प्रेरकत्व-का भी प्रतिपादन करती हैं । इसीलिये श्रुति कहती हैं—"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा" इस प्रकार जीव चित् है, प्रकृति अचित है और इन दोनोंसे विशिष्ट ब्रह्म ही वेदान्त का प्रतिपाद्य है ।

यह प्रकृति दो प्रकार की है, सूक्ष्म और स्थूल । इसी प्रकृति में भगवान् गर्भरूपसे चेतनांशका आधान करते हैं—"मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।। गीता १४/३।। इस प्रकार श्रुति भी कहती है कि जीवकी सृष्टिकी रचना करके परमात्मा उसीमें प्रवेश कर गये 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'तै०उ० ३-४, अर्थात् जैसे पत्नीमें पति ही अपने अंशसे प्रवेश करता है, उसी प्रकार भगवानने अपने अंशसे इस सृष्टि में प्रवेश किया । कब प्रवेश किया ? इस पर कहते हैं, "प्राविशत्" जीवके साथ ही भगवान् भी इस जगत् में आये । जैसे पुत्रके आगमनके साथ ही पुत्रके चेतनांशसे पिताका भी चेतनांश मिल जाता है, इसीलिये श्रुति कहती है, सभी अमृत के पुत्रों सुनों "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः" इसीलिये गीता ७-१५ में भगवान् स्वयं कहेंगे, यह जीव मेरा ही अंश है "ममैवांशो जीव लोके" यहाँ प्रश्न होता है कि भगवानका जगत् शरीर है, इस सिद्धान्तमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—शतपथ ब्राह्मण एवं बृहदारण्यकका अन्तर्यामी प्रकरण ही इस सिद्धान्तमें प्रमाण है । जैसे–"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।। शतपथ ब्राह्मण १४-वृ०उ० ३-७३-३।"

अर्थात् जो पृथ्वी में रहता हुआ भी पृथ्वीसे विलक्षण है, जिसे पृथ्वी नहीं समझ पाती, पृथ्वी जिसकी शरीर है, जो पृथ्वीको भीतर रहकर ही नियन्त्रित करता है, वहीं अन्तर्यामी तुम्हारी आत्मा है, और वही अमृत भी है । इस प्रकार पृथ्वीसे प्रारम्भ करके रेत पर्यन्त इक्कीस बार शरीरका उच्चारण करके श्रुतिने स्वयं भगवानके साथ चित्-अचित् वर्गका शरीर-शरीरिभाव सम्बन्ध सुस्पष्ट रूपसे सिद्ध कर दिया । यहाँ यह ध्यान रहे कि इस अन्तर्यामी ब्राह्मण प्रकरण में आरुणिके प्रश्नका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने बीस बार तो अचित् वर्गको भगवानका शरीर कहा, और एक बार इसी प्रकरणके बाइसवे मन्त्र में "यस्य विज्ञानं शरीरं" कहकर आत्माको भी परमात्मा का शरीर कहा है । इसीलिये वाल्मीकि रामायण में सारा संसार आपका शरीर है–यह वाक्य संगत हो जाता है "जगत्सर्वं शरीरं ते" वा०रा० ६-११७-२७, इसीलिये भगवान् श्रीसीताराम ही अन्तयोगी हैं । इसीलिये गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने श्रीरामचरित मानस के द्वितीय सोपानमें श्रीसीतारामजी को ही अन्तयोगी कहा—

"अन्तरजामी रामसिय तुम्ह सरबग्य सुजान ।
जौं फुर कहहुं त नाथ निज कीजिअ वचन प्रमान ।।"

मानस २-२५६

इस प्रकार कभी भी प्रत्यगात्माको न छोड़ते हुए अन्तर्यामी परमात्मा तटस्थ रूपसे प्रत्येक शरीरमें जीवात्माके साथ ही रहते हैं । यही यहाँ का शास्त्रार्थ है । इसी लिये "द्वा

सुपर्णा सयुजा सखाया" ३-३-१ इत्यादि श्रुतियाँ भी जीव ब्रह्मके परस्पर भेदमें प्रमाण हैं। जो किन्ही लोगोंने यह कहा "द्वा सुपर्णा" इस श्रुतिमें एक विशुद्धात्मा है, और दूसरा अज्ञानोपहित आत्मा है, तो जिन्होंने भगवानके श्रीचरणकमल की प्रेममकरन्दमाधुरीका आस्वादन नहीं किया है, उन्हींका कुतर्क कल्पनाका जल्पन है, इसलिये उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये। कभी भी घटाकाश और महाकाशकी मैत्री नहीं हो सकती, क्योंकि दोनोंमें समानशीलता नहीं है, उसी प्रकार विशुद्ध और अशुद्ध की मित्रता कैसी ? लोकमें भी मूर्ख से पण्डित की मित्रता नहीं होती। धनीका गरीब मित्र नहीं हो सकता, उसी प्रकार विशुद्ध जीवात्मा मलिन जीवात्मा का मित्र कैसे हो सकता है। इतना ही नहीं जीवात्मा नित्य है और उपाधि अनित्य, इसीलिये उपाधिसे कल्पित विज्ञानात्मा भी अनित्य ही हुआ, फिर नित्य और अनित्यका सयुक्तत्व अर्थात् एक साथ रहना कैसे सिद्ध होगा। नहीं, नहीं कठोपनिषद की "नित्यो नित्यनां चेतनो चेतनानाम्" इस श्रुति का विरोध परिहार तुम कर ही नहीं सकते। इतना ही नहीं अब तुम्ही बताओ तुम्हारी उपाधि अज्ञान रूप है या अवि्यद्या रूप, सत्य है या असत्य, नित्य है या अनित्य, किसी का आश्रय है या किसी पर आश्रित, प्रकाश रूप है या अंधकार रूप। यदि उपाधि सत्य है, तब तो ब्रह्म की सत्यता के साथ उपाधि की सत्यता स्वीकारने पर अद्वैत पक्ष की हानि हो जायेगी। यदि असत्य है तब तो वह सत्य ब्रह्म को ढँक ही नहीं सकती। यदि उपाधि नित्य है तो ब्रह्म में सजातीय भेद शून्यता का व्यपघात हो जायेगा। अर्थात् ब्रह्म के सजातीय और ब्रह्म से अतिरिक्त तुम्हारी उपाधि देवी नित्य हो गयी। तब ब्रह्म के समान दूसरी वस्तु रहने के कारण तुम्हारा ही सिद्धान्त तुमने नष्ट कर दिया। यदि उपाधि नित्य है तो फिर उसमें ब्रह्म रहेगा कैसे ? अथवा वही ब्रह्म में कैसे रहेगी ? और उसकी उपादेयता और योग्यता दोनों की हानि हो जायेगी। यदि वह ब्रह्म का आश्रय है, तब तो ब्रह्म का व्यापकत्व ही नष्ट हो जायेगा। क्योंकि जो सभी स्थानों पर रहता है उसे व्यापक कहते हैं और आश्रय को आश्रित से अधिक देश में रहना पड़ेगा, तब ब्रह्म की अपेक्षा तुम्हारी प्रेयसी अपाधिका देश अधिक हो गया, और यदि कहें कि उपाधि आश्रिति है तब वह ब्रह्म को आवृत कैसे करेगी, क्योंकि जिसका स्वयं ही कोई आधार नहीं है वह दूसरे को क्या ढँकेगा। इसलिए जीवात्माका परमात्मा के साथ शरीरशरीरिभाव सम्बन्ध ही सुगम मार्ग है। जिस प्रकार व्यवहार में कहा जाता है कि-ब्रह्मचारी तो सिंह है, देवदत्त गधा है, यहाँ सादृश्य में लक्षणा की गयी उसी प्रकार 'क्षेत्रज्ञं माम्' इस वाक्य में भी 'माम्' शब्द की मम सादृश्य में लक्षणा है। अर्थात् क्षेत्रज्ञ जीवात्मा को मेरे समान ही समझो। यदि कहो कि जीवात्मा का ब्रह्म के सादृश्य में क्या प्रमाण है ? अर्थात् जीव किस अंश में ब्रह्म के समान है।

यहाँ मुण्डकोपनिषद् की श्रुति ही कह रही है "विद्वान् पुण्य और पाप को छोड़कर कर्मबन्धन के लेप से मुक्त होकर भगवान् का परम साम्य प्राप्त कर लेता है। साम्यमुपैति

का अर्थ है कि- जीव ब्रह्म के सदृश हो सकते हैं पर भगवान् कभी नहीं हो सकता। इसीलिए 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति में ब्रह्म आ इव इस प्रकार पदच्छेद समझना चाहिए। और इव के साथ सहसुपासे षष्ठी समास समझना चाहिए। अर्थात् जीव ब्रह्म के समान होता है। पर वहाँ भी पूर्ण समानता नहीं होती। यहाँ विभक्ति का लोप करने के पश्चात् वृद्धि होगी। 'आ' शब्द यहाँ थोड़े के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए यह ङित् है अतः सन्धि हुई। यदि अङित् होता तब निपात एकाजनाङ् १/१/१४ सूत्र के आधार पर प्रगृह्य संज्ञा करके प्रकृति भाव हो जाता है। व्याकरण शास्त्र में 'आ' के छह अर्थ प्रसिद्ध हैं। ईषत् अर्थात् थोड़ा। जैसे किसी ने कहा- थोड़ा जल लाओ। तब उसमें भी आ शब्द का प्रयोग होता है। जैसे संस्कृत में कहेंगे "आ जलमानय"। क्रिया के योग में भी आ शब्द का प्रयोग होता है, और सन्धि हो जाती है। जैसे आतति। मर्यादा के अर्थ में भी आ शब्द का प्रयोग होता है, जैसे- 'आसेतु हिमालयं' यह भारत की मर्यादा है, अभिविधि अर्थात् व्याप्त के अर्थ में भी आ का प्रयोग होता है जैसे—आबाल वृद्ध वाक्य और स्मरण के अर्थ में भी आ का प्रयोग होता है। परन्तु इन दोनों अर्थों में अङित् होने से प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है। पूर्वोक्त चारो अर्थों में ङित् होने के कारण संधि होती है। 'ब्रह्म आ इव' इस स्थल में भी ईषत् अर्थ में आ का प्रयोग है। इसलिए पहले 'आ' और 'इ' को गुण और फिर ब्रह्म + एव विग्रह करके वृद्धिरेचि १/१/८८ पा०आ० सूत्र से वृद्धि होकर ब्रह्मैव बन जाता है। इसका वाक्यार्थ होता है - जीव ब्रह्म के थोड़े अंश में सदृश हो जाता है। आ के छहों अर्थों के प्रमाण में महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि की कारिका उधृत की जा रही है—

"ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधावपि।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥"

इस प्रकार अब वाक्यार्थ बना कि- ब्रह्मवेत्ता महापुरुष ब्रह्म की थोड़ी समानता प्राप्त कर लेता है। भगवान् के वचन सर्वतोमुख होते हैं अर्थात् बहुत अर्थ वाले होते हैं। इसलिए श्री राघवेन्द्र सरकार की कृपा से यहाँ मैं नवीन अर्थ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

वस्तुतः यहां भगवान् क्षेत्रज्ञ का लक्षण नहीं कह रहे हैं, क्योंकि इसी श्लोक के उत्तरार्ध में 'क्षेत्र को जानने वाले को ही क्षेत्रज्ञ कहते हैं' इस प्रकार भगवान् स्वयं क्षेत्रज्ञ का लक्षण कहेगें। अतः पूर्वार्ध का अर्थ है कि- सम्पूर्ण शरीरों को जानने वाला और सम्पूर्ण शरीरों में जो क्षेत्रज्ञ रूप से वर्तमान है उसके साथ सभी शरीरों में मैं भी रहता हूँ किन्तु उसके साथ मेरी मित्रता है। यहाँ अपि निश्चयार्थक है और च समुच्चायार्थक। इस पक्ष में सप्तमी का वर्तमानत्व अर्थ होगा और अब श्लोक का अन्वय निम्नलिखित प्रकार से होगा—

हे भारत ! सर्व क्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञं च माम् अपि वर्तमानं विद्धि । हे भरत वंशी अर्जुन ! सभी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ जीवात्मा तथा मुझको भी रहता हुआ समझो । यदि कहें कि- यह कहने में भगवान् का क्या अभिप्राय था, इस पर हम यही कहेंगे कि- इस बात से भगवान् अर्जुन को एक आश्वासन देना चाहते हैं कि- यहाँ तुम अकेले नहीं हो, मैं भी निरन्तर तुम्हारे साथ रहता हूँ । हे अर्जुन ! हममें तुममे केवल इतना ही भेद है कि तुम क्षेत्रज्ञ हो और मैं सर्वज्ञ हूँ । यही चकार और अपि से ध्वनित हो रहा है । इस रथरूपक में भी इसी प्रकार की व्यवस्था है । जैसे महाभारत के युद्ध में दोनों ओर कौरव पाण्डव सेना तुम्हारा नन्दिघोष रथ उसके तुम रथी, मैं सारथी, घोड़े, लगाम यह सब कुछ हैं उसी प्रकार यह शरीर ही तुम्हारा रथ है, मैं अन्तर्यामी उसका सारथी हूँ, इन्द्रियां ही घोड़े हैं और मन ही लगाम है, तथा पाप और पुण्य ही कौरव पाण्डव सेना है । इसलिए तुम अकेले नही हो । यह तुम्हारा शरीर रूप रथ मेरे द्वारा चलाया जा रहा है । इसलिए अब तुम पाप सेना को जीत लोगे । यही भगवान् के आश्वासन का अभिप्राय है । यह सब भारत सम्बोधन से सूचित हुआ । यदि कहे कि- इस व्याख्यान में क्या प्रमाण है ? इस व्याख्यान में श्रुति ही प्रमाण है ऐसा मेरा विश्वास है । जैसा कि मुण्डक श्रुति कहती है- "दो सुन्दर पक्षी जो अनादि काल से परस्पर मित्र और साथ रहने वाले हैं वे समान रूप से एक वृक्ष का आलिंगन कर रहे हैं, "उनमे एक पीपल वृक्ष का आश्वादन कर रहा है और दूसरा कुछ न खाता हुआ परम आनन्द में मग्न है" "द्वासुर्णा" मुण्डक ३/१/१ इतना ही नही जो लोग अपि को एकार्थक मानकर और च शब्द को तथा के अर्थ में मानकर 'क्षेत्रज्ञ मुझे ही जानो' इस प्रकार कालकूट का वमन करते हैं, वे उच्चैश्रवा लोग श्वेताश्वतरोपनिषदादि की वह श्रुति क्यों नही सुनते जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि 'भगवान् प्रधान अर्थात् प्रकृति और क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा के पति हैं' । 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः श्वेता०-६/१६ । इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही वास्तविक ज्ञान है । ऐसा मेरा मानना है । 'विज्ञानतो' मेरे विषय के ज्ञान को कहते हैं । और भी सातवें अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् ने परा और अपरा भेद से प्रकृति के दो विभाग कहे । परा को अपने स्वरूप को अभिन्न कहा तथा अपरा को भिन्न । जैसा कि-गीता ७/४,५ में भगवान् कहते हैं- 'भूति, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, अहंकार और बुद्धि ये मेरी आठ प्रकार की भिन्न प्रकृति हैं, इसी को अपरा कहते हैं । और हे महाबाहो ! जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जा रहा है इस जीवनामक मेरी परा प्रकृति को इस अपरा प्रकृति से विलक्षण समझो । इन्हीं अपरा और परा-प्रकृतियों को मदनमोहन श्यामसुन्दर भगवान् क्षेत्र क्षेत्रज्ञ नाम से अभ्यास कर रहे हैं । वृद्धावस्था के चित् और अचित् से विशिष्ट संसार में व्याप्त ब्रह्म को कार्य ब्रह्म कहते हैं, इस प्रकार सूक्ष्मावस्था के चिदचिद् ब्रह्म को कारण ब्रह्म कहते हैं । इस प्रकार सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म कारण ब्रह्म है और स्थूल चिदचिद्

विशिष्ट ब्रह्म कार्य ब्रह्म है। इन दोनों कार्य कारण ब्रह्मों का अद्वैत विशिष्टाद्वैत है, "विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्"

विशिष्टं च विशिष्टं च ब्रह्मणी कार्यकारणे।
तयोरद्वैतमेवात्र विशिष्टाद्वैतमुच्यते।।

हमारे श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के अनुसार भगवान् श्रीराम कारण ब्रह्मकी भूमिकामें हैं, वहाँ भी श्रीसीता जी और लक्ष्मण जी से विशिष्ट हैं। श्रीसीताजी कार्य ब्रह्म हैं वे भी श्री लक्ष्मण तथा श्री हनुमान् से विशिष्ट हैं। इस प्रकार जिन्हे कार्यकारण ब्रह्म से उपमित किया जा सकता है, ऐसे श्री सीता रूप कार्यब्रह्म और श्री राम रूप कारणब्रह्म, जो क्रमशः श्री लक्ष्मण तथा श्री हनुमान् से तथा श्री सीता तथा श्री लक्ष्मण से विशिष्ट हैं। इन दोनों का अद्वैत ही विशिष्टाद्वैत हैं। श्रीसीताराम जी के अद्वैत के सम्वन्ध में श्रुति प्रमाण- "रामः सीता जानकी रामचन्द्रः" और मानस जी में भी गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीसीताजी का अभेद ही कहा है—

गिरा अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दउं सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।।मानस १-१८

इस प्रकार हम श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवों का सीताराम विशिष्टाद्वैतवाद ही सम्प्रदाय सिद्धान्त है। इस दृष्टि से इस श्लोक के उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार होगा—

शरीर शरीरि भाव सम्वन्ध से मुझसे अपृथक् सिद्ध क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ (अचित्त्-चित्) का जो ज्ञान है, वही ज्ञान मेरे द्वारा पूज्य है। अथवा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, चिदचिद् का च और मम चिदचिद् विशिष्ट मेरा, अर्थात् क्षेत्र (प्रकृति अचित्) क्षेत्रज्ञ (पुरुष जीवात्मा) तथा मम (उन दोनों से विशिष्ट श्रीकृष्णका) जो ज्ञान है, वही विशिष्टाद्वैतज्ञान 'मतं पूज्यम्' इस समय भी पूजित हो रहा है।

संगति—अब भगवान् अपनी प्रतिज्ञाकी अवतारणा कर रहे हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।। १३/४

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! वह क्षेत्र जिस प्रमाण वाला है, जैसा है और जिन विकारों वाला है, तथा जहाँ से वह जन्मा है, अर्थात् जो उसका कारण है, और वह जिसके लिये है। इसी प्रकार वह क्षेत्रज्ञ जो अर्थात् जिस स्वरूप वाला है, और उसका जो प्रभाव है, वह सब कुछ संक्षेप में मुझसे सुनो।

व्याख्या—'तत्' अर्थात् जिसकी मैं व्याख्या करने जा रहा हूँ, "यद्विकारि" यह जिन विकारों से युक्त है। "यत:" यहाँ पर हेतु अर्थमें पञ्चमी है, "स" पद क्षेत्रज्ञका बोधक है, इस प्रकार भगवान् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके सर्वाङ्गीण व्याख्यान की प्रतिज्ञा करते हैं।

संगति—अर्जुन ! इतना ही नहीं कि मैं इसे अभी-अभी नवीन परम्परा से कह रहा हूँ, इसको मुझसे भी पहले बहुत लोगों ने कहा है। इसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं, भगवान् वचनरचनानागर नन्दनागर—

"ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितै ॥" १३/५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग मेरे पहले बहुतसे वसिष्ठादि ऋषियों द्वारा और अनेक विधाओंसे युक्त वैदिक मन्त्रों से तथा उपपत्तियों से युक्त विशिष्टनिश्चयसम्पन्न बादरायण आचार्यकृत वेदान्तदर्शन के आधारभूत ब्रह्मसूत्रों के पदों द्वारा भी अनेक प्रकार से पृथक-पृथक गाया गया है।

व्याख्या—"ऋषिभि:" इसे वसिष्ठ आदि ऋषियों ने भी अपनी अपनी संहिताओं में गाया है। छन्दों की अनेक विधाये होती हैं, गायत्री आदि सात छन्द तो कहे ही गये हैं। 'ब्रह्मसूत्रपदै:' यहाँ ब्रह्मसूत्र से "ब्रह्मसूत्र ग्रन्थै:" समझना चाहिये। जो लोग ब्रह्मसूत्रों को वेव्यास प्रणीत न मानने की हठधर्मिथासे "ब्रह्मसूत्रपदै:" शब्दको तोड़मरोड़कर प्रस्तुत करते हैं, उनके मत में ब्रह्मसूत्र पदका अर्थ होगा ब्रह्मप्रतिपादक सूत्रात्मक पद। परन्तु किस ग्रन्थके पद ? इस प्रश्नका उत्तर उनके पास नहीं है। यदि कहें कि ब्रह्म प्रतिपादक सूत्रभूत पद तो वेदके ही हो सकते हैं। उनसे यह पूछना चाहिये कि- ब्रह्म प्रतिपादक वैदिक पद छन्दोंमें नहीं आते ? यदि आते हैं, तो फिर "छन्दोभि" शब्दसे उनका बोध नहीं हो गया ? इस प्रकार "छन्दोभि:" शब्दमें ही वैदिक पदोंकी गतार्थता हो जाने से "ब्रह्मसूत्रपदै:" शब्दका यहाँ दया प्रयोजन है ? यदि कहा जाये कि गीता उपदेशके समय "ब्रह्मसूत्र" की रचना नहीं हुयी थी, क्योंकि ब्रह्मसूत्रमें गीताजी के सिद्धान्तों को "स्मृतेश्च" "अपि च स्मर्यते" आदि सूत्रों में स्मरण किया गया है और कोई भी आचार्य अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिये अपनी ही रचनाको प्रमाण प्रस्तुत करके दूसरों का विश्वास पात्र कैसे बनेगा ? तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि महाभारत युद्ध के पहले ब्रह्मसूत्रकी रचना हो चुकी थी, क्योंकि वेदव्यासजीका बाइसवें द्वापर में जन्म माना जाता है। जबकि महाभारतका युद्ध अठ्ठाइसवें द्वापर के अन्त में हुआ। तो फिर पूर्वरचनामें गीताजी का स्मरण कैसे किया गया, और अपनी ही रचनाको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत कैसे किया गया ? क्योंकि श्रुतियों के अतिरिक्त कहीं भी स्वत: प्रमाण नहीं होता। इसका उत्तर यह है कि- गीताजी वेदव्यासकी रचना ही नहीं है, वे भगवान् श्रीकृष्णके मुखकमलसे प्रकट हुयीं "या

स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता" स्वयं का तात्पर्य यह है कि- भगवान् ने भी उनको प्रकट करने का कोई प्रयास नहीं किया था। जैसे बछड़े को देखकर गाय का दूध स्वयं गिरने लगता है। गाय में स्वयं दूध बनता है वह उसे बनाती भी नहीं निकालती भी नहीं। उसी प्रकार उपनिषद् रूप गौवों का दूध श्रीकृष्णचन्द्र के मुखारविन्द को माध्यम बनाकर अर्जुन के लिए स्वयं छलछला पड़ा। "दुग्धं गीतामृतं महत्" अतएव व्यास देव ने माला में पुष्पों की भाँति महाभारत के भीष्मपर्व में यथा प्रसंग गुम्फित किया "व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्"। माली पुष्पों को माला में गूँथता भर है उन्हें उत्पन्न करना उसका दायित्व नहीं है और उसके वश का भी नहीं है। अब यह प्रश्न है कि- नित्य होने पर भी गीता जी का प्राकट्य ब्रह्मसूत्र की रचना के पश्चात् हुआ इसीलिए भगवान् ने 'ब्रह्मसूत्रपदैश्च' कहकर उनका स्मरण किया, तो फिर ब्रह्मसूत्र का गीता जी में स्मरण कैसे ? क्योंकि ब्रह्मसूत्रों की रचना के समय तक तो गीताजी का प्राकट्य ही नहीं हुआ था।

उत्तर—वेदव्यास जी त्रिकालज्ञ है और भगवद् गीता भगवान् की नित्यस्मृति है। त्रिकालज्ञ, भविष्यत् का भी ज्ञाता होता है चाहे वह जीव विषयक घटना हो या भगवद्-विषयक। साथ ही वेदव्यास भगवान् ही तो है और दूसरी बात यह भी है कि अति प्रसिद्ध वस्तु प्राकट्य के समय की अपेक्षा नहीं रखती। जैसे किसी ने कहा- आग जला दो, जबकि जलने के पहले आग है नहीं परन्तु अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसी प्रकार गीता जी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। जैसे–दशरथजी के यहाँ प्राकट्य के पहले भी भगवान् श्री रामजी प्रसिद्ध थे। इसीलिए श्रीरामावतार के बहुत पूर्व प्रह्लादजी श्री रामनाम का जप करते थे।

राम राम जपतां कुतोभयम्।

इसी प्रकार दशरथ जी के यहाँ प्राकट्य के बहुत पहले स्वायम्भू मनवन्तर में ही मनु दम्पति श्री मनुसतरूपा ने श्री सीताराम के दर्शन कर लिये थे।

भृकुटि विलास जासु जग होई। रामवाम दिसि सीता सोई।।
मा० १/१४८/४

इसलिए यहाँ ब्रह्मसूत्रपदैः शब्द वैदिक वाक्यों के लिए नहीं सुस्पष्ट रूप से ब्रह्मसूत्रों के पदों के लिए ही कहा गया है।

संगति—अब क्षेत्र की चर्चा करके दो श्लोकों से क्षेत्र के इक्कीस विकारों की चर्चा करते हैं—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।१३/६,७

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत, अहंकार, बुद्धि अव्यक्त अर्थात् प्रकृति, चक्षु, श्रोत, रसना, घ्राण, त्वक्, वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये दस इन्द्रियाँ और एक मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये इन्द्रियों के विषय इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, पञ्चभूत निर्मित रस-रक्त, मांस, मज्जा, मेद्य अस्थि और शुक्र इनका संघात शरीर, उसीसे युक्त चेतना और भगवद् विरह में भी शरीर धारण में निमित्त धृति, अथवा राजसी तामसी धृति ये क्षेत्र के सात विकार हैं । तथा पांचवे श्लोक में कहे हुए चौबीस तत्त्व ही क्षेत्र के स्वरूप है । इन्हीं विकारों से युक्त क्षेत्र मेरे द्वारा कहा गया ।

व्याख्या–'इन्द्रियगोचराः' इन्द्रियों के विषय–

धृति-भगवान् के दर्शन के अभाव में भी जिससे प्राणी अपने प्राणों को धारण करता है वह धृति भी विकार ही है, जैसा कि–स्वयं विल्वमंगल कहते हैं—

हे देव ! हे दयित ! हे करुणैकसिन्धो !
हे कृष्ण ! हे चपल ! हे भुवनैकबन्धो !
हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम !
हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे ।।

इसी प्रकार श्री मानसजी में महाराज चक्रवर्ति दशरथ जी कहते हैं—

भयउ विकल बरनत इतिहासा । राम रहित धिग् जीवन आसा ।
सो तनु राखि करब मैं काहा । जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा ।
हा रघुनन्दन प्रान पिरीते । तुम बिनु जिअत बहुत दिन बीते ।
हा जानकी लखन हा रघुबर । हा पितु हित चित चातक जलधर ।।
मा० २/१५५।।

संगति—भगवान् ने यहाँ तक अर्जुन के प्रथम और द्वितीय प्रश्न का उत्तर दिया। अब तृतीय चतुर्थ प्रश्न अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय उत्तर के क्रम में आ रहे हैं । ज्ञान शब्द यहाँ करण में ल्यट् करके बना है । 'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्' जिस साधन द्वारा ब्रह्म को जाना जाता है उस ज्ञान के साधन को भी ज्ञान कहते हैं । उन साधनों की चर्चा भगवान् ने आठवें श्लोक से प्रारम्भ करके बारहवें श्लोक के पूर्वार्ध पर्यन्त की है । उनकी कुल संख्या बीस है । उनमें से नौ साधनों की चर्चा इस श्लोक में करते हैं—

अमानित्वदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।। १३/८

रा०कृ०सामान्यार्थ—मान अपमान का भाव दम्भाचरण न करना, अशास्त्रीय हिंसा न करना, सर्दी, गर्मी आदि द्वन्दों को सहन करना, सबके प्रति सरलता, भगवत् प्राप्ति में सहायक मन्त्र विद्या के, सम्प्रदाय परम्परा के उपदेशक सद्गुरुओं की सेवा करना, बाहर भीतर की पवित्रता, भजन में स्थिरता, मनका विशेष प्रकार से निग्रह ये नौ मेरे तत्त्व ज्ञान के साधन हैं ।

व्याख्या—'आत्मविनिग्रहः' यहाँ आत्मा मन के अर्थ में प्रयुक्त है । वह भगवद् भजन से ही निगृहीत होता है । जैसा कि मानस में भगवान् श्रीमुख से कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनुधन भवन सुहृद परिवारा ।।
सबकै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बांध वर डोरी ।।
(मानस-५/४८/४,५)

संगति—अब भगवान् अपने ज्ञान के तीन प्रमुख साधनों की चर्चा करते हैं—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।। १३/९

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य और कर्तृत्व के अहंकार का अभाव तथा जन्म मृत्यु वृद्धावस्था और व्याधियों में दुःख एवं दोषों का बारम्बार चिन्तन, ये भी मुझे जानने में अत्यन्त उपयोगी तीन साधन हैं ।

व्याख्या—पाँचो ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच विषय हैं। इनमें वैराग्य का तात्पर्य है कि भगवान् के ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध में अनुराग हो जाना । इस पर विनय पत्रिका का रोचक उदाहरण देखिये—

यों मन कबहूँ तुमहि न लाग्यो ।
ज्यों छल छाँड़ि सुभाव निरंतर रहत विषय अनुराग्यो ।।

ज्यों चितई परनारि, सुने पातक-प्रपंच घर घर के ।
त्यों न साधु, सुर सरि-तरंग-निर्मल गुनगन रघुवर के।।

ज्यों नासा सुगंध रस-बस, रसना, षटरस-रति मानी ।
राम प्रसाद-माल जूँठनि लगि, त्यों न ललकि ललचानी।।

चंदन चन्द्रवदनि, भूषन पट ज्यों चह पाँवर परस्यो।
त्यों रघुपति-पद-पदुम-परस को तनु पातकी न तरस्यो।।
ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेए बपु बचन हिए हूँ।
त्यों न राम सुकृतज्ञ, जे सकुचत सकृत प्रनाम किए हूँ।।
चंचल चरन लोभ लगि, लोलुप द्वार द्वार जग बागे।
राम सीय आस्रमनि चलत त्यों भय न श्रमित अभागे।।
सकल अंग पद विमुख नाथ मुख, नाम की ओट लई है।
हैं तुलसिहिं परतीति एक प्रभु, मूरति कृपामई है।।

(विनयपत्रिका–१७०)

जन्म-मरण-जरा और व्याधियों में बारम्वार दुःखका एवं दोषोंका चिन्तन करना। यद्यपि इस प्रसंग पर मैंने अपने संस्कृत भाष्य में स्वरचित चार शिखरिणियाँ प्रस्तुत की है। उन्हें यहाँ भी प्रस्तुत कर रहा हूँ—

मलाच्छन्नः क्लिन्नः कलितदशमासावधि वसन्।
शयानः संख्यानो मलमलिनवासो विशि वहन्।।
शिरोग्रीवं पापी परिभवकलापी पवनतो।
बहिर्गच्छन् योनेरहह जननं दुःखितमलात्।।
मुखात् ष्ठीवन् ष्ठीवं भयकलिलजीवं परिजह-
ज्जरन् जारं जारं धृतबहुविकारान् निजवपुः।
त्यजन्स्नेहं गेहं भयविहितमेहं विवृतयो-
र्दृशोस्त्यक्षन् प्राणान् अहह मरणं याति मनुजः।।
कचान् श्वेतान् बिभ्रत् दशनरहितं विश्वरमुखम्।
गलं श्लेष्माच्छन्नं घरघरितकण्ठं कफमयम्।।
करे धृत्वा यष्टिं स्वनिकटविनष्टिं परिमृषन्।
मृषावादी क्रन्दन्नहह ! जरठः शोचति खलः।।
क्वचिद्वातः पित्तं क्वचिदपि कफः कुप्यति फले
क्वचित् फेरुश्वासं विगलितविलासं ज्वरतनुः।

क्वचित्पादे पीड़ा क्वचिदपि शिरोवेदनमलम्
अहो दुष्टा व्याधिस्त्रिशिखविशिखैर्विद्धयति तनुम् ।।

इस प्रकार इन चारों में दुःखों और दोषों का अनुशीलन करनेसे साधकको स्वयं संसारसे नीरसता हो जाती है ।

संगति—फिर भगवान् तीन साधनों से युक्त श्लोक कह रहे हैं—

"असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।। १३/१०

रा॰कृ॰भा॰ सामान्यार्थ—संसारमें अनासक्त रहना, पुत्र-पत्नी और गृहादिके विषयमें रागात्मक सम्बन्ध न रखना और निरन्तर अनुकूल तथा प्रतिकूल विषयोंकी प्राप्ति में समचित्तता, अर्थात् अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें प्रसन्न न होना और प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्ति में दुःखी न होना, ये तीन साधन मेरे ज्ञानकी प्राप्तिमें सहकारी कहे गये हैं ।

व्याख्या—अभिपूर्वक ष्वञ्ज् धातुका राग अर्थ है, "अभीष्टं स्वञ्जनम् अभिष्वङ्गः न अभिष्वङ्गः अनभिष्वङ्गः" अर्थात् पुत्रादि सम्बन्धियों और गृह आदि पदार्थोंमें राग का न होना ।

संगति—इसके अनन्तर फिर भगवान् तीन साधनों का उद्घाटन कर रहे हैं—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।। १३/११

रा॰कृ॰भा॰ सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मुझ निरतिशय, निरवधिक, कल्याण गुणगण भवन, परमात्मा श्री कृष्णमें अन्याश्रयके त्यागके साथ समाधि योग द्वारा व्यभिचार रहित परमप्रेमलक्षण भक्ति, तथा एकान्त देशका सेवन, एवं लोगों के सम्पर्क एवं लोगों की सभा में प्रेम न करना ये मेरी प्राप्ति में तीन अत्यन्त उपयोगी साधन हैं ।

व्याख्या—"अव्यभिचारिणी" अन्य देवों की उपासना ही भक्ति रानीका भयङ्कर व्यभिचार है । "संसद्" शब्द समूह और सभा का वाचक है ।

संगति—अब भगवान् दो साधनो वाला श्लोक पढ़ रहे हैं—

"अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।" १३/१२

रा॰कृ॰भा॰ सामान्यार्थ—अध्यात्म ज्ञान में नित्यता और तत्त्व ज्ञान के अर्थका निरन्तर चिन्तन करना ही ज्ञान, इस प्रकार कहा गया है । इसके विपरीत जो कुछ भी है वह अज्ञान है ।

व्याख्या—तत्त्व तीन हैं, प्रकृति-जीव-ब्रह्म, अथवा जगत् जीवन-जगदीश । इन्हीं तीनोंका ज्ञान और उनके अर्थों का दर्शन यही तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन है । यही है विशिष्टाद्वैत। चित् और अचित् से विलक्षण अद्वैततत्त्व और उसके अर्थका अनुशीलन यह मन्त्रराज के अर्थज्ञान के विना सम्भव नहीं है । जैसा कि साम्प्रदायिक आचार्य कहते हैं- जब देह में आसक्ति और आत्मबुद्धि आ जाये तब बीजमन्त्रके तृतीय अक्षर का चिन्तन करना चाहिये। एवं जब मनमें दूसरे देवताके प्रति श्रद्धा होने लग जाये तब बीज के द्वितीय अक्षरका चिन्तन करना चाहिये । अर्थात् मैं रामजीका ही हूँ । जब अपनी रक्षाकी इच्छा होने लग जाये तब चतुर्थ्यन्त का चिन्तन करना चाहिये 'रामाय' । और जब कुटुम्बके पालन पोषण के लिये व्यक्तिका मन चंचल हो उठे, तब 'नमः' का चिन्तन करना चाहिये ।

देहासक्तात्मबुद्धिर्यदि भवति तदा साधु विद्य तृत्तीयम्।
स्वातन्त्र्यान्धो यदि स्यात्प्रथममितरशेषत्वधीश्चेद् द्वितीयम् ।
आत्मत्राणोन्मुखः स्यात् विषयचपलधीश्चेच्छतुर्थी प्रपन्नः ।
शब्दं रामाभिधेयं नमः इति हि पदं बान्धवाभापलोलः ।।

इस प्रकार बीस साधनों का यह समूह ज्ञेयरूप ब्रह्मको जाननेका साधन ज्ञान है, इसके विरीत 'मानित्व-दम्भित्व-हिंसा-अक्षमा कठोरता-आचार्यों की उपासना न करना, अशौच-अस्थिरता अनात्मनिग्रह-अविषयवैराग्य-अहङ्कार-जन्मादिमें आनन्दका अनुभव, आसक्ति-पुत्रादिमें अभिष्वङ्ग-असमचित्तता-व्यभिचारिणी भक्ति-समूहमें रहना-जनसम्पर्कमें प्रेम, अध्यात्म ज्ञानमें अनित्यता और तत्त्वज्ञानमें अनर्थका विचार ये ही अज्ञान है ।

संगति—अब भगवान् चौथे प्रश्न का छः श्लोकों में समाधान कर रहे हैं । चौथा प्रश्न ज्ञेयके विषयमें है, जो जानने योग्य है वह ज्ञेय ब्रह्म ही है, प्रमाता होनेसे जीवात्मा ज्ञाता है । वास्तवमें क्षेत्रज्ञ और सर्वज्ञकी एकता सिद्ध करने के लिये अद्वैतवादके समर्थन में कुशल शङ्कराचार्य जी ने क्षेत्रज्ञ और सर्वज्ञ की एकता की व्यवस्था करने के लिए ही अर्जुन के प्रश्नात्मक—

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ।।

इस श्लोकको गीताका अंश न मानकर साधकों और विद्वानों की आँख में धूल ही झोंकी है । दुर्भाग्यवश उनसे इतरवैष्णवाचार्यों ने भी उन्हीं के मार्गका अन्धानुकरण ही किया । अर्थात् यह श्लोक किसीने अपने भाष्य पाठमें नहीं लिया । इसीलिये कतिपय वैष्णवाचार्यों ने भी ज्ञेय प्रश्न के उत्तर में प्रयुक्त ब्रह्मपरक विशेषणों का जीवात्मा के पक्षमें जब समुचित समाधान प्राप्त नहीं किया, तब "शेषं कोपेन पूरयेत्" सूक्ति के आधार पर क्रोधमें

तिलमिलाकर हठधर्मिता से इतना तक कह डाला कि यह सब नाम जीव के हैं। यद्यपि सभी वैष्णवाचार्यों के मतमें जीव अणु है, और ब्रह्म तो सबसे बड़ा होनेके कारण ही ब्रह्म कहा जाता है। भला अणु कैसे बढ़ सकता है और दूसरों को कैसे बढ़ा सकता है। यदि जीवका ही ब्रह्म नाम मान लिया जायेगा। तो फिर जीव ब्रह्मके भेदका जगड्वाल क्यों उपस्थित किया गया ?

इस प्रसंग पर जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य जी के श्री मच्चरणकमलकी नखमणि चन्द्रिकाके स्मरणसे विवेकपूर्ण शास्त्रीय दृष्टि प्राप्त कर मैने सबसे नया समाधान ढूँढा है। वास्तवमें "प्रकृतिं पुरुषं चैव" यह श्लोक गीताजी के मूल पाठका ही है प्रक्षिप्त नहीं। सत्य तो यह है कि शङ्कराचार्यको यह आशङ्का हो गयी थी कि "प्रकृतिं पुरुषं चैव" यह श्लोक उसी प्रकार उनके अद्वैतवादको समाप्त कर डालेगा जैसे वज्र विशाल पर्वतों को तोड़कर फेंक देता है। इसीलिए शङ्कराचार्यने इस श्लोक वज्रको अपे भाष्यमें नहीं रखा। यद्यपि यह उनका प्रौढिवाद था और शास्त्रके साथ सीधा-सीधा धोखा था। फिर भी शास्त्रार्थकी गम्भीरता पर विचार न करके हमारे वैष्णवाचार्य बन्धुओंने भी निरन्तर जीवित रहने वाले इस परम रहस्य के उद्घाटक "प्रकृतिं पुरुषं चैव" इत्यादि भगवत्स्वरूप अविनाशी इस श्लोकको तिलाञ्जलि ही दे डाली। वास्तवमें "प्रकृतिं पुरुषं चैव" इस श्लोक के रहने पर ही अर्जुन के छः प्रश्नों में ज्ञेय विषयक चौथा प्रश्न जागरूक होगा, इसीलिये प्रश्न प्रतीकका उच्चारण करके ही भगवान् उत्तर दे रहे हैं। यदि श्री अर्जुनने ज्ञेय विषयक प्रश्न ही न किया होता तो भगवान् "ज्ञेयं यत्" कहकर प्रश्नप्रतीकका उच्चारण ही क्यों करते ? वास्तवमें यदि अर्जुनने ज्ञान-ज्ञेय, प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी प्रश्न न किये होते तो भगवान् "एतज्ज्ञानं" गीता १३-११, "ज्ञेयं यत्तत्" गीता १३-१२, "प्रकृतिं पुरुषं चैव" गीता १३-१९, "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः" गीता १३-३४ इस प्रकार प्रतीकों का उच्चारण क्यों करते ?

इसीलिये "प्रकृतिं पुरुषं चैव" इत्यादि प्रथम श्लोक युक्ति और शास्त्रतः सिद्ध है। इस स्थिति में एक से प्रश्न, छह श्लोकों से क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दो प्रश्नों का उत्तर, साढ़े चार श्लोकों से तृतीय ज्ञान विषयक प्रश्न का उत्तर देकर, अब भगवान् चतुर्थ प्रश्न ज्ञेयका उत्तर दे रहे हैं—अर्थात् हे अर्जुन ! जो तुमने "ज्ञानं ज्ञेयं च केशव" कहकर ज्ञान ज्ञेय विषयक प्रश्न किये थे, तो मैंने ज्ञान की व्याख्या कर दी, तत्पश्चात् तुरन्त ही ज्ञेय की व्याख्या कर रहा हूँ—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सन्नासदुच्यते ॥ १३/१३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य है, उसका अब प्रवचन करूँगा, अर्थात् प्रकृष्ट व्याख्यान करूँगा, जिसको जानकर साधक अमृत अर्थात् परमानन्द सुधाका उपभोग करता है। वह अनादिमत् आदि रहित् अथवा गणेश आदि अनादि देवताओं का भी आश्रय है। वह परब्रह्म है, वह सत् अर्थात् जीव नहीं है, तथा असत् अर्थात प्रकृति भी नहीं कहा जा सकता, वह जड़ चेतन, प्रकृति-पुरुष, चिदचिद् विशिष्ट अद्वैत तत्त्व है।

व्याख्या—"अनादिमत्" यदि यहाँ आदि रहित यही अर्थ किया जाय तो "मतुप्" प्रत्यय का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा, क्योंकि वह तो बहुव्रीहि से भी निकल सकता था। "नास्ति आदि: यस्य तत् अनादि" और प्रायश: भगवान् तथा अन्य देवताओं को अनादि शंब्दसे पुकारा भी जाता है। यदि कहें कि- पहले नञ् तत्पुरुष करेंगे, और फिर षष्ठी के अर्थमें प्रथमान्त अनादि शब्दसे मतुप् प्रत्यय हो जायेगा। 'न आदि: अनादि: अनादि: अस्ति अस्य इति अनादिमत्' तो यह पक्ष उचित नहीं है। क्योंकि भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि- यदि 'बहुव्रीहि' समास तुम्हारे अनुकूल अर्थकी प्रतीति करा रहा हो, तब कर्मधारय करके मत्वर्थीय नहीं करना चाहिये। "न कर्मधारयान् मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकर:"। यहाँ बहुव्रीहि से भी यथेष्ट अर्थ निकल रहा है, इस परिस्थितिमें भगवान् श्रीरामभद्र की कृपासे 'अनादिमत्' शब्दका हमने एक नया समाधान भी ढूंढा है। 'नास्ति आदि: येषां ते अनादय: देवा: गणेशादय:, ते सन्ति अस्मिन् इति अनादिमत्' अर्थात् आदि रहित गणेशादि देवता जिसमें रहते हैं, वह परब्रह्म ही अनादिमत् है।

संगति—इस प्रकार सत्-जीव और असत् प्रकृति का निषेध कर उन दोनोंसे ब्रह्मकी विलक्षणताको सिद्ध कर, अब भगवान् ब्रह्मकी व्यापकता सिद्ध कर रहे हैं—

सर्वत: पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत: श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।। १३/१३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! वह ब्रह्म सब ओर से हस्त चरण वाला है, और वह सब ओर से नेत्र, सिर और मुखों वाला है, वह सब ओर से कान वाला है, तथा इस लोक में वर्तमान समस्त चिद्चिदात्मक जगत् को अपनी महिमा से व्याप्तकर साकेताभिन्न गोलोक में विराजमान है। अर्थात् सभी के हस्त, चरण, नेत्र, सिर, मुख तथा श्रवण ब्रह्म के ही हैं अथवा सभी हस्त चरणादि ब्रह्म के ही हैं।

व्याख्या—'सर्वत:' यहां पर षष्ठी, सप्तमी, पंचमी और प्रथमा में तसि प्रत्यय समझना चाहिए, अर्थात् सभी प्राणियों में हस्त चरणादि ब्रह्म के हैं। अथवा सभी के हस्त चरणादि ब्रह्म के हैं। अथवा सभी हाथ पांव अवयव भगवान् के ही हैं और सभी ओर भगवान् के हस्त, चरण आदि अवयव हैं, अथवा भगवान् के हस्त, चरण नेत्र, मुख और

श्रवण ये सभी से विलक्षण हैं, अर्थात् जीवों के अवयवों जैसे इनमें विकार नहीं आते और इनका नाश भी नहीं होता।

'लोके' समस्त चिद्चिदात्मक जगत को अपनी महिमा से व्याप्त करके भगवान् अपने साकेताभिन्न गोलोक में विराज रहे हैं। वेद भगवान् भी कहते हैं- प्रभु का एक अंश ही सम्पूर्ण संसार का कारण है और वह अपने तीन पादों से अपने दिव्य साकेत लोक में विराजते हैं। यद्यपि अपने संस्कृतभाष्य में मैंने साकेत गद्य प्रस्तुत किया है फिर भी यहाँ संस्कृत से अनभिज्ञ भावुक पाठकों को कुछ भगवद् रस का स्वाद दिलाने के लिए साकेत के सम्बन्ध में स्वरचित कतिपय पद्य प्रसून प्रस्तुत कर रहा हूँ।

सरजू विरजा सरित जहाँ शुचि सुधा मधुर जल,
सादर मज्जन करत होहिं जन पावन निर्मल।
चक्रवाक पिक हंस सर सारस पारावत,
विहरति जाके पुलिन राम सीता जस गावत।।
शीतल मन्द समीर शुचि सुरभि धीर सुख देत है
रामभद्र प्रभु लोक शुभ धन्य धन्य साकेत है ।। १ ।।

कोटिकामरति सरिस जहाँ सुन्दर नरनारी।
निर्विकार भागवत सीयपति पद अधिकारी।।
जन्म मृत्यु ते रहित उर्मिला पति अनुशासन।
मानत उर्मिनजीत कबहुँ जम पुर की त्रासन।।
जिनके मन अविरलि भगति प्रभु सेवाहित हेत है।
रामभद्र शोभा महित धन्य धन्य साकेत है ।। २ ।।

परमहंस अवतंशपरिव्राजक मुनि ग्यानी।
पाइ मुक्ति सामीप्य जहाँ थितिलहि रति मानी।
गावहिं श्रुति उद्गीथ गीत पद मधुरी वानी।
जै जै राजा राम चन्द्र जय सीता रानी।।
लखन लाल लालित भगति आल बाल सुख खेत है
रामभद्र भामिन भवन धन्य-धन्य साकेत है ।। ३ ।।

जहाँ पवन सुत अष्टजाम सेवारत नाचैं
रामायण की कथा सुनत अतिशय मन रांचै

पुलकित कनक शरीर नीर भर पिंग विलोचन
जयजय कहि मन मगन भगत भय संकट मोचन
सीय राम मुख चन्द्र छबि दृग चकोर सुख लेत है
राम भद्र हनुमन्त प्रिय धन्य-धन्य साकेत है ।।४।।

जहाँ भूँख नहिं प्यास जहाँ नहिं आस न त्रासा ।
सीता राम सनेह सुधा तरपित सब दासा ।
करहि विशिष्टाद्वैत चारु पद्धति प्रभु सेवा ।
सीता पति पद नवहि शम्भु विधि हरि सब देवा ।।
वेदवन्दि विरुदावली भनत अमित सुख देत है ।
रामभद्र महिमा सदन धन्य-धन्य साकेत हैं ।।५।।

बाल दिवाकर कोटि कांति कंचन सिंहासन ।
मरकत पंकज राग राम सिय लसित सुखासन ।।
भरत, लखन, रिपु दमन, पवन नन्दन बड़ भागी ।
छत्र चमर जुग व्यजन सुजन मन अति अनुरागी ।।
मंद मंद मुस्कात प्रभु प्रियहि कर संकेत हैं ।
रामभद्र भावन भवन धन्य धन्य साकेत हैं ।।६।।

जहाँ ईति नहि भीति प्रीति रत पावन परिकर ।
प्रभु आयसु अनुसरहि धरहिं सिर करुना निर्भर ।।
हरिमुखकमल विलोकि ब्रह्मसुख गनइ न धीरा ।
जै सीता पति कहहि सजल दृग् पुलक शरीरा ।।
अमित अमर पति सदन सुख राजत राम निकेत है ।
रामभद्र तोषन निरत धन्य धन्य साकेत है ।। ७ ।।

ब्रह्मलोक ते उपरि जहाँ नहि जाहिं कुयोगी ।
प्रभु समीप जहँ बसहि नित्य परिकर मुनि जोगी ।।
जलधर दामिनि बरन राम सीता नित राजहिं ।
करहिं अनेक विहार मनोरथ जनके साजहिं ।।

रामभद्र आचार्य नित पूजत प्रीति समेत है
सीता राम सुधाम अति धन्य-धन्य यह देश है ।।८।।

संगति—भगवान् और भी अपना स्वरूप लक्षण कह रहे हैं ।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।। १३/१५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! उस ब्रह्म में सभी इन्द्रियों के गुणों का आभास होता है, वह सभी इन्द्रियों से रहित है । वह आसक्ति रहित है और सबका धारण पोषण करने वाला है । वह निर्गुण अर्थात् गुणों के बंधनों से मुक्त होकर भी गुणों का भोक्ता है ।

व्याख्या—सभी इन्द्रियों के गुण परमात्मा में भासते हैं । इसीलिए श्रुति उनको सर्वरूपः सर्वरसः सर्वगन्धः कहती है । परन्तु वह इन्द्रियों से अतीत होकर उनका विषय नहीं बनता । इसीलिए मानस में गोस्वामीजी कहते हैं—

बिनु पग चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु कर्म करइ विधि नाना ।।
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बक्ता बड़ जोगी ।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहइ घ्रान बिनु वास असेषा ।।
(मानस-१/११७/५,६,७)

'निर्गुणं गुणभोक्तृ च' क्योंकि भगवान् सभी विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं । इसीलिए निर्गुण होकर भी गुणों को भोगते हैं । अथवा सत्त्व, रज, तथा तम से परे होकर भक्तों के भजन गुण का स्वाद लेते हैं । अथवा भक्ति के द्वारा दी हुई साधारण से साधारण वस्तु को भोगते हैं । अथवा भुज् धातु का पालन भी अर्थ है । भगवान् गुणों से परे होकर भी गुणों का पालन करते हैं । गुणानि भुङ्क्ते इति गुणभोक्तृ । अथवा गुण शब्द टेढ़े का वाचक है । भगवान् स्वयं निर्गुण अर्थात् अति सरल होकर भी गुणभोक्तृ टेढ़े लोगों का भी पालन करते हैं ।

संगति—भगवान् और भी अपना स्वरूप कह रहे हैं—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिकं च तत् ।। १३/१६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! वह ब्रह्म जीवों के बाहर भी है और भीतर भी, वह अचर अर्थात् नहीं चलता और चलता भी है । अथवा वह जड़ भी है चेतन

भी है। वह सूक्ष्म होने के कारण विशेष रूप से नहीं जाना जा सकता। वह दूर भी है और निकट भी।

व्याख्या—भगवान् कालरूप में जीव के बाहर हैं और अन्तर्यामी रूप में जीव के भीतर। अन्तर्यामी रूप से वे स्थिर है और काल रूप से चलते रहते हैं, जा जाकर सबको खा जाते हैं। अथवा अभक्तों के यहाँ कभी नहीं जाते और भक्तों के यहाँ दौड़ कर चले जाते हैं।

दूरस्थं—भगवान् विमुखों के लिए बहुत दूर हैं और भजन करने वालों के लिए बहुत निकट हैं। इसीप्रकार ईशावास्योपनिषद् में श्रुति कहती है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तत् सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

अर्थात् वह ब्रह्म चलता भी है और नहीं चलता। वह दूर भी है निकट भी वह सबके भीतर भी है बाहर भी।

संगति—अर्जुन और भी ज्ञेय की महिमा सुन—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १३/१७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! तुम्हारे द्वारा पूछा हुआ वह ज्ञेय ब्रह्म सम्पूर्ण प्राणियों में अविभक्त अन्तर्यामी रूपसे एक होकर भी कच्छप, मत्स्य, वाराह आदि अवतार भेदों से विभक्त जैसा स्थित है। वह विष्णु रूप से जीवों का पालन करता है, शिवरूप से ग्रस लेता है और ब्रह्मारूप से प्राणियों को उत्पन्न भी करता है।

व्याख्या—वह सूर्य के समान अविभक्त है किन्तु घटावच्छिन्न सूर्य की भाँति विभक्त हुआ सा दिखता है। जैसे मानस में गोस्वामी जी कहते हैं—

यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं॥
(मानस २/२४४/४)

अथवा अन्तर्यामी रूप में अविभक्त होकर भी भगवान् भिन्न-भिन्न अवतारों के रूप में विभक्त जैसे प्रतीत होते हैं

संगति—और भी उस ब्रह्म का प्रभाव कहा गया है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १३/१८

रा०क०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! वह ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति तथा अन्धकार अर्थात् अज्ञान और अविद्या से परे कहा जाता है । वही ज्ञान अर्थात्, जिज्ञासुओं द्वारा जाना जाता है, वही जानने योग्य है, वही सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से विशेष स्थित है ।

व्याख्या—भगवान् सूर्य आदि प्रकाशों के भी प्रकाश हैं, जैसा कि मानस में शिव जी कहते हैं—

सबकर परम प्रकाश जोई । राम अनादि अवधपति सोई ।।
(मा० १/११६/६)

इसी प्रकर वाल्मीकीय रामायण में भगवती सुमित्रा कौसल्या जी से कहती हैं—

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।
श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्तेः कीर्तिः क्षमा क्षमा।।
देवतं दैवतानां च भूतानां बोधसत्तम ।
तस्य के हे गुणाः देवि वने वाऽप्यथवा पुरे ।।
(वा०रा० २/४४/१५/१६)

अर्थात् सुमित्रा जी कहती हैं कि- हे कौसल्ये ! भगवान् राम सूर्य के भी सूर्य, अग्नि के भी अग्नि, चन्द्रमा के भी चन्द्रमा, लक्ष्मी के भी लक्ष्मी, कीर्ति की भी कीर्ति, क्षमा की भी क्षमा, देवताओं के भी देवता और भूतों में भी श्रेष्ठ आकाश के समान निर्लेप हैं । उनके लिए वन हो या घर कहीं भी कोई अगुण अर्थात विरुद्ध गुण नहीं आ सकते ।

संगति—अब भगवान् ज्ञेय निरूपण की फल श्रुति कह रहे हैं —

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।। १३/१९

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इस प्रकार मेरे द्वारा संक्षेप में क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय, ये चार विषय कहे गये । अर्थात् इन चार प्रश्नों के उत्तर दे दिये गये । मेरा भक्त इन चारों को विशेष रूप से जानकर मुझ में कैंकर्यलक्षणभाव के योग्य हो जाता है ।

व्याख्या—यहाँ चकार से क्षेत्रज्ञ भी समझ लेना चाहिए । मेरा भक्त मेरे भाव के योग्य होता है अर्थात् उसे मेरी सेवा की योग्यता प्राप्त हो जाती है ।

संगति—अब भगवान् प्रकृति और पुरुष इन पाँचवे और छठें प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।। १३/२०

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! तुम प्रकृति और पुरुष जीवात्मा, इन दोनों को अर्थात् आदिरहित समझो । इच्छादि विकारों और सत्त्वादि गुणों को प्रकृति से ही उत्पन्न जानो ।

व्याख्या—यहाँ प्रकृति माया के अर्थ में प्रयुक्त है । 'मायां च प्रकृतिं विद्यात्' ऐसा श्रुति भी कहती है । पुरुष पद का जीवात्मा अर्थ है । प्रकृतेः सम्भवः एषां ते । अर्थात् जिनका प्रकृति से ही जन्म होता है ।

संगति—अच्छा तो प्रकृति और पुरुष में क्या भेद है ? अर्जुन के इस प्रश्न पर भगवान् कहते हैं—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।। १३/२१

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! घटादि कार्यों और मृत्तिका आदि कारणों के कर्तृत्व अर्थात् उत्पन्न करने में प्रकृति हेतु कही जाती है । और सुख-दुःखात्मक कर्म फलों के भोक्तृत्व अर्थात् भोगने में पुरुष हेतु है ।

व्याख्या—पंचभूत रूप कार्य तथा तन्मात्रा रूप कारण के कर्तृत्व में प्रकृति कारण है । परन्तु यह व्याख्या सांख्य सम्मत है, जबकि श्रुति पंचभूतों को शब्द आदि का कारण मानती है ! इसलिए प्रथम व्याख्यान ही उचित है ।

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं—हे प्रभो ! यह संग रहित जीवात्मा गुणों का भोक्ता कैसे हो जाता है और परमात्मा के पदपद्म को छोड़कर यह अच्छी बुरी योनियों में जन्म कैसे लेता है ? इस पर भगवान् कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।। १३/२२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! प्रकृति अर्थात् माया के समीप स्थित हुआ यह पुरुष प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है । उन गुणों में इसकी आसक्ति ही किसकी अच्छी बुरी योनि सम्बन्धी जन्मों में कारण बनती है ।

व्याख्या—व्यक्ति जिसके समीप रहता है उसके गुणों का भोग करता है । यदि पुरुष मेरे समीप रहे तो मेरे गुणों का भोग करे और उनमें आसक्त होने से वह अच्छी बुरी योनियों में जन्म से बच जाय ।

संगति—यहाँ चकार से प्रकृति और पुरुष से विलक्षण तत्त्व का संकेत करते हैं।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।। १३/२३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इसी शरीर में वर्तमान प्रकृति और पुरुष से परे मैं पुराण पुरुणोत्तम हूँ, जिस मुझ पुरुषोत्तम को उपद्रष्टा, साक्षी, अनुमन्ता, कर्मों की अनुमति देनेवाला सब का भरण पोषण करनेवाला यज्ञ और तपों का भोक्ता महान् ईश्वर और परमात्मा इस प्रकार से भी कहा गया है। अर्थात् मुझ अन्तर्यामी को छः नामों से पुकारते हैं।

व्याख्या–मैं भगवान् हूँ इसलिए ऐश्वर्य से उपदृष्टा, धर्म से अनुमन्ता, यश से भर्ता, श्री से भोक्ता, ज्ञान से महेश्वर तथा वैराग्य से परमात्मा इन छः नामों से सम्वोधित होता हूँ।

संगति—अव भगवान् इस प्रकरण की फलश्रुति कह रहे हैं—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।। १३/२४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इस प्रकार जो पुरुष और गुणों के सहित प्रकृति तथा इन दोनों से विलक्षण मुझ परमात्मा को जान लेता है, वह सर्वथा कर्मो में प्रवृत्त होता हुआ भी फिर से कर्मके वश में होकर जन्म नहीं लेता।

व्याख्या—यहाँ चकार से परमात्मा का भी ग्रहण समझना चाहिए। इन तीनों पुरुष चित्, प्रकृति अचित् और इन दोनों से विलक्षण और विशिष्ट मुझको जानने वाला फिर मुझसे पृथक् होकर जन्म नहीं लेता। इस प्रकार भगवान् स्वयं विशिष्टाद्वैत की प्रामाणिकता सिद्ध कर रहे हैं।

संगति—अव भगवान् हृदय में स्थित उपद्रष्टा आदि नामों से कहे जाने वाले भगवान् की प्राप्ति के चार उपायों को स्वयं दो श्लोकों में कह रहे हैं।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।। १३/२५,२६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! कुछ लोग अपने हृदय कमल में मनोमय नेत्र से मुझ परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। दूसरे लोक सांख्य योग से मेरा चिन्तन

करते हैं, और लोग कर्मयोग से मेरी उपासना करते हैं। इनसे भी विलक्षण अन्य लोग इन तीनों उपायों को न जानते हुए अन्य महानुभावों से मेरे नाम रूप लीला धाम का श्रवण करके मेरी उपासना करते हैं वे भी दीनभाव से मेरे गुणगणों के श्रवण में परायण होकर स्मृति रूप संसार सागर को पार कर जाते ही है।

व्याख्या—तृतीयान्त आत्मा शब्द मनोमय नेत्र के अर्थमें है और द्वितीयान्त आत्मा शब्द परमात्मा परक है। इन्ही चार उपायों को श्री मानसकार ने ज्ञान, कर्म, उपासना और प्रपत्ति इन चारों घाटों की संज्ञा दी है। प्रपत्ति में श्रवण प्रधान है इसलिए विभीषण कहते हैं—

श्रवण सुजस सुनि आयहु प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरत हरन सरन सुखद रघुवीर।।
(मानस ५(४५)

संगति—अब भगवान् अपने वक्तव्य का उपसंहार कर रहे हैं।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।। १३/२७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे भरत वंश के श्रेष्ठ अर्जुन ! इस संसार में जितना कुछ जड़ चेतन चिद् अचिद् वर्ग उत्पन्न होता है वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होता है ऐसा जानो।

व्याख्या—'स्थावरजंगमम्' जड़ और चेतन प्रत्येक जीव के जन्म लेने में शरीर और जीवात्मा दोनों का संयोग ही कारण है।

संगति—अब भगवान् इन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञों से विलक्षण अपना स्वभाव कह रहे हैं।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। १३/२८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो सम्पूर्ण भूत प्राणियों में समान रूप में वर्तमान तथा उनके नष्ट होने पर भी न नष्ट होते हुए मुझ परमात्मा को देखता है, वही देखता है।

व्याख्या—यहाँ भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ से स्वयं को विलक्षण कह रहे हैं। क्षेत्र नष्ट होता है और क्षेत्रज्ञ भी मेरी स्मृति के नष्ट होने से नष्ट हो जाता है। परन्तु मेरा विनाश नहीं होता।

संगति—अब भगवान् ब्रह्मदर्शन का फल कह रहे हैं—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।। १३/२९

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! सम्पूर्ण भूत प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से समभाव में व्यवस्थित मुझ ईश्वर परमात्मा को समान रूप में देखता हुआ काल रूप मुझ परमात्मा द्वारा अपने को नष्ट नहीं करता। शरीर त्याग के पश्चात् परमगति को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—सर्वत्र का अर्थ है सम्पूर्ण भूतों में। आत्मना-कालरूप मुझ परमात्मा द्वारा।

संगति—अब भगवान् जीवात्मा के कर्तृत्व को निरस्त कर रहे हैं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।। १३/३०

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो प्रकृति के द्वारा ही किये जाते हुए सभी कर्मों को देखता है और आत्मा को कर्तृत्वभाव से रहित देखता है, वही अकर्ता मुझ परमात्मा को देख लेता है। अर्थात् उसे मेरा साक्षात्कार हो जाता है।

व्याख्या—सर्वशः शब्द अति स्वार्थिक शस् प्रत्यान्त है। अर्थात् सभी कर्म माया के द्वारा ही किये जा रहे हैं। इस प्रकार जो आत्मा को कर्त्ता नहीं मानता वही ठीक दर्शन करता है।

संगति—अब भगवान् ब्रह्मसम्पत्ति का प्रकार कह रहे हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।। १३/३१

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जब साधक प्राणियों के पृथक् भाव को एक मात्र मुझ परमात्मा में स्थित देखता है और उसी परमात्मा से संसार का विस्तार देखता है, उसी समय वह मुझ ब्रह्मरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—अर्थात् जब साधक मुझमें ही प्रलय और मुझमें ही विस्तार देखता है तब वह ब्रह्म को प्राप्त होता है। जो लोग संपद्यते शब्द का ब्रह्म अर्थ करते हैं वह अनुचित है। क्योंकि पदधातु प्राप्त्यर्थक कही गयी है। इसलिए यहां ब्रह्म शब्दको द्वितीयान्त ही माना जायेगा।

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं कि- शरीर में स्थित परमात्मा जीवात्मा के दोषों से लिप्त होगा ही। भगवान् इस शंका का निराकरण करते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।। १३/३२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! यह परमात्मा अनादि और निर्गुण होने से अव्यय है जीवात्मा के साथ शरीर में स्थिर होकर भी न कुछ करता है और न ही कर्मों से बंधता है ।

व्याख्या—इसका आदि नहीं है । इसीलिए यह परमात्मा है । यह गुणों से बंधता नहीं इसीलिए यह अव्यय है । शरीरस्थ होकर भी तटस्थ रहकर यह कर्त्तापन और बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

संगति—भगवान् अब परमात्मा की निर्लेपता कहते हैं–

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।। १३/३३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जिस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापक होकर भी आकाश किसी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सभी शरीरों में चिपक कर स्थित हुआ यह अन्तर्यामी परमात्मा जीव दोषों से लिप्त नहीं होता।

व्याख्या—यहाँ परमात्मा को आकाश की भाँति निर्लेप कहकर उसकी शाश्वत असंगता दिखाई गयी । अर्थात् आकाश में चन्द्र सूर्य नक्षत्र मण्डल सभी रहते हैं पर उसको लिप्त नहीं कर पाते, उसी प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा शरीर से चिपके रहने पर भी जीव के दोषों से प्रभावित नहीं होते ।

संगति—अब भगवान् जीवात्मा का प्रकाशकत्व कह रहे हैं ।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।। १३/३४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य अपनी किरणों से सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्र तथा शरीर को क्षेत्री यह क्षेत्रज्ञ जीवात्मा अपने प्रकाश से प्रकाशित कर देता है ।

व्याख्या—तीन श्लोकों में अन्तर्यामी की भूमिका श्रवण करने के पश्चात् अर्जुन को संदेह हो सकता था कि यहाँ जीवात्मा की क्या भूमिका है ? क्योंकि परमात्मा तटस्थ रहते हैं । इसपर भगवान् कहते हैं —"मैं तो आगन्तुक की भाँति अपने मित्र के घर में

रह लेता हूं। घर तो जीवात्मा का ही है क्योंकि यह क्षेत्री है। इसलिए सूर्य की भाँति यह सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करता है।

संगति—अब भगवान् प्रकरण का उपसंहार करते हुए फलश्रुति का वर्णन करते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।। १३/३५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! इस प्रकार जो लोग ज्ञान नेत्र से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अन्तर और मेरा क्षेत्रज्ञ से स्वरूपतः भेद तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियों का माया से मोक्ष का प्रकार जानते और देखते हैं, वे मेरे परमपद को प्राप्त कर लेते हैं।

व्याख्या—क्षेत्र प्रकाश्य है और क्षेत्रज्ञ प्रकाशक और इन दोनों से परमात्मा का भेद है। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः (श्वेताश्वतर ६/१६) जीवों का प्रकृति-संसर्ग-मोक्ष केवल भगवद्भजन से होता है।

यह त्रयोदश अध्याय सुन्दर क्षेत्र क्षेत्री विभाग का।
जाज्वल्यमान उदाहरण हरिकमल पद अनुराग का।।

चिदचिद्विशिष्टाद्वैत व्याख्या की स्वयं अविकार्य ने।
राघव कृपा वर भाष्य में श्री रामभद्राचार्य ने।।

इति श्रीतुलसीपाठाधीश्वरजगदगुरुरामानन्दाचार्य स्वामीरामभद्राचार्या विरचित श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासु त्रयोदशोध्यायः।

श्रीराघवः शन्तनोतु



"श्रीमद्राघवो विजयते"

"श्रीरामानन्दाचार्याय नमः"

चतुर्दशोऽध्यायः

चतुर्दशाब्दं वनवासकालं निर्वर्त्य चातुर्दशशोणिताक्तम्।
समाव्रजन्तं निजराजधानीं चतुर्दशे तं कलये ससीतम्।।
जयत्यसौ यामुनिनीलकान्तिर्योगेश्वरैरर्चितपादपद्मः।
चातुर्दशघ्नः सचतुर्दशानां तात्पर्यभूतः किल पार्थसूतः।।
संसारसागरं तीर्णो यत्पदप्लवसेवया।
रामानन्दं तमीडेऽहं स्वाचार्यं जगतां गुरुम्।।

अथ सकललोकगुरुर्भगवान् "कारणं गुण सङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु" गीता १३-२० इत्यत्र प्रयुक्तगुणसङ्गशब्दस्य व्याख्यानं चिकीर्षन् के गुणाः तैः कथं पुरुपस्य सङ्गः? इति पार्थप्रश्नं विभावयन् ,यद् वा "क्षेत्रक्षेत्रज्ञ संयोगात् "इत्युक्तं स्पष्टयन्, अथच' "भूतप्रकृतिमोक्षं च" इत्यत्र के वा प्रकृतेर्गुणाः तैर्कथं मोक्षः? इत्येवमादि गभीरं विवक्षन् भगवान् मधुसूदनश्चतुर्दशाध्यायं प्रारभते-"श्री भगवानुवाच"

"परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।।१।।

रा. कृ. भा. — परमुत्तम शब्दाभ्यां ज्ञानं स्तौति, ज्ञानानां परमुत्तम मतिश्रेष्ठं ज्ञानं प्रवक्ष्यामि व्याख्यास्यामि। यज् ज्ञानं ज्ञात्वा सर्वे मुनयः वसिष्ठादयः इतः अस्मात् संसारात् परां सिद्धिं मत्सामीप्यलक्षणां गताः प्राप्तवन्तः। ।। श्रीः ।।

भूयस्तदेव ज्ञानं स्तौति -

"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।२।।

रा. कृ. भा. — इदं मया वक्ष्यमाणं गुणत्रयविभागयोगाख्यज्ञानमुपाश्रित्य समनुश्रित्य, मम भगवतः परमात्मनः कृष्णस्य साधर्म्यं, समानो धर्मोः यस्य स, सधर्मा सधर्मणः भावः साधर्म्यं सादृश्यं ममसदृशवात्सल्यादिकं न तु मम स्वारूप्यं "निरञ्जनं परमं साम्यमुपैति "इति श्रुतेः। आगताः प्राप्ताः सर्गे सृष्टेः प्रारम्भे नोपजायन्ते नैवमद् वियुक्ताः जन्म गृह्णन्ति। प्रलये सृष्टिनाशे न व्यथन्ति नैव मरणलक्षणां व्यथां प्राप्नुवन्ति।

यथा तत्र भगवान् भुशुण्डि:, यथोक्तं श्रीरामचरितमानसे -

इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा।
बीते कलप सात अरु बीसा।।

मानस ७-११४ -१०

रुपान्तरं - विहङ्गेश श्रृणुष्वेदं अत्रैव वसतो मम।
व्यतीयु: रामगाथायां कल्पा वै सप्तविंशंति:।।

व्यथन्तीति परस्मैपदप्रयोगस्तु अनुदात्तेत्वलक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात्।। श्री:।।

अथ ज्ञानं वर्णयितुमुपक्रमते-

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभव: सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।३।।

रा. कृ. भा. — सर्वकारणत्वात् महद्ब्रह्म प्रकृतिरेव मम मत्क्षेत्रभूता योनि: जीवजन्मदात्री तस्मिन् योनिभूते प्रकृतिब्रह्मणि अहं जीवरूपं गर्भं दधामि आधानं करोमि। ततो हिरण्यगर्भात् मच्चिदात्मकबीजात् सर्वभूतानां संभव: उत्पत्तिर्भवति। इह प्रकृतिं माध्यमीं कृत्य निमित्तता, गर्भाधानाच्चोपादानता। यथा तत्र मुण्डकोपनिषदि - "यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधय: सम्भवन्ति। यथा सत: पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।। मुण्डक १-१-७। अर्थात् यथा स्वस्माद्‌र्णानि रचयति लूता तस्मादुपादानम्, चेतनांशेन रचयति शरीरेण ततो निमित्तकारणम्, तथैवेहापि ब्रह्म जगतो निमित्तमपि उपादानमपि, अतोऽभिन्ननिमित्तोपादानता।। श्री:।।

तदेवोपबृंहयति-

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: सम्भवन्ति या:।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता: ।।४।।

रा. कृ. भा. — हे कौन्तेय कुन्तीनन्दन! सर्वाश्च ता योनय: सर्वयोनय: तासु सर्वयोनिषु देवतिर्यङ्नरादिषु चतुरशीतिलक्षयोनिषु या: मूर्तय: तनव: सम्भवन्ति। तासां महद् ब्रह्म प्रकृतिर्माया योनि: माता, अहंच बीजप्रद: गर्भाधानकर्ता पिता। ।। श्री:।।

आहितस्य गर्भस्य किं प्रमाणं ? के च गुणा: प्रकृत्या प्रसूयन्ते? इत्यत आह -

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा: प्रकृतिसंभवा:।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।५।।

रा. कृ. भा. — महान्तौ बाहू यस्य स महाबाहुस्तत्सम्बुद्धौ हे महाबाहो! तव बाहू महान्तौ वर्तेते। अतस्त्वं केनापि बन्धुं न शक्यसे मा भैषीरिति भगवतस्समाश्वासनम्। सत्त्वंरजस्तमः इतीमे प्रकृतेः मम मायातः सम्भवन्ति उत्पद्यन्ते इति प्रकृतिसंभवाः गुणाः रश्मय इव निजैः बन्धनैः देहमुपश्लिष्यवर्तमानमव्ययमपि देहिनं बध्नन्ति बन्धनयुक्तं कुर्वन्ति। त्वां न भन्त्स्यन्ति, यतो हि त्वं मदाश्रयः। ।। श्रीः।।

तत्र सत्त्वं केन बन्धनेन बध्नाति इत्यत आह-

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन देहिनम् ।। ६।।

रा. कृ. भा. — तत्र तेषु गुणेषु सत्त्वं निर्मलत्वाद्धेतोः प्रकाशयततीति प्रकाशकं प्रकाशकरं भवति। अथ च न विद्यन्ते आमयाः रोगाः यस्मित् तदनामयं रोगरहितं। तत्सुखस्य सङ्गेन आसक्तिविशेषेण ज्ञाने सङ्गः, ज्ञानसङ्गः तेन ज्ञानसङ्गेन; बध्नाति, हे अनघ! निष्पाये त्वयि मम सङ्गो वर्तते, ततस्त्वां बद्धुं नायं सत्त्वगुणः शक्ष्यति। ।। श्रीः।।

अथ रजोगुणः कथं बध्नातीत्याह—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।। ७।।

रा.कृ.भा.- रजः रजोगुणं रागः संसाररञ्जनमेव आत्मा स्वरुपं यस्य तत् रागात्मकं, अथवा रागः आसक्तिः आत्मनि एषां ते रागात्मानः रागात्मसु कं सुखं यस्मात् तद् रागात्मकम्। तृष्णाच सङ्गश्च तृष्णासङ्गौ ताभ्यां मातापितृभ्यां इव समुद्भवतीति तृष्णासङ्गसमुद्भवं। हेकौन्तेय! तद् रजः कर्मणां सङ्गेन देहिनं बध्नाति। ।। श्रीः।।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

मु.२/२/४।। श्रीः।।

अथ तमो बन्धनं व्याचष्टे-

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।। ८।।

रा. कृ. भा. - किन्तु तमः तमोगुणः अज्ञानाज्जायते इति अज्ञानजं, मुह्यन्तेऽनेनेति मोहनं सर्वेषां देहिनां मोहकारणं विद्धि जानीहि। हे भरतवंश प्रसूत। अथवा भायां भक्तौ आदरेण रतः इति भारतः तत्सम्बुद्धौ हे भारत! तत्तमः प्रमादेन प्राप्तकर्तव्यानवधानेन,

आलस्येन, निद्रया च त्रिभिर्बन्धनैः देहिनं बध्नाति। प्रमादश्च आलस्यं च निद्राच प्रमादालस्यनिद्रा ताभिः प्रमादालस्यनिद्राभिः इति विग्रहः। यद्यपि त्वया निद्रा जिता अतएव त्वं गुडाकेशः मत्प्रसादेन प्रमादं मयि रसानुभूत्या आलस्यञ्च जेस्यसि। वस्तुतः त्वया प्रमादः कृतः तमोगुणस् त्वा संमोहयति अतो हेतो प्राणप्रियमपि गाण्डीवं व्यासृजः वाणंमपि विसृज्य सारं चापं (गीता १/४७)। जानासि किमस्ति गाण्डीवं के सन्ति शराः? औपनिषद दृष्ट्या प्रणवः धनुः, वाणः आत्मा, ब्रह्म तस्य लक्ष्यं, तस्य प्रमादं बिना वेधः कर्तव्यः, स त्वया न कृतः तद्यथार्म अथ को गुणः जीवं कस्मिन् संजयति इत्यत् आह-

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।। ९।।

रा.कृ.भा. - हे भारत! भायां ज्ञानप्रभायां रतः भारतः तत्सम्वुद्धौ हे भारत! सत्त्वं सत्त्वगुणः सुखे सात्विके संजयति जीवमासक्ति युक्तं करोति। पुनश्च रजः रजोगुणः कर्मणि संजयति। तमः तमोगुणस्तु जीवात्मनः ज्ञानमावृत्य सावरणं विधाय प्रमादे संजयति प्रमादासक्तं करोति, उत निश्चयेन।।। श्रीः।।

ननु को गुणः कदा प्रधानो भवति इत्याह -

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।। १०।।

रा.कृ.भा.- हे भारत! मयि भगवति आसमन्तात् आदरेण च रतः भारतः तत्सम्बोधने हे भारत! रजः रजोगुणं तमः तमोगुणंच अभिभूय मन्दीकृत्य सत्त्वं भवति सत्त्वगुणः प्रबलो भवति। एवमेव रजोगुणः सत्त्वगुणं तमोगणं च पराभूय उत्कटं भवति। तथैव तमोगुणः सत्त्वगुणं रजोगुणं च अभिभूय उत्कटं भवति। ।। श्रीः।।

ननु गणानां प्रवर्धनस्य के के प्रतिभावाः प्रतीयन्ते इत्यत आह त्रिभिः -

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।। ११।।

रा. कृ. मा. - यदा यस्मिन् काले अस्मिन्देहे शरीरे सर्वेषु नवसु द्वारेषु प्रकाशः अन्तःकरणे ज्ञानं च जायते प्रकटं भवति। तदा सत्त्वं प्रवृद्धं प्रवलम्, इति,उत निश्चयेन विद्यात् जानीयात्। स्थूले प्रकाशः सूक्ष्मेज्ञानं च सत्त्वप्रवृद्धेर्लक्षणम्। ।। श्रीः।।

अथ रजः प्रवृद्धिमाह -

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भारतर्षम ।। १२।।

रा. कृ.भा.- भ भगवान् तस्मिन् रता: भरता: तेषु ऋषभ: श्रेष्ठ: इतिभरतर्षभ: तत्सम्बोधने हे भरतर्षभ! हे भागवत प्रवर ! रजसि प्रवृद्धे रजोगुणे वृद्धिं गते लोभ परधन लिप्सा: प्रवृत्तिः कर्मसु प्रेरणा, आरम्भ: क्रियाया: आरम्भणमशम: शमाभाव: अशान्ति: स्पृहा वस्तुषु स्वत्त्वेच्छा एतानि लक्षणानि जायन्ते, जीवे प्रकटानि भवन्ति। ।। श्रीः।।

अथ तम: प्रवृद्धिलक्षणमाह-

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।१३।।

रा.कृ.भा. - कुरुन् नन्दयतीनि कुरुनन्दनः तत्सम्बुद्धौ हे कुरुनन्दन! तमसि तमोगुणे विवृद्धे सति अप्रकाश: प्रकाशाभावमूलकान्धकार: अप्रवृत्तिः कर्माणि कर्तुमनिच्छा प्रेरणाभावो वा। प्रमाद: मोहो मौढ्यमेतानि चत्वारि विलक्षणानि चिह्नानि जायन्ते।।। श्रीः।।

अथ द्वाभ्यां त्रिगुणस्य मरणकालिकमपि भूमिकावैलक्षण्यंमाह-

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।१४।।

रा.कृ.भा. - यदा यस्मिन्काले सत्त्वे प्रवृद्धे औत्कट्यं गते देहं बिभर्तीति देहभृत् प्रत्यगात्मा प्रलयं याति देहं त्यक्त्वा परमात्मनि लीयते। तदोत्तमं परमात्मानं विदन्ति जानन्ति ते उत्तमविद: अथवोज्झितं उक्षिप्तं वा तमाधकार: येन यस्माद् वा स उत्तम: परमात्मा "अजन्तोऽप्यन्धकार वाची तम शब्द: "सर्वेसान्ता अजन्ता" इति नियमात्। अत एव सूर्योऽपि तमारीरिति कथ्यते। तमुत्तमं परमात्मानं विन्दन्ति लभन्ते इति उत्तमविद: तेषामुत्तमविदां भगवत्सामीप्यभाजां श्री वैष्णवानाममलान् निर्मलान् लोकान् प्रतिपद्यते प्रतिष्ठितो गच्छति। अतोजीवने सात्त्विकताया: एव अभ्यास: कर्तव्य:।

आसुरं कुलमानादरणीयं चित्तमेतदमलीकरणीयम्।
रामधामशरणी करणीयं लीलया भवजलं तरणीयम्।।

अथ रजस्तमसोर्गतिमाह-

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१५।।

रा.कृ.भा.- रजसि रजोगुणे प्रवृद्धे प्रलयं शरीरमवसानं गत्वा कर्मसङ्गिषुय अन

सामीप्ये सप्तमी" कर्मासक्तानां समीपे पुत्र भ्रात्रेदि रूपेण जायते। तथा तमसि तमोगुणे प्रवृद्धे प्रलीनः त्यक्त देहः मूढाश्च ता योनयश्च इति मूढयोनयः तासु मूढयोनिषु जायते, सूकरकुक्करादिषु उत्पन्नो भवति। अत्र प्रवृद्धे इति द्विरावर्तनीयं तथा प्रथमे तृतीये च संयोजनीयम्।। श्रीः।।

अथ गुणानां फलमाह -

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।।१६।।

रा.कृ.भा.— सुकृतस्य सत्त्वगुणोद्रेकेण शोभनतया कृतस्य कर्मणः सात्त्विकं सत्त्वसम्बद्धं निर्मलं विमलं सुखं फलंमाहुः कथयन्ति। रजसः रजोगुणस्य दुःखं प्रतिकूलवेदनीयं, किन्तु तमसः तमोगुणस्याज्ञानं ज्ञानविरोधिभावं फलमाहुः।। श्रीः।।

अथत्रिगुणपरिणाममाह-

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसोलोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।१६।।

रा.कृ.भा. - सत्त्वात् सत्त्वगुणात् ज्ञानं सेव्यसेवकभावलक्षणं संजायते समुत्पद्यते। रजसः रजोगुणात् लोभः धनसंजिघृक्षा भवति। तमसः तमोगुणात् प्रमादमोहौ विकारविशेषौ भवतः सर्वेषां मूलकारणमज्ञानमेव भवति। नन्विम् मिथोविरुद्धम्, अष्टमे "तमस्त्वज्ञानजं विद्धि" इत्यत्र तमसोऽज्ञानकार्यत्वं पुनश्च सप्तदशे "प्रमादमोहौ तमसोभवतोऽज्ञानमेवच" इत्यत्रमात्रज्ञानकारणत्वमित्येकस्मिन्नेव एकवस्तुनिरुपिते कार्यत्वकारणत्वे कथं घटेत? इति चेन्मैवं। विषयभेदात् विरोध परिहारः। अष्टमे अज्ञानशब्दस्य ज्ञानविरोधि भावार्थकत्वात् प्रकृते तस्यैव सेवकसेव्यभावज्ञानाभावरुपार्थकत्वात् अविद्यारुपाज्ञानतो जन्यं तमः सेवक-सेव्यभावज्ञानाभावरूपाज्ञानजनकंश्च तमः। अथवा समासमहिम्ना विरोध परिहारः। जायते इति जं "अन्येष्वपि दृश्यते" पा. अ. ३/२/१०१ इत्यनेन प्रथमार्थेडः, अज्ञानं जं जातं यस्य यस्माद् वा तत् अज्ञानजमज्ञानजनकमितिभावः, अनेन सर्वं समञ्जसम्।। श्रीः।।

अथ त्रिगुणगतिवैलक्षण्यमाह -

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः ।।१८।।

रा.कृ.भा.- सत्वेतिष्ठन्तीति— सत्त्वस्था सात्त्विकाः उर्ध्वं मल्लोकं साकेताभिन्नं गोलोकं गच्छन्ति। राजसाः रजोगुणावच्छिन्नाः मध्ये तिष्ठन्ति मर्त्यलोके तिष्ठन्ति। जघन्यो गुणः जघन्यगुणः तमोगुणः जघन्यगुणस्य वृत्तयः जघन्यगुणवृत्तयः तासु तिष्ठन्तीति जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः तमोगुणावच्छिन्नाः अघो गच्छन्ति नरकं यान्ति। यद्वा -

देवाः भवन्ति सत्त्वस्था मनुष्या राजसास्तथा ।
तमोगुणस्था तिर्यञ्च इति व्याख्या विशेषत ।।

अथ त्रिगुणस्यैव कर्तृत्वं व्यवस्थापयति-

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।। १९।।

रा.कृ.भा. — यदा यस्मिन् समये द्रष्टा साधकः गुणेभ्यः सत्त्वरजस्तमोभ्योऽन्य मतिरिक्तं कर्तारं न पश्यति तानेव कर्तृत्वेन व्यवस्यति। आत्मानं च गुणेभ्यः परं वेत्ति, गुणेपु न बदरयते। स एव मद्भावं मयि भगवति दास्यभावमधिगच्छति अधिकृतं प्राप्नोति।

विपयमुपसंहरति -

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।। २०।।

रा.कृ.भा.- देही जीवात्मा देहे समुदभवान् देहसमुद्भवान् वा एतान् त्रीनपि गुणान् सत्त्वरजस्तमो नाम्नः अतीत्यातिलङ्घ्य, जननमरणजराणां दुःखैः प्रतिकूलवेदनीयैर्मुक्तो अमृतं मद्भजनामृतश्नुते भुङ्क्ते।। श्रीः।।

अथार्जुनः पृच्छति गुणानामतीतत्त्वविपये त्रीन् प्रश्नान्-

"अर्जुन उवाच"

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।। २१।।

रा.कृ.भा. - अर्जुनः भगवन्तं पप्रच्छः। हे प्रभो! कैर्लिङ्गैश्चिह्नैरुपलक्षितः इमान् त्रीन् गुणान्नतीतो भवति अतिक्रामति/ के आचारा यस्मिन् स किमाचारः कैराचारैरुपेतः मानवः एतान् त्रीन् गुणान् केन प्रकारेणातिवर्तते अतिलङ्घते।। श्रीः।।

अथ भगवान् पार्थप्रश्नान् उत्तरयितुमुपचक्रमे -

"श्री भगवानुवाच"

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।। २२।।

रा.कृ.भा. - पूर्वं लिङ्गान्याह— गुणातीतानां गुणातीतः प्रकाशं सत्त्वगुपरिणामं प्रवृत्तिं रजोगुणफलां मोहं तमोगुणोद्भवं इमानि संप्रवृत्तानि, उद्भूतानि न द्वेष्टि न व्यरुणद्धि निवृत्तानि दूरं गतानि न काङ्क्षति नाभिलषति।।श्रीः।।

अथ गुणातीतानामाचारमाह त्रिभिः -

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।। २३-२४-२५।।

रा.कृ.भा. - यः उदासीनवत् तटस्थः इव आसीनः, यश्च गुणैस्त्रिभिर्न विचाल्यते, यश्च गुणाः गुणेषु स्वयमेव वर्तन्ते इति मन्वानोऽवतिष्ठति। नेङ्गते कर्तृत्वाय न कम्पते, न वा अनवस्थितो भवति। एवं समे तुल्ये दुःखसुखे यस्य सः समदुःखसुखः, स्वस्मिन् परमेश्वरे तिष्ठति इति स्वस्थः, लोष्टं मृत्पिण्डम्, अश्मा पाषाणः काञ्चनं स्वर्णं समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य तथा भूतः लोष्टे न वा निरादरः, पाषाणे न वा उपेक्षा, काञ्चने न वा अपेक्षा, यस्य तथा भूतः। प्रियः प्रेमभाजनमप्रियो द्वेषभाजनं तौ तुल्यौ समौ प्रियाप्रियौ यस्य स तुल्याप्रियाप्रियः धीरः धैर्यवान्, निन्दा विगर्हा, आत्मनः संस्तुति प्रशंसा तुल्ये निन्दात्मसंस्तुती यस्य स तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः। मानापमानयोस् तुल्यः हर्षविषादरहितः, मित्रंचारिश्च मित्रारी, पक्षश्च पक्षौ "अभ्यर्हितत्वात् मित्रशब्दस्य पूर्वप्रयोगः। मित्रार्योः पक्षौ मित्रारिपक्षौ तयोः मित्रारिपक्षयोः मित्रशत्रुपक्षयोस् तुल्यः, सर्वारम्भान् कर्मफलानि परित्यजति तच्छीलः सर्वारम्भपरित्यागी, स एव गुणातीतः अतिक्रान्त गुणो भवति इत्येवमुच्यते कथ्यते।। श्रीः।।

अथ तृतीयप्रश्नमुत्तरयति-

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। २६।।

रा.कृ.भा. - यः मामव्यभिचारेणान्यदेवताश्रयणरूपव्यभिचारशून्येन भक्तियोगेन परमप्रेमलक्षणेन द्वादशाध्याय प्रोक्तेन मां सेवते परिचरति स एव इमान् त्रीनपि गुणान् सम्यक् अतीत्यातिक्रम्य ब्रह्मभूयाय भवनं भूयं ब्रह्मणि भूयं ब्रह्मभूयं तस्मै ब्रह्मभूयाय कल्पते योग्यो भवति।। श्रीः।।

अध्यायमुपसंहरन् निजैश्वर्यं प्रकटयति -

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।२६।।

रा.कृ.भा. - हि यतो हि ब्रह्मणो वेदस्य, प्रकृतेअहं प्रतिष्ठा अमृतस्य अव्ययस्य अविनाशिनः शाश्वतस्य सनातनस्य धर्मस्य, ऐकान्तिकस्य ध्वंसवर्जितस्य सुखस्य भजनानन्दस्य अहंकृष्णः प्रतिष्ठा निवासस्थानम्।

चतुर्दशोयमध्यायः श्री गीतासु यथामति।
श्री राघवकृपाभाष्ये व्याख्यातः प्रीतये हरेः।।

इति श्रीचित्रकूट तुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्री रामभद्राचार्यप्रणीते श्री राघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासु चतुर्दशोऽध्यायः।।



"श्रीमद्राघवो विजयते"
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

चतुर्दशोऽध्यायः

मंगलाचरणं

चतुर्दशाब्दं वनवासकालं
निर्वर्त्य चातुर्दशशोणिताक्तम् ।
समाव्रजन्तं निजराजधानिं
चतुर्दशे तं कलये ससीतम् ।। १ ।।

अर्थ—चतुर्दशवर्षीय वनवास काल को बिताकर अपनी राजधानी श्री अयोध्याको लौटते हुए, राक्षसों के रक्त से लथपथ और पुष्पकयान पर श्री सीता जी सहित विराजमान, पर ब्रह्म श्री राम को श्री गीता जी के चौदहवें अध्याय के श्री राघवकृपा भाष्य प्रणयन के समय अपने चौदहवें अन्तःकरण चित्त में स्मरण करता हूँ ।

जयत्यसौ यामुननीलकान्ति-
र्योगेश्वरैरर्चितपादपद्मः ।
चातुर्दशघ्नः स चतुर्दशानां
तात्पर्यभूतः किल पार्थसूतः ।। २ ।।

अर्थ—यमुना जल के समान शीर कान्ति वाले तथा योगेश्वरों द्वारा जिनके श्री चरण कमल की पूजा की गयी है ऐसे राक्षसों, का वध करने वाले तथा चौदह विद्याओं अर्थात् शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण, ऋग, यजुः, साम, अथर्व, पुराण मीमांसा धर्मशास्त्र एवं न्याय के परमतात्पर्य भूत पार्थसारथि उन भगवान् श्री कृष्ण की जय हो, जय हो ।

संसारसागरः तीर्णो यत्पदप्लवसेवया ।
रामानन्दं तमीडेऽहं स्वाचार्यं जगतां गुरुम् ।। ३ ।।

अर्थ—जिनके चरणरूप जहाज का आश्रय लेकर मैं संसार सागर से पार हो गया उन्ही अपने आचार्य जगदगुरु श्री मदाद्यरामानन्दाचार्य जी की मैं स्तुति करता हूँ।

संगति—अब सकललोकगुरु भगवान् श्रीकृष्ण तेरहवें अध्यायमें कहे हुए 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य' गीता १३-२२ में प्रयुक्त गुण पद के प्रयोग, 'गुणों में पुरुष का सङ्ग कैसे होता है, ये गुण कितने हैं ? इस प्रकार अर्जुन की जिज्ञासा समझकर गुणत्रय का विभाग करते हुए चतुर्दश अध्यायका प्रारम्भ कर रहे हैं। अथवा तेरहवें अध्यायके अन्त में प्रयुक्त 'भूतप्रकृतिमोक्ष'' शब्द का व्याख्यान करने के लिए प्रकृति के गुण उनके स्वभाव तथा उनके बन्धन के प्रकारों का विश्लेषण करने के लिए परमकारुणिकभगवान् स्वयं चतुर्दश अध्यायका प्रारम्भ करते हैं—

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।। १४/१

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! फिर मैं ज्ञानों में भी परम उत्तम ज्ञानका व्याख्यान करूँगा। जिसको जानकर वसिष्ठ आदि सभी मुनिगण इस संसारसे मुक्त होकर मेरी समीप्य मुक्तिरूप परम सिद्धि को प्राप्त हो गये।

व्याख्या—'भूयः' अर्थात् पहले कहे हुए गूढ़ विषयों को स्पष्ट करने के लिये। यह सामान्य ज्ञान नहीं है क्योंकि गुणोंसे अतीत होना ही ज्ञानी की परम उपलब्धि है। प्रथम श्लोक में प्रयुक्त परम और उत्तम शब्द ज्ञान के ही विशेषण है।

संगति—फिर भगवान् उसी ज्ञान की प्रशंसा कर रहे हैं—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।। १४/२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मेरे द्वारा कहे जाने वाले गुणत्रयविभाग योग नामक इस ज्ञानका आश्रय लेकर मेरे सादृश्यको प्राप्त हुए साधक सृष्टि के प्रारम्भ में न तो मुझसे पृथक् जन्म लेते हैं और न ही प्रलय आने पर मरण के भय से व्यथित होते हैं।

व्याख्या—'मम्' साधर्म्यं समानो धर्मः यस्य स सधर्मा सधर्मणः भावः साधर्म्यम्' जिसका समान धर्म होता है उसे सधर्मा कहते हैं, सधर्मा के भावको ही साधर्म्य कहा जाता है। भगवान् कहते हैं कि- जीव इस ज्ञानका आश्रय करके मेरे कुछ धर्मों को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् जैसे मैं सृष्टि और प्रलयसे नहीं डरता, उसी प्रकार गुणत्रयविभाग को जानने वाला ज्ञानी भी नहीं डरता। जैसे मानसमें भुशुण्डी जी स्वयं कहते हैं—

इहां बसत मोहि सुनु खग ईशा।
बीते कलप सात अरू बीसा ।।मानस ७-११४-१०

'न उपजायन्ते' उनका मुझसे पृथक् रहकर जन्म नहीं होता, जैसे प्रह्लादजी का। वे प्रलय के आनेपर व्यथित नहीं होते, जैसे वृत्रासुर मरते समय भी व्यथित नहीं हुआ— 'मृत्युं वरं विजयान् मन्यमानः' ।

संगति—अब ज्ञानके वर्णनका उपक्रम करते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।। १४/३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे भरतवंशी अर्जुन ! महद् ब्रह्मनामक प्रकृति मेरी क्षेत्रभूत जीवोंकी जन्मदात्री है। उसीमें मैं जीवरूप गर्भका आधान करता हूँ, उसीसे सम्पूर्ण भूत प्राणियों का जन्म होता है। अर्थात् जैसे पति द्वारा पत्नीमें गर्भाधान की प्रक्रिया से बालक का जन्म होता है, उसी प्रकार यह माया प्रकृति मेरी ही प्रकृति है इसीमें जीवरूप चिदचिदात्मक जगत्का मैं गर्भाधान करता हूँ।

व्याख्या—यहाँ योनि शब्द कारण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यद्यपि भगवान् का निमित्त कारण होना स्पष्ट है, पर परम्परया वे जगत्के उपादान कारण भी हैं। इसीलिये वेदान्त दर्शन में भगवान् को अभिन्ननिमित्तोपादानकारण माना गया है। इसमें मुण्डकश्रुति प्रमाण है—"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथा ऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।" मुण्डक १-१-७

अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी स्वयं जाले बनाती है, और अपनेमें ही समेट लेती है और जिस प्रकार औषधियाँ पृथ्वी में उत्पन्न होती है, तथा जिसप्रकरा पुरुषसे नख लोमादि उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकरा अक्षर ब्रह्म से सारा संसार उत्पन्न होता है। इस उदाहरण से ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादानकारण सिद्ध हुआ।

संगति—अब भगवान् इसी रहस्यको उपबृंहित कर रहे हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।। १४/४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! सभी चौरासी लाख योनियोंमें जो भी शरीर उत्पन्न होते हैं, उनकी 'महद् ब्रह्म' अर्थात् माया माता और मैं बीजप्रदाता पिता हूँ। क्योंकि माया मुझसे अभिन्न है इसीलिये इस जगत् की माँ और पिता मैं ही हूँ। "पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः" गीता ९-१७

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव" पाण्डव गीता २८ ।

व्याख्या—सर्वयोनिषु योनियाँ चौरासी लाख होती है और खानियाँ चार अण्डज स्वेदज, जरायुज, उद्भिज्ज ।

संगति—आहित गर्भका क्या प्रमाण है, और कौन से गुण प्रकृति द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं ? अर्जुन की इस जिज्ञासा पर भगवान् कहते हैं—

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।। १४/५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! हे महाबाहो ! सत्त्व रजस् , तमस् ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण देह में वर्तमान इस अविनाशी जीवात्माको बाँध लेते हैं ।

व्याख्या—हम कह चुके हैं कि प्रकृति माया का ही पर्यायवाची नाम है । इसका प्रमाण गीताजीका समान शब्द व्यवहार ही है, जैसे सातवे अध्याय में "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" गीता ७-१४ ठीक उसी भाँति गीता १४-५ में "गुणा प्रकृतिसम्भवा" कहा गया । "अव्ययं" तात्पर्य यह है कि ये गुण जीवात्माको बाँध लेते हैं पर मार नहीं सकते । "महाबाहो" तुम्हारी भुजायें महान् हैं, उनसे तुमने मेरे चरणका आश्रय लिया है, इसीलिये ये तुम्हें नहीं बाँध सकेंगे ।

संगति—सत्त्वगुण किस बन्धन से बांधता है ? इस पर कहते हैं—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन च.नघ ।। १४/६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इन तीनों गुणों में सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और अनामय अर्थात् रोगों से रहित होता है । हे निष्पाप ! यह सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से इस जीवात्मा को बाँधता है ।

व्याख्या—सत्त्वगुण में व्यक्ति को सुख और ज्ञान में आसक्ति हो जाती है । अतः वह भगवान् के प्रति अनासक्त हो जाता है । इसीलिए इन दो बन्धनों से सत्त्वगुण जीवात्मा को बाँधता है ।

संगति—रजोगुण जीवको किस प्रकार बाँधता है ? इस पर भगवान् कहते हैं—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।। १४/७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! रजोगुण का संसार के प्रति राग ही आत्मा अर्थात् स्वरूप है। अर्थात् संसार के प्रति रागभाव ही रजोगुण का स्वरूप समझो। अथवा जिनके मन में संसार के प्रति राग है उन्हीं को सुख देने वाला रजोगुण है, ऐसा समझो। यह तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होता है। वह रजोगुण कर्म में आसक्ति के वंधन से जीव को बाँधता है।

व्याख्या—संसार के प्रति राग ही रजोगुण है। जैसे कोई व्यक्ति माता पिता के द्वारा उत्पन्न किया जाता है उसी प्रकार तृष्णा रजोगुण की मां है और संग इसका पिता। यह इतना प्रवल है कि अपने पिता संग को रस्सी बना लेता है और कर्मों के संग रूप वंधन से यहा अणुभूत जीवात्मा को ही बांध लेता है।

संगति—अब भगवान् तमोगुण के बन्धन की व्याख्या करते हैं।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।। १४/८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—मेरी भक्ति में सादर लगे हुए हे भरतवंशी अर्जुन ! तमो गुण को तो अज्ञान से उत्पन्न और सभी जीवात्माओं के मोह का कारण समझो। वह प्रामाद आलस्य और निद्रा द्वारा जीवात्मा को बांध लेता है।

व्याख्या—तमोगुण का पिता अज्ञान है। और जीवात्मा का मोहक यही है। यह प्रमाद आलस्य और निद्रा इन तीन डोरियों से जीवात्मा को बाँधता है। तुम निद्रा को जीत चुके हो अतः तुम्हें गुडाकेश कहा जाता है। इसकी एक रस्सी सुगमता से तुमने तोड़ डाली है और अब तुम्हें मेरा प्रसाद मिल रहा है। इसलिए प्रमाद भी समाप्त हो जायेगा। मुझमें तुमको रस की अनुभूति हो रही है। अब आलस्य भी चला जायेगा। इस प्रकार तीनों गुण छः वन्धनों से जीव को बाँधते हैं।

संगति—कौन गुण जीव को कहाँ आसक्त करता है, इसपर भगवान् कहते हैं-

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।। १४/९

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—मेरी ज्ञानप्रभा में सादर निरत हे भारत अर्जुन ! सत्व गुण जीव को सुख में आसक्त करता है, रजो गुण जीव को कर्म में लगाता है और तमोगुण जीव के ज्ञान को ढँककर उसे निश्चय ही प्रमाद में आसक्त कर देता है।

व्याख्या—संज् धातु आसक्ति के अर्थ में है। शुद्ध रूप सज्जते सज्जेते सज्जन्ते और ण्यन्त में संजयति, संजयतः संजयन्ति इस प्रकार रूप चलता है। रजोगुम कर्म में

आसक्त करता है। पर सबसे भयंकर है तमोगुण जो जीवको प्रमोद में आसक्त करता है। तुमको भी इसने प्रमाद में आसक्त किया, इसीलिए तो तुमने प्राणों से प्रिय गाण्डीव को फेंक दिया। और बाणों को भी फेंक दिये। तुम प्रमाद कर गये गाण्डीव प्रणव है, बाण आत्मा, ब्रह्म लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर लक्ष्य भेदन करना चाहिए जैसे—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ मु०२/२/४

संगति—कौन गुण कब प्रधान होता है? अर्जुन की इस जिज्ञासा पर भगवान् कहते हैं।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १४/१०

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—मुझ परमात्मा में आदर पूर्वक लगे हुए हे भारत अर्जुन! रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्त्वगुण प्रबल होता है। सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण प्रबल होता है, उसी प्रकार सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण प्रबल होता है।

व्याख्या—भवति का अर्थ है प्रबलो भवति। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक के शरीर में रहते तीनों हैं पर एक काल में एक ही प्रधान होता है और दो अप्रधान हो जाते हैं।

संगति—गुणों की वृद्धि में कौन कौन से प्रतिभाव होते हैं, इस तथ्य को भगवान् तीन श्लोकों से कह रहे हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ १४/११

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! जिस समय इस शरीर में नेत्रआदि सम्पूर्ण द्वारों में प्रकाश उत्पन्न हो और ज्ञान की ज्योति जगमगा उठे उस समय निश्चय पूर्णक सत्व गुणको बढ़ा हुआ समझ लेना चाहिए।

व्याख्या—इस श्लोक में दो प्रतिभावों की चर्चा की गयी। जब बाहर प्रकाश और भीतर ज्ञान हो तब सत्त्वगुण का बढ़ना समझना चाहिए। अर्थात् उसका स्थूल प्रभाव है प्रकाश और सूक्ष्म प्रभाव है ज्ञान।

संगति—अब रजोगुण की प्रवृद्धि का वर्णन करते हैं।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।। १४/१२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे मुझमें निरत वैष्णवों में श्रेष्ठ भागवत प्रवर अर्जुन ! रजोगुण के विवृद्ध अर्थात् उत्कट हो जाने पर दूसरे के धन की लिप्सा, कर्म की प्रेरणा, क्रियाओं का आरम्भ, अशान्ति तथा अनुकूल वस्तुओं को पाने का इच्छा भाव जीव में प्रकट हो जाते हैं।

व्याख्या—कर्मणा का अन्वय प्रवृत्ति तथा आरम्भ इन दोनों शब्दों के साथ होगा। अर्थात् रजोगुण से ही व्यक्ति कर्म करने के लिए प्रेरित होता है और क्रिया का आरम्भ भी कर लेता है।

संगति—अब तमोगुण की उत्कटता का लक्षण कह रहे हैं—

अप्रकाशोऽप्रवृतिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।। १४/१३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे कौरवों को आनन्दित करनेवाले अर्जुन ! तमोगुण के उत्कट होने पर प्रकाश का अभाव, कर्म की अनिच्छा अथवा प्रेरणा शून्यता, प्रमाद और मोह ये चार चिन्ह जीव में प्रकट हो जाते हैं।

व्याख्या—कुरुनन्दन सम्बोधन बड़ी कूटनीति के साथ किया गया है। भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे युद्ध न करने से कौरव प्रसन्न हो रहे हैं और पाण्डव दुःखी। कुरून् नन्दयति इति कुरुनन्दनः। तमोगुण के आने पर सामने अँधेरा हो जाता है। कर्म करने का मन नहीं होता। प्रमाद और मोह ये चारों चिन्ह उपस्थित होते हैं। संयोग से तुममें चारो आ गये हैं। अंधकार, कर्म की अप्रवृत्ति गाण्डीव त्याग से सिद्ध हो जाती हैं और मेरी बात पर न ध्यान देना किंकर्त्तव्यविमूढ होना इन सभी लक्षणों के आधार पर तुममें तमोगुण बढ़ा हुआ सिद्ध हो रहा है। शीघ्रता करो। इसको दबा दो।

संगति—अब भगवान् दो श्लोकों से त्रिगुण की मरण कालिक भूमिका का वर्णन करते हैं।

यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते।। १४/१४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जिस समय सत्त्वगुण के उत्कट होने पर शरीरधारी अपने शरीर का त्याग करता है, तब वह उत्तम पुरुषों में श्रेष्ठ अथवा अन्धकारनाशक श्रीवैष्णवों के निर्मल लोकों को प्रतिष्ठापूर्वक प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—सत्त्वगुण के उत्कट होने पर साधक उत्तम विदों के लोकों को प्राप्त करता है। अर्थात् उत्तम परमात्मा को कहते हैं "उत्क्षिप्तं तमः उज्झितं तमः येन सः उत्तमः परमात्मा स्वयं अविद्या से दूर हैं और उन्होंने भक्तों के तम को दूर किया है। उन उत्तम परमात्मा को प्राप्त करने वाले अथवा जानने वाले उत्तमविद् हैं। 'उत्तमं विदन्ति विन्दन्ति वा' इति उत्तमविदः तेषाम् उत्तमविदाम्। लोकान् शब्द में आदरार्थक बहुवचन है। इसलिए जीवनपर्यन्त सात्त्विकता का अभ्यास करना चाहिए।

आसुरं कुलमनादरणीयं चित्तमेतदमलीकरणीयम्।
रामधामशरणीकरणीयं लीलया भवजलं तरणीयम् ।।

संगति—अब भगवान् रजस् और तमस् में प्रलीन हुए जीव की गति कह रहे हैं।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।। १४/१५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! रजोगुण के प्रवृद्ध होने पर शरीर छोड़कर व्यक्ति कर्मासक्त लोगों के समीप उनका भ्राता, पुत्र आदि बनकर जन्म लता है और तमोगुण प्रवृद्ध होने पर मरा हुआ प्राणी मूढ़ योनि, सूकर कूकर आदि योनियों में जन्म लेता है।

व्याख्या—यहाँ प्रथम और तृतीय चरण में 'प्रवृद्धे' शब्द की अनावृत्ति समझनी चाहिए। 'कर्म सङ्गिषु' शब्द की सप्तमी सामीप्य में हैं। अर्थात् उत्कट रजोगुणी कर्म आसक्त लोगों के यहाँ भ्राता, पुत्र आदि सम्बन्धियों के रूप में जन्म लेता है।

संगति—अब भगवान् गुणों का फल कह रहे हैं—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।। १४/१६

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन! सुकृत अर्थात् सत्त्वगुण के उद्रेक में शोभनरूप से किये हुए कर्म का विद्वान् लोग सात्त्विक और निर्मल सुख ही फल कहते हैं। रजोगुण का फल दुःख और तमोगुण का अज्ञान ही फल कहते हैं।

व्याख्या—तृतीय और चतुर्थ चरण में दुःख और अज्ञान को रजोगुण तथा तमोगुण का फल कहा गया है। इसलिए सात्त्विक कर्म का भी कोई फल होना चाहिए। अतः सात्त्विक फल के अनुरोध से यहाँ सुख शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिए। सात्त्विक सुख की परिभाषा गीता १८/३७ में इस प्रकार की गयी है—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।

अर्थ—जो आरम्भ काल मे यद्यपि विष के तुल्य है परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य हैं, इसलिए वह परमात्मा विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला सुख सात्विक कहा गया है।

संगति—अब भगवान् तीनों गुणों का परिणाम कह रहे हैं।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।। १४/१७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! सत्त्वगुण से सेव्य-सेवक भाव ज्ञान उत्पन्न होता है। रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है। तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह होते हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण अनर्थों का मूल अज्ञान ही तमोगुण से उत्पन्न होता है।

व्याख्या—मैं दास हूँ भगवान् स्वामी हैं यही सेवकसेव्यभावज्ञान सत्त्वगुण का परिणाम है।

अस अभिमान जाइ जन भोरे। मैं सेवक रघुपत पति मोरे।।
(मा० ३/११/२१)

तमसा अज्ञानं—अर्थात् तम से अज्ञान उत्पन्न होता है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि, इसी अध्याय के आठवें श्लोक में तम को अज्ञान से उत्पन्न कहा गया है—

"तमस्त्वमज्ञानजं विद्धि" इस प्रकार पहले तमको अज्ञान का कार्य, और फिर उसी तमको अज्ञान का कारण कहकर क्या भगवान् ने दो परस्पर विरोधी वक्तव्य नहीं दिये ?

उत्तर—नहीं दोनों स्थल पर अज्ञान के अलग-अलग अर्थ हैं। गीता १४-८ में प्रयुक्त अज्ञान का अविद्या अर्थ है, और गीता १४-१७ में उपदिष्ट अज्ञानका ज्ञानका अभाव, अथवा सेवक सेव्य भाव रूप ज्ञान की विस्मृति अर्थ है। अतः तमोगुण से भगवान् के स्वरूप का विस्मरणरूप अज्ञान उत्पन्न होता है। अथवा गीता १४-८ में प्रयुक्त अज्ञानज शव्द का बहुव्रीहि समास करना चाहिये, 'जायते इति जं, अज्ञानं जं यस्मात् तत् अज्ञानजम्,' अर्थात् अज्ञान उत्पन्न हुआ है जिससे ऐसा अज्ञानज अर्थात् अज्ञान को जन्म देने वाला तमोगुण सबका मोहक है। इस प्रकार व्याख्यान करने से दोनों स्थलों का समाधान वन गया।

संगति—अब भगवान् तीनों गुणों की गति की विलक्षणता कहते हैं —

"ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।। १४/१८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! सत्त्वगुण में स्थित लोग शरीर छोड़कर मेरे साकेत से अभिन्न गोलोक को प्राप्त करते हैं। और रजोगुणी लोग मध्य अर्थात् मर्त्यलोक में रहते हैं, तथा तमोगुण प्रधान अर्थात् तीनों गुणों में जघन्य इस तमोगुण की वृत्तियों में स्थित लोग अधः अधोलोक नरक में जाते हैं।

व्याख्या—इसकी व्याख्या में एक श्लोक ही पर्याप्त है—

देवाःभवन्ति सत्त्वस्था मनुष्या राजसस्तथा।
तमोगुणस्था तिर्यञ्च इति व्याख्या विशेषतः ।।

सात्विक सुरगन होत हैं राजस मनुज शरीर।
तामस जन खग मृग बनहिं विमुख जे पद रघुवीर ।।

संगति—अब भगवान् तीनों गुणों में ही कर्तृत्व की व्यवस्था कर रहे हैं —

''नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।। १४/१९

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जिस समय द्रष्टा सत्त्व-रज और तम इन तीनों से अतिरिक्त किसी अन्यको कर्ता नहीं देखता, अर्थात् तीनों गुणों को ही कर्ता समझता है, तथा आत्मा को गुणों से परे जानता है, तब वह मुझमें दास्य भाव को प्राप्त कर लेता है, अथवा मेरे समीप निवास प्राप्त करके अधिकृत सामीप्य मुक्ति का आनन्द लेता है।

व्याख्या—इस प्रकार प्रकृति के गुण ही कर्म करते हैं, ऐसा जो चिन्तन करता है, और आत्मा को इन गुणों से परे जानता है। यही 'मद्भाव' अर्थात् मेरे सेवकसेव्य भाव को प्राप्त कर लेता है। यदि यहाँ 'भवनं भाव:' 'इस प्रकार भाव व्युत्पति करके 'मयि भाव: मद्भाव:' यह सप्तमी समास और सप्तमी का औपश्लेषिक अर्थ मान लिया जाये, तब 'मद्भाव' शब्द का अर्थ होगा, मेरे समीप निवास। उसको साधक साधिकार प्राप्त कर लेता है॥

संगति—अब भगवान् विषय का उपसंहार कर रहे हैं —

''गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।। १४/२०

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—देहमे उत्पन्न हुये इन सत्त्व-रज-तम नामक तीनों गुणों को पार करके जन्म, मृत्यु, जरा अर्थात् बृद्धावस्था के दुःखसे विशेष मुक्त हुआ, यह देह विशिष्ट जीवात्मा मेरे भजनामृतस्वाद का अनुभव करता है।

व्याख्या—गुणों के बन्धनों में रहकर साधक भजन नहीं कर सकता। ये गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं-"गुणाः सम्भवाः" पर उत्पन्न होते हैं देह में। इसीलिये इनसे अतीत होकर ही जीवात्मा अमृतभोगी बनता है।

संगति—अज अर्जुन गुणों की अतीतता के सम्बन्ध में भगवान् से तीन प्रश्न करते हैं—

"अर्जुन उवाच"

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।।

व्याख्या — हे प्रभो ! किन चिन्हों से युक्त हुआ साधक इन तीन गुणों से अतीत होता है, उस गुणातीत के कौन-कौन से आचार होते हैं। वह तीनों गुणों का अतिलङ्घन कैसे कर पाता है।

व्याख्या—अर्जुन यहाँ गुणातीतों के चिन्ह और उनके दैनिक आचरण तथा गुणों के अतिलङ्घन के प्रकार पूछते हैं ॥

संगति—अब भगवान् ने अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देने का उपक्रम कि—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।। १४/२२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—भगवान् पहले गुणातीत के चिन्हों का वर्णन कर रहे हैं- गुणातीत साधक सत्वगुण के परिणाम प्रकाश, रजोगुण के परिणामरूप प्रवृत्ति, और तमोगुण के फल-मोह के उत्कट हो जाने पर, न तो इनसे द्वेष करता है, और नहीं दूर चले जाने पर इनकी इच्छा करता है।

व्याख्या—"प्रकाश- प्रवृत्ति- और मोह" ये तीनों क्रमसे सत्त्व-रज-तम के परिणाम हैं। इनके उत्कट होने पर साधक को द्वेष नहीं होता, वह इनसे सकारात्मक कार्य ले लेता है। जैसे प्रकाश के आने पर शिवजी, भगवान् का ध्यान करते हैं और प्रवृत्ति में पार्वतीजी को रामकथा सुनाते हैं, और मोह में क्रोध आने पर काम का ही दमन करते हैं।

संगति—अब तीन श्लोकों से भगवान् गुणातीतों का आचरण कह रहे हैं—

"उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।
१४/२३-२४-२५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो तटस्थ की भाँति रहता हुआ तीनों गुणों से विचलित नहीं किया जाता, गुण ही गुण में वरत रहे हैं, ऐसा मानता हुआ जो कर्तृत्व के लिये कम्पित नहीं होता, और अनवस्थित नहीं होता, जो सुख और दुःख में सम रहता है, तथा जो परमात्मा में स्थित रहता है, जिसके लिये मिट्टी-पत्थर और सुवर्ण समान हैं, जिसके लिये प्रिय और अप्रिय, तथा निन्दा-प्रशंसा तुल्य हैं, जो मान और अपमान तथा मित्र और शत्रु पक्ष में एक भाव रहता है, ऐसे स्वभाव से सम्पूर्ण कर्मफलों का त्याग करने वाले साधक को गुणातीत कहा जाता है।

व्याख्या—इस प्रकार गुणातीतों के तेरह आचरण भगवान् ने कहे। जिन महानुभावों के लिये शास्त्रों में गुणातीत शब्दका प्रयोग हो, उनके चरित्र में मेधावियों को ये तेरह लक्षण घटा लेने चाहिये। इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन के दूसरे प्रश्न "किमाचारः" का उत्तर दिया।

संगति—अब भगवान् तीसरा प्रश्न "कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते का उत्तर दे रहे हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। १४/२६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो व्यभिचार रहित भक्ति योग से मेरी सेवा करता है, वह तीनों गुणों का सम्यक् अतिक्रमण करके मुझ ब्रह्म के समीप निवास के योग्य हो जाता है।

व्याख्या—अन्य देवताओं का आश्रयण ही यहां व्यभिचार है, 'भक्तियोग' द्वादशाध्याय में वर्णित है। भवनं भूयं, "भुवे भावे" पा० अ० ३-१-१०७ सूत्र से उपपद के बिना भी "भू" धातु से भाव में क्यप् प्रत्यय होकर भूय शब्द सिद्ध हुआ। पुनः "ब्रह्मणि भूयं ब्रह्मभूयं, तस्मै ब्रह्मभूयाय" इस विग्रह में 'भूय' शब्द का सप्तम्यन्त ब्रह्मशब्द के साथ सप्तमी समास हुआ। सप्तमी का यहाँ सामीप्य अर्थ हुआ, इस प्रकार ब्रह्मभूय शब्द का ब्रह्म के समीप रहना, यह सरलार्थ हुआ।

संगति—अब भगवान् अध्याय का उपसंहार करते हुये अपना ऐश्वर्य प्रकट कर रहे हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।। १४/२७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—क्योंकि हे अर्जुन ! मैं ही सम्पूर्ण वेद एवं प्रकृति की प्रतिष्ठा अर्थात् निवास स्थान हूँ। मैं अविनाशी, मरण धर्मवर्जित आनन्द का निवासस्थान हूँ, तथा मैं शाश्वत वैदिकधर्म का एवं ऐकान्तिकसुख का अर्थात् भजनानन्द का भी निवास स्थान हूँ।

व्याख्या—यहाँ भगवान् वेद-प्रकृति - अविनाशी आनन्द शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुख का स्वयं को ही आश्रय कह रहे हैं। तात्पर्य यही है। कि- गुणातीत साधक की ये पाँच उपलब्धियाँ होती हैं। और ये पाँचों भगवान् की सेवा से सम्भव हैं इसलिये साधक को भगवान् को ही अपने परमप्रेम का विषय बनाना चाहिये।

राघवकृपासुभाष्य यथामति मञ्जुल भाष्यो
श्रुति सिद्धान्त विचारि गुप्त कछुवौ नहिं राख्यो।
प्रश्नोत्तर उपपत्ति शास्त्रकी रीति सुहाई
अन्वय पद वाक्यार्थ कह्यो योजना बनाई।।

चतुर्दशहिं अध्याय पर रच्यो भाष्य सुमिरत हरि।
रामभद्र आचार्य ने गीता पर श्रद्धा करि।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामभद्राचार्य प्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भागवद्गीतासु चतुर्दशोऽध्यायः ॥

श्रीराघवः शन्तनोतु

'श्रीमद्राघवो विजयते"

श्री रामानन्दाचार्य नमः

पञ्चदशोऽध्यायः

निसर्गनीलोत्पलमञ्जुलच्छविम् ।
भवार्चितं भक्तसरोरुहं रविम्।
तमीश्वरं ब्रह्मशुचिं सतां गतिम्।
नमामि रामं जनकात्मजापतिम्।।
क्षराक्षराभ्यां परमं परं प्रभुम्।
विराजमीशं विधिवन्दितं विभुम्।।
धनञ्जयस्यन्दनचन्दनं हरिम्।
श्रयामि कृष्णं पुरुषोत्तमं सदा।।२।।

मद्घृदया शाशासन दनुजहुताशन धनञ्जयस्तुत्य।
सुरमुनिमनुजमनोरम पुरुषोत्तम मे तमस् छिन्धि।।३।।

अथ परमकरुणिको भगवान् अनन्तराध्याये "मां च योऽव्याभिचारेण भक्तियोगेन सेवते "इत्यत्र अस्मच्छब्दवाच्यस्य परमेश्वरतत्त्वस्य स्पष्टव्याख्यानार्थं पुरुषोत्तमयोगमारभते। तत्र प्रथमं वैराग्यविवर्धयिषया संसारं वृक्षेणोपमायमानः, श्लोकपञ्चकेन जगदनित्यतां, ततो विरतिं पुनश्च प्रपत्तियोगेन भगवत्प्राप्तिं व्याख्यातुमुपक्रमते –

"श्री भगवानुवाच"

उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुख्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

रा.कृ.भा.— उर्ध्वं साकेताभिन्नगोलोक एव मूलं यस्य,यद्वा ऊरर्वं त्रिगुणात्मिका मम मायैव मूलं यस्य, यद्वा ऊर्ध्वं देवता एव मूलं यस्य तदूर्ध्वमूलं। एवमधः अशोलोकाः तिर्यगादयः पाताले वा शाखा यस्य स अधः शाखस्तमधःशाखं एवं भूतंउच्चावचावयवविभागयुक्तमश्वत्थं न स्वस्तिष्टतिइतिअश्वत्थं तादृशमव्ययं व्ययरहितमिमंसंसार वृक्षमाहुः। यस्य संसारवृक्षस्य छन्दांसि वेदमन्त्राः पर्णानि पर्णस्थानीनि, एवं भूतं तं संसारवृक्षं यो वेद स एव वेदं वेत्ति, वेदं विन्दति वा यस्तथाभूतः।।श्रीः।।

रूपकस्याग्रिमांशमाह -

अशश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अशश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।। २।।

रा.कृ.भा. - गुणैः सत्त्वादिभिः प्रवृद्धाः विषयाः शब्दादयः प्रवालानि पल्लवानि याषां ताः विषयप्रवालाः विषयपल्लवाः एवं भूताः; तस्य संसारवृक्षस्य शाखाः अशः पाताललोकेपूर्ध्वं देवलोकेषु। अनेकाः प्राणियोनयः प्रसृताः विस्तृताः। अन्यानि मूलानि मनुष्याणां लोके कर्माणि अनुवघ्नन्ति तच्छीलानीति कर्मानुबन्धीनि तान्येवमूलानि अनुसन्ततानि विस्तीर्णानि।।श्रीः।।

एवं संसारवृक्षरूपकमुक्त्वा तस्य छेद्यत्वं प्रतिपादयति द्वाभ्याम् -

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तोनचादिर्नच संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।। ३-४।।

रा.कृ.भा. - अस्य संसारवृक्षस्य यथोक्तंरूपं विचारे कृते तथा नोपलभ्यते क्षणभङ्गुरत्वात्, अस्यान्तः परिसमाप्तिरपि न, एवमादिः प्रारम्भोऽपि न केनापि दृष्टः। अस्य संप्रष्ठिा स्थितिः न प्रवाहशीलत्वात्, सुविरूढं दृढं मूलंयस्य स सुविरूढ़मूलः तं सुविरुढमूलमेनमश्वत्थं दृढेनासङ्गशस्त्रेणानासक्त्यासिरेनुका छित्वा तदनन्तरं तत्पदं (तद्विष्णोः परमं पदम्) इति श्रुतिः। वैष्णवं पदं परिमार्गितव्यमन्वेषणीयम् कीदृशं तद् यस्मिन् गताः तात भूयः संसाराय न निवर्तन्ति। आत्मनेपदस्यानि त्यत्वात् परस्मैपदम् ह्यनुदातेत्त्व लक्षणस्य। कीदृशं परिमार्गणम्? इत्यत आह-यतः यस्मात् परमात्मनः सकाशात्, प्रवृत्या प्रेरणया प्रसृता विस्तारमाप्ता पुराणीयं माया। अयं संसारवृक्षः श्रुतिस्मृति पुराणादौ बहुशा प्रपञ्चितः श्रुतौ तावत् -ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाखः एषोदृश्वत्थः सनातनः (कठोपनिषद् १/६/१)

श्रीमद्भागवतेऽपि देवाः—

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तात्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः।
(श्रीमदभागवत १०/२/२७)

यथोक्तं श्री मानसेऽपि -

अव्यक्तमूलमनादितरुत्वच चारि निगमागम भने।
षटकंध साखा पंच वीसअनेक पर्नसुमन घने।
फलजु विधि कटु मधुर वेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे।
(मानस १२/१५)

श्री भागवते मानसे चापि विलक्षणं वृक्षरुपकम्। एकमयनं प्रकृतिरेव मूलं यस्य द्वे फले शुभाशुभे यस्य, त्रीणिसत्वरजासमांसि यस्य सः, एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चत्वारः धर्माथकाममोक्षाः रसाः यस्य स चतूरसः, पञ्चविधाः पृथिव्यप्तेजोवारवाकाशः प्रकाशाः यस्य सः पञ्चविधः, षडात्मा जनन-मरणस्थितिपरिवर्धनपरिवर्तह्रासाः स्वभावा यस्य सः षडात्मा, सप्तसंख्याकस्त्वचः रसरक्तमांसमज्जा मेदोऽस्थिशुक्राणि यस्य सः सप्तत्वक्, अष्टौ पृथ्व्यप्त-जोवारवाकाशमनोबुद्रियहंकाराः विटपाः शाखाःसन्ति यस्य सः अष्ट विटपः, नव शरीरद्वाराणिअक्षाणि कोटराणि यस्य स नवाक्षः दशच्छदी प्राणापान-व्यानोदानसमाननागकूर्मकृकलधनञ्जयदेवदत्ताः यस्य सदशच्छदी, द्वौ खगौ ब्रह्मजीवौ यस्मिन् स द्विखगः। एवं मानसेऽपि पूर्व तस्य रुपान्तरं तदनुव्याख्यानं-

अव्यक्तमूलमथ तस्य तरोरनादेस्त्वग् वक्त्रवाणविघकार्तुसुकाण्डकस्य।
तत्वाक्षशाखबहुपर्ण सुपुष्पकस्य युग्मप्रसोः प्रकृतिवल्लितरोस्त्वमीड्यः।।

तत्र अव्यक्तं प्रकृतिः तदेव मूलं तरुरयमनादिः "नान्तो न चादिर्न चसंप्रतिष्ठा" इत्युक्तेः चतस्रस्त्वचः धर्मार्थकाममोक्षाः, षट्स्कन्धानि पूर्वोक्ताः विकाराः जन्मस्थितिपरिवर्धनपरिवर्तनह्रासविनाशा पञ्चविंशतिः शाखाः, दशेन्द्रियाणि पञ्चप्राणाः पञ्चभूतानि पञ्चतन्मात्राः अनेकानेकानि पर्णानि वेद मन्त्राः, तत्राप्यनेके कामाः सुमनांसि, द्वे फलेशुभाशुभे एकावल्ली अविद्या नित्यपुष्पफला स समाश्रयते तं श्री रामं प्रणमामः इति मानसीय छन्दोऽभिप्रायः। एवं भूतं संसार वृक्षमनासक्तिशस्त्रेण छित्वा प्रपत्तियोगेन परमात्मपदं परिमार्गणीयम्।।श्रीः।।

अथ ते किं योग्यताकाः यैः वैष्णवपदमवाप्तव्यम् इत्यत आह-

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्।।१५/५।।

रा.कृ.भा. - मानश्च मोहश्च मानमोहौ निर्गतौ मानमोहौ येभ्यस्ते निर्मानमोहा, जिताः सङ्गदोषाः यैस्ते जितसङ्गदोषाः आसक्तिविजेतारः, अधिकृतः आत्मा येन तदध्यात्मम् अध्यात्मे नित्याः इत्यध्यात्मनित्याः विनिवृत्ताः समाप्ताः कामाः अभिलाषाः येषां ते विनिवृत्तकामाः, सुखदुःखानां संगाः आसक्तयः येषु तानि सुखदुःखसंगानि तैः सुखदुःखसंज्ञैः सुखदुःखासक्तिरूपैर्द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिरेवं विमुक्ताः विशेषेण मुक्ताः अमूढाः मोहरहिताः तत्अव्ययम् अविनाशिपदं गच्छन्ति।।श्री।।

ननु तत्पदं कीदृशमित्यत आह-

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तदशाम परमं मम।

(गीता १५/६)

रा.कृ.भा. - तत् मदीयं परम धाम ज्योतिः सूर्यः, रविः न भासयते न प्रकाशयते, शशः अंकेयस्य स शशांकः चन्द्रमा न पावकः नाग्नि अतएव श्रुतिः-

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं कृतोऽयमग्नि एवं भूतं यद्गत्वा संसाराय न निवर्तन्ते तन्मम परममुत्कृष्टं श्रुते।।श्री।। ननु संयोगा विप्रयोगान्ताः इति नियमात् गतनिवर्तन्ते स्वाभाविकम् किमितो न निवर्तन्ते तद्शामतः इत्यत आह-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।

रा.कृ.भा. - यतोहि एष मम श्री कृष्णस्य परमात्मनः एव सनाएतनोअंशः स च जीवभूतः, भूतशब्दोऽत्र रूपवाची जीवोत्र भूतं रुपं यस्य जीवभूतः, ननु निरवयवस्य ईवरस्यभगवतः कथमंशकल्पना,? इति चेन्मैवम् अंशेन शब्दोऽयं अंश सहेशे लाक्षणिकः, यथा घटाकाशे महाकाशश्चय, निमित्तापाये नैमित्तिक स्याप्यपायः इति नियमात् घटे विनष्टे घटाकाश इव उपाधौ विनष्टे अंशस्य विनाशात्, न निवर्तनं संगतमेव। ननु सनातन इति पदप्रयोगादंशस्य न लाक्षणिकत्वम्। तस्मात् अंशांशिभावः? इति चेत्, दीपस्फुलिंगन्यायेन

दीपकाद्दीपकन्यायेन च अंशांशिभावः सुघट एव। ननु अखण्डस्य ब्रह्मणः सखण्डतापत्तिः? इति चेन्मैवम्। दीपकाद्दीपन्यायेन समाधानस्य पूर्वमेवोक्तत्वात्। यद्वा अंशशब्दस्य पुत्रार्थकत्वेन सर्वं निर्दोषम्। अंशोह्यणुः सच तिरोहितानन्दत्वात् केवलं प्राणधारणोपयोगे संघटते। एतेन जीवस्याणुत्ववादः साधितः परिणामवादश्च। स च मन एव षष्ठं येषां तानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थान्यपि कर्षति चुम्बकं लौहमिव।।श्रीः।।

अथ जीवात्मा कथं संसरति इत्यत आह -

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।। १५/८।।

रा.कृ.भा. - अयमीश्वरः सर्वसमर्थो जीवात्मा यच्छरीरमभिनवं सम्यगवाप्नोति यच्च क्षीणप्रारब्धवशादुत्क्रामति त्यजति। तत्र तत्रैवपाशयात् गृहात् वायुर्गन्धानिव समीरः सुरभिरिव सुखदान्, दुखदान् वा, एतानि गृहीत्वा संयाति सम्यग् गतागतं करोति इमानि न त्यजाति।।श्री।

अथ कान् गृहीत्वा गच्छति ततः किम् कुरुते इत्यतः आह-

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।। ७।।

रा.कृ.भा. - श्रोत्रं चक्षुः। नेत्रं स्पृश्यते अनेन इति स्पर्शनम्। त्वग्रूपं रसनं जिह्वां घ्राणं नासिकां मनश्च अधिष्टाय आश्रित्य अयं जीवात्मा विषयानुपसेवते अनुभवति।।श्रीः।।

इमं गच्छन्तं स्थितं वापि केऽपि पश्यति? इति चेदाह

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वागुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।। १५/१०।।

रा.कृ.भा.- उत्क्रामन्तं शरीरं त्यजन्तं, स्थितं निवृत्तिगतिकं, भुञ्जानं विषयानुसेव माने, गुणान्वितं गुणैर्युक्तं एनं जीवात्मानं विमूढाः मोहग्रस्ताः नानुकूल्येन् पश्यन्ति। के पश्यन्ति इत्यत आह - ज्ञानमेव चक्षुर्नेत्रं येषां ते ज्ञानचक्षुषः ज्ञाननेत्राः पश्यन्ति।।श्रीः।।

अथ के यतमाना न पश्यन्ति के वा पश्यन्ति? इत्यत आह-

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।। ११।। (गीता १५/२१)

रा.कृ. भा. - योगिनः मद्भक्तियोगिनः यतमानाः आत्मनेपदस्यानित्यत्वान्न शानच् आत्मनि हृदये अवस्थितम्। इमं प्रत्यगात्मानं पश्यन्ति। अथवा आत्मनि अत्यगात्मनः समीपे रुपश्लेषेण अवस्थितं एन परमात्मानं मां पश्यन्ति, किन्तु इतो विपरीताः अकृतात्मानः नवशीकृत आत्मा मनः यैस्ते अकृतात्मानः अशुद्धं चेतो येषांते अचेतसः एवं भूताः यतन्तो यतमाना अपि एनं प्रत्यगात्मानं मां चापि न पश्यन्ति नैव साक्षात्कुर्वन्ति। किञ्च बाह्यतोऽपि काश्चन मद्विशिष्टा विभूतयः ताः अपि श्रृणु।

यदादित्यगतं तेजो जागद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि पच्चाग्नौ तत्तजो विद्धि मामकम्।
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधी : सर्वा; सोमोभूत्वा रसात्मकः।।
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।। १२/१३/१४।।

रा.कृ.भा.- आदित्यः सूर्यः तद्गतं यत्तेजः। अखिलं जगत्संसारं भासयते प्रकाशयते। यच्चन्द्रमसि चन्द्रे तेजः अग्नौ अग्निनिष्ठं दाहकत्वरूपं, तत्सर्वमपि तेजस्त्रयं मामकं मदीयमेव विद्धि जानीहि। किंचाहमेव गां पृथिवी मोजसा तेजसा आविश्य आविष्टां विधाय भूतानि जीवान् धारयामि। किंच रसः संजीवनं मृतं वा आत्मा सारवस्तु यस्य तादृक् सोमश्चन्द्रो भूत्वा सर्वा ओषधीः वनस्पतीः पुष्णामि, सम्पोषिताः करोमि। किंचाहमेव प्राणिनां जीवानां देहमाश्रितः वैश्वानरः विश्वनरे भवः वैश्वानरः "नरे संज्ञायाम् प.अ.६/३/१२९ इत्यनेन दीर्घः। एवं विधः जाटराग्निर्भूत्वा प्राणापानाभ्यां समायुक्तः चतस्रविधाः भक्ष्यभोज्य- लेह्यचोष्याख्याः यस्य तत् अन्नं पचामि परिपाकं नयामि। ।। श्रीः।।

किंचान्तर्यामितयाप्यहं जगदिदं प्रशास्मि "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जलानाम्" इति श्रुतेः। तमेवार्थं स्पष्ट यति-

सर्वस्य चाहं ह्यदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च
वेदेश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। १५।।

रा. कृ. भा. - चकारः समुच्चयार्थः सर्वस्य प्राणिजातस्य हृदयेऽन्तःकरणेऽहमेव संनिविष्टोऽन्तर्यामि रूपेग "य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि श्रुतेः। स्मृतिः पूर्वानुभवः, यद् वा ध्रुवानुस्मृतिरूपा भक्तिःमत्तः मत्सकाशादेव, ज्ञानं सेव्यसेवकभावलक्षणं,

अपोह्यन्ते दूरी क्रियन्ते भगवद् विरुद्धप्रतिपक्षभावाः येन तदपोहनम्, निजेष्ट देवतानन्यपुरः सर प्रतिपक्ष मतखण्डलसामर्थ्यम्। एवं सर्वैः वेदैः ऋग्यजुः सामभिरहं परमात्मा श्री कृष्ण एव वेद्यः तथा वेदान्तकृत्। यत्तु पूर्वाचार्यैः वेदस्यान्तं सिद्धान्तं करोतीति वेदान्तकृत् इति व्याख्यातम्, तदसंगतम्। "रुढेर्योगात् बलीयस्त्वात्" वेदान्त शब्दःदर्शन पर एव ग्राह्यः, अतएव वेदान्तं वेदान्तदर्शनं "ब्रह्मसूत्रात्मकं" चतुरध्यायं करोति वेदव्यासरूपेण विदधाति इति वेदान्तकृत्। तथाच वेदवित् वेदान् वेत्ति विन्दति, विङ्क्ते यस्तथाभूतः अहमेव।।श्रीः।।

अथ भक्तवत्सलत्त्वात् परमेश्वरः सकलवेदमहातात्पर्यं व्याचष्टे त्रिभिः -

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदेच प्रथितः पुरुषोत्तमः।

रा.कृ.भा.— लोक्यते इति लोकः जीवात्मना यत्तेजसा प्रकाश्यते तस्मिन् प्राणिशरीरे , क्षरति इति क्षरःअचिद् विशिष्टश्चित्। अक्षरः अचिन्मुक्तो जीवात्मा, तत्र सर्वाणि भूतानि अचिद् विशिष्टानि देहाभिमानवन्ति क्षरः "जात्याख्यायमेकवचनम् व्यत्ययात् क्लीवता। यः कूटस्थः भगवदीयत्वात् पुण्यकूटे चित्रकूटे स्थितिः सः अक्षरो विनाशी मुक्तो नित्यात्मा उच्यते कथ्यते। तु किन्तुआभ्यां क्षराक्षराभ्यां परः उत्तमः कश्चनपुरुषो यः परमात्मा परमेश्वर उदाहृतः कथितः श्रुतिभिः। यश्च लोकत्रयं भूर्भुवः स्वरात्मकमाविश्य निजतेजसा चिदंशेनविष्टं कृत्वा विभर्ति पुष्णाति। अत एव यस्माद्धेतोः, अहं क्षरं प्रकृतिसम्पर्किजीवात्मानं बद्धमतीतः अतिक्रान्तः। तथा अक्षरादचित्संपर्क विमुक्तान् मुक्तात्मनो नित्यात्मनश्च उत्तमो व्यापकत्वात्। अतोः लोके वेदानुगते वेदे अपौरुषेयमन्त्रराशौ पुरुषोत्तमः पुरुषेषु क्षराक्षर तत्पदेपूत्तमः पुरुषोत्तमः प्रथितः। यत्तु शङ्कराचार्येण क्षरोजीवः, अक्षर माया इत्यभाणि तदनुचितम्। मायायाः कृते कदापि पुरुषत्वव्यवहारस्यादर्शनात्।

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" श्रुतेः।।श्रीः।।

फलश्रुतिं श्रावयति—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।। १९।।

रा.कृ.भा.— हे भारत ! भे भगवदीयभावे आदरेण रतो यो असंमूढः क्षराक्षराभ्यां पुरुषाभ्यामुत्तमं जानाति, स एव सर्वं वेत्ति विन्दतीति सर्ववित्। सर्वभावेन सर्वेण मत्प्रीत्यनुकूलभावेन मां भजति, स्वप्रीतिविषयं करोति ।।श्रीः।।

इतिगुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्चभारत।।

रा.कृ.भा. - हे भारत ! भे भगवद् भावे रत। हे अनघ। निष्पाप अर्जुन! इत्येवं प्रकारेण इदमेतद् गुह्यतमं गोप्यतमं शास्त्रं न केवलं 'गीताशास्त्रं' प्रत्युत् सम्पूर्णाध्यात्मशास्त्रं, मया निगममूर्तिना श्री कृष्णेन परिमात्मना उक्तं न्यगादि। एतत् पुरुषोत्तमयोगाख्यं शास्त्रं बुद्धवा बुद्धिमान् मद्भजनप्राशस्तियुक्तो बुद्ध्युयेतः कृतकृत्यः कृतमनुष्ठितमद्भगवत्प्राप्तिरूपं कृत्यं येन सः कृतकृत्यं मन्यते। कृतकृत्यता च पुरुषोत्तमयोगज्ञानाधीना। अत्र धनुर्भङ्गकथनव्याजेन क्षरतत्त्वं, परशुरामेण पुनः पुनः लक्ष्मणहनन प्रयासे विहिते श्री लक्ष्मणमेव अक्षरतत्त्वम्। श्रीरामं परमात्मानमङ्गीचकार जगाद च—

जनक कीन्ह कौसिकहिं प्रनामा।
प्रभुप्रसाद धनु भंजे रामा।।
मोहि कृतकृत्य कीन्ह दोउ भाई।
अवजोउचित सो करउं गोसाईं।। मानस १-१८६-५-६।।

रूपान्तरम् जनकः कौशिकं प्राह प्रणम्य सादरंवचः।
प्रभुप्रसादाच्छ्रीरामः शिवचापं बभञ्ज ह।।
कृतकृत्यं ह्यकुरुतां भ्रातरौ मामनिन्दितौ।
इदानीं यत् समुचितं क्रियतां तन्मया प्रभो।।
मया पञ्चदशेऽध्याये योगोऽयं पुरुषोत्तमः।
श्रीराघवकृपाभाष्येगीतासु समुदीरितः।। श्रीः।।

इति श्री चित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरु रामानन्दाचार्यस्वामी श्रीरामभद्राचार्यप्रणीते श्री राधवकृपाभास्ये श्रीमद्भगवद्गीतासु पुरुपोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

●

"श्रीमद्राघवो विजयते"
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

पञ्चदशोऽध्यायः

मंगलाचरणं

निसर्गनीलोत्पलमञ्जुलच्छविं भवार्चितं भक्तसरोरुहां रविम् ।
तमीश्वरं ब्रह्मशुचिं सतां गतिं नमामि रामं जनकात्मजापतिम् ।।

अर्थ—स्वभावतः नीले कमल के समान सुन्दर, तथा भगवान् शंकर के द्वारा पूजित एवं भक्तरूपकमलों के लिये सूर्य, एवं भगवती सीता जी के प्राणवल्लभ, सज्जनों के एकमात्र गन्तव्य उन परमेश्वर परब्रह्म भगवान् श्रीराम को मैं प्रणाम करता हूँ ।

क्षराक्षराभ्यां परमं परं प्रभुं विराजमीशं विधिवन्दितं विभुम् ।
धनञ्जयस्यन्दनचन्दनं हरिं श्रयामि कृष्णं पुरुषोत्तमं सदा ।।

अर्थ—मैं परमपूज्य क्षरप्रकृति तथा अक्षर जीव से परे परमेश्वर विराट् सर्वसमर्थ, ब्रह्माद्वारा वन्दित अर्जुन के रथ के चन्दनस्वरूप अर्थात् आनन्ददाता श्रीहरि पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का आश्रय कर रहा हूँ ।

'मद्धृदयाशशासन दनुजहुताशन धनञ्जयस्तुत्य ।
सुरमुनिमनुजमनोरम पुरुषोत्तम मे तमश्छिन्धि ।।

अर्थ—मेरे हृदय की आप श्री के दर्शन की आशाको आशीष देने वाले राक्षसों के लियें अग्नि के समान तथा अर्जुन के द्वारा स्तुत्य, देवता-मनुष्य तथा मुनियों के मनों को आनन्द देने वाले हे पुरुषोत्तम ! मेरे अन्धकार बन को काट दीजिये ।

संगति—अब परमकारुणिक भगवान् परमात्मा श्रीकृष्ण चौदहवें अध्याय में कहे हुये "मां च योऽव्यभिचारेण" गीता १४-२६ श्लोक में प्रयुक्त 'मां' शब्द की स्पष्ट व्याख्या करने के लिये पुरुषोत्तम योग का शुभारंभ करते हैं । उसमें सर्व प्रथम वैराग्य का सम्वर्धन करने के लिये संसार को वृक्ष की उपमा देते हुये इसकी अनित्यता का ख्यापन करने के लिये पाँच श्लोको में इस प्रकरण का निरूपण करते हैं । संसार की क्षणभङ्गुरता का बोध

होने पर जीव उससे विरत होकर प्रपत्ति योग से भगवान् को प्राप्त कर सकत है। इस प्रकरण में भगवान् का यही अभिप्राय है।

"श्रीभगवानुवाच"

षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान् बोले—

"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।। १५/११

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन्! ऊर्ध्व अर्थात् साकेत लोक, अथवा मेरी माया और देवता ही जिसके मूल हैं, अधोलोक पातालादि पश्वादि योनि जिसकी शाखा है, ऐसे इस पीपल वृक्ष को 'अव्यय' अर्थात् विनाश रहित कहते हैं। वेद के सकाम मन्त्र ही जिसके पत्ते हैं, इस प्रकार जो संसार को पीपल वृक्ष के समान जानता है वह वेद को जानता है।

व्याख्या—यहाँ मूल के अनेक अर्थ हैं, यदि मूल शब्द कारण के अर्थ में रहेगा तव तो 'ऊर्ध्व' का अर्थ साकेत ही करना पड़ेगा। यदि 'मूल' शब्द का जन्म अर्थ माना जाये, तव 'ऊर्ध्व' शब्द से भगवान् की माया ही अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि भगवान् की माया ने ही संसार बनाया है। जैसा मानस में भुशुण्डी जी से प्रभु स्वयं कहते हैं—

"मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकार।।
मानस ७-८६-३

और यदि 'मूल' शब्द का अर्थ जड़ माना जाये, तव 'ऊर्ध्व' शब्द का अर्थ ब्रह्मा ही मानना पड़ेगा, क्योंकि ब्रह्माजी के लोक से ही संसार का प्रारम्भ होता है। यह कितना विलक्षण है इसके जड़े ऊपर हैं और शाखायें नीचे। "अधः" अर्थात् महापाताल ही इसकी शाखा है, ऐसा 'संसार वृक्ष' यद्यपि अव्यय है, फिर भी इसे 'अश्वत्थ' कहते हैं। "न श्वः तिष्ठति" जो कल नहीं रह सकता, आज तक किसी ने आने वाले कलको नहीं देखा। वेद के मन्त्र ही इसके पत्ते हैं, तात्पर्य यह है कि जैसे पीपल का पत्ता ऊपर नीचे होता रहता है, इसी प्रकार सकाम उपासकों को वेद मन्त्र ऊँची-नीची कामनाओं से हिलाते रहते हैं, अर्थात् कभी ऊँचे ले जाते हैं कभी नीचे ले जाते हैं। गोस्वामी जी भी पीपल के पत्ते के ऊपर-नीचे जाने की भङ्गिमा का सरस चित्रण करते हैं —

"अस मन गुनइ राउ नहिं बोला। पीपर पात सरिस मन डोला।।
मानस २-४५-३

इस प्रकार जो इस संसार को जानता है, वही वेद के रहस्य को जानता है ।

संगति—अथ भगवान् इस वृक्षरूपक के अग्रिमांशका वर्णन करते हैं—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।।१५/२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! सत्त्व-रजस्तम रूप जल से बढ़ी हुई शब्द-स्पर्शरूप-रस-गन्ध नामक पञ्च विषयरूप पल्लवों वाली उस संसार पीपल वृक्ष की देव-मनुष्य-तिर्यग् योनिरूप शाखायें नीचे से ऊपर तक फैली हुयी हैं । मनुष्य लोक में कर्मों से बाँधने वाले उस संसार वृक्ष के अन्य तनें भी ऊपर और नीचे तक फैले हुये हैं।

व्याख्या—जैसे जल सींचने से वृक्ष में शाखायें आती हैं, और बढ़ती हैं, उसी प्रकार सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणों से इनका विस्तार हुआ । अर्थात् सत्त्व प्रधान देवयोनि, रजप्रधान मनुष्य योनि, और तम प्रधान तिर्यग् योनि मानी गयी हैं । तीनों प्रकार की योनियाँ ही शाखायें अर्थात् डालियां हैं । पाँचो विषय शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध उन देव-मनुष्य-तिर्यग् योनिरूप शाखाओं के कोमल-कोमल पल्लव हैं । मनुष्य लेक में जीव को कर्मों से बांधते हैं ऐसे कर्म फल ही इस वृक्ष के वड़े-वड़े तनें हैं । मनुष्यलोक कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को ही कर्म करने का अधिकार है, देवता या तिर्यक् को नहीं । वे पाताल से लेकर ब्रह्मलोक तक फैले हैं । यहाँ "प्रसृतानि" और "अनुसन्ततानि" दोनों का ही फैलना अर्थ है ।

संगति—इस प्रकार संसार को वृक्ष का रूपक कहकर अब भगवान् दो श्लोकों से उसके छेदन की योग्यता का वर्णन करते हैं । अर्थात् तुमने खाण्डव वन जलाया और मैंने श्रीरामावतार में एक ही बाण से सात ताल वृक्षों को काटा था, पर यह उन सबसे विलक्षण है । इसी विषय को स्पष्ट करते हैं —

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ।।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।
१५/३,४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! उस संसार वृक्ष का जैसा वर्णन किया गया वैसा रूप विचार करने पर उपलब्ध नही होता, क्योंकि न तो उसका कोई अन्त है और न कोई प्रारम्भ तथा उसकी स्थिरता भी नही है । फिर भी जिसकी जड़ दृढ़ता से जम

चुकी है अर्थात् नीचे तक जा चुकी है ऐसे इस पीपल वृक्ष को अत्यन्त सुदृढ़ अनासक्ति के शस्त्र से काटकर तत्पश्चात् उसी परमपद का अन्वेषण करना चाहिए। जहाँ जाकर साधक फिर संसार में नही लौटते। उसी आद्य पुरुष को मैं प्रपन्न हो रहा हूँ, जिनसे यह प्राचीन सृष्टि प्रवृत्ति चारों ओर फैली हुई है।

व्याख्या—'तथा' अर्थात् जिस प्रकार प्रथम दो श्लोकों में रूपक द्वारा वर्णन किया गया उस प्रकार विचार करने पर यह नहीं उपलब्ध होता। जब तक विचार न करो तब तक इसकी जड़े, तने, पत्ते, शाखाएँ आदि दिखते हैं किन्तु विचार करने पर सब ब्रह्ममय दिख जाता है। अनुपलब्धि में कारण कहते हैं - 'नान्तो न चादिः' इसका अन्त नही है, और इसका प्रारम्भ भी नही है। इस संसार वृक्ष का प्रारम्भ किसने किया, कब किया, क्यों किया और कैसे किया ? इसका किसी को कोई ज्ञान नहीं। 'न च संप्रतिष्ठा' इसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है, पर आश्चर्य यही हैं कि न होकर भी है। 'सुविरुढ़मूलं' इसकी जड़ें बहुत नीचे तक गयी हैं। इसे काटो। किस शस्त्र से ? गाण्डीव से छोड़े गये बाणों से नहीं। 'दृढ़ेन' दृढ़ शस्त्र से क्या नाम है उसका ? 'असङ्गशस्त्रेण' अनाशक्ति के शस्त्र से। इस वृक्ष को काटकर उस परमपद का अन्वेषण करना चाहिए। श्रुति ने भी "तद् विष्णोः परमं पदम्" कहा। कौन सा पद ? इस पर कहते हैं - यस्मिन् गता' जहां जाकर लोग नही लौटते। यहाँ निवर्तन्ते होना चाहिए था परन्तु अनुदातेत्व लक्षण आत्मने पद की अनित्यता से यहां परस्मैपद हो गया। संकल्प का आकार कहते हैं- मैं उस आद्य पुरुष को प्रपन्न हो रहा हूँ। वह कौन सा पुरुष है ? 'यतः' जिससे सनातन संसार की प्रवृत्ति फैली हुई है। वृक्ष रुपक की कल्पना बड़ी प्राचीन है। कठोपनिषद् ६/१ में भी स्पष्ट कहा गया है कि - परमात्मा ही जिसके मूल हैं और जिसकी शाखाये पाताल तक हैं यह सनातन पीपल का वृक्ष है। यहाँ भी उसी रूपक को विस्तृत करके कहा गया। वृक्ष इसलिए क्योंकि यह भी काटा जाता है। श्रीमद्भागवत में भी इस वृक्ष का बड़ा ही रोचक वर्णन है जैसे —

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ।।

अर्थ—यह संसार क्या है, एक सनातन वृक्ष। इस वृक्ष का आश्रय है- एक प्रकृति। इसके दो फल है सुख और दुःख, तीन जड़े हैं- सत्त्व, रज और तम, चार रस हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसके जानने के पांच प्रकार हैं- श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका। इनके छः स्वभाव हैं- पैदा होना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट हो जाना। इस वृक्ष की छाल हैं सात धातुएँ - रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और

शुक्र। आठ शाखएँ हैं-पाँच महाभूत, मन बुद्धि और अहंकार। इसमें मुख आदि नवों द्वार खोडर हैं। प्राण, अपान, व्यान उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये दस प्राण ही इसके दस पत्ते हैं। इस संसार रूप वृक्ष पर दो पक्षी हैं-जीव और ईश्वर। जैसा कि श्रीमानस में भी कहा गया है—भा० १०/२/२७।

अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने।।

फल जुगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जहि आश्रित रहे ।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे।।

वेद कहते हैं हे परमात्मा! जिस अनादि संसार वृक्ष का अव्यक्त अर्थात् प्रकृति मूल है, अर्थ धर्म काम मोक्ष जिसके त्वचा हैं, जन्म, मृत्यु, स्थिति, परिवर्तन, परिवर्धन और विनाश ये छः जिसकी बड़ी बड़ी डालियाँ हैं, दस इन्द्रियाँ, पंच प्राण, पंच महाभूत, पंच तन्मात्राएँ ये पच्चीस जिसकी शाखाएँ हैं, अनेक कर्म जिसके पत्ते तथा मन के सङ्कल्प ही जिसके अनन्त पुष्प हैं एवं एकमात्र अविद्या जिसकी लता है, ऐसा यह संसार वृक्ष जिस आप परमात्मा का आश्रय पाकर सतत नया बना हुआ फल फूल रहा है, उस संसार वृक्ष के आश्रयरूप आप परमात्मा को हम वेद नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार यह प्रवाह के कारण आदि मध्यान्त रहित और क्षणभङ्गुर है, इसका छेदन करके जिस परमात्मा से इस पुराने संसार का प्रवर्तन हुआ है उसकी शरण में जाना चाहिए।

संगति—अब अर्जुन प्रशन करते हैं - जिन महानुभावों ने उस परमपद को प्राप्त किया था, जो परम पद प्राप्त करते हैं, उनकी क्या योग्यताएँ हैं ? इस पर भगवान् कहते हैं—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।
(गीता १५/५)

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—मान और मोह से निर्मुक्त तथा सङ्गदोषों पर विजय प्राप्त करनेवाले अध्यात्म विद्या में निरन्तर तत्पर तथा सभी इच्छाओं से रहित सुखदुःख की आसक्ति से रहित, द्वन्द्वों से मुक्त, सर्वथा मोहरहित साधक इस उस अविनाशी वैष्णव पद को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ वैष्णव पद भगवद् रूप है, जैसे भगवान् में छः ऐश्वर्य होते हैं उसी प्रकार उनके पद में भी। अतः उसके प्राप्त करने वालों में भी उसी के अनुरुप

छः योगयताएँ आ जाती हैं। उन्ही का यहाँ उल्लेख है—अर्थात् निर्मान मोहता, संगदोष विजयित्व, अध्यात्म नित्यता, इच्छाओं का अभाव, निर्द्वन्द्वता और अमूढ़ता।

संगति—वह वैष्णव पद किस प्रकार का है अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् उत्तर देते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। १५/६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! मेरे उस वैष्णव पद को न तो सूर्य प्रकाशित कर सकते हैं, न चन्द्रमा और न ही अग्नि। जहां जाकर साधक इस संसार में नहीं लौटते वही मेरा परमधाम है।

व्याख्या—भगवान् के परमधाम को चन्द्र, सूर्य और अग्नि भी नही प्रकाशित करते क्योंकि यह सबका प्रकाशक है। भगवान् से अभिन्न होने के कारण यह भगवद्रूप है।

सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।
(मानस-११/११६/६)

इसलिए श्रुति भी कहती हैं—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं" कुतोऽयमग्निः 'किं बहुधा' वहाँ जाकर कोई नही लौटता।

संगति—अब प्रश्न हैं कि संयोग वियोगान्त होता है। गये हुए लौटते ही हैं यह परम्परा स्वाभाविक हैं। आपके धाम से क्यों नही लौटते ? इस पर भगवान् कहते हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। १५/७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन! मेरा ही सनातन अंश यह जीवात्मा मन ही है छठा जिनमें ऐसी, प्रकृति में स्थित ज्ञानेन्द्रियों को जीव लोक में खींचता रहता है।

व्याख्या—जीव भगवान् का ही अंश है, माया का नहीं। यही एवकार का तात्पर्य है। अब यहाँ प्रश्न है कि- ब्रह्म तो अखण्ड और निरवयव है, जीव उसका अंश कैसे ? एकदेशीय उत्तर - अंश की अंश के सदृश में लक्षणा है।

प्रश्न :—एवकार के होने से यहाँ लक्षणा नही मानी जा सकती। यदि कहें कि यहाँ अंशत्व उपाधिक है - जैसे घड़े के नाश होने पर घटाकाश नष्ट हो जाता है उसी प्रकार उपाधि के नष्ट होने से अंश अंशी में मिल जाता है। पर यह पक्ष उचित नही

है क्योंकि यहाँ भगवान् ने सनातन शब्द का प्रयोग किया है । सनातन का अर्थ नित्य होता है, इसलिए जीव भगवान् का नित्य अंश सिद्ध हुआ, जबकि उपाधि को नित्य माना नहीं जा सकता । क्योंकि नित्य केवल परमात्मा ही होता है, अत: अंशांशि भाव मानने पर फिर ब्रह्म में अखण्डत्वापत्ति आ जायेगी ।

उत्तर—जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक जलाने पर भी दीपक की कोई हानि नही होती, उसी प्रकार अनन्त अंशों के पृथक् होने पर भी भगवान् में अखण्डता बनी रहती है । अथवा पिता-पुत्र न्याय से भी अखण्डता में कोई अनतर नही आता । जैसे पुत्र के उत्पन्न करने पर पिता अखण्ड बना रहता है । उसी प्रकार अनन्त जीवों को प्रकट करके भी भगवान् अखण्ड बने रहते हैं ।

'मन: षष्ठानि' श्रवण, नेत्र, रसना, घ्राण, त्वक् और मन इन छवों में मन को छठाँ माना जाता है । जीवात्मा इनको जहाँ जाता है, वहीं खींच कर ले जाता है ।

संगति—जीवात्मा इस संसार में कैसे भटकता रहता है इस पर भगवान् कहते हैं ।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ।। १५/८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जैसे-वायु गृह की गन्ध को सहजता से अपने गन्तव्य स्थान पर ले जाता है, उसी प्रकार यह सर्व समर्थ जीवात्मा जिस शरीर को धारण करता है तथा जिसको छोड़ता है उनमें इन छवों को साथ लेकर जाता है ।

व्याख्या—गन्ध को स्थानान्तरित करना वायु का स्वभाव है । जबकि गन्ध उसका गुण नही है । उसी प्रकार पांचो इन्द्रियां और मन ये जीवात्मा के कोई सम्वन्धी नही हैं। पर उसका स्वभाव है वह जहाँ जाता है इनको लेकर ही जाता है ।

संगति—अर्जुन फिर प्रश्न करते हैं कि जीवात्मा किन्हें ले कर जाता है और वहां जाकर क्या करता हैं ? इस पर भगवान् कहते हैं ।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं निषयानुपसेवते ।।१५/९

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! श्रवण, नेत्र, त्वक्, जिह्वा, नासिका इन पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन इन छवों को आश्रय करके अर्थात् इन्ही को माध्यम बनाकर यह जीवात्मा अपने शरीर के विषयों का संयोग संबन्ध से सेवन करता है ।

व्याख्या—पांचो इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पांचो विषय एवं संकल्प इन छवों का अनुभव करने के लिए जीवात्मा को पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन को माध्यम बनाकर छवों विषयों का सेवन करता हैं ।

संगति—इस जीवात्मा को शरीर से निकलते हुए अथवा शरीर में स्थित हुए कोई देखता भी है ? अर्जुन की इस जिज्ञासा पर भगवान् कहते है —

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।। १५/१०

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इस जीवात्मा को शरीर छोड़ते हुए, दूसरे शरीर में प्रवेश करके स्थित हुए तथा तीनों गुणो से युक्त होकर विषयों का सेवन करते हुए मोह-ग्रस्त लोग नही देखते । जिनके पास ज्ञान नेत्र होते हैं वे ही देखते हैं।

व्याख्या—श्वेताश्वेतरोपनिषद् में जीव की जिस सूक्ष्मता की झाँकी कही गयी है, उसे सामान्य नेत्र देख ही नही सकते । यथा- वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्यच । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते । (श्वेता० -५/९)

अर्थात् अपने केश के सौवें भाग के भी सौवें भाग का जो सौवां भाग है, उसे ही जीव समझना चाहिए । वही भगवान् की सेवा के योग्य है । भला इतना सूक्ष्म जीव सामान्य नेत्र से कैसे देखा जा सकता है ? उसे ज्ञान नेत्र ही देख सकते हैं ।

संगति—अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे परमात्मा कौन यत्न करके भी इसे नही देख पाते, और कौन वड़भागी साधक हैं जो यत्न करके इसे देख लेते हैं ? इस पर भगवान् कहते हैं —

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मनो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।। १५/११

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! यत्न करते हुए योगीजन अपने हृदय में स्थित इस जीवात्मा को देख लेते हैं, परन्तु जिन्होंने मन को वश में नही किया है और जिनका चित्त अशुद्ध है, ऐसे अवैष्णव साधक यत्न करते हुए भी अपने समीपस्थ होने पर भी इस जीवात्मा को नहीं देख पाते ।

व्याख्या—आत्मनेपद के अनित्य होने पर यहाँ शानच् प्रत्यय नहीं हुआ । आत्मनेपद का चतुर्थ चरण में अनुवर्तन होगा । आत्मनि अवस्थितं शब्द का तात्पर्य यह है कि- अपने शरीर में स्थित अथवा हृदय में वर्तमान ।।

संगति—हे अर्जुन ! प्रसंग से बाह्य होने पर भी मेरी कुछ विभूतियों को तीन श्लोकों में सुनो ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।। १५/१२,१३,१४

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो सूर्यनारायण के अन्तर्गत तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा, और अग्नि में है, वह तेज मेरा ही जानों। क्योंकि मै पृथ्वी में आविष्ट होकर सम्पूर्ण भूतप्राणियों को अपने ओज शक्ति से धारण करता हूँ । और अमृतमय चन्द्रमा बनकर सभी औषधियें वनस्पतियों को पालता पोषता रहता हूँ । मैं ही वैश्वानर अर्थात् अग्नि बनकर प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ प्राण और अपान से युक्त होकर चारों प्रकार के भोजनों को पचाता हूँ ।

व्याख्या—'वैश्वानरः' विश्वेनराः यस्मिन् सः वैश्वानरः । नरे संज्ञायां ६/३/१२९ सूत्र से यहाँ दीर्घ हुआ । अन्न-भक्ष्य भोज्य, लेह चोस्य भेद से चार प्रकार का होता है ।

संगति—भगवान् कहते हैं- हे अर्जुन ! मैं अन्तर्यामी रूप से भी सबका प्रशासन करता हूँ - इसी विषय को और स्पष्ट कर रहे हैं —

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।।१५/१५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मैं सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी स्वरूप से सन्निविष्ट हूँ अर्थात् विराजमान हूँ । स्मृति, (भगवद्भक्ति) ज्ञान सेव्य सेवक भाव का चिन्तन, अपोहन अपनी अनन्य-निष्ठा को दृढ़ करने के लिए पर पक्ष के खण्डन का सामर्थ्य यह सब मुझी से है । सम्पूर्ण वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ । मैं ही वेदान्त दर्शन का रचयिता महर्षि वेदव्यास हूँ और वेदों को जानने वाला मैं ही हूँ ।

व्याख्या—यहाँ ध्रुवानुस्मृति अथवा पूर्व अनुभव को स्मृति कहा गया है । सेवक सेव्य भाव का बोध ही ज्ञान है । भगवद् विरुद्ध प्रतिपक्ष का खण्डन ही अपोहन हैं । वेदान्त शब्द यहां ब्रह्मसूत्र के लिए ही है । जो लो वेदान्त शब्द से वेद के अन्तिम भाग

की कल्पना करते हैं और कहते हैं कि भगवान् वेद के अन्तिम भाग उपनिषद के रचयिता हैं कदाचित् वे यह भूल जाते हैं कि श्रुतियों के रचयिता भगवान् नही हैं। वे तो उनके पति है। पति, पत्नी को बनाता नहीं, वह उसे बनी बनायी मिल जाती है। इसलिए यहां वेदान्त शब्द ब्रह्मसूत्र के अर्थ में समझना चाहिए।

संगति—अब भक्तत्सल परमेश्वर सम्पूर्ण वेदों के महातात्पर्य तीन श्लोकों में कह रहे हैं—

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।
यस्मात्क्षरमतीतोऽमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।१५/१६-१८

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जीवात्मा के तेज से प्रकाश से प्रकाशित होने वाले इस शरीर में क्षर और अक्षर ये दो पुरुष हैं। देह विशिष्ट सभी भूत प्राणी क्षर हैं, और कूटस्थ मुक्त तथा नित्य जीवात्मा ही अक्षर है। किन्तु इन दोनों से उत्तम परमात्मा इस प्रकार कहा हुआ एक अन्य पुरुष भी है। जो अविनाशी ईश्वर अपने चिदंश से तीनों लोको में प्रविष्ट होकर उन्हें धारण करता है, और उनका पोषण करता है। क्योंकि मैं अचित् विशिष्ट क्षर को अतिक्रान्त कर चूका हूँ, तथा अक्षर नित्य मुक्त जीवात्मा से भी उत्तम हूँ। इसीलिये मैं वेदानुगामी लोक और अपौरुषेय वेद में पुरुषोत्तम रूप में प्रसिद्ध हूँ।

व्याख्या—यहाँ लोक शब्द लोकों का वाचक न होकर शरीर का वाचक है, क्योंकि यह परमात्मा के तेज से आलोकित होता है। अचिदात्मक पृथ्वी आदि को क्षर कहा गया है। अथवा पृथ्वी आदि तेईस तत्त्व और प्रकृति स्वयं क्षर हैं, जीवात्मा अक्षर है, भगवान् क्षर-अक्षर दोनों से उत्तम हैं, उन्हें परमात्मा कहते हैं, यह पुरुषोत्तम की प्रथम व्याख्या है। "उत्तमः पुरुषः" कहकर भगवान् स्वयं पुरुषोत्तम शब्द में 'कर्मधारय तत्पुरुष' मान रहे हैं, "उत्तमः पुरुषः पुरुषोत्तमः" "मयूरव्यंसकादित्वात् समासः" और "क्षरं अतीतः अक्षरात्" कहकर भगवान् "पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः" यह षष्ठी तत्पुरुष भी स्वीकारा है। जो शंकराचार्य ने क्षर शब्द से प्राणी और अक्षर शब्द से माया इस प्रकार कहा है, वह अत्यन्त असंगत है। क्योंकि माया शब्द के लिये कभी भी 'पुलिङ्ग' निर्देश देखा या सुना नहीं गया है, इसीलिये यथाश्रुत अर्थ ही ठीक है। क्षर शब्द जात्याख्या में एकवचन है।

संगति—अब भगवान् पुरुषोत्तम योग की फल श्रुती कह रहे हैं —

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।१५/१८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे भगवदीय भाव में लगे हुये अर्जुन ! जो साधक सम्मोह से रहित होकर इस प्रकार मुझे पुरुषोत्तम अर्थात् क्षर और अक्षर से अतीत जानता है, वह सब कुछ जानने वाला साधक मेरी प्रीति के अनुकूल सम्पूर्ण भाव से मुझे भजता है ।

व्याख्या—'एवं' अर्थात् जैसा मैंने अभी-अभी कहा उस प्रकार से पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जान लेता है - "स सर्ववित् भजति मां' फिर मुझे सर्वभाव से भजता है । यथा —

पृष्ठेन सेवेद्भानुं जठरेण हुताशनम्।
स्वामिनं सर्वभावेन परलोकममायया।।

संगति—अब भगवान् अपने वक्तव्य का उपसंहार कर रहे हैं—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।। १५/२०

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे भगवद् भाव में आदर पूर्वक लगे हुये भरतवंशी अर्जुन ! इस प्रकार यह गुह्यतम शास्त्र वेदमूर्ति मुझ कृष्ण भगवान् के द्वारा कहा गया। इसको जानकर बुद्धिमान साधक कृतकृत्य हो सकता है ।

व्याख्या—क्षर - अक्षर दोनों से परे मुझ पुरुषोत्तम का ज्ञान गुह्यतम शास्त्र है, अर्थात् क्षरज्ञान गुह्य,अक्षर-ज्ञान गुह्यतर और क्षराक्षरातीत ज्ञान गुह्यतम है ।

क्षरज्ञानं भवेद् गुह्यमक्षरज्ञानमेव च।
भवेद्गुह्यतरं ज्ञानं हरेर्गुह्यतमं स्मृतम् ।।

जैसे धुनर्भङ्ग प्रसंग में परशुराम जी को धनुप् टूटने से उसमें क्षरका बोध, एवं लक्ष्मण को मारने का प्रयास विफल होने पर लक्ष्मण में अक्षरता का बोध, तथा श्रीराम में पुरुषोत्तमता के बोध से योगिराजजनक कृतकृत्य हुये । यथा —

जनक कीन्ह कौसिकहिं प्रनामा । प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा ।।
मोहि कृतकृत्य कीन्हि दोउ भाई । अब जो उचित सो करउँ गोसाईं ।।

मानस १-२८६-५,६

इस प्रकार यहाँ भगवान् ने सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य कहा—

"श्वेताश्वतरोपनिषद्" जो कि 'ईशावास्य' और अन्य उपनिषदो में शांकर भाष्य में उदाहरणार्थ उपलब्ध होने के कारण आद्यशंकराचार्य को भी बहुत मान्य और अभीष्ट है। उसके ६-१६ में "क्षरं प्रधानममृताक्षरो हर:" कहकर श्रुति ने क्षर-अक्षर और दोनों से अतीत पुरुषोत्तम भगवान् की स्पष्टचर्चा की है। इन्हें जानकर सेवक सेव्य भाव का अनुसरण करके साधक कृतकृत्य हो सकता है।

यह पुरुषोत्तम योग वेद शास्त्रनको सरबस।
गीतासुधा समान उपनिषद गौअनको रस।
भाष्यो अति अविरोध तनिक गुप्तहुँ नहीं राख्यो।।
राघव कृपा सुभाष्य करी वैष्णव मन हरि रति भरि।
रामभद्र आचार्य जी राम भक्ति मति अनुसरि ।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामभद्राचार्य प्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतासु पुरुषोत्तमयोगोनाम पञ्चदशोऽध्याय: ।।

श्रीराघव: शन्तनोतु



श्रीमद्राघवो विजयते

श्री रामानन्दाचार्यानमः

षोडशोऽध्यायः

जयति जानकिचित्तसरोरुह
द्युमणिरीड्यचरित्रशिरोमणिः
रघुमणिस्तनुमुष्टमहामणिः ।
सुरमणिर्नरपालशिखामणिः ।।१।।
स जयताज्जयिनो जयतां वरो
रघुवरो नृवरोऽवनिजावरः।
श्रुतिशिखामणिगीतमहायशा
नवशशीयशसे श्रितषोडशः।। २।।
जयति सर्वकलः किल राधया
विलसितो हृतसेवकबाधया।
यदुपतिः पततामवलम्बनो
धृतवनो ह्यवनो यदुन वन्दनः।। ३।।
राधाराकामुपेताय ललितानन्दहेतवे।
नमः श्रीकृष्णशशिने षोडशी षोडशाय च।। ४।।

अथ नवमेऽध्याये सूत्रतः "राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता "गीता - ९-१२" "महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः" गीता ९-१३ इत्येवमादिभ्यां कथिते दैव्यासुरीसंपत्ती विस्तरशो वक्तुकामो मदनमोहनःराधाषोडशशशी षोडशं प्रारभते। यद्वा पञ्चदशे वर्णितस्य पुरुषोत्तमयोगस्य अधिकार्यनधिकारी निर्णयाय "दैवासुरसंपत्ती" "विभजते।"

दैवीसंपत्तिभाजोहि भजनेऽधिकृता हरेः।
नासुरीसंपदा युक्ताः षोडशः प्रोच्यते ततः।।

तत्र प्रथमं त्रिभिर्दैवीसंपदं व्याचष्टे देवाधिदेवो यदुदेवो वासुदेवो भगवान् कृष्णः

"श्री भगवानुवाच"

अभयंसत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।। १-२-३।।

रा.कृ.भा. - श्रियासहितो भगवान् सम्पूर्णषोडशकलावतारः षोडशं प्रारभते! अभयं भगवद्भजनप्रवणतया भीत्यभावः। सत्त्वमन्तःकरणं तस्य सम्यक् शुद्धिः भगवन्नामरुपलीलाधामध्यानेन सम्यक् पविन्नता, ज्ञानञ्च योगश्च ज्ञानयोगौ सांख्य योग कर्मयौगौ "लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ, ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनां(गीता ३/३)" इतिभगवतैव प्रोक्तत्वात्, तयोर्ज्ञानयोगयोः व्यवस्थितिः निष्ठा, यद्वा ज्ञानं प्राप्तिप्राप्ये प्राप्त्युपायप्राप्तिफलप्राप्तिविरोधिनामवगमनं ज्ञानं तस्मिन् योगः मनसस्समवधानं तत्र व्यवस्थितिः, यद्वा ज्ञानं सेव्यसेवकभावलक्षणम्। तस्मिन् योगः समाधिः तस्मिन् व्यवस्थितिः, ज्ञानयोगव्यवस्थिति र्दानं ब्राह्मणवैष्णवेभ्यः सत्पात्रेभ्यः द्रव्योत्सर्गः, दमः, इन्द्रियाणां निग्रहः, यज्ञः श्रौतस्मार्तो नित्यनैमित्तिकः पञ्चमहायज्ञादिः, स्वाध्यायः सम्पूर्णो वेदराशिः अथवा गोत्रनुसारंमनुमोदितायाः स्वस्याः वेदिकशाखायाः अध्यायो मौखिकः पाठः, तपः सप्तदशे वक्ष्यमाणे त्रिविधं यद्वा चान्द्रायणरादिः, आर्जवम् सरलाता, अहिंसा परपीडनाभावः सत्यं यथार्थभाषण, मक्रोधः पराभिभवेच्छाभावः, त्यागः भगवद्भजनप्रतिबन्धकस्तूनां सर्वथा विस्मरणम्। यथोक्तंगोस्वामितुलसीदासमहाराजैः -

जाके न प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही।
तज्यो पिता- प्रहलाद विभीषण वन्धुभरत महतारी।
वलि गुरुतज्यो कन्त व्रज वनितन भयो मुद मंगलकारी।
नाते नेह राम सो मनियत सुहद सुसेव्य जहाँ लौं।
आंजन कहा आंख जेहि फूटे वहुतक कहीं कहा लौं।
तुलसी सो सव भांति परम प्रिय पूज्य प्रानते प्यारो।
जासो होय सनेह रामपद, येही मतो हमारो।
(विनयपत्रि १७४)

एतद्रुपान्तरम् -

यं न प्रियौ तौ रामवैदेही।
सत्यज्यतां कोटिवैरिण इव यद्यपि परमस्नेही।

तातंप्रहलादो विभीषणो वन्धुम् जननीं भरतः।
बलिर्गुरुं गोपिका पतिम् सर्वोऽयं मंगलनिरतः।
सम्वन्धो मान्यः प्रभुस्नेहात् सुहृद् सुसेव्यः यावत्।
किमञ्जनं हरते यन्नेत्रं बहुवाच्यं किं तावत्।।
तुलसी सर्वविधिः परमेष्टः प्राणात्प्रियः स्वकीयः।
यस्मात् प्रभुचरणे प्रेमस्यात्। इति निश्चयो मदीपः।

शान्तिः आन्तरिकाणांमुपद्रवाणां प्रशमनमपैशुनम् पिशुनः परस्मै पररन्ध्रनिवेदी, तस्य भावः पैशुनं न पैशुनम्, अपैशुनम्, परछिद्रनिवेदनाभावः। भूतेपु जीवेपु दया परदुःख दुःखित्वं लोलुप, त्वं रुचिकरपदार्थलिप्सायाः अभावः, मार्दवं मृदुता ह्रीः अशास्त्रीयकर्मकरणे लज्जा, अचापलमिन्द्रियचपलताया अभावः, तेजः पराभिभवसामर्थ्यं क्षमा प्रतिचिकीर्षाभावः, शौचं बाह्याभ्यन्तरपवित्रता, अद्रोहः, अपचिकीर्षाभावः नातिमानिता, स्वस्मिन् पूज्यभावनिरासः मानमपेक्ष्यते, इष्टसम्बन्धानुवन्धि, किन्तु, अतिमानं आसुरभावाय कल्पते। यथाह, - श्री मानसे, सुतीक्ष्णः -

असअभिमान जाइ जानि भोरे।
मै सेवक रघुपति प्रिय मोरे।। (मानसः ३१/११/२१)

रुपान्तरम्-एतादृक् स्वाभिमानं मे विस्मृतावा पि मा व्रजेत्।
अहं दासो रघुपतेः नाथे मे जानकीपतिः।

एवं षड्विंशत्यागुणैरुपलक्षितां दैवीसम्पदं देवसम्वन्धिनी 'संम्पत्ति'मभिलक्ष्य जातस्य जानिमतः इमे षड्विंशतिगुणाः भवन्ति आविर्भवन्ति। हे भारत! इति सम्बोधनं त्वत्कुलेऽपि दैवीसम्पत्प्रायतां सूचयति। तव कुले बहवो दैवीं सम्पत्तिमाभिजाताः, न जाने कथं दुर्योधनादयः आसुराः न जाने कस्य पापस्य परिणामो न विद्महे। येन वै कौरवाः जातादैवसम्पत् कुले ननु। ।। श्रीः।।

अथासुरीं सम्पदं समासेन व्यनक्ति -

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।। १६-४।।

रा.कृ.भा.- च इति पक्षान्तरे, हे पार्थ पृथायाः देव्यास्तृतीयापत्य त्वंपृथायामिन्द्रस्य दैवसम्पदमभिलक्ष्य जातोऽसि अतःदम्भः धर्मध्वजित्वम्। दर्पः गर्वोऽभिमानः अहंकृतिः, क्रोधः पराभिबुभूषा, पारुष्यं कठोरता, अज्ञानं ज्ञानविरोधभावः एते षड्दुर्गुणाः आसुरीमसुराणामियासुरी तामासुरीं सम्पदभिलक्ष्यं जातस्य जनस्य दुर्योधनादेरेव इमे स्वत एव आविर्भवन्ति।।श्रीः।।

अथ किमहं दैवीसम्पदमभिजातोऽस्मि उताहो आसुरीम्? इति पार्थभ्रमं निराकुर्वन्नाह भगवान्।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।। १६-५।।

रा.कृ.भा. - दैवीति देवानामियं दैवी पूर्वव्याख्याता षड्विंशतिगुणोपेता देव सम्बन्धिनीसम्पत्ति र्विमोक्षाय विमुक्तये भवति- असुराणांमियमासुरीदम्भादिपड्गुणोपेता नियतं बन्धोनिबन्धः तस्मैनिबन्धाय निश्चितबन्धनाय भवति। हे पाण्डव। पाण्डोर्धार्मिकतृतीयपुत्र मा शुचः। शोकं मा कार्षीः, कथं? यतो हि त्वं दैवीसम्पद मैन्द्रीमभिलक्ष्य जातोऽसि गृहीतजन्मासि। देवांशस्त्वम् इमे च दुर्योधनादय आसुरांशा, अतएव एतेषां विनाशाय उद्यतोभव ।।श्रीः।।

अथ कथं जानीयाम् इमानासुरभावोपेतान्? इत्यतो विभागशः प्रवक्तुं प्रतिजानीते। द्वाविति -

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु।। १६-६।।

रा.कृ.भा.- सृज्यते इति सर्गौ भूतानां सर्गोभूतसर्गौ, अस्मिन् लोकसर्गे। उभावपि भूतानां सर्गौ दैवश्च आसुरश्च। देवानां प्रियत्वात् दैवः असुराणां प्रियत्वात् आसुरः। तत्र तावत्, दैवः मया त्रिभिः विस्तरशः विस्तरात् प्रोक्तः हे पार्थ ! अथासुरं सर्गं षोडशश्लोक्या मे मम सकाशात् श्रृणु। आध्यायमाकर्णय ।।श्रीः।।

प्रवृतिं च निवृतिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।। १६-७।।

अथासुराणां दुर्गुणान् आकर्णयितुं बोधयति- पार्थ इति ते आसुरा जनाः प्रवृतिं व्यवहारेषु प्रवर्तनं , निवृत्तिं पुनश्च कर्मविरामं न विदुः न जानन्ति। कथं कर्मसु प्रवर्तितव्यम्। कथं च तेभ्यो निवर्तितव्यम् इत्यपि न जानन्ति। कथं, हि तेषु आसुरेषु शौचं पवित्रता आचारः सदाचरणं सत्यं भूतार्थभाषणं न विद्यते।।श्रीः।।

अन्यदपि—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।। १६-८।।

रा.कृ.भा. - ते आसुरा : इदं जगत् असत्यमप्रतिष्ठमर्यादितं, नविद्यते ईश्वरः यस्मिन् एवं विश्वम् अपरस्मात्, ईश्वरपुरुषात् परस्मिन् अन्यकल्पे सम्भूतं

शास्त्रविहित गर्भाधानवर्जितं, किन्वन्यत्- कुत्सितं अन्यत् यस्मिन् तत् किमयन्त् अथवा अन्यत् किं, न परलोकः नैवेश्वरः, केवलं कामहेतुकं कामः हेतुर्यस्य तथा विधं, एवं भूतं जगदाहुः इदमेव लौकायतिकं- ।। श्रीः।।

किंवहुना एवं विधा जनाः जगन्नाशायैव जन्म गृह्णन्ति इत्यत आह।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।। १६-९।।

रा.कृ.भा. - एतां पूर्वोक्तामशास्त्रीयां दृष्टिं विचारणामवष्टभ्य स्वीकृत्य अतएव नष्टः पतितः आत्मा येषां तथा भूताः नष्टात्मानः, अल्पा भगवत्साक्षात्कारासमर्था बुद्धिर्येषां तेऽल्पबुद्धयः उग्राणि भयंकराणि कर्माणि उग्रकर्मामणि एवं जगतः संसारस्य अहिताः कल्याणविरुद्धमाचरन्तः जगतः क्षयायैव विनाशकरणायैव प्रादुर्भवन्ति। दुर्योधनादय इतः केनापि भयंकरेण पापेन उद्पाद्यन्ते। ।। श्रीः।

अत तेषां प्रवर्तन माह-कामेति-

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः:
मोहाद् गृहीत्वा सद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।। १६-१०।।

रा.कृ.भा. - दुःखेन पूरयितुं शक्यमिति दुष्पूरमपूरणीयं कल्पशतैरपि कामं यथाह भगवान् मनुः-

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषाकृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते।। मनु. २-७४

आश्रित्य स्वीकृत्य दम्भश्च मानश्च मदश्च दम्भमानमदाः तैरन्विताः इति दम्भमानमदान्विताः दम्भाहंकारमदयुक्ताः मोहाद् अज्ञानाद् 'असद्भिः असज्जनैः ग्राहात् असज्जनग्रहणक्षमात् गृहीत्वा, अशुचीः अपवित्राणि व्रतानि येषां ते अशुचिव्रताः प्रवर्तन्ते संसारे प्रवृत्ताः भवन्ति।।श्रीः।।

किञ्च मच्चिन्तनाभावात् तेषां चिन्ता न व्यपगच्छति अत आह-

चिन्तांमपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।। १६-११।।

रा.कृ.भा. - अपरिमेय न परिमातुं योग्यां प्रलयान्तां प्रलयशरीरावसानां अन्तःअवसानं यस्याः ताम् उप अधिक्येन आश्रिताः कामानामुपभोगः एव परमं लक्ष्यं येषां ते कामोपभोगपरमाः। एतावदेव वर्तते जगति कामादतिरिक्तं नास्ति किञ्चिदिति एवं रूपेण निश्चिताः कृत निश्चयाः ते भवन्ति। ।।श्रीः।।

अन्यदपि ते किमीहन्ते इत्यत आह -

आशा पाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।। १६-१२।।

रा.कृ.भा.- आशायाः पाशशतं तैर्बद्धाः अनेक विधानामाशानामन्तर्गताः कामश्चक्रोधश्च कामक्रोधौ, तौ परायणे परमप्राप्ये येषां ते. कामक्रोधपरायणाः, अतएव कामानां भोगार्थं ते अन्यायेन न्यायविरोधेनार्थानां संग्रहान् ईहन्ते, तानेव कामतृप्तिसाधनानि मन्वानः चेष्टन्ते। ।।श्री।।

अत्र श्लोके पाठभदे विप्रतिपद्यन्ते आचार्याः। शंकराचार्यचरणाः "इदं प्राप्स्ये मनोरथम्। इति स्वीकुर्वन्ति। किन्तु साक्षात् फणिराजावतारः यतीन्द्रचूडामणयः श्री मद्रामानुजाचार्याः इमं प्राप्स्ये मनोरथम् इत्येवाङ्गीकुर्वन्ति, एप एव पक्षो ज्यायान् प्रतिभाति। मनोरथ शब्दस्य सर्वत्र लिंगावच्छिनस्य दर्शनात्। अतएव श्री यभट्टोजीदीक्षितोऽपि मनोरथ इत्येवाह -

इदमद्य मयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।। १६-१३।।

रा.कृ.भा. - अद्येदं द्रव्यं मया लब्धं प्राप्तं श्वश्चेमं मनोरथं मनोऽभिलपितं प्राप्स्ये। लप्स्ये कर्मव्यतिहाराद् आत्मनेपदम्। इदं ममास्ति पुनरिदं धनं मदीयमेव भविष्यति।। श्रीः।।

पुनरपि तादीयां मरुमरीचिकां द्वाभ्यां सूचयति-

असौ मयाहतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।। १६-१४।।
आढ्योऽभिजनवानस्म कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञानविमोहिताः।। १६-१५।।

रा.कृ.भा. - मया असौ चैत्रेण शत्रु हतः, मारितः एवमेव अपरानापि हनिष्ये मारयिस्ये अत्रापि कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदम्। अहमेव ईश्वरः सर्वसमर्थोऽहमेव भोगवान्। अहमेव सिद्धः सकलसाधनान् प्राप्तवानहमस्मि, अहमेव बलवान् प्रशस्तावलयुक्तोऽहमेव सुखी सर्वसुखसम्पन्नः किंचाहमेल आढ्यः धनवान् अहमेव अभिजनवान् पूर्वजनिवासस्थानयुक्तः कुटुम्बवांश्च, मया सदृशः कोऽन्यः अहमेवाद्धितीयः - अहं यक्ष्ये, यज्ञं करिष्यामि, यद्वा कर्मवाच्ययक्ष्ये यजमानैः, इष्टो भविष्यामि यस्तुतः, अयमेवपक्षः ज्यायन्। असुराणां वैदिकधर्मविरोधित्वेन यज्ञकर्तृत्वा नुपपतेः। दास्यामि जनेभ्यः दण्डं दास्यामि अहमेव मोदिष्ये प्रशन्नो भविष्यामि इत्येवमज्ञानेन विमोहिताः। एवं विधानां परिणाममाह -

अनेकाचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृता:।
प्रसक्ता: कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।। १६-१६।।

रा.कृ.भा.- अनेकेषु चित्तं येषां ते अनेकचित्ता:, अतएव विभ्रान्ता: विभ्रम मापादिता:, मोह एव जालं मोहजालं तेन समावृता:, अतएव कात्मकेषु भोगेषु प्रसक्ता: संलग्ना: अशुचौअपवित्रनरके पतन्ति। ननु नरकाण्यपि पवित्रणि अपापिवित्राणि च, ओमिति ब्रूम:। शुचीनि नरकाणि साधारणदण्डप्रायश्चित्तभूतानि, अपवित्राणि प्रवल दुष्कर्मप्रायश्चित्तानि वैतरण्यादीनि ।श्री:। किञ्च एतान् निन्दितान् कोऽपि न संमन्यते। अपितु तयो: तान् सम्भावयति। अत आह ।।श्री।।

आत्मसम्भाविता: स्तब्धा धनमानमदान्विता:।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।। १६-१७।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिता:।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका:

रा.कृ.भा. — किञ्च ते आत्मना स्वेनैव सम्भाविता: यथा - उष्ट्राणां विवाहे तु गीतं गायन्ति गर्दभा: परस्परं प्रशंसन्ति अहोरूपमहो ध्वनि:। इत्येवं प्रकारेण आत्मनैव सम्भाविता, सम्मानिता, न तु अन्येन, तथा हि धनेन, मानेन मदेन च अन्विता: युक्ता: अहंकारं, कर्तृत्वाभिमानं बलं कामरागसमन्वितं, दर्पं गर्वं कामं क्रोधं च संश्रिता: आश्रितवन्त:, आत्मा च परदेहाश्चात्मपरदेहा: तेषु निजशरीरपरशरीरेषु वर्तमानं मां प्रद्विषन्त: द्वेषविषयं कुर्वन्त: अम्पसूयका गुणेषु दोषन् आविष्कुर्वाणा:, ते दम्भेन पाखण्डेन नाममात्र यज्ञैर:विधिपूर्वकं यजन्ते यज्ञं कुर्वन्ति ।। श्री:।।

तदा भवान् किं करोति इत्यत आह द्वाभ्याम् —

तानहं द्विषत: क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु
असुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्

रा.कृ.भा. — तान् कुमार्गस्थान् मां, द्विषत द्वेषविषयं कुर्वत: क्रूरान् निर्दयान् अशुभान् अशुभाचरणवत: संसारेषु संसरणशीलेषु मार्गेषु संसरति इति संसार: तेषु संसारेषु अनन्तरमासुरीषु रक्षसीषु योनिषु सूकरकूकरादिषु अजस्रं निरन्तरं क्षिपामि पातयामि। 'अथो च ते मूढा: आसुरीं योनिं जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्मानि: प्राप्ता: मां परमात्मानमप्राप्यैव ततोऽधमां निम्नतरां गतिं प्रयान्ति प्राप्नुवन्ति।। श्री:।।

अथा आसुरभावहेतुं प्रदर्शयन् विवृणोति द्वाभ्याम् —

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्यादेतत्त्रयं त्यजेत्।। २०।।
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।। २१।।

रा.कृ.भा. — आत्मनः जीवात्मनः नाशनं भगवतो वियोगहेतुं, नाशयति अदर्शनं प्रापयति तन्नाशनम् इति व्युत्पत्तेः। कामः क्रोधस् तथा लोभः, इत्येवं त्रिविधं नरकस्य द्वारं प्रापकं, तस्मात् ततो हेतोः एतत् त्रयं कामदिकं त्यजेत् दूरतः परिहेरत्।

हे कौन्तेय। एतैः त्रिभिः कामक्रोधलोभैस्तमो द्वारैस्तमसः नरकस्य द्वाराणि, तमोद्वारैः विमुक्तः सर्वथा वर्जितः यः आत्मनः श्रेयः मद्गुणगणकीर्तन-श्रवणादिनवलक्षणभजनप्रतिमादिदर्शनलक्षणात्मनः श्रेयः कल्याणमाचरति ततः परमकल्याणवान् मम वैष्णवं धाम परमगतिं प्राप्नोति।। श्रीः।।

इदानीं कर्मणांशास्त्रतन्त्रत्वं प्रकाशयति द्वाभ्याम् —

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।। २०/२२।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।। २०/२३।।

हे कौन्तेय ! यः निरंकुशोजीवः शास्त्रस्य वेदस्य विधिम् उत्सृज्य उत्लंध्य कामेन करणं कामकारः तेन कामकारतः आद्यादित्वात्तसिः, स्वाच्छन्द्येन वर्तते जगति प्रवर्तते, स उच्छृंखलो नरः सिद्धिं प्रत्यगात्मबोधलक्षणां नावाप्नोति। लभते न सुखम् मद्भजनानन्दलक्षणं, न वा परां गतिं, मत्सामीप्यलक्षणामवाप्नोति। तस्मात् कार्यं कर्तव्यम् अकार्यमकरणीयं, व्यवस्थितिः व्यवस्था, कार्यं चाकार्यंच कार्याकार्ये तयोः व्यवस्थितिः कार्याकार्यव्यवस्थितिः तस्यां कार्याकार्यव्यवस्थितौ कर्तव्या-कर्तव्यनिर्णयव्यवस्थायां ते तुम्यंधर्मसमूढ संमूटः चेतसे पार्थाय शास्त्रमेव शास्त्रं वेदऐव प्रमाणम्। यद्यद् वेदविहिंत तत्तत् त्वयाकरणीयम्। यन्न विहितं तत्कदापि न करणीयम्। अतः विधिरेव विधानं शास्त्र स्य विधानं शास्त्रविधानं, शास्त्र विधिः शास्त्रविधानेन उक्तं शास्त्रविधानोक्तं, वेदविधिप्रोक्तं ज्ञात्वा इहास्मिन् कुरुक्षेत्रे कर्मैव युद्धरूपं कर्म कर्तुमर्हसि योग्योऽसि।

षोडशोऽयं मयाध्यायः श्रीगीतासु यथामति।
श्रीराघवकृपा भाष्ये व्याख्यातो रामतुष्टये।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानंदाचार्य स्वामी श्रीरामभद्राचार्यप्रणीते
श्रीमद्भगवत्गीतासु श्रीराघवंकृपाभाष्ये षोडशोऽध्यायः

श्री राघवःशंतनोतु

श्रीमद्राघवो विजयते

श्रीरामानन्दाचार्याय नमः

षोडशोऽध्यायः

मंगलाचरणं

जयति जानकिचित्तशिरोमणिः द्युमणिरीड्यचरित्रशिरोमणिः ।
रघुमणिस्तनुमुष्टमहामणिः सुरमणिर्नरपालशिखामणिः ।।१।।

अर्थ—श्री जानकी जी के चित्त रूप कमल के सूर्य श्रेष्ठ चरित्र वाले महापुरुषों के शिरोमणि, शरीर की प्रभा से मरकत मणि की कांति को चुराने वाले एवं देवताओं के शिरोमणि, राजाओं के मुकुटमणि रघुकुलमणि भगवान् श्रीराम की जय हो जय हो ॥

स जयताज्जयिनो जयतां वरो रघुवरो नृवरोऽवनिजानवरः ।
श्रुतिशिखामणिगीतमहायशा नवशशी यशसे श्रितषोडशः ।।२ ।।

अर्थ—दिग्विजयी राजाओं में श्रेष्ठ, श्रुति शिखामणि अर्थात् उपनिषद के द्वारा जिनके महाशय को गाया गया हैं, जिन्होंने षोडश कला सम्पन्न जीव को मित्र के भाव में स्वीकारा है ऐसी षोछश कलात्मक पूर्णिमा को उदित हुए नवीन चन्द्रमा के समान नरवर रघुवर श्री सीतावर श्रीराम की जय हो जय हो ॥

जयति सर्वकलः किल राधया विलसितो हृतसेवकबाधया ।
यदुपतिः पतताम‌वलम्बनो धृतवनो ह्यवनो यदुनन्दनः ।।३।।

अर्थ—सेवकों की बाधाओं को दूर करने वाली भगवती राधा जी से सुशोभित पतितों के अवलम्बन, यदुकुल के स्वामी, तरुण सम्राट भक्तों की रक्षा करने वाले, सर्वकला सम्पन्न, भगवान् यदुनन्दन श्री कृष्ण की जय हो, जय हो ।

राधाराकामुपेताय ललितानन्दहेतवे ।
नमः श्रीकृष्णशशिने षोडशीषोडशाय च ।।४।।

अर्थ—राधारुपपूर्णिमा अथवा वैशाषीपूर्णिमा को प्राप्त, ललिता सखी एवं ललितभाववालों को आनन्द देने वाले, सोलहीं तिथि पूर्णिमा के सोलह कला से सम्पन्न श्रीकृष्ण रूप पूर्णचन्द्र को नमस्कार हो, नमस्कार हो ।

संगति—भगवान् देवाधिदेव यदुदेव श्रीकृष्ण चन्द्र ने नवें अध्याय के १२-१३ में सूत्र रुप से आसुरी प्रकृति और दैवीप्रकृति का वर्णन किया है। "राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः (गीता ९/१२) महात्मानस्तु माम् पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः (गीता ९/१३)।

अब उन्हीं दैवी और आसुरी संपत्तियों का सविस्तार वर्णन करने के लिए भगवान् सोलहवें अध्याय का वर्णन कर रहे है। अथवा पंद्रहवे अध्याय में पुरुषोत्तम योग का वर्णन किया गया। अब उसके अधिकारी अनधिकारी का वर्णन करने के लिए सोलहवें अध्याय का वर्णन करते —

श्री भगवान् उवाच

भगवान् श्रीकृष्ण बोले —

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ।। १६/१,२,३

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—सर्वप्रथम तीन श्लोकों में दैवी संपत्ति का वर्णन करते हैं- हे अर्जुन ! अब हैं अन्तः करण की पूर्ण शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप और आर्जव अर्थात् इन्द्रियों के विषय में सरलता, अहिंसा, सत्य क्रोध का अभाव, भगवतविमुखों का त्याग, शान्ति, बात न फैलाना अर्थात् चुगँली न करना, जीवों पर दया, लोलुपता का अभाव, अशास्त्रीय कर्मों में लज्जा, चंचलता का न होना, तेज, क्षमा, सात्विक धृति, बाह्य अन्तरशुद्धि, किसी से द्रोह न करना, बहुत अभिमान न करना ये छब्बीस गुण देवी संपत्ति को अभिलक्ष्य करके उत्पन्न हुए साधकों के हृदय में आर्विभूत हो जाते हैं।

व्याख्या—'अभयं' भय का अभाव। यह दैवी संपदा का प्रथम गुण है। अन्तः करणों को सत्व कहते हैं उसकी पूर्ण पवित्रता। 'ज्ञान योग व्यवस्थितिः' तृतीय अध्याय के कथनानुसार लोक में ज्ञानियों के लिए ज्ञानयोग और योगियों के लिए कर्मयोग द्वारा दो निष्ठाएं कही गयी हैं। इसलिए यहां वे ही दोनों ज्ञान और योग शब्द से व्यवहृत है अथवा सेवकसेव्यभाव ही ज्ञान है उसमें योग अर्थात समाधि में व्यवस्थित निष्ठा, अथवा

प्राप्ति, प्राप्य, प्राप्ति उपाय, प्राप्ति फल और प्राप्ति विरोधी इन सब का ज्ञान इनमें योग वल से स्थिति ही ज्ञानयोग की व्यवस्थिति है ।

"दानं" अपने शुद्ध धन का कुछ न कुछ परमात्मा को दे देना चाहिए । "दम" इन्द्रियों का दमन 'यज्ञ' श्रौत अथवा स्मार्त नित्य नैमित्तिक पञ्चयाग को यज्ञ कहते हैं । 'स्वाध्याय' अपने गोत्र के अनुसार अनुमोदित वेद की शाखा का मुखस्थ पाठ । 'तप' चान्द्रायण आदि कठोरव्रत । "आर्जव" इन्द्रियों की सरलता, अहिंसा किसी को कष्ट न देना । 'सत्यभाषण' अधिक क्रोध न आना । 'त्याग' भगवान् के भजन में बाधक प्रिय से प्रिय कुटुम्ब का त्याग जैसा कि गोस्वामी जी विनय पत्रिका में कहते हैं —

जाके प्रिय न राम वैदेही ।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही ।।

तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण बन्धु भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रज बनितनि भए मुदमंगलकारी ।।

नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहां लौं ।।
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान तें प्यारो ।
जासों होय सनेह रामपद, एतो मतो हमारो ।।

(वि० १७४)

मन की शान्ति, 'पिशुनता' का अभाव अर्थात चुगली न करना । 'तेज' दूसरे को चकित कर देने का सामर्थ्य, 'क्षमा'- सहनशीलता, 'धृति' सात्विक धारणा और अधिक अभिमान का भी चिन्तन न करना ये सभी दैवी सम्पत्ति के गुण कहे गये हैं ॥

संगति—अव भगवान् संक्षेप में आसुरी सम्पत्ति की व्याख्या करते हैं —

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।। १६/४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे पार्थ आसुरी सम्पत्ति में जन्म लिए हुए जीव के दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोर भाषण और अज्ञान, ये छः विशेष अवगुण कहे गये हैं ।

व्याख्या—तुम पृथा के पुत्र हो, तुम में देवत्व है । दम्भ का अर्थ है पाखण्ड, दर्प अर्थात् गर्व, अभिमान- अहंकार क्रोध-दूसरों को कुचलने की इच्छा, पारुष-कठोर भाषण, अज्ञान-ज्ञान का विरोधी भाव, यह सब आसुरी सम्पत्ति वालों में स्वयं आ जाते हैं ।

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं- कि मैने कि सम्पत्ति में जन्म लिया है ? दैवी सम्पत्ति में या आसुरी सम्पत्ति में ? अर्जुन के इस भ्रम का निवारण करते हुए भगवान् कहते हैं —

दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धयासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।। १६/५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! देवी सम्पत्ति मोक्ष के लिए होती है और आसुरी सम्पति नियत बंधन के लिए । तुम शोक न करो । क्योंकि हे तृतीय पाण्डव ! तुम दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करके जन्म लिए हो ।

व्याख्या—यहाँ भगवान् अर्जुन के सम्भावित बन्धन का निराकरण कर रहे हैं, जिसके पास दैवी सम्पत्ति होती है वह बन्धन में नहीं पड़ता । तुम तो इन्द्र के पुत्र हो, तुममें दैवी सम्पत्ति है, अतः चिन्ता न करो, तुम बन्धन में पड़ोगे ही नहीं ।

संगति—अर्जुन प्रश्न करते हैं कि- मैं कैसे जानूँ कि ये दैवी सम्पत्ति के लोग हैं और ये आसुरी सम्पत्ति के । अर्जुन के इस प्रश्न का विभागतः उत्तर देते ?

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।। १६/६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इस संसार में दैव और आसुर ये जीवों के दो सर्ग कहे गये हैं । उनमें प्रथम तीन श्लोकों से मैने विस्तार पूर्वक दैव सर्ग की चर्चा कर दी । अब आगे के सोलह श्लोकों में आसुर सर्ग का वर्णन मुझ से सुनो ।

व्याख्या—'मे शृणु' यहां सकाशात् का अध्याहार होगा तात्पर्य यह है कि दुर्योधन आदि आसुरी सम्पत्ति के हैं । ये बन्धन में पड़ेंगे ही ।

संगति—अब आसुर स्वभाव के मनुष्यों के दुगुर्ण सुनाने के लिए सावधान करते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।। १६/७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—तात्पर्य यह है कि- कैसे कर्म में लगा जाय और कब कर्म का विराम हो ? इस प्रवृत्ति निवृत्ति का आसुरी सम्पत्ति वालों को ज्ञान नहीं होता । जैसे संध्या में भोजन नहीं करना चाहिए तो असुर संध्या में अवश्य भोजन करेगा । प्रातः काल नहीं सोना चाहिए तो उसमें अवश्य सोयेंगे ।

संगति—हे अर्जुन ! असुर लोग जगत को असत्य, प्रतिष्ठाहीन ईश्वर से रहित और परपुरुष से परस्त्री में उत्पन्न हुआ, सब कुछ निन्दित, केवल काम प्रयोजन से युक्त कहते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में जगत और कुछ नहीं केवल स्त्री-पुरुष के भोग का परिणाम है।

व्याख्या—यह पक्ष लौकायतिक अर्थात् चार्वाको का है। 'अपरस्मात् परस्मिन् कलत्रे संभूतम्' इस विग्रह में सप् सुपा से समास और पृषोदरादित्वात् सुट् का आगम हुआ।

संगति—इस प्रकार के लोग जगत के नाश के लिए ही उत्पन्न होते हैं।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।।१६/९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इस प्रकार अशास्त्रीय दृष्टि स्वीकार करके वे अल्पबुद्धि वाले असुर लोग अपनी आत्मा को नष्ट कर डालते हैं। वे उग्र कर्म करने वाले सदैव दूसरे के अहित में लगे हुए जगत के विनाश के लिए ही उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या—एताम् अर्थात् उनकी दृष्टि सर्वथा अशास्त्रीय होती है। 'प्रभवन्ति' परिवार के किसी भयंकर पाप से उनका जन्म होता है।

संगति—अब उन असुरों का जगत में प्रवर्तन कह रहे हैं। अर्थात् ये जब किसी से कोई भी व्यवहार करते हैं तो कोई न कोई उनके साथ भयंकर स्वार्थ लगा होता है।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।। १६/१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! वे दम्भ, मान और मद से युक्त अपवित्र निश्चय वाले असुर जन मोहपूर्वक असद् ग्राह अर्थात् असज्जनों द्वारा अपनाने योग्य सिद्धान्तों को स्वीकार करके मोह से वशीभूत हुए कभी भी न पूरी होने वाली किसी विशाल महत्वाकांक्षा को स्वीकार करके ही संसार में व्यवहारार्थ प्रवृत्त होते हैं अर्थात् बिना स्वार्थ के किसी से व्यवहार करते ही नहीं।

व्याख्या—इच्छा की कभी पूर्ति होती ही नहीं जैसे—घी डालने से अग्नि बुझता नहीं प्रत्युत और प्रज्वलित हो उठता है उसी प्रकार कामनाओं के भोग से कामनाओं की तृप्ति नहीं होती वे नित्य नूतन होती रहती है। जैसे—मनु महाराज कहते हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

मनु स्म० ५-९४

संगति—अर्जुन इतना ही नहीं असुरों में मेरे चिन्तन का अभाव होता है इसलिए उनकी चिन्ता कभी जाती नहीं ।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।। १६/११।।

रा०कृ०भा० मामान्यार्थ—वे असुर लोग शरीर का अन्त ही जिसका अवसान है ऐसी अपरिमित चिन्ता को स्वीकार करते जगत में रहते हैं । काम का उपभोग ही उनका परम लक्ष्य होता है । काम के अतिरिक्त इस संसार में कुछ नहीं है । जो कुछ है 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा सुरा पिबेत् ।।' इसी प्रकार का निश्चय करके वे इस संसार में रहते हैं ।

व्याख्या—उनकी चिन्ता का कभी अन्त नहीं होता क्योंकि चिन्ता तो बिना चिन्तामणि के जा ही नहीं सकती । "तुलसी चित चिन्ता न मिटै बिन चिन्तामणि पहचाने ।।" एतावत संसार में और कुछ है ही नहीं यही उनका चिन्तन ही है ।

संगति—और भी वे क्या करते हैं इस पर भगवान् कहते हैं—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ।। १६/१२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—आशाओं के सैकड़ों बंधनो से बंधे हुए काम और क्रोध को ही परम लक्ष्य मानने वाले वे असुर लोग, अपनी उच्छृंखल कामनाओं के भोग के लिए अन्याय से अर्थों का संग्रह करते हैं ।

व्याख्या—परायण शब्द का यहाँ प्राप्य अर्थ है । असुर लोगों के जीवन में बहुत आशाएँ होती हैं । इसीलिए सभी सेनापतियों के मारे जाने पर संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—

'हते भीष्मे हते द्रोणे हते कर्णे महारथे ।
आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान् ।।'

संगति—अब भगवान् असुरों के मनोव्यापार का विश्लेषण करते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।। १६/१३।।

रा०कृ०भा० समान्यार्थ—असुर लोग कहते हैं- आज यह वस्तु मेरे द्वारा प्राप्त की गयी । आज के पश्चात भी कल, परसों, नरसों मैं यह मनोरथ प्राप्त कर लूँगा । यह धन मेरा है । और यह भी मेरा ही हो जायेगा ।

व्याख्या—गीता १६/१३ श्लोक के पाठ भेद में बड़े-बड़े आचार्य परस्पर विरुद्ध देखे जाते हैं। शंकराचार्य जी अपने गीता भाष्य में 'इदं प्राप्स्ये मनोरथं' पाठ मानते हैं। परन्तु साक्षात् शेषावतार श्री रामानुजाचार्यचरण 'इमं प्राप्स्ये मनोरथं' यहीं पुंलिङ्ग पाठ ही मानते हैं। वास्तव में मनोरथ शब्द कभी भी नपुंसक लिङ्ग में नहीं देखा जाता। इसका पुल्लिङ्ग में ही पाठ उपलब्ध होता है। अतएव वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के स्वादि संधि प्रकरण में भट्टोजि दीक्षित ने भी 'मनोरथ:' यह पुलिङ्ग पाठ ही माना है। अतएव पुलिङ्ग मनोरथ शब्द का विशेषण भी पुलिङ्ग घटित 'इमम्' शब्द ही होना चाहिए।

संगति—फिर उन असुरों की मरु मरीचिका पूर्ण शब्दावली को दो श्लोकों में उपस्थित करते हैं।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।। १६/१४

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।। १६/१५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और मैं अन्य शत्रुओं को मारूँगा। मैं ईश्वर हूँ। मै ही सुन्दर भोगों वाला हूँ। मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं धनवान हूँ, मैं कुटुम्बवान हूँ, मेरे समान और है कौन? मैं यज्ञ करुँगा, मैं दान दूँगा, मैं प्रसन्न होऊँगा इस प्रकार अज्ञान से मोहित होकर अहंकार पूर्ण उक्तियां बोलते रहते है।

व्याख्या—दैवी प्रकृति का व्यक्ति हनन क्रिया का कर्त्ता नहीं बनता। असुर अपने को ईश्वर मानता है, परन्तु दैवी प्रकृति का व्यक्ति अपने को ईश्वर का दास मानता है। श्री हनुमान जी अपने को भगवान् का दास कहते है "दासऽहं कौशलेन्द्रस्य" "येक्ष्ये" यहाँ कर्मवाच्य में 'मैं यजमान द्वारा पूजित होऊँगा'। वास्तव में यही अर्थ उचित है क्योंकि असुर वैदिक धर्म के विरोधी होने से यज्ञ कैसे करेंगे। इसीलिए असुर वैदिक धर्म के विरोधी होने से यज्ञ कैसे करेंगे। इसीलिए मारीच सुबाहु विश्वामित्र के यज्ञ का विरोध कर रहे थे। 'दास्यामि'- असुर कब से दान देने लगे? अतः वहाँ दण्डम् शब्द का अध्याहार करना चाहिए।

संगति—इस प्रकार के लोगों का भगवान् परिणाम कह रहे हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।। १६/१६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! अनेक स्थानों में चित्त होने से विभ्रम में पड़े हुए एवं मोह जाल में पड़े हुए तथा कामात्मक भोगों में अत्यन्त आसक्त हुए वे असुरगण अत्यन्त अपवित्र नरक में पड़ते हैं ।

व्याख्या-–यहाँ बहुव्रीहि गर्भ कर्मधारय हैं अर्थात् "अनेकेसु चित्तम् येषां ते अनेकचित्ताः अतएव विभ्रान्ताः" ।

संगति—इतना ही नही उनका और कोई तो सम्मान करता ही नही अतएव वे अपना सम्मान स्वयं कर लेते हैं । इसी बात को भगवान् दो श्लोकों में कह रहे हैं —

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।। १६/१७,१८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन् ! वे मूर्ख अपने द्वारा ही सम्मनित होते हुए धन मान और मद से युक्त होकर, अहंकार बल, गर्व, काम, क्रोध को प्राप्त हुए अपने और अन्य के शरीरों में वर्तमान मुझको द्वैष करते हुए, मेरे गुणों में दोष देखते हुए वे असुर लोग पाखण्ड से, वैंदिक विधि से विहीन नाममात्र का यज्ञ करते हैं ।

व्याख्या—असुरों का और कोई तो सम्मान करता नहीं, न ही उनकी कोई प्रसंशा करता हैं । इसलिए वे अपना सम्मान और प्रसंशा स्वयं कर लेते है । जैसे—

"उष्ट्राणां च विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्दभाः ।
परस्परं प्रशंसन्ति अहोरूपमहो ध्वनिः ।।

"नामयज्ञैः" नाम्ना यज्ञाः नामयज्ञाः तैः नामयज्ञैः ।

संगति—तव आप क्या करते हैं? अर्जुन के इस प्रश्न पर भगवान् दो श्लोकों से कह रहे हैं —

'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।१६/१९-२०।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन् ! मुझको द्वेष करते हुये निर्दय प्राणियों में अधम, उन अशुभ विचार वाले असुरों को मैं निरन्तर संसरणशील नरकों में फिर आसुरी योनियों में फैंकता रहता हूँ।

वे जन्म -जन्म में आसुरी योनिको प्राप्त हुये मूढ असुरजन मुझको प्राप्त न करके उससे भी अधम गति को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या—भगवान् असुरों को फेंक देते हैं, इसीलिये मारीच को विना फलका बाण मारकर उसे सौ योजन दूर सागर में फेंक दिया—

"विनु फर बान राम तेहिं मारा। सत योजन गा सागर पारा।।
मानस १-२१-४॥

संगति—अब भगवान् दो श्लोकों से असुर भाव का कारण कह रहे हैं —

"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यागत्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।
१६//२१-२२॥

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! जीव से भगवान् को दूर करने वाले अर्थात् जीवात्मा के नाशक काम-क्रोध और लोभ ये तीनों ही नरक के द्वार हैं। इसीलिये साधक को ये तीनों दूर से छोड़ देने चाहिये। इन तीनों काम- क्रोध-लोभरूप नर के द्वारों से विमुक्त हुआ जो साधक अपनी आत्मा के कल्याण का आचरण करता है, तदनन्तर वह परमगति अर्थात् मेरे वैष्णव पद को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—काम-क्रोध और लोभ नरक के द्वार है, यही बात गोस्वामी जी मानस जी में कहते हैं —

"तात तीनि अति प्रवल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि विग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ।।
मानस ३-३८(क)

"तमोद्वारैः" संस्कृत में तम शब्द नरक का भी वाचक है, 'तमसः द्वाराणि तमो द्वाराणि तैः तामे द्वारैः'।

संगति—अब भगवान् दो श्लोकों से कर्म की शास्त्रपरतन्त्रता का वर्णन कर रहे हैं—

"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। १६/२३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो शास्त्र की विधि का त्याग करके अपनी इच्छा से संसार में प्रवृत्ति करता है, न उसे जीवात्मा बोध रूप सिद्धि मिलती है, और न ही उसे मेरा भजनानन्द मिलता है । और न ही वह मेरी सामीप्यमुक्ति रूप परमगति ही प्राप्त कर पाता है ।

व्याख्य—यहां 'शास्त्र' शब्द वेद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, 'काम' शब्द का अर्थ है इच्छा, 'कामेन करणं कामकरणं' तेन कामकरतः' अर्थात् अपनी इच्दा से ।

संगति—अब भगवान् इस अध्यायका निष्कर्ष कह रहे हैं —

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।। १६//२४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इसीलिये करणीय और अकरणीय की व्यवस्था में तुम्हारे लिये शास्त्र अर्थात् वेद ही प्रमाण है । इस कुरुक्षेत्र में शास्त्र विधि से विहित जानकर तुम कर्म ही करने के लिये योग्य हो ।

व्याख्या—क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये इस व्यवस्था में वेद प्रमाण है । यहाँ करणीय के अर्थ में कार्य तथा अकरणीय के अर्थ में अकार्य शब्द का प्रयोग हुआ है । व्यवस्था के अर्थ में ही व्यवस्थिति शब्द का प्रयोग है, विधि के अर्थ में विधान शब्द का प्रयोग हुआ है । "इह" आशय यह है कि कुरुक्षेत्र युद्धक्षेत्र है, यहाँ क्षत्रिय को युद्धरूप कर्म ही करना होगा ।

राघव कृपा सुभाष्य करि यह षोडश अध्याय ।
रामभद्र आचार्य शुभ गीता कृष्ण सहाय ।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामीरामभद्राचार्यप्रणीते श्रीमद्भगवद्गीतासु श्रीराघवकृपाभाष्ये षोड़शोऽध्यायः

।। श्रीराघवः शन्ततोतु ।।

श्रीराघवो विजयते
श्री रामानन्दाचार्याय नमः

सप्तदशोऽध्यायः

मन्दाकिनी वारिपवित्रकूटम्।
संसार पाथोधिबहित्रकूटम्।।
सीतेशपादाब्जविचित्रकूटम् ।
मत्यापकूटं द्यतु चित्रकूटम्।।१।।
मन्दाकिनीपयःपूरसिक्तपादाम्बुजाय च।
ब्रह्मणेनोमिरामाय चित्रकूटविहारिणे।।२।।
नीलनीरदकान्ताय वेत्रतोत्रधराय च।
कृष्णाय ब्रह्मणे तस्मै पार्थसारथये नमः।

अथानन्तराध्याये "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते "इति भगवतैव शास्त्रप्रमाणकं कर्म प्रत्यपादि। पत्र स्त्रातिलङ्घिनां श्रद्धालूनां का निष्ठेति पार्थस्य प्रश्नबीजं तदेव प्रोहयन् पप्रच्छ प्राञ्जलिः पृथानन्दनः —

"अर्जुन उवाच"

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः।। १७-१।।

रा.कृ.भा.- अर्जुनः पप्रच्छ हे कृष्ण! प्रणतजनमनःकर्षक, ये श्रद्धया आस्तिकबुद्ध्या, शास्त्रविधिं वैदिकविधानमुत्सृज्य त्यक्त्वा, वृद्धमुखोदितपारंपर्येणैव यजन्ते पूजयन्ति। निश्चयेन तिष्ठन्ति यस्यां सा निष्ठा, तेषां त्यक्तशास्त्राणं का निष्ठा, सत्त्वमुताहो रजः, अथवा तमः। शास्त्रवर्जिताः श्रद्धालवः सात्त्विका, राजसास्तामसा वा, इति पार्थ प्रश्नः।।श्रीः।।

अथ पार्थप्रश्नं विभाव्य भगवान् उत्तरयामास—

"श्रीभगवानुवाच"

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु।। १७/२।।

रा.कृ.भा.- हे पार्थ! नैप ते प्रश्नः स्वाभाविकः स्वाभावो नाम

पूर्वकृतकर्मसंस्कारवासना, तस्मात् स्वभावाज्जायते इति स्वभावजा, एवं विधा देहिनां प्राणिनां सात्त्विकी राजसी, तामसीइत्येवं नाम्नी त्रिविधा भेदत्रयात्मिका श्रद्धा आस्तिकबुद्धिर्देहिनां भवति। तां श्रद्धां मया निगद्यमानां श्रणु श्रुत्वावधारय।।श्रीः।।

अथ पुरुषस्य श्रद्धामयत्वमाह —

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्ध स एव सः।। १७-३।।

रा.कृ.भा. — हे भारत! भायां सात्त्विकश्रद्धायां रत। सर्वस्य प्राणिवर्गस्य सत्त्वं चित्तं तदनुरूपा श्रद्धा भवति। यदि चित्तं सत्वगुणावच्छिन्नं, तदा सात्त्विकी। रजोगुणोपेतं तदा राजसी। तमोगुणाप्तं तदा तामसी। अयं पुरुषः देहविशिष्टजीवात्मा श्रद्धामयः "अत्र प्राचुर्ये मयट्" श्रद्धा प्रचुरः। तथा यः पुरुषः यच्छ्रद्धः या श्रद्धा यस्य स यच्छ्रद्धः, सात्त्विकश्रद्धावाँञ्चेत् सात्त्विकः, राजस् श्रद्धायुक्तो राजसः, तामसश्रद्धश्चेत् तामसः।।श्री।।

अथ गुणभेदेन पूज्यतारतम्यमाह—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।। १७-४।।

रा.कृ.भा. — सात्त्विकश्रद्धयोपेताः देवान् सात्त्विकान् यजन्ते। तथा राजसाः रजोगुणश्रद्धान्वित समानप्रकृतीनि यक्षरक्षांसि रजोगुणप्रधानानि यजन्ते। तथा च अन्ये तामसाजनाः तमोगुणश्रद्धयोपेताः भूतान् प्रेतगणान् पिशाचान् यजन्ते।।श्रीः।।

अथाशास्त्रीयं तपो निन्दति द्वाभ्याम् —

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।। १७/५-६।।

रा.कृ.भा. — ये जनाः, दम्भश्चाहङ्कारश्च दम्भाहङ्कारौ पाखण्डा भिमानौ ताभ्यां संयुक्ताः, कामेष्वभीष्टपदार्थेषु रागः आसक्तिः कामरागः तस्य बलम् तेन अन्विताः, शरीरे देहे तिष्ठतीति शरीरस्थं मां चान्तः शरीरस्थितं, भूतानां ग्रामं समूहं कर्षयन्तः मदाज्ञातिक्रमणेन क्लेशयन्तः। अशास्त्रविहितं शास्त्रविहितविरुद्धं घोरं तपः तप्यन्तः तप्यमानाः तप्यन्ते। तान् आसुरः निश्चयो येषां तथाभूतान् विद्धि जानीहि। अनेन "अर्हतां मतं" निंदितम्।।श्रीः।।

अथ आहारयज्ञतपोदानानां प्रत्येकं त्रैविध्यं निरूपयितुं प्रतिजानीते —

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।। १७/७।।

रा.कृ.भा. — हे पार्थ! एवं सात्त्विकराजसतामसभेदेन विभक्तस्य सर्वस्यापि त्रिविधः तिस्रः सात्त्विकीराजसीतामस्यः विधाः प्रकाराः यस्य एवं विधः आहारो यथाश्रद्धं प्रियो भवति। एवं सर्वस्य त्रिविधो यज्ञः प्रियः, त्रिविधं तपः प्रियं त्रिविधं दानं प्रियं भवति। तेषां त्रैविध्यभाजां आहारयज्ञतपोदानानामिमं अचिरादुच्यमानं शृणु अवधारय।।श्रीः।।

अथाहारत्रैविध्यं निरूपयति —

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सत्त्विकप्रिया।।
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।
यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।। १७/८-९-१०।।

रा.कृ.भा. — आयुर्जीवनं, सत्त्वमान्तर्बलं, बलं प्राणधारणसामर्थ्यम, आरोग्यं रोगाभावः, सुखं अनुकूलवेदनीयं, प्रीतिः मनस्तोषः, एषांम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। आयुश्चशक्तिश्च बलं चारोग्यं च, सुखं च प्रीतिश्च आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतयः, ताः विवर्धयन्ति इत्यायुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः रसप्राया दुग्धाः स्निग्धाः घृतनिर्मिता अपूपशाष्कुल्यादयः स्थिराः सूर्योदनादयः, हृद्याः हृदयस्य प्रियाःपायसादयः, इमे आहाराः सात्त्विकानां प्रियाः। किं च कटवः, अम्लाः अत्यन्तमुष्णाः, तीक्ष्णाः रूक्षाः, विदाहयन्तीति विदाहिनो द्वन्द्वगर्भकर्मधारयः दुःखंशोकमामयंरोगं प्रकर्षेण ददतीति दुःखशोकामयप्रदाः एते आहाराः राजसस्य रजोगुणश्रद्धावतः इष्टा प्रियाः।

तथैव यातः यामः प्रहरःयस्य तत् यातयामं अतीताहोरात्रात्मकप्रहरं, गतः रसः यस्मात् तद् गतरसं नीरसं स्वादहीनं — "स्वादहीनं न भोक्तव्यं विधात्रापि समर्पितम् "इति जनश्रुतेः। पूति दुर्गन्धयुक्तं लसुनपलाण्ड्वामिपमयं, पर्युषितं पक्वान्नमपि रात्र्यन्तरितम् उच्छिष्टं भुक्त्वावशिष्टं गुर्वाचार्यामुक्त्वोच्छिष्ट व्यतिरिक्ताम्—

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सत्कृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः।

एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस—
स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते।। भागवत-१-५-२५।।

अमेध्यं "यज्ञो वैविष्णुस्तदनर्हम् "अनिवेदितं ह्यमेध्यं भवति। अत एव तद्वस्त्वमेध्यं यद् भगवता न ग्रहीतुं शक्यं, यथा चायादिकम्। एवं विधं भोजनं तामसप्रियम्। अतः श्रीवैष्णवैवर्जनीयम् इतिफलति।।श्रीः।।

अथ यज्ञं निरूपयाति - तत्र पूर्वंसात्विकम् —

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः।। १७/११।।

रा.कृ.भा. — यष्टव्यं भगवत्प्रीतये यजनं कर्तव्यम्, इत्येवं रुपेण मनः समाधाय संकल्पितं कृत्वा न फलं काङ्क्षन्ति तच्छीलाः इत्यफलकाङ्क्षिणः तैरफलाकांक्षिभिः फलाकांक्षारहितैः विधिना वेदविहितविधिबोधकमंत्रेण दृष्टः कृत साक्षात्कारः यज्ञ इज्यते, अनुष्ठीयते स यज्ञः सात्विको भवति।।श्रीः।।

अथ राजसं वर्णयति —

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।। १७/१२।।

रा.कृ.भा. — हे भरतेषु श्रेष्ठ अर्जुन! यत् यदा फलमभिसंधाय मस्वर्गकामोज्योतिष्टोमालभेत। इत्यादि मन्त्रेषु स्वर्गादिरूपं फलं निश्चित्य दम्भार्थ धर्मप्रदर्शनार्थं यः यज्ञः इज्यते, तं यज्ञं राजसं विद्धि जानीहि।।श्रीः।।

अथ तामसमुदाहरति —

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।। १७/१३।।

रा.कृ.भा. — विधिना वेद विधिना हीनं, न शिष्टं ब्राह्मणेभ्योऽन्नं यस्मिन् तत् अशिष्टान्नं, मन्त्रहीनं स्वरतो वर्णतश्च मन्त्रेण रहितमदक्षिणं न विद्यते युक्तदक्षिणा यस्मिन् । एवं विधं श्रद्धया, आस्तिक बुद्धया विरहितं यज्ञमिह यजमाने श्रद्धा विराहित्यम् यज्ञे उपचर्यते तथा च श्रद्धया विरहितः यजमानः यस्मिन् स श्रद्धाविरहितयजमानः सा एव उत्तरपदलोपात् श्रद्धाविरहितस् तम् श्रद्धाविरहितम् तामसं, तमोगुण श्रद्धायुक्तं परिचक्षते कथयन्ति मनीषिणः।।श्रीः।।

अथ तपो निरुपणं तत्र पूर्वं सात्विकम् — तत्रापि प्रथमं सात्विकशारीरं

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। १७/१४।।

रा.कृ.भा. — देवाः इन्द्रादयः, द्विजाः तपश्श्रुत्योनिभिः ब्राह्मणत्वसम्पनाः गुरवः धनुर्विद्यादि श्री राममन्त्राद्याचार्याः, प्रज्ञाः बुद्धिमन्तः तेषां देवद्विजगुरूप्राज्ञानां पूजनं सन्तोषः शौचं वाह्यान्तरशुद्धिः, ब्रह्मचर्थम् आर्जवं सरलता, चरमधातु परिपालनं यथोक्तं श्रुत्या – तेजोऽसि, अमृतमसि धामनामासि, प्रियं देवाना मनाघृष्टं देवयजनमसि।

इदमृतं यद्देवानां दैवीसम्पदुपासिना प्रियं। — मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु धारणात् - इत्यतभियुक्तेः, अहिंसा परपीडनाभावः इदं सात्विकं शारीरं तपः उच्यते।।श्रीः।।

अथ सात्विकं वाङ्मयं —

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्चते।। १७/१५।।

रा.कृ.भा. — यत्तदोर्हिनित्यसापेक्षत्वात् यच्छब्दानुरोधेन तत् इत्यस्य अध्याहारः एवं अन्वय प्रकारः प्रोच्यते-यत् वाक्यमनुदवेगकरं च सत्यं प्रियहितं चैव स्वाध्यायाभ्यसनं तद् वाक्यं वाङ्गमयं तपः उच्यते। यत् नोद्वेगं करोति तद्धेतुः इत्यनुद्वेगकरं सत्यं यथार्थभाषणं प्रियहितं मधुरं कल्याणकरं च, यद् वाक्यं तथा स्वाध्यायस्य निजशाखानुमोदित वेदाध्ययनं यस्मिन् तत् सर्वं वाङमयं सात्विकं तपः उच्यते।।श्रीः।।

अथ मानसम्—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। १७/१६।।

रा.कृ.भा. - मनसः प्रसादो मनः प्रसादः, मनः प्रसन्नता निर्विकारतेति यावत्सौम्यत्वं क्रूरतायाः अभावः, मौनं मननशीलता, गृहीते वाङ्नियमे यदा मनोऽपि न किमपि वदेत्, आत्मनो मनसो विनिग्रहः विष्णौ मति निग्रहः, भावानां वृत्तीनां संशुद्धिः सम्यक् विशोधनं, इदं सात्विकं मानसतपः उच्यते।।श्रीः।।

अथ सात्विकमुपसंहरति—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते।। १७/१७।।

रा.कृ.भा. - एवं परया सात्विकया श्रद्धया अस्तिकबुद्धया पूर्वोक्तं तत्प्रसिद्धं त्रिविधं शारीरवाङ्मयमानसं नरैः अफलाकाङ्क्षिभिः फलेच्छारहितैः युक्तैःज्ञानयोगिभिः

कर्मयोगिभिर्वा नरैः यत्पूर्वोक्तमिदं तत्वं तदेव तपः तपस्विनः सात्विकं परिचक्षते व्याहरन्ति।।श्रीः।।

अथ राजसं व्याख्याति –

सत्कारंमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।। १७/१८।।

रा.कृ.भा. - सत्कारः, आदरः, मानं मधुरवाणीप्रयोगः, पूजा कायिकं सम्मानं, सत्कारश्च मानंच पूजाच इति सत्कारमानपूजा ताः अर्थः प्रयोजनं यस्मिन् तत् सत्कारमानपूजार्थं। दम्भेन पाखण्डिना यत्तपः क्रियते, तदेव तपः इह राजसं चञ्चलं ध्रुवं न अस्थिरं प्रोक्तं कथितम्।।श्रीः।।

अथ तामसमुदाहरति –

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।। १७/१९।।

रा.कृ.भा. - यत् मूढश्चासौ ग्राहः मूढग्राहः तेन मूढग्राहेण मोहपूर्णोद्देश्यग्रहणेन आत्मनः शरीरस्य पीडया, परस्य शत्रोः उत्सादनार्थं विनाशार्थं, यत्तपः क्रियते, तत्तामसं तमोगुणश्रद्धायुक्तं उदाहृतम्।।श्रीः।।

अथं दानं निरूपयति। तत्र प्रथमं सात्त्विकं –

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।। १७/२०।।

रा.कृ.भा. - दातव्यमिति विधिमनुस्मृत्य अनूपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय, उचिते देशे चित्रकूटकुरुक्षेत्रादौ, उचिते काले उषःकाले द्वादशी सङ्क्रान्त्यादौ, उचिते पात्रे गृहीतविद्ये दक्षिणार्थि ब्रह्मचारिणि अनाथविकलाङ्गसेवापरायणे निर्लोभे विरक्तश्रीवैष्णवे सर्ववेदस्मृतिपुराणेतिहासविशारदे, वशीकृत शारदे ब्राह्मणे यद् दानं दीयते तद्दानं सात्त्विकं स्मृतं, मया इति शेष।।श्रीः।।

अथ राजसम् –

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।। १७/२१।।

रा.कृ.भा. - तु इति पक्षान्तरे, एतद्विपरीते पक्षे यद् दानं प्रत्युपकारः अर्थः प्रयोजनं यस्मिन् तत्प्रत्युपकारार्थं प्रत्युपकारप्रयोजनं वा "निपातोऽयं तथार्थः" तथा फलमुद्दिश्य किञ्चित्फलमुद्दिश्यं मत्वा, पुनश्च परिक्लिष्टं क्लेशपूर्वकं यद्दीयते उत्सृज्यते, तत्तादृशं दानं राजसं रजोगुणश्रद्धामयं स्मृतं गीतास्मृत्या।।श्रीः।।

अथ तामासमुदाहरति —

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।। १७/२२।।

रा.कृ.भा. - देशकालयो: समाहार:, देशकालं न देशकालमदेशकालं तस्मिन् अदेशकाले, अपात्रेभ्य: प्रतिग्रहानर्हेभ्य: असत्कृतं न विद्यते सत्कृतं सत्क्रिया यस्मिन्, तत् असत्कृतं, मानससत्कारवर्जितं,अवज्ञातम् अवज्ञा अवज्ञातम् 'नपुसकेभावे क्त: अपमानं तद् अवज्ञातमस्त्यस्मिन् इत्यवज्ञातं, अपमानपूर्णं यद्दानं दीयते विसृज्यते तत्तामसम् उदाहृतं भवति।।श्री:।।

अथ ब्रह्मनिर्देशत्रयं वर्णयति पञ्चभि:। तत्र प्रथमं —

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध: स्मृत:।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता: पुरा।। १७/२३।।

रा.कृ.भा. - निर्दिश्यते अनेन इति निर्देश: ओम् तत्, सत् इत्येवं रूप: ब्रह्मण: वेदात्मकस्य भगवतस् त्रिविधो निर्देश: स्मृत: गीतास्मृत्यां ध्यात:। तेन निर्देशेन त्रिविधेन पुरा ब्राह्मणा: ओमित्यनेन वेदा: तत् इत्यनेन, यज्ञा: सदित्यनेन मयैव परमात्मना विहिता आविर्भाविता:।।श्री:।।

ओङ्कारं स्तौति —

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप: क्रिया:।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ता: सततं ब्रह्मवादिनाम्।। १७/२४।।

रा.कृ.भा. - तस्मात् ब्रह्मनिर्देशत्वादेव ब्रह्म वदन्ति तच्छीला: इति ब्रह्मवादिन: तेषां ब्रह्मवादिनां सततं निरन्तरमेव, ओम् इत्येतत् उदाहृत्य उच्चैरुच्चार्य, विधानोक्ता: वेदविधिना प्रोक्ता: यज्ञदानतपसां क्रिया: प्रवर्तन्ते प्रवृत्ता: भवन्ति।।श्री:।।

अथ तदिति स्तौति —

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतप: क्रिया:।
दानक्रियाश्च विविधा: क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभि:।। १७/२५।।

रा.कृ.भा. - तदित्येतत् ब्रह्मनिर्देशं स्मृत्वा फलमनभिसन्धाय फलानुसन्धानं न कृत्वा, यज्ञतपसो: क्रिया:, विविधा: अनेका: दानस्य क्रिया: मोक्षकाङ्क्षिभि: मुमुक्षुभिर्जनै: क्रियन्ते विधीयन्ते।।श्री:।।

अथ सच्छब्दं द्वाभ्यां स्तौति —

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द: पार्थ युज्यते।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।। १७/२६-२७।।

रा.कृ.भा.- अत्र श्लोकद्वये सच्छब्दस्य सप्तार्थाः भगवता निगदिता। तत्र हे पार्थ! बह्वर्थकोऽयं सच्छब्दः, सद्भावे सति दृष्टो भावः सद्भावस् तस्मिन् सद्भावे, व्युत्पत्तिश्च सतः परमात्मनो भावः सद्भावः, सतः सत् सत्त्वस्य जीवस्य च भावः सद्भावस् तस्मिन् सद्भावे, यद् वा साधोः भावः साधुभावः तस्मिन् साधुभावे सच्छब्दस्य साध्वर्थोऽपि। तस्मात् सतां भावः सद्भावः तस्मिन् सद्भावे, एवमर्थद्वये स्थितः सदिति निर्देशः सत् इति उच्यते। तथा हि प्रशस्ते कर्मणि श्रेष्ठे कर्मणि सच्छब्दः युज्यते उपयुक्तो भवति। एवमेव यज्ञे पूर्वोक्ते सात्त्विके, तपस्यपि पूर्वोदाहृते सात्त्विके, दाने च अनुपदमुक्ते सात्त्विके स्थितिः सत् सदिति उच्यते। यज्ञस्थितिः, तपः स्थितिः, दानस्थितिश्च सत् इति फलितम्। तथा च तस्य परमात्मनोऽर्थ तदर्थस् तस्मिन् भवं तद्र्थीयं भगवन्निमित्तकं श्रुतिविहितं कर्मापि सत् इत्येव अभिधीयते कथ्यते। एवं सच्छब्दस्य सप्तार्थाः, तथैव सत्सङ्गेऽप्यनुसन्धेयम्। तथा हि-सतः परमात्मनः सङ्गः, सतां साधूनां सङ्ग, सतां प्रशस्तकर्मणां सङ्गः, सतां श्रौतस्मार्तयज्ञानां सङ्गः, सतां सात्त्विकानां त्रयाणां तपसां सङ्गः, सतः सात्त्विकस्य दानस्य सङ्गः, सतः तदर्थीयस्य कर्मणः सङ्गः।।श्रीः।।

अध्यायमुपसंहरति —

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।। १७/२८।।

रा.कृ.भा. - हे पार्थ! अश्रद्धया नास्तिकबुद्ध्या हुतमग्नौ, आहुतये निक्षिप्तं, दत्तं नास्तिक बुद्ध्यैव कस्मैचित् उत्सृष्टं, नास्तिक बुद्ध्यैव यदपि तप्तं तपः, किं बहुना, अश्रद्धया नास्तिक बुद्ध्या यदपि किञ्चित् कृतम्। तत् असत् इत्युच्यते अनित्यं भवति। तत्सर्वं प्रेत्य शरीरं त्यक्त्वापि परलोके न फलाय कल्पते। तथा इह अस्मिल्लोकेऽपि न कल्याणाय प्रभवतीति भगवतोऽभिप्रायः

कदाश्रीकालिन्द्याः विमलपुलिने कन्दसुभगम्।
श्रितं राधांमद्धा विगतभवबाधां स्मितमुखीम्।।
वहन् श्रद्धां मुग्धो मधुमथनपादाम्बुजरतो।
मुहुर्नामं नामं नमितनयनो नौमि सुखयन्।।
मया सप्तदशोऽध्यायः गीतायाः श्रद्धया मुदा।
श्रीराघवकृपाभाष्ये व्याख्यातो राघवार्थिना।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामभद्राचार्य प्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रद्धात्रयविभागयोगोनाम सप्तदशोऽध्यायः।

।। श्रीराघवः शंतनोतु ।।

श्रीमद्राघवो विजयते

श्रीरामानन्दाचार्याय नमः

सप्तदशोध्यायः

मंगलाचरणं

मन्दाकिनीवारिपवित्रकूटं संसारपाथोधिवहित्रकूटम् ।
सीतेशपादाब्जविचित्रकूटं मत्पापकूटं द्यतु चित्रकूटम् ।।

अर्थ—जिसके शिखर मन्दाकिनी के जल से पवित्र, एवं संसार सागर के लिये जहाज के समान, तथा सीतापति श्रीराघवेन्द्र के चरणाविन्द से विचित्र अर्थात् रमणीय हो चुके हैं, ऐसा चित्रकूट मेरे पाप समूहों का खण्डन कर दे ॥

मन्दाकिनीपयःपूरसिक्तपादाम्बुजाय च ।
ब्रह्मणे नौमि रामाय चित्रकूटविहारणे ।।

अर्थ—मन्दाकिनी जी के जल प्रवाह से जिनके श्रीचरण कमल नित्य अभिषिक्त होते रहते हैं, ऐसे श्रीचित्रकूटविहारी परब्रह्म भगवान् श्रीराम को नमस्कार हो ।

"नीलनीरदकान्ताय वेत्रतोत्रधराय च ।
कृष्णाय ब्रह्मणे तस्मै पार्थसारथये नमः ।।

अर्थ—नीले वादल के समान सुन्दर, हाथ में वेंत एवं चावुक धारण किये हुये भगवान् पार्थसारथी पर ब्रह्मश्रीकृष्ण को नमस्कार हो ।

संगति—भगवान् पूर्व अध्याय के अन्तिम श्लोक में "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते ॥ गीता १६-२४, कहकर कर्म को स्वयं शास्त्रप्रमाणक कह चुके हैं, अर्थात् कर्म की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण हैं । वहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि- कोई श्रद्धालु शास्त्र विधि का उल्लङ्घन करके यदि यज्ञ करता है, पर शास्त्र की विधि का उल्लङ्घन कर दिया, तो उसकी कौन सी निष्ठा मानी जायेगी ? ये ही अर्जुन के प्रश्न का बीज है । और इसी को अंकुरित करते हुये श्री अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से पूँछ भी रहे हैं —

"अर्जुन उवाच"

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।। १७-१ ।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—श्री अर्जुन ने प्रश्न किया कि-हे कृष्ण ! जो साधक शास्त्र विधि का उल्लङ्घन करके श्रद्धा से युक्त होकर आपका यज्ञ करते हैं, उनकी कौन सी निष्ठा होती है, सत्व अथवा रज या तम ।

व्याख्या—"निश्चयेन तिष्ठन्ति यस्यां सा निष्ठा" प्रश्न का आशय यह है कि जो लोग आस्थावान हैं, परन्तु शास्त्रविधि छोड़कर वृद्धों के मुख से सुनकर यजन करते हैं, उन्हें सात्विक कहा जाये राजस या तामस ।

संगति— अब अर्जुन के प्रश्न को सुनकर भगवान् ने उत्तर दिया—

"श्री भगवानुवाच"

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तामसी तेचि तां शृणु ।।१७/२।।

रा०क०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! प्राणियों के प्राक्तन संस्कार से उत्पन्न हुयी वह श्रद्धा सात्विकी-राजसी और तामसी इस प्रकार तीन भेदों वाली होती है, उसे सुनो।

व्याख्या—पूर्व संस्कारों की स्मृति ही वासना है, उसी को स्वभाव कहते हैं । शास्त्रविधि का उल्लङ्घन होने पर भी श्रद्धा से उसमें अन्तर नहीं आता, उसका सम्बन्ध स्वभाव से है ।

संगति—अब भगवान् पुरुष की श्रद्धामयता का वर्णन कर रहे हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।। १७/३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे सात्विक श्रद्धा के 'भा' अर्थात् आलोक में निरत अर्जुन ! सभी प्राणियों की चित्त के अनुरूप श्रद्धा होती है । यह पुरुष अर्थात् जीवात्मा श्रद्धामय है, जो पुरुष जिस श्रद्धा से युक्त होता है, वह वही होता है ।

व्याख्या—यहाँ 'सत्व' शब्द का चित्त अर्थ है, अर्थात् जिसका चित्त सत्वगुण से युक्त होगा उसमें सात्विक श्रद्धा होगी । जिसका चित्त रजोमय होगा उसमें राजसी श्रद्धा, और जिसका चित्त तमोमय होता है उसकी तामसी श्रद्धा होती है । "श्रद्धामय:" यहाँ 'मयट्'

प्रत्यय प्राचुर्य अर्थ में है, पुरुष में श्रद्धा की प्रचुरता होती है। 'यच्छ्रद्धः' या श्रद्धा यस्मिन् स यच्छ्रद्धः, अर्थात् सात्विक श्रद्धा वाला पुरुष सात्विक, राजसिक श्रद्धा वाला राजसिक एवं तामसिक श्रद्धा वाला पुरुषा तामस कहा जाता है।

संगति—अब भगवान् गुण के भेद से पूज्य में तारतम्य कहते हैं—

"यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।। १७/४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! सात्विक लोग देवताओं की पूजा करते हैं, रजो गुणी लोग यक्ष-राक्षसों की पूजा करते हैं। तथा तमोगुणी लोग प्रेतों तथा भूतगणों को पूजते हैं।

व्याख्या— पूजा करने वाले अपनी प्रकृति के अनुसार पूज्यों का चयन करते हैं, देवता सात्विक हैं इसीलिये सात्विक लोग उनकी पूजा करते हैं। यक्ष और राक्षस राजस होते हैं इसीलिये राजस लोग उनकी पूजा करते हैं। और प्रेत गण तामस होते हैं इसीलिये तामस लोग उनकी पूजा करते हैं।

संगति—अब भगवान् दो श्लोकों से अशास्त्रीय तप की निन्दा करते हैं —

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलन्विताः ।।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।। १७/५-६ ।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो लोग दम्भ और अहंकार से संयुक्त होकर काम्य पदार्थों में राग के बल से समन्वित हुये, अपवित्र चित्तवाले शरीर में स्थित भूतसमूहों को और अन्तः शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी को क्लेशयुक्त करते हुये शास्त्रविधि से विरुद्ध जो घोर तप करते हैं, उन्हें आसुर प्रकृति के निश्चय से युक्त मानो।

व्याख्या—यहाँ भगवान् शास्त्र विरुद्ध कल्पित तपस्या का विरोध कर रहे हैं। "अन्तः शरीस्थं" प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में भगवान् अन्तर्यामी रूप में रहते हैं। "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यं आत्मा न वेद" यह शतपथ ब्राह्मणीय मन्त्र प्रमाण है।

संगति—अब आहार, यज्ञ, तप और दान इनमें प्रत्येक के तीन-तीन भेदों का निरुपण करने के लिए भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं —

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ।। १७/७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे भरतवंशी अर्जुन ! सात्विक राजस और तामस् इन तीन भेदों में विभक्त सम्पूर्ण जीव जगत को उसकी श्रद्धा के अनुसार सात्विक, राजस, तामस यह तीन प्रकार का आहार प्रिय होता है । इसी प्रकार तीन-तीन प्रकार के यज्ञ, तप, दान उन तीनों का यह भेद मुझसे सुनो ।

व्याख्या—'सर्वस्य' यहाँ जाति में एकवचन है । त्रिविधः अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को उसकी श्रद्धा के अनुसार ही आहार प्रिय होता है । इसी प्रकार यज्ञ तप और दान के भी तीन-तीन भेद हैं उन्हें सुनो ।

संगति—अव भगवान् तीन श्लोकों में आहार के तीन प्रकार कह रहे हैं —

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाःस्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विक प्रियाः ।।
१७/८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—प्रथम सात्विक आहार का निरुपण- हे अर्जुन ! आयु (जीवन) शक्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता को वढ़ाने वाले रसीले दूध आदि स्निग्ध, घी से निर्मित (मालपुआ) पूड़ी आदि स्थिर, चावल, साक आदि हृद्य, खीर, मिष्टान्न आदि ये आहार सात्विक श्रद्धावान को प्रिय होते हैं ।

व्याख्या—जीवन को आयु कहते हैं । शक्ति का अन्तः शक्ति से अभिप्राय है। प्राणधारण के सामर्थ्य को बल कहते हैं । 'आरोग्य' स्वास्थ्य का नाम है । 'सुख'- यहां सात्विक सुख के अर्थ में ही सुख का प्रयोग हुआ है । "प्रीति" प्रसन्नता, सात्विक आहार से आयु आदि छवों बढ़ते हैं । इसीलिए श्रुति कहती है 'आयुर्वैघृतं" घृत ही आयु है। पूर्वार्द्ध में सात्विक आहारो का परिणाम कहा गया । और उत्तरार्ध में उनके प्रकार कहते हैं । वे रस होते हैं । दूध उससे बनी हुई मिठाइयां स्निग्ध । घृत से निर्मित मालपुआ पूड़ी आदि । स्थिर, जिनसे असमय भूँख नही लगती । भाव इत्यादि । 'हृद्य" हृदय को भाने वाले पायस मोदक आदि, ये आहार सात्विको को प्रिय होते हैं । पहले भारत में रोटी की परम्परा न ही थी, वह तो कापालिकों की करोटी का अपभ्रंश रोटी हो गया। आज ये आहार लोगों को नही भाते । क्योंकि धीरे-धीरे सात्विक श्रद्धा का अभाव होता जा रहहा है । इसलिए सात्विको को सात्विक आहार का ही सेवन करना चाहिए क्योंकि जैसा खाओ अन्न वैसा बने मन्न ।। श्री ।।

संगति—अब भगवान् राजस् आहार का निरुपण करते हैं ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।। १७/९।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! कडुवें खट्टे, बहुत गर्म, तीखे, रुखे और हृदय को जलाने वाले दुःख शोक और रोगों को प्रदान करने वाले आहार राजस लोगों को इष्ट देवता के समान प्रिय होते हैं ।

व्याख्या—भगवान् रजोगुण के आहार का परिणाम भी कहते हैं । सात्विक आहार से छः वस्तुओं की वृद्धि होती है और राजस् आहार से तीन वस्तुओं की, और वह भी प्रतिकूल वस्तुओं की । प्रयास करके बहुत चटर-पटर नहीं खाना चाहिए । बाजार की बनी हुई वस्तुएं हमारे स्वर्गशरीर को मिट्टी बना देती है ।

संगति—अब भगवान् तामस भोजन का निरुपण करते हैं ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।। १७/१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जिस भोजन के बने एक पहर हो गया हो अर्थात् तीन घंटे का बना हुआ भोजन रसहीन, दुर्गन्ध युक्त, एवं पर्युषित, वासी, उच्छ्रिष्ट अर्थात् जूठा अमेध्यं जो भगवान् को नैवेद्य नही किया जाता ऐसा भोजन तामस जनों को प्रिय होता है ।

व्याख्या—जिस भोजन के बने हुए तीन घंटे बीत गये हों 'गतरसं' जिसमें कोई रस न हो । अर्थात् जिसको पाते समय भगवान् स्मरण में न आयें 'पूति'— 'दुर्गन्ध युक्त' जैसे लहसुन, प्याज आदि मछली मांस आदि । ऐस "उच्छ्रिष्ट" जूठा । "अमेध्यं" जिसका नैवेद्य भगवान् को न लग सके जैसे— चाय, काफी, प्याज से बना हुआ शाक । लहसुन आदि से बना हुआ अचार आदि । ये अमेध्य हैं । और यही तमोगुणियों को प्रिय हैं । अतः इन्हें क्रमशः छोडना चाहिए । श्रुति में आहार शुद्धि का बड़ा महत्त्व कहा गया हैं । छान्दोग्य में श्रुति कहती है "आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थिनां विप्र मोक्षः ।" अर्थात् आहार के शुद्ध होने पर चित्त शुद्ध हो जाता है । उसके पश्चात् स्मृति सुस्थिर हो जाती है और भगवन का भजन करने में मन लगता है । स्मृति प्राप्त होने पर चिद्चिदात्मक सभी ग्रन्थियां खुल जाती हैं । वस्तुतः जो आहार भगवान् को निवेदित हो जाता है वह आहार नहीं रह जाता, वह तो प्रसाद हो जात है । परन्तु प्रयास करके भगवान् को सात्विक आहार का ही नैवेद्य करना चाहिए जिससे वह निर्गुण हो सके ।

'तुम्हहि नवेदित भोजन करहीं । प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं ।। ।।श्री।।

संगति—अब भगवान् तीन यज्ञों का निरुपण कर रहे है । उनमें सर्वप्रथम सात्विक यज्ञ का निरुपण ।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।। १७/११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—यज्ञ करना हमारा कर्त्तव्य है, ऐसा मन में संकल्प करके फल की आकांक्षा न करने वाले आदरणीय यजमान के द्वारा वेदविधिबोधक मंत्र से साक्षात्कार किया हुआ जो यज्ञ किया जाता है वह सात्विक होता है ।

व्याख्या—'यष्टव्यम्' जो भगवान् की प्रसन्नता के लिए किया जाता है किसी फल की प्राप्ति के लिए नही, वह सात्विक होता है ।

प्रश्न—तो क्या दशरथ जी का पुत्रेष्टि यज्ञ राजस् था?

उत्तर—नहीं । क्योंकि वह भगवान् की प्राप्ति के लिए किया गया था ।

'विधिदृष्टः'-यहाँ मध्यम पद लोप समास है । विधि बोधक मंत्रेण दृष्टः विधिदृष्टः। जिसको वेद विधि बोधक मंत्र के द्वारा देखा गया है वह यज्ञ सात्विक है।

संगति—अब रजोगुणी यज्ञ का वर्णन करते हैं ।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।। १७/१२।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! सात्विक यज्ञ के विपरीत जब यजमान द्वारा "राजसूयेन जयते स्वराज्य कामः" इत्यादि मंत्रों में फलश्रुति देखकर किसी फल विशेष का अभिसंधान अर्थात् मन में संकल्प करके जो यज्ञ धर्म प्रदर्शन के लिए किया जाता है उस यज्ञ को तुम राजस् यज्ञ जानो ।

व्याख्या—'यत्' शब्द यदा के अर्थ में प्रयुक्त है । तम् शब्द के कारण उससे सापेक्ष्य यह शब्द का अध्याहार समझना चाहिए । अर्थात् वेद मंत्र की फलश्रुति के आधार पर जहाँ विशेषफल की इच्छा से यज्ञ किया जाता है वह राजस् होता है ।

संगति—अब भगवान् तापस यज्ञ का निरुपण करते हैं ।

विधिहीनसमृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।। १७/१३।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—जो यज्ञ शास्त्र विधि से वर्जित है, जिसमें ब्राह्मणों के लिए अन्न वितरित नही किया गया है तथा जो स्वरत:, वर्णत: मन्त्र से हीन है अर्थात् जिसमें स्वर वर्ण के अनुसार मन्त्र का उच्चारण नहीं किया गया। जिसमें मुक्त मन से दक्षिणा नही दी गयी ऐसे आस्तिक बुद्धि से रहित यजमान द्वारा किये गये यज्ञ को विद्वान लोग तामस यज्ञ कहते हैं।

व्याख्या—यज्ञ में वैदिक कर्मकाण्ड की अनिवार्यता होती है। और ब्राह्मण भोजन मन्त्र दक्षिणा और श्रद्धा ये यज्ञ नारायण के शरीर के पञ्चमहाभूत हैं। 'श्रद्धाविरहितं' शब्द मुख्यत: यजमान के लिए है अत: यहाँ बहुव्रीहि समास करके उत्तर पद लोप श्रद्धाविरहित यजमान: सा एव श्रद्धा विरहित: तम् श्रद्धाविरहितं।

संगति—अब भगवान् छ: श्लोकों से सात्विक, राजस, तामस तपों का निरुपण कर रहे हैं। उनमें प्रथम सात्विक तप का निरुपण। सात्विक तप भी शारीर, वाङ्मय, मानस भेद से तीन प्रकार का है। अर्थात् सात्विक शारीरतप, सात्विक वाङ्मय तप, तथा सात्विक मानसपत। सर्वप्रथम सात्विक शारीरतप का विवेचन करते हैं।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। १७/१४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन! देवता, तप:श्रुतयोनि से शुद्ध ब्राह्मण गुरुजन और बुद्धिमान महानुभावों का पूजन (सम्मान करना) बाह्य और आन्तरिक शुद्धि, इन्द्रियों के विषयों में सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शारीर सात्विक तप कहलाता है।

व्याख्या—'ब्रह्मचर्य' सप्तं धातु का नियंत्रण यह जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी अंश है। श्रुति ने इस शुक्र को ब्रह्म भी कहा है। "तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म' इसे बीर्य भी कहते हैं और वीर्य का अर्थ है पराक्रम। श्रुति कहती है - "तेजोऽसि, शुक्रमसि, मृतमसि, धामानामसि, प्रिय देवानांमनाधृष्टं देवयजन मसि। श्रुति कहती है। हे- वीर्य तुम तेज हो, तुम शुक्र हो, तुम अमृत हो, तुम्हारा नाम धाम है, तुम देवताओं के प्रिय हो अर्थात् दैवी सम्पत्ति वाले लोग यथा शक्ति तुम्हें अलग नही करना चाहते। तुम अनाधृष्ट हो अर्थात् कोई तुम्हें कुचल नही सकता। देवता भी तुम्हारा यजन करते हैं।

संगति—अब भगवान् सात्विक वाङ्मय तप का निरुपण करते हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।। १७/१५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—जो वाक्य किसी के उद्वेग का कारण नही बनता तथा जो सत्य, प्रिय और कल्याणकारी होता है, और जिससे स्वाध्याय अर्थात् वेद का अभ्यास किया जाता है उस वाक्य को ही सात्विक वाङ्गमय तप कहा जाता है ।

व्याख्या—प्राय: सत्य कटु: होता है पर वह यथार्थ है तप नही, जो प्रिय होकर सत्य हो ऐसा प्राय: सम्भव नही । जो कल्याण कारण, प्रिय, सत्य इन तीनों विशेषताओं से युक्त हो यह तो केवल भगवन्नाम, रुप, लीला, धाम का संकीर्तन ही तो सकता है। 'स्वाध्यायाभ्यासनं' यहाँ स्वाध्याय शब्द बेद के लिए आया है । उस स्वाध्याय का जिससे अभ्यसन अर्थात् अभ्यास होता है वह वाङ्गमय तप है । वाङ्गमय शब्द में स्वार्थ में मयट् प्रत्यय है अर्थात् वह वाणी ही तप है । यहाँ यत्-तत का नित्य सापेक्षत्व होने से तत् का अध्याहार होगा । और अन्वय होगा 'यत् वाक्यं अनुद्वेग करं च सत्यं प्रियहितं चैव स्वाध्यायाभ्यसनं तत् वाङ्गमयं तप उच्यते ।' अर्थात् जो वाक्य किसी के उद्वेग का कारण नही होता जो सत्य प्रिय, तथा लोगों के लिए हितैसी एवं वेद के अभ्यास में निरत रहता है वही वाक्य वाङ्गमय तप कहा जाता है ॥ श्री ॥

संगति—अब सात्विम मानस तप का निरुपण करते हैं—

मन:प्रसाद: सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रह: ।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।। १७/१६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मननशीलता अपने मन का परमात्मा में निग्रह अर्थात् भावनाओं की पूर्ण शुद्धि, यही मानस् सात्विक तप है ।

व्याख्या—मन में किसी के प्रति बुरी धारणा न लाना ही उसकी स्वच्छता है।

'सौम्यता' यहाँ मौन का न बोलना अर्थ नही है, क्योंकि उसका सम्वन्ध वाङ्गमय तप से है । अत: मनते इति मुनि: । मननशील: मुने: भाव: मौनं मननशीलता अर्थात् मौन का अर्थ मननशीलता है । आत्मा शब्द मन के लिए है । 'भाव संशुद्धि:' अर्थात् मन का भाव अशुद्ध नहीं होना चाहिए, वह केवल भगवत् स्मरण से सम्भव है ।

संगति—अब भगवान् सात्विक तप का उपसंहार कह रहे हैं—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरै: ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तै: सात्विकं परिचक्षते ।। १७/१७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इस प्रकार फल की इच्छा से रहित, निष्काम कर्मयोगी मनुष्यों द्वारा सात्विक श्रद्धा से किये हुए पूर्वोक्त तीन प्रकार के तप को तपस्वी लोग सात्विक कहते है ।

व्याख्या—'युक्त' शब्द निष्काम कर्मयोगी का वाचक है । 'त्रिविधम्' अर्थात् शारीरसात्विकतप, वाङ्मयसात्विकतप और मानससात्विक तप इन नामों से विद्वान इसे सात्विक तप कहते हैं ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान् राजस तप की व्याख्या कर रहे हैं—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।। १७/१८।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो तप यजमान के द्वारा सम्मान, महत्व और पूजा को ही प्रयोजन मानकर पाखण्ड से किया जाता है यहाँ वही चलायमान अस्थिर राजस् तप कहा गया है ।

व्याख्या—सत्कार को सम्मान और मान को महत्व कहते हैं । दम्भ का अर्थ पाखण्ड है सत्कार के लिए किये जाने से यह अध्रुव है ।

संगति—हे अब तामस तप का निरुपण करते है —

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।। १७/१९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो मोंह पूर्ण उद्देश्य से अपने शरीर की पीड़ा से, तथा अपने शत्रु को नष्ट करने के लिए किया जाता है वह तप तामस कहा गया है ।

व्याख्या—पर शब्द यहां शत्रु के लिए कहा गया है । इस प्रकार शरीर की पीड़ा सहकर हिरण्यकशिपु रावण आदि की तपस्या का पुराणों में उल्लेख मिलता है।

संगति—अब भगवान् सात्विक, राजस् तामस् तीन दानों का निरुपण कर रहे है । उसमें सर्वप्रथम सात्विक दान का निरुपण ।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ।।१७/२०।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! दान देना हमारा कर्तव्य हैं, इस प्रकार वेद विधि का स्मरण करके प्रत्युकपकार करने में असमर्थ व्यक्ति को उचित देश में उचित काल में सत्पात्र को जो दान दिया जाता हैं, उसी दान को मैने सात्विक दान के रूप में मैने स्मरण किया है ।

व्याख्या— 'दातव्यं' दान देना चाहिए। इस पर स्वयं तैत्तरीयोपनिषद् में कहा गया है "श्रियादेयं अश्रिया देयं संविदा देयं असंविदा देयम्" अर्थात् धनं हो तो भी देना चाहिए न हो तो भी देना चाहिए। 'श्रद्धयादेयं अश्रद्धया देयं' श्रद्धा से भी दो अश्रद्धा से भी दो।

'पात्रे'– चित्रकूट आदि क्षेत्रों में 'प्रात:काल' कुम्भ आदि कालों में विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण वैष्णव आदि दान के सत्पात्र है ॥ श्री ॥

संगति—अब राजस् दान की चर्चा करते हैं।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।। १६/२१॥

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो दान विशेष फल की इच्छा करके प्रत्युपकार के लिए क्लेश पूर्वक दिया जाता है, मैंने गीता स्मृति में उस दान को राजस् स्मृति के नाम से स्मरण किया है।

व्याख्या—'तु' पक्षान्तर के लिए है और 'वा' समुच्चयार्थक है ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान् तामसज्ञान का उदाहरण दे रहे है—

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।। १७/२२

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो दान अनुचित देश और अनुचित काल में सत्कार रहित तथा अपमान पूर्ण भावना से, अपात्रों अर्थात् दान लेने के लिए अयोग्य व्यक्ति को दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है।

व्याख्या—जैसे-दिन का द्वितीय पहर अथवा रात्रि, घर में जनन मरण का सूतक, यह दान का अकाल है। गंगा जी की धारा, श्यमशान आदि दान के आदेश। संध्या विहीन, शिखा सूत्र रहित, चरित्र हीन ब्राह्मण और वर्णेतर ये दान के अपात्र हैं। ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान् ब्रह्मा के द्वारा किये हुए तीन निर्देशों का वर्णन कर रहे हैं—

ॐ तत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।। १७/२३॥

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! सृष्टि के प्रारम्भ में ब्राह्मणरूप वेद का ॐ तत् सत् यह तीन प्रकारों वाला निर्देश गीताजी स्मृतियों में स्मरण किया गया है। इसी त्रिविध निर्देश से सृष्टि के पूर्व ही ब्राह्मण, वेद एवं यज्ञ प्रकट किए गये थे।

व्याख्या— ॐ से ब्राह्मण, तत से वेद और सत से यज्ञ प्रकट किया गया।

संगति—अब भगवान् ओङ्कार का स्तवन करते है—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।। १७/२४।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—इसलिए ॐ इस प्रकार प्रणव का उच्चारण करके निरन्तर ब्रह्मवादियों की वेद विधि से प्रोक्त यज्ञ, क्रियायें, दान क्रियायें और तप क्रियायें चलती रहती हैं ।

व्याख्या—जो स्वभाव से ब्रह्म की ही चर्चा करते रहते हैं, उन्हें ब्रह्मवादी कहा जाता है । 'ब्रह्म' वेद को कहते हैं । ॐ कहने से प्रत्येक क्रिया के विघ्न दूर होते रहते हैं ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान् तत् शब्द की स्तुति करते हैं—

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ।। १७/२५।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—तत् का उच्चारण करके किसी भी फल का संकल्प न करके मुमुक्षों द्वारा यज्ञ, दान, और तप की अनेक क्रियायें की जाती रहती हैं ।

व्याख्या—तत् के उच्चारण से ही फल का अभिसंधान समाप्त होता है और फल के अभाव में ही गीता १७/११,१७/२१,१७/१७ के अनुसार यज्ञ क्रिया, तपः क्रिया और दान क्रिया तीनों ही सात्विक हो जाते हैं ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान् दो श्लोकों में सत् शब्द की व्याख्या कर रहे हैं—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।। १७/२६।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन सत् शब्द के अनेक अर्थ है । सद्भाव में और साधुभाव में सत्शब्द का प्रयोग होता है । और श्रेष्ठ कर्म में भी सत् शब्द उपयुक्त होता है ।

व्याख्या—सद्भाव शब्द का समास कहते हैं । 'सति दृष्टो भावः सद्भावः' । सत में जो भाव देखा गया उसी को सद्भाव कहते हैं । यहाँ सत् शब्द के ब्रह्म और जीव दो अर्थ कहे जाते हैं । सत् का जब प्रशस्त कर्म अर्थ लेंगे तक भी 'सतां' भावः सद्भावः यही अर्थ लेंगे ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान् परिशेष की चर्चा करते हैं—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।। १७/२७।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—यज्ञ, तप और दान की स्थिति को भी सत् कहते हैं तथा तदर्थ अर्थात् भगवान् के निमित्त किया जाने वाला कर्म भी सत् ही कहा जाता है।

व्याख्या—यहाँ यज्ञ, तप और दान जिनकी चर्चा इसी अध्याय में ११,१७,२१ में की जा चुकी है वे सात्विक ही अभिप्रेत है। और भगवान् के निमित्त किया गया कर्म भी सत् है। इस प्रकार भगवान् ने यहाँ सत् के सात अर्थ कहे ॥ श्री ॥

संगति- अव भगवान् अध्याय का उपसंहार कर रहे हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।। १७/२८।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! अश्रद्धा अर्थात् नास्तिक बुद्धि से किय हुआ होम, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप, और जो भी कुछ किया जाता है, वह अस इस प्रकार कहा जाता है। न तो वह परलोक में मंगल करने वाला होता है और न ही इस लोक में।

व्याख्या—श्रद्धा से विहीन कुछ भी किया जाय वह असत् है। और श्रद्धा से जो कुछ किया जाय वह सत् हे। यही इस अध्याय का अभिप्राय है। ।। श्री ।।

यह सप्तदश अध्याय सुन्दर पार्थ को घनश्याम ने ।
श्रद्धात्रयी सुविभाग मंजुल कह सजल घनश्याम ने ।।
राघव कृपावर भाष्य, भाषी राम भद्राचार्य ने ।
शास्त्रार्थ की दी प्रेरणा श्रीकृष्ण अज अविकार्य ने ।।

इति श्रीतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरूरामानन्दाचार्य स्वामीश्रीरामभद्राचार्यप्रणीत श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्भगवतगीतासु श्रद्धात्रयविभागयोगनाम सप्तदशोऽध्याय:

श्री राघवः शन्तनोतु

●

श्रीमद्राघवो विजयते

श्री रामानन्दचार्यानमः

अष्टादशोऽध्यायः

श्री सीताप्रीतिपुष्प्यत्कमलकमलिनीवल्लभं वन्दितामं
भास्वद् भाःभानुमन्तुं गुणगणमहसा भासयन्तं दिगन्तम्।
कौसल्यादित्यमोघानघसुकृतजनिं दिव्यतेजोनिधानं
रामं सत्कोकलोकप्रभवमथ नुमो भानुवंशाब्जभानुम्।।१।।
श्री कृष्णं कृष्णकृष्णाहृदयशुचिसरोरोचिषा रोचयन्तं
श्यामं लोकाभिरामं व्रजपुररमणीहृन्मणिं मञ्जुमूतिम्।
देवं देवेशंसेव्यं विजयसखमहं शीलवात्सल्यवार्धिंम
वन्दे वन्दारुकल्पद्रुममथ सगुणं ब्रह्मसङ्गीतगीतम्।।२।।
गीता गायाम्यहं भक्त्या गीतां ध्यायामि नित्यशः।
गीतां नौमि भजे गीतां गीतां गीतां सदाश्रये।।३।।

अथ सकलगीताशास्त्रस्य सारार्थोऽयं चरमोऽध्यायः प्रारभ्यते। तत्र पूर्वं संन्यासत्यागयोः तत्त्वविषयजिज्ञासा पार्थस्य "न कर्मणा न प्रजया धनेन। त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" "संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धचित्ताः" इति श्रुत्योः समानार्थविव त्यागसंन्यासशब्दौ दृष्टौ। स्मृत्यामपि "व्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं "गीता ४/२० "योगसंन्यस्तकर्माणं गीता ४/४१ इति द्वयोरपि समानार्थे प्रयुक्तत्वात्। अर्जुनः पृच्छति

"अर्जुन उवाच"

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिपूदन।।१८/१।।

रा.कृ.भा. - शुभ्रहृदयः अर्जुन उवाच "अहश्च कृष्णं अहरर्जुनं च "इति श्रुतेः। हे महाबाहो! महान्तौ बाहू यस्य स महाबाहू तत्सम्बुद्धौ हे महाबाहो! हे हृषीकेश! केशिनिपूदन! अहं संन्यासस्य त्यागस्य च पृथकतत्त्वं वेदितुमिच्छामि।। विगताध्यायेषु भवता संन्यासत्यागशब्दौ प्रयुक्तौ समानार्थाविव तत्र संन्यासात् पृथक् त्यागस्य तत्त्वं, त्यागात् पृथक् संन्यासस्य च तत्त्वं तत्र भवतो वेदितुमिच्छामि

ज्ञातुमिच्छामि। ब्रूहीत्यनुक्त्वा वेदितुमिच्छामीति पार्थप्रश्नाकारः सप्तदशाध्यायं यावत् भगवन्माहात्म्यश्रवणेन श्रीमुख कमलमाधुरीविलोकनेन विगतमोहप्राये धनञ्जये विनम्रतां सूचयति। यद्यपि संन्यासत्यागौ समानार्थौ तथायस्पष्टत्वात् अर्जुनस्य युक्तैव जिज्ञासा। ननु अधुनैव सम्पद्यते गीतोपदेशः तवापि संशयो निरस्तप्रायः। त्वंच शनैःशनैः युयुत्समानमना भवसीव तदसाम्प्रतमेव संन्यासत्याग-तत्त्वजिज्ञासित व्यमधुना तु आयोधनविषयिणी जिज्ञासा समुचिता; इति भगवतो मध्ये प्रश्नं विभाव्य प्राह हे महाबाहो बाहू महान्तौ, यद्वा अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रं (गीता ११.१७) महाबाहो बहुबाहूरुपादं (गीता ११/२३) हस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते (गीता११/४६) इत्येमादिपूर्वमुक्तत्वात् महान्तः बाहवः यस्य स महाबाहु भवत् पार्श्वे अनेकबाहूनां सत्वात् साम्प्रतमहं निजविषये, पूर्णं निश्चितसफलताकोस्मि मां पराजीयमानं विलोक्य अनेकैर्बाहुभिस्त्रास्यत एव भवान्, तस्मान्मम विजयो निश्चित एव।

ननु तव दुर्योधनस्य समक्षं कृतप्रतिज्ञत्वात् मया तव सारथ्यमुद्वहता सम्पूर्णे महाभारतसंग्रामें निरायुधैनैव वर्त्स्यत तेर्हि कथं विजेस्यसे, इत्यत आह- हे काशि निषूदन, त्वं केशिनं निषूदितवान् केशीनामा कंसप्रेषितो हयाकृति : व्रजमभ्यगच्छत् कश्चनासुरः तस्य मुखे वामबाहुं निवेश्य समेधमानेन तेन भग्नदशनकेतन्मुखे निधाय कर्कटिकाफलोपमा ततः निष्कृष्यतं निहतवान्। तथैव निशस्त्रोऽपि भवान् दक्षिणेमनमाश्वान् नियन्त्रयिष्यति, वामवाहुना च मम शत्रून वधिष्यतीति,

का चिन्ता मम जीवने यदि हरिः सारथ्यमाप्तो मम,
का शंका मम शत्रुयूथहनने यद्यस्ति पाता हरिः।
काबाधा मम संगरे यदि सखा सत्यप्रतिज्ञो भवान्,
तस्मान्नैव विभेमि भीमरणतः कृष्णे त्वयि त्रातरि।।

केशियुद्धवर्णनं श्रीमद् भागवतप्रसिद्धं तथा च दशमे-

केशीतुकंसप्रहितः खुरैर्महीं महाहयो निर्जरयन् मनोजव।
सटावधूताभ्रविमानसंकुलं कुर्वन् नभो हेषितभीषिताखलः।।
विशालनेत्रो विकटास्यकोटरो बृद्गली नीलमहाम्बुदोपमः।
दुराशयः कंसहितंचिकीर्षु व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन्।।
समेधमानेन स कृष्णबाहुना निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन्।
प्रस्विन्नमात्रः परिवृत्तलोचनः पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः।।
(श्रीमद भागवत १०/३७,२,२,८)

ननु तव प्रश्नोत्तरव्याख्याने निरायुधेमयि व्यस्ते सर्वे शत्रवः सम्भूय दिव्यास्त्रैस्त्वां अभिगच्छेयुरिति चेत् आह – हृषीकेश ! हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशः शासकः सकलेन्द्रियनियन्ता तदामन्त्रयते हे हृषीकेश ! त्वं सर्वेषा प्राणिनां हृषीकाणां कर्णकलेवराणां नियन्ता तस्मान्मां प्रति निजोपदेशकाले निजाचिन्त्ययोग- मायया सर्वानपि शत्रून भवानेव नियन्त्रयिष्यति, तस्मान् निश्चिन्तोऽस्मि, चिन्तकचिन्तामणे त्वायि वर्तमाने। ततो निःसन्दिग्धं मम जिज्ञासितमुत्तरय।

एवमर्जुनस्य प्रश्नद्वयम् उत्तरयन् भगवान् आह–

श्री भगवान् उवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।१८/२।।

रा.कृ.भा.- कवयः क्रान्तद्रष्टारः विद्वांसः काम्यानां कर्मणां सकामानां ज्योतिष्टो मादीनां न्यासं संन्यासं विदुः जानन्ति, केचिद् विचक्षणः सर्वेषां कर्मणां नित्यानां नैमित्तिकानां च फलानां त्यागमेव त्यागं प्राहुः एवं कर्मणां न्यासः संन्यासः कर्मफलानां त्यागः इति संन्यासत्यागौ ईषदेव भिन्नौ प्रारम्भे अन्ततोगत्वा द्वावप्यभिन्नौ इति सिद्धान्तितम् ।

पुनर्मतान्तरमाह- त्याज्यमिति

त्याज्यं दोपवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीपिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे।।१८/३।।

रा.कृ.भा. – एके केचन विद्वासः दापेवत् दोपा सन्ति यस्मिन् तद्दोपवत् दोप— युक्तं यद्वा नात्र मतुप् किन्तर्हि तुल्यार्थे वतिः तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः पा. अ. ५/१/११५ दोपेण तुल्यो, यथा जनः कामादि दोपान्त्यजति तथैव दोपवदिति दोपयुक्तं कर्म समग्रं नित्यनैमित्तिककर्मजातं त्याज्यम् वर्जनीयं इत्येके- विद्वास : प्राहुः के मनीपिणः मनः ईपते तच्छीलाः अपरेत्त्व विद्वांस : यज्ञः श्रौतस्मार्तः सात्त्विकः, दानं सात्त्विकं तपश्च सात्त्विकं त्रिविधं न त्याज्यं एतानि विहाय सर्वं त्याज्यम्। इति प्राहुः। (श्री)। ननु विवदन्तां नाम केचन् अस्मिन् सन्दर्भे भवतः को निश्चयः इत्यत आह–

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुपव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।।१८/४।।

रा.कृ.भा. – सन् साधुः अतिशयेन् सन् सत्तमः भरतेपु सत्तमः भरतसत्तमः। हे भरतसत्तम यद्यपि भरतवंशे, त्वत्पक्षे युधिष्ठिर- भीमनकुलसहदेवाः, कौरवपक्षे,

भीष्मविदुर विकर्णाः, इमे अष्टौ सन्तः सन्तिः। किन्तु त्वमिनातिशयानः सन्नसि अतः सत्तमः तत्र त्यागेऽपि मे मम निश्चयं ऋणु हे पुरुष व्याघ्रदिभिः सामान्याप्रयोगे २१/१/५६ इत्यनेन समासः एष त्यागः त्रिविधः संप्रकीर्तितः सात्विकः राजसः तामसश्चेति त्रिविधो निगदितः मया सम्मतश्च अयमेव संन्यासापरयर्यायः अर्जुनेन शत्रुभ्यो दिदापयिषितदण्डत्वात् सन्यासिनश्च गृहीतत्रिदण्डत्वातद्वयोर्भध्ये - विराद्धत्वात् अत्र कण्ठरवेण स नोक्तः।। श्री।।

यज्ञ दानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।१८/५।।

रा.कृ.भा. - यज्ञश्चदानं च तपश्च यज्ञदानतपांसि तान्येव कर्म इतियज्ञदानतपः कर्म यज्ञतपःसु कर्मत्वरूपाच्छिन्नस्य एकत्वस्य सदृशत्वात् न बहुवचनम्। विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसंख्याविरुद्धसंख्यात्वस्य विवक्षितत्वात् न समानवाचकत्वम्। एवं यज्ञात्मकं दानात्मकं तपोमयं च कर्म कदापि न त्याज्यम्। तच्च विहितत्वात् कार्यमेव सदैव कर्त्तव्यं हि उपपत्तिमाह—हि यस्मात् हेतोः यज्ञः दानं तपः इमानि मनीषिणां पावनानि निगृहीतमनसोऽपि साधकान् पावयन्ति। तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति वेदानुवचनेन यज्ञेन तपसानाशकेन विविदिषन्ति वेत्तुमिच्छन्ति, अनाशकः उपवासः यज्ञेन दानेन तपसा मनः पावयित्वा पुनः पतितपावनं प्रपद्यन्ते ।। श्रीः।। स्वकीयं निश्चयं स्पष्टतरं घोषयति-

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।१८/६।।

रा.कृ.भा. - हे पृथानन्दन एतानि अग्निहोत्रादी न्यपि नित्यनैमित्तिककर्माणि संगं कर्मसु आसक्तिं फलानि शुभाशुभानि त्यक्त्वा कर्तव्यानि, इति मे मम कृष्णस्य निश्चितमुत्तमलौकिकं मतमस्ति

अथ त्यागत्रैविध्यं प्राह तत्र प्रथमं विपरीतत्वात् तामसं -

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।१८/७।।

रा.क.भा. - नियतस्य श्रुतिभिः नियतत्वेन प्रोक्तस्य सन्ध्यावन्दनपञ्चमहायज्ञादेः कर्मणः संन्यासः न उपपद्यतेः नैवोपपन्नो भवति। मोहाद् यदि कदाचित्तस्य नियतस्य कर्मणः परित्यागः क्रियते तर्हि सत्यागः तामसः तमसा निर्वृत्तः परिकीर्तितः कथितः।

अथ राजसम् -

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।१८/८।।

रा.कृ.भा.- दुःखं क्लेशावहं कर्म इत्येव मन्वानः कायस्य क्लेशः कायक्लेशः तस्माद्भयं कायक्लेशभयं पञ्चमी भयेन इत्यनेन समासः तस्मात् कायक्लेशभयात् अनेन शरीरे क्लेशो भवति, तस्माद् भयेन यदि कोऽपि कर्म त्यजति, तर्हि स जनः राजसं, रजसा निर्वृतं त्यागं कृत्वा त्यागस्य फलं. नैव लभेत्। व्यत्ययात् लट्: स्थाने लिङ् परस्मैपदं च, त्यागफलं न लभते इति भावः ।।श्रीः।। अथ सात्त्विकं वर्णमति -

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।१८/९।।

रा.कृ.भा. - इदं कर्म कार्यमेव श्रुतिविहितत्वात् इति मन्वानेनयत् कर्म संगफलं च त्यक्त्वा नियतं नित्यं सत्क्रियते कर्तव्यबुद्ध्या अनुष्ठीयते स त्यागः सात्त्विकः सत्त्वेन निर्वृतः मतःस्वीकृतः पूजितश्च ।।श्री।।

अथ त्यागं स्तौति -

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१८/१०।।

रा.कृ.भा. - सत्त्वेन विशुद्धान्तःकरणेन समाविष्टः युक्तः मेधावी सद् विचाराणां आशु धारणे समर्थः अत एव प्रशस्ता भगवदीयसिद्धान्तग्रहणसमर्था मेधा यस्य स मेधावी - "अस्मायामेधास्रजो विनिः पाः अ.५/२/१२१ इत्यनेन विनि-प्रत्ययः छिन्नः संशयः यस्य स छिन्नसंशयः सकलसंशयरहितः। त्यागी कर्मफलानां त्यजनशीलः, अकुशलं अशुभं कर्म न द्वेष्टि द्वेषमूलकफलाभाववत्त्वात्, एवमेव ममत्वमूलकशुभफलविरहात् कुशले शुभफलजननशीले कर्मणि नानुषज्जते अनुषङ्गवान् न भवति।।श्री।।10।।

"कर्मत्यागापेक्षया कर्मफलत्यागे सौकर्यमाह-

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु, कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।१८/११।।

रा.कृ.भा. - परिणामे संन्यासत्यागयोरैक्येऽपि प्रारम्भे वैषम्यं, तत्र च संन्यासात् त्यागः श्रेयान् यतो हि देहं बिभर्ति धारयतीति देहभृत् तेन देहभृता शरीर धारिणा, अशेषतः सम्पूर्णतया कर्माणि क्रियास्त्यक्तुं न शक्यं, शक्यमिति क्रिया विशेषणाम्। सा च त्यजनानुकूलव्यापाररूपा। तु इति पक्षान्तरे यः कर्मणां फलानि

त्यजति तच्छीलः यः स्वभावतः कर्मफलानि त्यजतिः स त्यागी स एव त्यागी इतीत्थमभिधीयते कथ्यते। एवं काम्य-कर्मणां न्यासः संन्यासः सर्वकर्मणां फलत्यागः, त्यागः इत्येवं संन्यासो व्याप्यः त्यागो व्यापकः। कर्मापेक्षया कर्मफलत्यागः श्रेयान् सुकरश्च।

ननु काम्यानां कर्मणां न्यासेऽपि निष्कामकर्माणि कुर्वतः किं तज्जनितफलानि तस्य बन्धनाय कल्पन्ते न वा, यदि कल्पन्ते तर्हि कथं त्यागसंन्यासयोरेकत्वम्। यदि न कल्पन्ते तर्हि कथं इत्यत आह–

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।१८/१२।।

रा.कृ.भा.- कर्मणो वेदविहितस्य तिस्र : विधायस्य तं। त्रतत् त्रिविधं फलं भवति। अशुभस्य कर्मणः अनिष्टं परकीयागमनादेर्नरकादिरिव। शुभस्य कर्मणः इष्टं फलं सन्ध्यावन्दनपञ्चयज्ञप्रभृतेःस्वर्गादिरिव, शुभा शुभस्य कर्मणः यज्ञहिंसादेः मिश्रं पुण्यपापमिश्रितं फलं भवति। इदं सर्वमत्यागिनां कर्माण्यत्यजतां प्रेत्य शरीरं त्यक्त्वा भवति उत्पद्यते। किन्तु संन्यासिनां काम्यकर्मन्यासवतामिनष्टमिष्टमिष्टानिष्टनि त्रिविधमपि फलं प्रेत्य शरीरत्यागानन्तरं क्वचिदपि न भवति न जायते। इति काम्यकर्मन्यासे संन्यासिनः इतराणि कर्माणि वन्ध्यानीव भवन्ति।।श्री।।

अथ कर्मणः कस्यापि स्वतन्त्रकर्तृत्वं निराकरोति —

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१८/१३।।

रा.कृ.भा. - हे महाबाहो महाभुज पार्थ! सर्वकर्मणां सर्वेषां काम्यानां निष्काम्यानां, नित्यानां नैमित्तिकानां, प्रायश्चित्तानां कर्मणां सिद्धये निष्पत्त्यै संख्यायते इति संख्या बुद्धिः तस्यां भवं साङ्ख्यं तस्मिन् सांख्ये वेदान्ते कृतः अन्तः निर्णयः श्रुतीनां यस्मिन् तत् कृतान्तं तस्मिन् कृतान्ते वेदान्तशास्त्रे प्रोक्तानि। यद्वा "योगाद्रूढिर्बलयसी" इति नियमात् सांख्यशब्दोऽत्र रूढितः सांख्यशास्त्रपरः। एवं कापिले सांख्ये कृतान्ते शास्त्रे प्रोक्तानि यद्वा संख्या कालगणना अस्ति यस्मिन् तत् सांख्यं, कृतान्तः कालः अस्ति प्रतिपाद्यो यस्मिन् तत् सांख्यं, एवं सांख्ये कृतान्ते ज्योतिषशास्त्रे प्रोक्तानि, एतानि पञ्चैव कारणानि कर्मजनकानि मे मम वाक्यात् निबोध नित्यत्वेन जानीहि।।श्री।।

अथ तानि उद्दिशति द्वाभ्यां —

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।। १८/१४/१५।।

रा.कृ.भा. - शरीरं च वाक् च शरीरवाचौ शरीरवाचौ च मनश्च इति शरीरवाङ्मनांसि तैः शरीरवाङ्मनोभिः इति वक्रोऽयं समासः। वाक् शब्दस्य मनसा द्वन्द्वे "अचतुरविचतुर"५/४/७७ इत्यादिना समासान्ते अच्प्रत्यये शरीरवाङ्मनसैः इत्यनिष्टः प्रयोगःस्यात्। शरीरेण वाचा मनसा च न्याय्यं शास्त्रविहितं विरारीतमशास्त्रीयं वा यदपि कर्म नरः प्रारभते। तत्राधिष्ठानमधिष्ठीयते जीवात्मना यत् तत् अधिष्ठानं शरीरं, तथा कर्ता जीवात्मा, कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्। पृथक् विधं अनेकविधकरणं, बाह्यमान्तरं च तथा विविधाः पृथक् पृथक् चेष्टाः, व्यापाराः। अत्र पञ्चमं पञ्चानां पूर्णं दैवं अन्तर्यामीरूपो भगवान्। एते पञ्च तत्र सांख्ये कृतान्ते हेतवः कर्मजनकाः प्रोक्ताः कथिताः, अत्रेदं विचार्यते - चतुर्दशे प्रोक्ताः कर्ता इति शब्दः कस्मिन् कर्तृत्वं सिद्धान्तयति? जीवात्मनि इति चेत् तृतीये सप्तविंशाष्टविंशाभ्यां भगवतैव जीवात्मकर्तृत्वनिरासात् इति चेन्नैवम्। 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' इति ब्रह्मसूत्रवचनानुरोधात् जीवात्मैव कर्ता। तत्रत्यकर्तृत्वनिषेधस्तु शारीरिककर्मविषयकः। अर्थात् शारीराणि दर्शनादीनि जीवात्मानानुतिष्ठति अत्र गुणा एव गुणेषु वर्तन्ते। इन्द्रियाणि विषयान् सेवन्ते। गुणा इन्द्रियाणि, गुणेषु विषयेषु वर्तन्ते प्रवर्तन्ते इति तत्रत्यं हार्दम्। यदि जीवात्मनि कर्तृत्वं न स्यात् तदा शास्त्रार्थो निरर्थकः स्यात्। सत्वादयो गुणा इन्द्रियाणि विषयाश्च जडाः। न जडेषु विधिनिषेधो वा लाभाय कल्पते। न वा जडो विधिषु प्रवर्तेत निषेधेभ्यो वा निवर्तेत। तस्मात् तार्तीयककर्तृत्वनिषेधः शरीर विषयक कर्मनिरूपितकर्तृत्वपरः विधानं च शास्त्रीयकर्मविषयककर्तृत्वपरकम्। सर्वमित्थमनवद्यम्। एवं दैवशब्दोऽप्यत्र विदुषां विप्रतिपन्नमतिकः। ज्यौतिषमधीयानाः पूर्वजन्मकृतं कर्म दैवं मन्यन्ते- 'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते'। पौराणिकाः। देवानां सान्तःकरणेषु दशेन्द्रियेषु यथाक्रमं स्थितिमतां सूर्यदिगश्विनी-कुमारवरुणवायुपावकपुरन्दरोपेन्द्रमृत्युप्रजापति चन्द्रविधि शिवविष्णूनां समूहं दैवं पञ्चमं कारणं स्वीकुर्वन्ति। वयं सात्वता रामानन्दीयाः श्री वैष्णवाः दैवपदेनान्तर्यामिणमेव स्वीकुर्मः। अन्तर्यामी पृथ्वीमारभ्य यावदात्मानं सर्वाण्यन्तारो यमयति। स एव देवः कर्मसिद्धौ पंचमकारणमिति समस्तस्यापि संसारस्य अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वात्।

गीतेयं वेदान्तस्मृतिः स चोपनिषत्प्रमाणकः तत्र च बृहदारण्यकोपनिषदि-अन्तर्यामिब्राह्मणे तस्य तथाविधेन चर्चितत्वात्। शेषं तु भगवान् जानातु। वस्तुतः

मदुक्त एव पन्था:औनिषदः।

आत्मनः कर्तृत्वं निराकरोति —

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।। १८/१६।।

रा. कृ. भा. - एवं सति पञ्चानामधिष्ठानादीनां हेतुत्वे सति यौगपद्येन केवल मात्मानं जीवात्मानमेव स्वातन्त्र्येण यः कर्तारं पश्यति। अकृतबुद्धित्वात् न कृता न वेदान्तनिष्ठा बुद्धिः यस्य स अकृतबुद्धिः तस्य भावः अकृतबुद्धित्वं तस्मात् अकृतबुद्धित्वात् दुर्मतिः सम्यक् न पश्यति नावलोकयति। आत्मनस्तु पञ्चमकारणभूतदैवानुगतकर्तृत्वं न तु स्वातन्त्र्येण। "ब्रह्मदासा ब्रह्मदासा ब्रह्मदासाश्च कितवः "इति वचनात्। अतएव ब्रह्मसूत्रे "परात्तु तच्छ्रुतेःइतिः सूत्रितम्।

आत्मनः कर्तृत्वाभिमानशून्यत्वं स्तौति —

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। १८/१७।।

रा.कृ.भा. - यस्य जनस्य अहंकृतमस्त्यस्मिन् इत्यहंकृतः अहङ्कारयुक्तभावः न नहि यस्य च बुद्धिः एभिरशुभकर्मभिर्न लिप्यते न लिप्ता भवति। स जनः इमं दृश्यमानं लोकं हत्त्वापि मारयित्त्वापि, न हन्ति, न वा हननदोषभाक् भवति, न वा बद्ध्यते। यथा श्रीमानसे हनुमान् अहङ्कृतभावशून्यत्वादेव सुरसामुखप्रवेश—सिंहिक—हनन—लङ्किनी—प्रघर्षण—गूढनगरान्वेषण—विभीषणभेदन—वन विध्वंसन—लङ्का दाहनादि कृत्वापि न वा तन्मूलकपापवान्, न वा तत्कर्मबन्धनभाक्। यथा स्वयमेव प्राह हनुमन्नाटके —

अष्टाङ्गुलमयः कायः पुच्छो मे द्वादशाङ्गुलः।
बाहू मे पश्य भो नाथ कथं रत्नाकरं तरे।।

श्रीमानसे च लङ्कां दग्ध्वा सह चूडामणिना समागतं सकलकपिकुल चूडामणिं श्रीमदाञ्जनेयं श्रीरघुनाथः पप्रच्छ —

कहु कपि रावन पालित लङ्का।
केहि विधि दहेउ दुर्ग अति बङ्का।।
प्रभुप्रसन्न जाना हनुमाना।
बोला बचन बिगत अभिमाना।।

रूपान्तरं -

हनुमन् वद दुर्धर्षा लङ्का रावणपालिता।
कथं तात त्वया दग्धा विद्यमाने निशाचरे।।
ज्ञात्वा प्रभुं प्रसन्नं च हनूमान् पवनात्मजः।
उवाच वचनं राममभिमानविवर्जितः।।

अग्रे -

शाखा मृग कै बडि मनुषाई।
शाखा ते शाखा पर जाई।।
लांघि सिन्धु हाटकपुर जारा।
निसिचर गन वधि विपिन उजारा।।
सो सव तव प्रताप रघुराई।
नाथ न कछु मोर प्रभुताई।।

रूपान्तरम् -

शाखा मृगस्य चैतावन् मनस्वित्वं रघूत्तम।
एकां शाखां परित्यज्य स गच्छेदपरां क्षणात्।।
समुद्रं चैव लङ्घित्वा दग्धवान् कानकीं पुरीम्।
हतवान् राक्षसान् भूरि वनं ध्वंसितवानहम्।।
तत्सर्वं च प्रतापस्ते रघुराज कृपानिधे।
नाथ मे न प्रभुत्वं वै किञ्चिदय ब्रवीमि ते।।

एवं परमेश्वरपदपद्मपरागरागरसिकमधुपमनसो निहतलोकस्यापि विगताहङ्कृते न विद्यते कर्मलेपः, न वा कर्मबन्धः। यथोक्तं श्रीमद्भागवते -

यत्पादपङ्कजपरागनिपेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयाऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः।। भाग० १०-३३-३५।।

किंच यद्यात्मनि ईश्वराधीनकर्तृत्वं साध्यते, तर्हि पाणिनिवचम् न विरोधः। तथाचाह भगवान् पाणिनिः "स्वतन्त्रः कर्ता" पा. अ. १.४.५५

इति चेन्नैवम्! तत्रापि स्वस्य परमात्मनः तन्त्रं प्रेरणारूपमनुशासनं यस्मिन् स स्वतन्त्रः इति व्याख्यानेनादोषत्। अतएव मानसकाराः उत्तरकाण्डे जीवात्मनः परमेश्वराधीनकर्तृत्वमेव साधयन्ति। यथा ब्रवीति श्रीकाकर्षिः श्रीगरुडं प्रति —

सुनु खगेश ऋषि कर नहीं दूषन।
उर प्रेरक रघुवंश विभूषन।।

रुपान्तरम् -

आकर्णय विहङ्गेश ऋषेः किञ्चिन्न दूषणम्।
सर्वस्य प्रेरको हृत्स्थो रघुवंशविभूषणः।।

तदेव साधयन् कर्मप्रवर्तक कर्मसङ्ग्रहयोरपि प्रत्येकं त्रैविध्यं त्राह —

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।।

रा.कृ.भा. - ज्ञायते अनेनेति ज्ञानं बुद्धिः, ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयं, परितः जानातीति परिज्ञाता अन्तर्यामी परमात्मा, एषा त्रिविधैव कर्मप्रवर्तना भवति। एभिः प्रेरितो जीवात्मा कर्माणि प्रवर्तते। तथा च तैः प्रवर्तितेन विधीयमानं सम्पूर्णं कर्म त्रिषु संगृह्यते। व्यङ्गे कर्मणि व्यापाराश्रये कर्तरि च। अत आह करणमिति क्रियते अनेनेति करणं श्रोत्रादीनि बाह्यानि इन्द्रियापरपर्यायानि। कर्म "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" पा. अ. १.४.४९ प्रकृतधातूपात्तव्यापाराश्रयकर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्व प्रकारकेच्छा-निरूपितोदेशताश्रयतावच्छेदकं कर्म। तथा क्रिया सिद्धौ स्वातन्त्रेण विवक्षितोऽर्थः कर्ता इति त्रिविधः तिस्रः विधा यस्मिन् तथाभूतः। संगृह्यते यस्मिन्निति संग्रहः "अधिकरणे घः", कर्मणां संग्रहः कर्मसंग्रहः। करणं कर्म कर्ता एषु त्रिष्वेव कर्म संगृहीतं भवति। यथा - कृष्णः पार्थाय गीतामुपदिशतीत्यत्र उपदेशः क्रिया तस्योपदेशस्य करणं भगवत्कृष्णमुखारविन्दं, उपदेशरूपव्यापाराश्रयता कर्तृभूते भगवति कृष्ण एव, उपदेशानुकूलफलस्य मुखसञ्चालनवाक्यप्रबन्धीकरणरूपस्य तत्कर्मभूतायां गीतायामाश्रयता। एवं पञ्चविधेषु हेतुषु त्रिविधायां प्रवर्तनायां त्रिविधे च संग्रहे जागरूके एकादशसु समायतत्त्वेन कर्मणां केवलस्य आत्मनः कथमपि कर्तृत्वं न सिद्ध्यति। ।।श्रीः।।

अथ ज्ञानकर्म कर्त्रणां बुद्धेर्धृतेः सुखस्य च प्रत्येकं त्रैविध्यं निरूपयितुमुपक्रमते। तत्र पूर्वज्ञानकर्मकर्तॄणां त्रैविध्यं निरूपयितुं प्रत्यंकं प्रतिजानीते जनार्दनः —

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।

रा.कृ. भा. - ज्ञानंज्ञप्ति साधनं कर्म क्रिया कर्ता क्रियाश्रयः इत्येवं गुणानां सत्त्वरजस्तमसां भेदः वैलक्षण्यमिति गुणभेदः तेन गुणभेदतः "आद्यादिभ्यस्तसे रूपसंख्यानम् इत्यनेन तृतीयार्थे तसिः। त्रिधैव त्रिप्रकारकमेव गुणानां संख्यानं

यस्मिन् तद् गुणसंख्यानं सांख्यशास्त्रं तस्मिन् गुणसंख्याने शास्त्रे कपिलादिभिः प्रकर्षेणोच्यते। यद्यपि सांख्यमद्वैतिनां विपक्षभूतं तथापि अगत्या अद्वैतमतप्रवर्तकेन शंकराचार्येण सांख्यमेव शरणं गृहीतं, तथा ह्यत्रत्यं तदीयं भाष्यम् "कथ्यते गुणसङ्ख्याने कापिले शास्त्रे, तदपि गुणसङ्ख्याने शास्त्रं गुणभोक्तृविषये प्रमाणमेव परमार्थब्रह्मैकत्वविषये यद्यपि विरुध्यते तथापि ते हि कापिला गुणगौणव्यापारनिरूपणेऽभियुक्ता इति, तच्छा-स्त्रमपि वक्ष्यमाणार्थस्तुत्यर्थत्वेनोपादीयत इति न विरोधः। अहो प्रच्छन्नबौद्धानां अर्धजरतिन्यायविडम्बना, यत्र कार्यं तत्र स्वीकृतिः (यत्र च निजकल्पितेन मतेन विरोधः) तत्र कार्यं तत्र स्वीकृतिः यत्र च निजकल्पितेन मतेन विरोधः तत्र तिरस्कृतिः, स्वार्थी दोषं न पश्यति इति न्यायात्। वयं तु श्री वैष्णवाः जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य पदपङ्केरुहपरागरागपारंपर्यमनुगच्छन्तः कपिलं भागवतादिवर्णितत्वात् भगवदवतारं स्वीकृत्य तस्मिन् परमं श्रद्दध्महे। यथा –

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्।। *भागवत् १–३–१०*

यथा च तत्रैव तृतीये –

तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि।।
अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः।
गायन्ति तं स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा।।
पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैरपवर्जिताः।
प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च।।

भागवत् ३/२४/६/७/८

अन्यच्च –

भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन्।
तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट्।।

भा. ३/२४/१०

अत एव गोस्वामीतुलसीदास महाराजा अपि श्रीमानसे प्राहुः–

देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रियनारी।
आदि देव प्रभुदीनदयाला। जरठ धरेउ जेहिं कपिल कृपाला।
सांख्यशास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्व विचार निपुन भगवाना।।

मानस १/१४२/५/६/७

रुपान्तरं-

देवहूतिस्पुनः तस्य कुमारी प्रमदोत्तमा।
या कर्दमस्य च मुनेः प्रिया पत्नी यशस्विनी।।
आदिदेवं प्रभु, दीनदयालुं मधुसूदनम्।
या दधार स्वजठरे कृपालुं कपिलं हरिम्।।
यो वै प्रकटयामास सांख्यशास्त्रं सुदुर्गमम्।
तत्त्वानां च विचारेषु निपुणो भगवान् हरिः।।

अत एव वयं रामानन्दीयश्रीवैष्णवाः सीतारामविशिष्टाद्वैतवीथिसत्पथ-पान्थाः सांख्यशास्त्रानुमोदितं सत्कार्यवादं, पुनश्च तदनु मोदितं प्रत्यक्षमनुमानं शब्दं चेति प्रमाणत्रयं जीवात्मनो बहुत्ववादं, प्रकृतिं पुरुषं चैव भिन्नावुभौ परमात्मनो विशेषणीभूतौ सश्रद्धं स्वीकुर्मः। तानि यथोक्तं सांख्ये तद्वदेव यथा श्रुतं शृणु अपिना बुद्धेः, धृतेः सुखस्य च प्रत्येकं त्रैविध्यं श्रोतुमुद्यतो भव इत्यपि सूचितम्।।श्रीः।।

अथ सात्त्विकं ज्ञानं निर्वक्ति,
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।। १८/२०।।

रा.कृ.भा. - इह ज्ञानं करण साधनं इत्यवोचाम येन ज्ञानसाधनेन ज्ञाता जीवात्मा विभक्तेषु देवतिर्यङ्मनुष्यभेदेन विभक्ताकारैः सर्वभूतेषु सर्वेषु अचित-सम्पृक्तेषु देहाभिमानविशिष्टेषु अविभक्तमेकाकारमतएव एकचिदचिद्विशेषं प्रधानं भावं वस्तु श्री रामब्रह्मत्मकमीक्षते अनुभवति साक्षात्करोति तज्ज्ञानं सात्त्विकम् सत्वनिर्वृतं विद्धि जानीहि। अथ राजसमुदाहरति।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।। १८/२१।।

रा.कृ.भा. - सर्वेषु भूतेषु यद्ज्ञानम् अनेकविधान् नानाभावान् पृथक्त्वेन वेत्ति जानाति इह यद्ज्ञानमिति बहुव्रीहिः वा जीवजातं इति विशेषमध्याहार्यं तथा यद्ज्ञानं यस्मिन् यत् तदज्ञानं जीवजातं सर्वेषु भूतेषु वर्तमानान् भूतान् भावान् पदार्थान् परमात्मनः पृथक्त्वेन वेत्ति जानाति तद् ज्ञानं राजसं विद्धि येन साधकः परमात्मनः सम्बन्धेन जीवान् पृथक् मन्यते तद ज्ञानं राजसं विद्धि। श्रीः।

अथ तामसमुदाहरति -

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।। १८/२२।।

रा.कृ.भा. - यद्ज्ञानमेकस्मिन् कार्ये कृत्स्नं सम्पूर्णमिव सक्तमहैतुकं हेतुरहितं अतत्त्वमेव अर्थः यस्य तादृशमल्पं परिसीमितं भवति तद्ज्ञानं तामसमुदाहृतम् श्री अथ कर्म सात्त्विकमुदाहरति -

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।। १८/२३।।

रा.कृ.भा.- नितयं श्रुतिविहितत्वात् नित्यं संगरहितमासाक्तिवर्जितं, रागश्च दोपश्च रागद्वेपो न रागद्वेपौ अरागद्वेपौ ताभ्यां अरागद्वेषाभ्यामिति अरागद्विषतः न फलं प्रेप्सतीति अफलप्रेप्सुः तने अफलप्रेप्सुना। फलाकांक्षावर्जितेन एवं भूतेन जनेन कृतं कर्म सात्त्विकम्।।श्रीः।।

अथ राजसमुदारति -

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।। १८/२४।।

रा.कृ.भा.- तु इति पक्षान्तरे काममाप्तुमिच्छतीति इति कामेप्सुः तेन कामेप्सुना कामालिलापिणा। अहंकारेण सह वर्तमानः साहंकारः तेन साहंकारेण पुनः आयासाः बहुलाः यस्मिन् तद्बहुलायासं, आहिताग्नित्वात् पूर्व प्रयोगः एवं भूतेन यत्ः कर्म क्रियते तद्रजसं भवति। श्री। अथतामसमुदाहरति -

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।। १८/२५।।

रा.कृ.भा.- अनु पश्चात् वध्यते इत्यनुबन्धं परिणामः कर्मफलं क्षयं विनाशं अहिंसा परपीडन पौरुपं शरीरसामर्थ्यं च अनवेक्ष्य अनालोच्य मोहाद् अज्ञानात् यत्कर्म आरभ्यते रावणादिवत् तत्कर्म तामयसमुच्यते। यथाक्रमं इमानि श्रीरामाङ्गदरावणेपु अह्यानि। श्री रामे सात्त्विकं कर्म अंगदे राजसं तथा रावणे तामसं कर्म लक्षणैरव गम्यताम् ।श्रीः।

अथ सात्त्विकः कर्तारमाह-

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।। १८/२६।।

रा.कृ.भा. - मुक्ताः त्यक्ताः पुत्रपौत्रादिपु सङ्गाः आसक्तयः येन सः मुक्तसंगः अहं करोमि इति यः न वदति सोऽनहंवादी विग्रहस्तु अहं वदतीतितच्छीलः इत्यहंवादी नाहंवादी अनहंवादी धृतिः सात्त्विकी धारणा धृतिश्च

उत्साहश्च धृत्युत्साहा ताभ्यां समन्वितः धृत्युत्साहसमान्वितः सिद्धिश्च असिद्धिश्च सिद्ध्यद्धी तयोः सिद्ध्यासिद्ध्योः सफलतासफलतयोः निर्विकारः निर्गताः विकाराः यस्मात् तथाभूतः कर्ता सात्त्विकः सात्त्विकः सत्त्वगुणबहुल उच्यते। श्री रामकृष्णवत्। श्रीः।

अथ राजसं निरूपयति-

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।। १८/२७।।

रा.कृ.भा. - रागः अस्त्यस्मिन्निति रागी संसारे रागवान् कर्मफलानि प्राप्तुं इच्छति इति कर्मफलप्रेप्सुः लुब्धः परद्रव्यगृध्नुः हिंसा आत्मनि यस्य स हिंसात्मकः परपीडाजीवनः अशुचिः अपवित्रः हर्षश्च शोकश्च हर्षशौकौ ताभ्यामन्वितः हर्षशोकान्वितः एवंविधः कर्ता राजसः रजोगुणी परिकीर्तितः कथितः कुम्भकर्णदुर्योधनादिवत्। श्री। अथ तामसं निरूपयति-

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।। १८/२८।।

रा.कृ.भा. - अयुक्तः योगरहितः भोगवादी प्राकृतः ग्राम्यः स्तब्धः अभिमानयुक्तः धृष्टो वा शठ दुष्टः नैष्कृतिकः निष्कृतिः प्रायश्चितं तस्यां भवः नैःकृतिकः परापकारी सर्वप्रायश्त्तिमयः अलसः आलस्यवान् विषादी विषीदति तच्छीलः दीर्घसूत्री विलम्बितकार्यप्रियः एवंविधः कर्ता तामस उच्यते कथ्यते रावणशिशुपालवत्। श्री। अथ बुद्धिधृतिभेदवर्णनं प्रतिजानीते।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।। १८/२९।।

रा.कृ.भा. - हे धनञ्जय धनञ्जयतीति धनञ्जयः तत्सम्बुद्धौ हे धनञ्जय। हे पार्थ गुणतः गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः बुद्धेः धृतेश्चैव पृथक्त्वेन पार्थक्येन अशेषेण समग्रेन प्रोच्यमानेन मया कथ्यमानं बुद्धिधृत्योर्भेदं शृणु आकर्णय। श्रीः।

अथ सात्त्विकबुद्धिं निरूपयति-

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।। १८/३०।।

रा.कृ.भा. - हे पार्थ या व्यवसायात्मिका बुद्धिः - प्रवृत्तिं प्रवर्तनं निवृत्तिं कर्मभ्यो निवर्तनं कार्यं कर्तव्यम्। अकार्यमकर्तव्यम्।

भयं भीतिः, अभयं निर्भीकता बन्धं बन्धनं मोक्षं कर्म बन्धनात् या वेत्ति जानाति यद्वा विद् धातुरन्तर भावितव्यर्थ : कर्मसु प्रवर्तनम्" विकर्मभ्यो विवर्तनम्। भगवद्भजने करणीयतां संसारचिन्तने अकरणीयतां पापाद्भयं भगवत्यभयं भगवत्प्रेमणि बन्धनं संसारात् मोक्षमपि या वेत्ति वेदयति, ज्ञापयति हे पार्थ सा बुद्धिः समत्वात् सात्विकी।।श्रीः। अथ राजसबुद्धिं निरूपयति -

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।। १८/३१।।

रा.कृ.भा.- यया बुद्ध्या धर्मं वेदप्रणिहितं अधर्मं वेदाविहितं कार्यं कर्तव्यं अकार्यं अकर्तव्यं अयथावत् यथार्थतो भिन्नं प्रजानाति असत्यमपि प्रकर्षेण जानन् न त्यजति सा बुद्धिः राजसी।।श्रीः।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।। १८/३२।।

रा.कृ.भा.- हे पार्थ या स्वयं तमसा अन्धकोरण मोहेन आवृता अधमेवधर्मं सर्वान् अर्थान् सर्वान् परमार्थ विपयान विपरीतान् मन्यते। सा बुद्धि, तामसी अत्रायं क्रमः सात्विकी राघवे कृष्णे कैकेय्यां चैव राजसी। तामसी रावणे प्रोक्ताः शिशुपालादिपु स्फुटम्।।श्रीः।।

अथ सात्त्विकीधृतिं निरूपयति

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।। १८/३३।।

रा.कृ.भा.- हे पार्थ यया अव्यभिचारिण्या व्यभिचाररहितया धृत्या धारणया मनश्च प्राणाश्च इन्द्रियाणि च मनःप्राणेन्द्रियाणि तेपां क्रियाः योगेन मद्भक्ति योगेन धारयते। आत्मकल्याणाय धारणं करोति। सा सात्त्विकी धृतिः यथा आञ्जनेयादौ।।श्री।।

अथ राजसीं निरूपयति-

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।। १८/३४।।

रा.कृ.भा. - हे पार्थ यया धर्मकामार्थान् त्रिवर्गं प्रसङ्गेन संसारासक्त्यैव फलानि आकांक्षन् धारयते सा राजसी धृतिः। अथ तामसीं निरूपयति

यया स्वप्नं भयं शोकं विपादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।। १८/३५।।

रा.कृ.भा. - हे पार्थ यया धृत्या दुर्मेधाः दुर्बुद्धिर्मानवः स्वप्नं निद्रां भयं शोकं च विषादं दुःखं मदं दर्पं न विमुञ्चति सा तामसी धृतिः ।।श्रीः।।

अथ सुखभेदं निर्वक्तुं प्रतिजानीते -

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।। १८/३६।।

रा.कृ.भा.- तु चार्थः भरतेषु ऋषभः भरतर्षभः तत्सम्बुद्धौ हे भरतर्षम! हे भारतश्रेष्ठ इदानीं अस्मिन् समये त्रिविधं सात्त्विकराजसतामसभेदात् भेदत्रयात्मकं सुखं मे मम सकाशात् शृणु आकर्णय। यत्रायं मानवः अभ्यासात् योगाभ्यासेन रमते दुःखान्तं च दुःखस्य अत्यन्ताभावं निगच्छति। यद् वा यत्पदं द्वितीयचरणोक्तं मे इत्येवमाकारकं अस्मच्छब्दं परामृशति। यस्मिन् मयि योगी योगाभ्यासेन रमते, दुःखस्यान्तं गच्छति। एवं विधस्य मे मम सकाशात् त्रिविधं सुखमिदानीमस्मिन्नेव समये भेदत्रयात्मकतया शृणु। यत्तु पूर्वाचार्यैः यच्छब्देन पूर्वोक्तं परामृश्यते यस्मिन् अभ्यासाद्रमते दुःखान्तं निगच्छति, तादृशं त्रिविधं सुखं मत्तः शृणु। अस्मिन् व्याख्याने "अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति" इलि लक्षणद्वयं राजसतामसयोरतिव्याप्तं स्यात्। तत्र च अभ्यासपूर्वकरमणासंभवः दुःखान्त-प्रात्यसंभवश्च। तस्मात् मदुक्तं समाधानं ज्यायः ।।श्रीः।। सम्बन्धं यद्वा अर्धेनैव प्रतिज्ञा, उत्तरार्धेन चैतस्य सहाग्रिमः सात्त्विकसुखलक्षणविशेषः-

तत्तदग्रेविषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।। १८/३७।।

रा.कृ.भा. - तथा हि यच्छब्दस्य अग्रिमेण संवन्धः यत्र सुखे अभ्यासबलेन रमते, दुःखान्तं निगच्छति। यच्च अग्रे शमदमादौ समाधिवेलायां विषमिव, किन्तु परिणामे अमृतंमुपमा यस्य तत् अमृतोपमं अमृततुल्यानन्ददायकम्। आत्मा च बुद्धिश्च आत्मबुद्धी तयोः प्रसादाज्जायते तत् आत्मबुद्धिप्रसादजं येन आत्मा बुद्धिश्च प्रसीदतः तत् सात्त्विकं सुखं प्रोक्तं कथितम्। अथवा ममैव व्याख्यानं श्रेयः -

सात्त्विकसुखस्य आत्मबुद्धिप्रसादजत्वात् अनित्य त्वंतस्मात् यत्र मयि अभ्यासाद्रममाणो दुःखस्यान्तं निगच्छति। एवंभूतस्य मम सकाशात् त्रिविधं सुखं शृणु, तथापि सत्त्वगुणावच्छिन्नतया अग्रे विषं परिणामेऽमृतं आत्मनः बुद्धेश्च प्रसादाज्जायमानं सात्त्विकं सुखं प्रोक्तम्।।श्रीः।।

अथ राजसं सुखम् -

विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।। १८/३८।।

रा.कृ.भा. - यत् विषयाणामिन्द्रियैः संयोगाज्जायते, एवं अग्रे प्रारम्भे अमृतोपमं, तथा परिणामे कर्मपरिपाके विषमिव कालकूटतुल्यं तत् सुखं राजसं स्मृतं मया कृष्णचन्द्रेण इति शेषः।।श्रीः।।

अथ तामसमाचष्टे -

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।। १८/३९।।

रा.कृ.भा.- यत् सुखं अग्रे प्रारम्भे, अनुबन्धे परिणामे च आत्मनः मनसः मोहनं मुह्यते अनेनेति मोहनं। यच्च निद्रा स्वापः आलस्यं कर्मचिकीर्षया अभावः प्रमादः कार्यानवधानता तेभ्यो उत्तिष्ठति इति निद्रालस्यप्रमादोत्थं, एवं सुखं तामसं उदाहृतं कथितम्।इत्थं ज्ञानकर्मकर्तृबुद्धिधृतिसुखानां त्वयि सात्त्विकं ज्ञानं, सात्त्विकं कर्म, सात्त्विकः कर्ता, सात्त्विकी बुद्धिः सात्त्विकी धृतिः, सात्त्विकं सुखम्।।श्रीः।

विषयमुपसंहरति -

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।। १८/४०।।

रा.कृ.भा.- हे पार्थ ! पृथिव्यामस्यां सप्तद्वीपायां भूमौ वा तथार्थः। तथा दिवि पुनश्च देवेषु अन्तरीक्षचारिषु तत्सत्त्वं नोपलभ्यते। यत् एभिः मया प्रोक्तैः त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोगुणैः मुक्तं स्यात्। अर्थात् यदपि चिदचिदात्मकं जीवजगज्जातं तत्सर्वमपि त्रिगुणमयम् ।। श्रीः।।

अथ शास्त्रार्थमुपसंहरन् चातुर्वर्ण्यसमीक्षणमाह-

ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। १८/४१।।

रा.कृ.भा.- ब्राह्मणाश्च क्षत्रियाश्च विशश्च इति ब्राह्मणक्षत्रियविशः तेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां विशः वैश्याः, विशो मनुष्या वैश्याश्च "इतिकोशात्। तथा शूद्राणां शुचा चिन्तया द्रान्तीति शूद्राः इति प्राञ्चः। वस्तुतस्तु व्युत्पत्तिरियं व्याकरणविरुद्धा सिद्धान्तविरुद्धा च, शुच शब्दो हि चकरान्तः उकार मध्यश्च, तर्हि अत्र कथं दीर्घता। यथा श्रुतायां दीर्घापत्तिः जकारश्रवणापत्तिः, "शवरीविदुरादौ अव्याप्तिश्च। वस्तुतस्तु शुः ब्रह्मवाची "श्री शुक उवाच" इत्यत्र शुं ब्रह्म कायति

सङ्कीर्तयति इति शुकः इति व्युत्पत्तेः, उः निश्चयवाचकः, तथा शुः ब्रह्म उ निश्चयेन द्रवति कृपां करोति यस्मिन् स शूद्रः, शवर्यादौ झटिति भगवात्कृपायाः दर्शनात्। यत्तु शूद्रणामसमासकरणे केचनान्यथैव समादधते, तत्र असमासकरणं श्लोकपादपूर्त्यर्थं, समासे तु ब्राह्मणक्षत्रियविड्छुद्राणां इत्यसंगतं स्यात्। यद्वा भगवतो विशेष-कृपापात्रत्वात् असमासकरणम्। वस्तुतस्तु व्यापकोऽयं परमोदारो हिन्दू धर्मापरपर्यायः सनातनो नो वैदिको धर्मः। अत्रवर्णव्यवस्था शास्त्रीया, किन्तु नेयं परस्परद्वेषहेतुः अत्र हि वैदिकोऽयं मन्त्रवर्णो मयोदाहृयते, यं शातपथाः धूपार्थं विनियुञ्जते "ॐ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।। शु० य० वा० मा० शा० ३९ - ९९ पद्भ्यां इति पञ्चम्यन्तानुरोधेन मुखं बाहू ऊरु इत्येतेष्वपि पञ्चम्येव भवितव्यम्। अत्रमुखादिति वक्तव्ये मुखम् इति ङसः इति स्थाने "सोरमो लीला" बाहूभ्यां इति वक्तव्ये बाहू इति "भ्यामः पूर्व-सवर्णः" ऊरूभ्यां इत्यत्रापि "भ्यामः पूर्वसवर्णः" इदं सर्वं "व्यत्ययोः बहुलम् (प. अ. ३-१-८५ इत्यस्यैव लीलाविलासः। तस्मानिन्निष्पन्नोऽयमर्थः, अस्य भगवतः मुखात् ब्राह्मणः आसीत्, बाहुभ्यां राजन्यः क्षत्रियःकृतः, ऊरूभ्यां तस्यास्य वैश्यः अस्यैव पद्भ्यां शूद्रः अजायत। भगवतः आनन्दमयत्त्वात् तस्य सर्वाङ्गाणां पावनत्वेन मुखस्योत्कृष्टत्वं, पदयोश्चापकृष्टत्वं इति तु वक्तुं न शक्यते। व्यवहारेऽपि पूज्यमीमांसायां मुखाच्छ्रेयान् चरणौ विलोक्यते, अत एव पूज्यचरणपूज्यपाद श्री-चरणआचार्यचरणपितृचरणेत्यादि चरणान्तं व्यवहरन्ति, न तु मुखबाह्वोरन्यतमम्। सम्मानार्थं चरणौ क्षालयन्ति, पिबन्ति च चरणोदकं, प्रणमन्ति चरणेषु, किं बहुना यच्चरणतो निर्गता गङ्गा पवित्रतावधिभूता सर्वान् लोकान् पुनाति, तच्चरणतः समुद्भूतः शूद्रः कथमविन्रइति विषमेयं परंपरा।

अथ प्रकृतमनुसरामः - हे परंतप ! येषां चतुर्णां स्वः भावः स्वभावः तेन प्रविभक्ताः इति स्वभाव प्रविभक्ताः तैः स्वभावप्रविभक्तैः, गुणैः, यद्वा स्वभावः प्रभवः प्रकृतिः उत्पत्तिस्थानं येषां तैः, कर्माणि प्रविभक्तानि विभागशः वर्णितानि।।श्रीः।।

तत्र पूर्वं ब्राह्मणानां नव कर्माणि -

शमो दमस्तथा शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्।। १८/४२।।

रा. कृ. भा. - शमः मनसः प्रशमनम्, दमः इन्द्रियाणां निग्रहः, तपः चान्द्रायणादिकम्, शौचं बाह्यान्तरशुद्धिः, क्षान्तिः, क्षमा, आर्जवं सरलभावः, ज्ञानं

सेव्यसेवकभावबोधः, विज्ञानं विष्णोः ज्ञानं विज्ञानं भगवन्माहात्म्यबोधः, आस्तिक्यमास्तिकबुद्धिः। एतानि नवकर्माणि स्वभावजानि ब्रह्मणः ब्राह्मणस्य भवन्ति।।श्रीः।।

अथ क्षत्रियकर्माणि सप्त -

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्ययलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। १८/४३।।

रा.कृ.भा. - शौर्यं वीरता, तेजः परानभिभवशीलता, धृतिः धैर्यं, दाक्ष्यं चतुरता लोकद्वयसाधिनी रणकौशलं वा, युद्धे अपलायनं समरधीरत्वं, दानं मुक्तहस्तेन द्रव्योत्सर्गः, ईश्वरभावः शासनस्वभावः। इमानि सप्त स्वभावजानि क्षत्रियस्य कर्माणि भवन्ति।।श्रीः।।

अथ वैश्यशूद्रकर्मनिरूपणम् -

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम।। १८/४४।।

रा.कृ.भा. - कृषिः अन्नोत्पादनं, गवां रक्षा गोरक्षा तस्य भावः गौरक्ष्यं, वणिजो भावः वाणिज्यं, इदं वैश्यानां कर्मत्रयम्। विश एव वैश्याः 'गुण वचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च. पा. अ. ५.१.१२४ इत्यनेन ष्यज् परिचर्या भगवतः सेवैव आत्मा यस्य तत्परिचर्यात्मकं, भगवत्सेवैव शूद्राणां स्वभावजं कर्म विदुरादिवत्।।श्रीः।।

अथ स्वः स्वः वर्णानुसारकर्मोपदेशश्चतुर्भिः -

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।। १८/४५।।

रा.कृ.भा. - स्वे स्वे "पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा" पा. अ. ७.१.१६. इत्यनेन सर्वनाम संज्ञाविकल्पात् स्मिन्नभावः। स्वे स्वे यथा वर्णाश्रमं कर्माणि श्रुतिविहिते अभिरतः अभीष्टतयारतः नरः संसिद्धिं लभते। मत्प्राप्तिलक्षणां प्राप्नोति। स्वकर्माणि नितरां रतः यथा येन प्रकारेण सिद्धिं विन्दति। तत् मत्तः शृणु।।श्रीः।।

परमात्मपरितोष एव सर्ववेदार्थः

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। १८/४६।।

रा.कृ.भा. - यतः यस्मात् परमात्मनः सकाशात् भूतानां प्रवृत्तिः संसारे प्रवर्तनं, उत्पत्तिर्वा येन परमात्मना कर्त्रा इदं सर्वं जगत् ततं व्याप्तं। तमेव परमात्मानं

स्वकर्मणा वर्णाश्रमानुरूपेण पुष्पीभूतेन अभ्यर्च्य अभीष्टतया पूजयित्वा सिद्धिं सफलतां विन्दति लभते, मानवः मनुस्मृतिबद्धनिष्ठः।।श्रीः।।

स्वधर्मनिष्ठां स्तौति -

श्रेयान्स्व धर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।। १८/४७।।

रा.कृ.भा. - शोभनतया अनुष्ठितात् परधर्मात् अन्यस्य धर्मात् विगुणः विगतगुणोऽपि लोकदृष्ट्या स्वधर्मः निजवर्णाश्रमप्राप्तधर्मः श्रेयान् प्रशस्यतरो भवति। स्वभावेन नियतं कर्म कुर्वन् किल्बिषं पापं नाप्नोति।।श्रीः।।

सहजकर्मणः त्यागं निषेधति -

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।। १८/४८।।

रा.कृ.भा.- कुन्त्याः अपत्यं पुमान् कौन्तेयः तत्सम्बुद्धौ हे कौन्तेय ! दोषैः सहितं सदोषं तदपि कर्म न त्यजेत्। यथा अग्निः धूमेन आवृतः आच्छन्नो भवति, तथैव सर्वे आरम्भाः कर्माणि कर्मफलानि वा दोषेण आवृताः। निर्दोषस्तु केवलमहमेव इति श्लोकार्थः।।श्रीः।।

अथ द्वाभ्यां ज्ञाननिष्ठावाप्तिमाह -

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।। १८/४९-५०।।

रा. कृ. भा. - सर्वत्र सर्वेषु स्थानेषु असक्ता सङ्गरहिता बुद्धिः यस्य स असक्तबुद्धिः, जितः आत्मा मनः येन स जितात्मा, विगता स्पृहा जगतीतल-विषयिणी लीप्सा यस्मात् स विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यमेव सिद्धिः नैष्कर्म्यसिद्धिस्तां नैष्कर्म्यसिद्धिं, परमां श्रेष्ठां, संन्यासेन काम्यकर्मत्यागेन अधिगच्छति प्राप्नोति। एवं सिद्धिं प्राप्तः ब्रह्म मां यथा आप्नोति, तथा मे मत्तः निबोध जानीहि। हे कौन्तेय ! ज्ञानस्य च या यदा निष्ठा मद्भक्तिः प्रेमलक्षणा, तामपि समासेन संक्षेपेण निबोध जानीहि।।श्रीः।।

अथ ज्ञाननिष्ठाप्रकारमाह चतुर्भिः -

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषुभूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।। १८/५१-५२-५३-५४।।

रा.कृ.भा. - विशुद्ध्या मद्भजनयुक्तया सात्विक्या बुद्ध्या युक्तः, तथा धृत्या सात्त्विकधारणया आत्मानं मनः नियम्य वशीकृत्य शब्दादीन् विषयान् बन्धहेतून् त्यक्त्वा, तेषु वर्तमानौ रागद्वेषौ अनुकूलप्रतिकूलौ व्युदस्य विसृज्य, विविक्तं एकान्तं सेवते तच्छीलः, लघ्वाशी अल्पाहारः। यतानि नियन्तृतानि वाक्कायमानसानि वाणीशरीरमनांसि यस्य ध्यानयोगे परः तत्परो भूत्वा, वैराग्यं परापरतिं समुपाश्रितः सम्यगधिगतः। अहङ्कारमभिमानं, बलनात्मबलं, दर्पं गर्वं, कामं, क्रोधं, परिग्रहं, धनसंग्रहं, परिग्रहं पत्नीं वा विमुच्य त्यक्त्वा निर्ममः ममतारहितः, शान्तः ब्रह्मभूयाय ब्रह्मणि भूयं ब्रह्मभूयं तस्मै ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसमीपस्थितये कल्पते योग्यो भवति। ब्रह्मणि परमात्मनि तत्समीपे भूता स्थितिः यस्य सः ब्रह्मभूतः, प्रसन्नः निर्मलः आत्मा अन्तःकरणं यस्य स प्रसन्नात्मा न शोचति, सततपरमात्मनः सन्निधानात्। न काङ्क्षति पूर्णकामत्वात्। सर्वेषु भूतेषु समः समबुद्धिः, ज्ञानी परां पदमानुरक्तिरूपां मद्भक्तिं लभते प्राप्नोति।। श्रीः।।

अथ भक्तिमेव साध्यत्वेन वर्णयति -

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।। १८/५५।।

रा.कृ.भा. - अहं यावान् यत्प्रमाणकः, यः यद्रूपगुणकः तं सर्वं मां भक्त्यैव परमप्रेमलक्ष्णतया मां त्रिभङ्गललितं अभिजानाति अभीष्टतया वेत्ति। ततः तया भक्त्या मां तत्त्वतः ज्ञात्वा सेव्यत्वेन विज्ञाय, तत् तच्छब्दलाघ्मनन्तरं न विद्यते अन्तरं व्यवधानं यस्य तं मां विशते प्रविशति। श्री भुशुण्डिः रामोदरमिव।।श्रीः।।

अथ स्वप्रसादसाधनमाह -

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।। १८/५६।।

रा.कृ.भा. – सर्वाणि नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि कुर्वाणः, सदैव अहमेव विशिष्टः अपकृष्टश्च आश्रयः यस्य इति मद्व्यपाश्रयः, मत् प्रसादात् मत् कृपया अव्ययं जननमरणभयवर्जितं, शाश्वतं नित्यं पदं वैष्णवपदं "तद्विष्णोः परमं पदं" इति श्रुतेः अवाप्नोति लभते।। श्रीः।।

अथ विधेयं आज्ञापयति द्वाभ्यां –

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।१८/५७।।
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।१८/५८।।

रा.कृ.भा. – हे पार्थ ! अहं कृष्णः परः परदेवता यस्य स मत्परः सत्त्वं चेतसा चित्तेन सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य समर्प्य बुद्धियोगं "द्वितीयाध्याय" प्रोक्तमुप–आधिक्येन आश्रित्य, सततं निरन्तरं मच्चित्तः भव, मयि कृष्णे चित्तं यस्य तादृशो भव। तेन किं स्यात् ? मयि चित्तं समर्प्य मत् प्रसादात् मम कृपया सर्वदुर्गाणि संपूर्णानि सङ्कटानि तरिष्यसि तीर्णो भविष्यसि। ईषत् क्रोधमुद्रां नाटयन्नाह – अथ चेत् यदि कदाचित् अहङ्कारात् अभिमानेन उद्धतः न श्रोष्यसि उपेक्षिष्यसे, तदा विनङ्क्ष्यसि विनष्टो भविष्यसि।।श्रीः।।

कथं नष्टो भविष्यामि इत्यत आह –

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।। १८/५९।।

रा.कृ.भा. – यदि चेत् अहङ्कारमाश्रित्य अहं न योत्स्ये इदं द्वितीये नवमे उक्तं "न योत्स्ये इति गाविन्द" इत्येवं मन्यसे स्वीकरोषी। तदा ते एषः व्यवसायः निश्चयः मिथ्या भ्रममूलक एव। यतो हि त्वां प्रकृतिः क्षात्रोचितस्वभावः युद्धकर्मणि नियोक्ष्यति नियुक्तं करिष्यति।।श्रीः।।

कथमित्यत आह –

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।। १८/६०।।

रा.कृ.भा. – हे कौन्तेय ! त्वं स्वभावजेन क्षत्रियस्वभावजन्मना स्वेन निजेन कर्मणा शौर्यादिना निबद्धः। यत् मोहादज्ञानात् न कर्तुमिच्छसि। तत् अवशः विवशः सन् करिष्यसि।।श्रीः।।

अथेश्वर प्रपत्तिमाह द्वाभ्यां, तस्या एव कर्मकाण्डत्रितयायाः श्रीगीतायाः सारभूतत्वात् –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। १८/६१/६२।।

रा.कृ.भा. – हे अर्जुन शुक्लस्वभाव ! सर्वभूतानां चराचराणां प्राणिनां हृद्देशे हृदये, सर्वभूतानि निजनियम्यानि यन्त्रारूढानीव मायया योगमायया भ्रामयन् हृद्देशे तिष्ठति। अन्तर्यामितया विराजते। हे भारत ! तमेव निजहृत्कमले वर्तमानं "इन्दीवरदलश्यामं" "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टम् इति श्रुतेः। सर्वभावेन शान्तवात्सल्यदास्यसख्यमाधुर्यादिना शरणं गच्छ प्रपत्तियोगेन शरणं प्रपद्यस्व। तत्प्रसादात् तदनुग्रहेण, परां शान्तिं मत्प्राप्तिलक्षणां तथा शाश्वतं स्थानं गोलोकापरपर्यायं साकेतं प्राप्स्यसि। ज्ञानकाण्डेति तमेव शरणं गच्छ "इत्यनेनैवोपसंहारात्, शरणागतिरेव सर्वेषां त्रयाणामपि काण्डानां सारमिति स्पष्टं प्रत्यपादयत् भगवान्। यथा प्रथमषट्कस्यान्ते "श्रद्धावान्भजते यो मां" गीता ६ – ४६ द्वितीयषट्कस्यान्ते "भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः" अस्याप्यन्ते "तमेव शरणं गच्छ"।।श्रीः।।

एवं काण्डत्रयस्यापि शरणागतिं सारं निरूप्य अर्जुनमनोभावं परीक्षते –

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। १८/६३।।

रा.कृ.भा. – इति एवं रूपेण प्रपत्तिपर्यन्तं गुह्याद्गुह्यतरं अतिगोपनीयं ज्ञानं अनेनाध्यायषट्केन ते तुभ्यमाख्यातं। एतत् अशेषेण विमृश्य विशदं विचार्य यथा इच्छसि येन प्रकारेण अभिलषसि। तथा कुरु तेनैव प्रकारेण कुरु, तव नास्ति कश्चन प्रतिबन्धः। इति भगवान् लीलायां उदासीनतां नाटितवान्। ।।श्रीः।।

अथैतां भगवदुदासीनतां निरीक्ष्य हन्तैतावत्यपि समर्पणे नाहं भगवत्-कृपापात्रतां गतः इति ग्लानिसागरे निमज्जन्तं पार्थं विलोक्य न किञ्चिदपि कथयन्तं नयनवाष्पधारया प्रभुपदपद्मं स्नापयन्तं प्राह प्रपन्नपारिजातः श्रीहरिः श्लोकत्रयात्मकं सर्वगुह्यतमं –

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।। १८/६४।।

रा.कृ.भा. – हे पार्थ ! सर्वेषामपि गुह्यतमं प्रपत्तियोगनिर्णयात्मकं परमं वचः मे मम सकाशात् भूयः शृणु पुनः आकर्णय। यतो हि त्वं मे दृढमिष्टः अत्यन्तं प्रियः, यथा अहं तव इष्टदेवता, तथा त्वमपि मम इष्टदेवता। अतस्ते तुभ्यं हितमेव वक्ष्यामि कथयिष्यामि ।। श्रीः।।

अहं न व्यलीकं वच्मि तव समक्षं प्रतिज्ञां करोमि –

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। १८/६५।।

रा.कृ.भा. – मयि मनः यस्य स मन्मना भव, पुनः बुद्ध्या मद्भक्तो भव मन्नामरूपलीलाधामास्वादनपरायणो भव। अहङ्कृत्या मद्याजी भव मद्यजनशीलो भव, चेतसा मां निरस्तसमस्तहेयप्रत्यनीकं सकलकल्याणगुणगणैकनिलयं नमस्कुरु। एवं कृतभावनया मन्मना भव, त्रेताभावनया मां भज, द्वापरदृष्ट्या मां यज, कलि-कालदृष्ट्या मननभजनयजनासमर्थः मां नमस्कुरु प्रणम। अनन्तरं त्वं मां परमात्मानमेव एष्यसि प्राप्स्यसि। ते तुभ्यं प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि। यतःस्त्वं मे मम अत्यन्तं प्रियः प्रेमपात्रमसि ।।श्रीः।।

अथ सकलशास्त्रार्थरहस्यभूतं श्रीगीताहृदयं समस्तवेदान्तानां महातात्पर्यं निखिल-श्रीवैष्णवमनोरमं चरमं चरमसिद्धान्तररूपं सकलवैदिकवाङ्मयसुधाकर-सुधामिव समुदीरयामास सर्वसर्वेश्वरः शिखिपिच्छशेखरः श्रीकृष्णः परमात्मा भगवान् –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। १८/६६।।

रा.कृ.भा. – व्याख्यात पूर्वःश्लोको यं द्वितीये सप्तमे मया।
तथापि विदुषां तुष्ट्यै व्याख्यास्ये चातिभक्तितः।।

परमकारुण्किो भगवान् श्रीगीतासुधारसं पाययन्नाह – सर्वे च ते धर्मा सर्वधर्माः धर्मशब्दोऽत्र कर्तव्यवाचकः सर्वाणि कर्तव्यानि परित्यज्य परीक्ष्य त्यक्त्वा "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्" इतिश्रुतेः यद् वा सर्वेषां वर्णाश्रमाणां धर्माः सर्वधर्मास्तान् सर्वधर्मान् वर्णधर्मान् आश्रमधर्मांश्च परित्यज्य मयि समर्प्य। यद्वा त्वं द्वितीये सप्तमे उक्तवान् "धर्मसम्मूढ चेताः" अतः सर्वकुटुम्बकान् धर्मान् सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं सर्वशक्तिमन्तं भगवन्तं शरणमुपायं, शरणम् आश्रयं, शरणं रक्षकं, व्रज प्रपद्यस्व। सम्पूर्णगीतां कथयित्वा "व्रजचर्चाया" अलब्धावसरत्वात् व्रजवल्लवी-वल्लभोऽयं व्रजकीर्तनं विना श्रीगीतामपूर्णां मन्वानः प्रकारान्तरेण व्रजं स्मरति,

नामधातुविधया व्रजशब्दः व्रजाङ्गनार्थकः, व्रजे इव व्रज यथा सर्वधर्मान् त्त्वा श्रीव्रजदेत्यो मामेव शरणं प्रपन्नाः, तथैव जातिधर्मान्, कुलधर्मान्, सम्प्रदायधर्मान, देहधर्मान्, गेहधर्मान्, पत्नीपुत्रधर्मान्, भ्रातृबान्धवकुटुम्बधर्मांश्च परित्यज्य मां शरणं व्रज। अहं त्वा त्वां सर्वपापेभ्यः धर्मत्यागजनितप्रत्यवायेभ्यः। यद् वा सर्वाणि पापानि येषु ते सर्वपापाः कौरवाः तेभ्योऽपि मोक्षयिष्यामि, मोक्षवन्तं विधास्यामि। मा शुचः शोकं मा कार्षीः, शुचिरत्र दैवादिः लक्षणया शोकार्थः। न तु शुच शोके भ्वादिः, तस्य लुङ्लकारे मा शोचीः इति स्यात्, इति विवेकः। यत्तु केचन मामेकमद्वितीयं अद्वैतत्त्वं व्रज निश्चिनु इति वमन्ति, तदसङ्गतम्। व्रजधातोः निश्चयार्थत्वस्य कदाप्यश्रवणात्। यत्तु दुराग्रहग्रहिलचेतसः प्रथमे श्लोके भगवत्शरणागतिं उपसंहृत्य चरमे सर्वकर्मसंन्यासमहायोगेश्वरः इति प्रजल्पन्ति तदपि भगवद् विमुखप्रलपनमेव। "मामेकं शरणं व्रज इति कण्ठरवेणैव चरमेश्लोके भगवता शरणागतेरेव सिद्धान्तितत्वात्।

हे कृष्ण हे यदुपते जनपारिजात।
हे रुक्मिणीरमण हे सुगुणैकवार्धे।।
हे पार्थसूत जगदीश्वर रामभद्राचार्यं
करालकलितं परिपाहि पापात्।

शरणं मिथिलेशकन्यका शरणं मे रघुवंशभूषणः।
शरणं पुनरेव तावुभौ शरणं नान्यदुपैमि दैवतम्।।

अथ गीताध्यायशास्त्रसम्प्रदायमाह -

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।। १८/६७।।

रा.कृ.भा. - इदं गीताशास्त्रं 'न विद्यते तपः यस्मिन् सः अतपस्कः तस्मै अतपस्काय तपोहीनाय, अभक्ताय भक्तिहीनायापि न कथनीयं अशुश्रूषवे सेवारहितायपि न, यः मां अभ्यसूयति तस्मै अपीदं गीताशास्त्रं न वाच्यं, त्वया इति शेषः।। श्रीः।।

फफ्लश्रुतिमाह -

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यसंशयम्।। १८/६८।।

रा.कृ.भा. - तर्हि कस्मै वाच्यम् ? यः मयि भगवति परां भक्तिंप्रेमलक्षणां कृत्वा, इमं परमं गुह्यं श्रीगीताग्रन्थं मद्भक्तेषु श्रीवैष्णवेषु अभिधाष्यति। सः मामेव

एष्यति प्राप्स्यति, अत्र असंशयः संशयो न कर्तव्यः ।। श्रीः।।

किंच स मातितरां प्रेमभाजनं इत्यत आह -

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।। १८/६९।।

रा.कृ.भा. - मनुष्येषु तस्मादधिकः कश्चिदपि मम प्रियकृत्तम अतिशयेन प्रियकृत् न। पश्चादपि मम कोऽपि अन्यः प्रियतरो न भविता, अधिकप्रेमपात्रतां न गन्ता।। श्रीः।।

फलश्रुतिमाह -

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।। १८/७०।।

रा.कृ.भा. - यः कश्चन आवयोः श्रीकृष्णार्जुनयोः धर्मादनपेतं धर्म्यं सम्वादं अष्टादशाध्यायं श्रीगीताशास्त्रमध्येष्यते "धर्मक्षेत्र" इत्यारभ्य "ध्रुवानीतिमतिर्मम" इत्यन्तमानुपूर्वेण कण्ठस्थं करिष्यते। तेनाहं ज्ञानयज्ञेन इष्टः पूजितः स्याम्, इति मे मतिः मान्यता।

अथ श्रोतुः पुण्यमाह -

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।। १८/७१।।

रा.कृ.भा. - यः कश्चन श्रद्धावान् आस्तिकबुद्धिसम्पन्नः, अनुसूयः निन्दारहितः, यः नरः शृणुयात् सोऽपि भवबन्धनात् मुक्तः। पुण्यानि पवित्राणि कर्माणि येषां तेषां पुण्यकर्मणां लोकान् प्राप्नुयात् लप्सीष्ट इत्याशीर्वादः ।।श्रीः।।

अथ सम्पूर्ण गीतां श्रावयित्वा अर्जुनं प्रति प्रेम्णा पृच्छति श्रीद्वारकाधीशः -

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।। १८/७२।।

रा.कृ.भा. - हे पार्थ ! प्रथमाध्याये पञ्चविंशे "उवाच पार्थ पश्यैतान्" अन्तिमेऽपि पार्थेति हे पार्थ ! एतान् मया उक्तं समग्रं गीताशास्त्रं, एकाग्रेण चेतसा निश्चलेन मनसा त्वया श्रुतं कच्चित्। हे धनञ्जय ! इति मङ्गलार्थसम्बोधनं यथा पूर्वं धनं तिवान्, तथा अग्रेऽपि जेष्यसि इति। हे धनंजय अज्ञानप्रभवसम्मोहः ते तव कच्चित् प्रणष्टः नाशं गतः ।। श्रीः।।

अर्जुनः विनष्टमोहः समग्रगीताशास्त्राव गमनपुरःसरं भगवद्वचनप्रतिपालनं प्रतिजानीते -

"अर्जुन उवाच"

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। १८/७३।।

रा.कृ.भा. - पूर्वमपि "रथं स्थापय मेऽच्युत" गीता १ - २१ इति प्रथमं सम्बोधनं, विश्रामेऽपि इदमेव सम्बोधनं "अच्युत" हे अच्युत अहं निजकर्तव्यतया च्युतोऽपि त्वया अच्युत एव कृतः। हे अच्युत ! त्वत्प्रसादात् तव भगवतः श्रीकृष्णस्य प्रसादात् मे मोहो नष्टः नाशं गतः। स्मृतिः सेव्यसेवकभावलक्षणा मया अर्जुनेन लब्धा प्राप्ता। इदानीं गतः सन्देहः यस्य स गतसन्देहः सन्देहरहितः स्थितोऽस्मि। पूर्वं कथितं "न च शक्नोम्यवस्थातुं" अधुना कथयति स्थितोऽस्मि। कुत्र इति चेत् कुरुक्षेत्र- भूमौ, ततः किं करिष्यसि अतः सङ्कल्पयते "करिष्ये वचनं तव" यथा कोऽपि करे कुशजलं गृहीत्वा सङ्कल्पयते। तथैव उत्थाप्य गाण्डीवं "करिष्येवचनं तव" तव भवतः "तस्माद्युद्धस्व भारत" इति युद्धरूपमाज्ञापालनवचनं करिष्ये।। श्रीः।।

अथ कथाप्रसङ्गं सङ्गमयितुं सञ्जयः प्राहः पञ्चश्लोकीं -

"सञ्जय उवाच"

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।। १८/७४।।

रा.कृ.भा. - इत्येवं रूपेण वासुदेवस्य भगवतः कृष्णस्य, महात्मनः पार्थस्य अर्जुनस्य रोमहर्षणं रोमाञ्चकरं अद्भुतसम्वादम अहं सञ्जयः अश्रौषं श्रुतवान्।। श्रीः।।

कथं श्रुतवान् दूरस्थोऽपि त्वं इत्यत आह -

व्यासप्रसादच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।। १८/७५।।

रा.कृ.भा. - अहं सञ्जयः साक्षात् परिपूर्णतमपरात्परपरब्रह्मपरमेश्वरभावे स्थितात् योगेश्वरात् स्वयं निजमुखेनैव अर्जुनं प्रति कथयतः निगदतः एतत् परं गुह्यं गोपनीयं योगं, व्यासस्य प्रसादात् श्रुतवान् आकर्णितवान् संजयस्य नियमपूर्वकं गीतारूपब्रह्मविद्या स्वीकारात् "आख्यातोपयोगे" पा. अ. १-४-२९ इत्यनेन कृष्णात् इत्यत्र पञ्चमी, अन्यथा कृष्णस्य इति स्यात् ।। श्रीः।।

अथ द्वाभ्यां आत्मनोऽनुभूतिं प्राह -

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः।। १८/७६/७७।।

रा.कृ.भा. - हे राजन् ! केशवश्च अर्जुनश्च केशवार्जुनौ तयोः केशवार्जुनयोः इदं पुण्यं पवित्रमुत्तमं सम्वादं बारम्बारं स्मृत्वा मुहुर्मुहुर्हृष्यामि प्रसीदामि। अन्यच्च तत् हरेः श्रीकृष्णस्य अर्जुनाय दर्शितं अत्यद्भुतं रूपं बारंबारं स्मृत्वा मे मम मनसि महान् विस्मयः। अहं पुनः पुनः हृष्यामि ।। श्रीः।।

अथ धृतराष्ट्रं प्रति स्वनिर्णयमाह -

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।। १८/७८।।

रा.कृ.भा. - हे धृतराष्ट्र। तव विजयाभिलाषः गगनपुष्पमिव निरर्थकः। यत्र यस्मिन् यौधीष्ठिरपक्षे योगानां कर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगप्रपत्तियोगानां, योगानां, योगवतां वा ईश्वरः योगेश्वरः कृष्णः परमात्मा सारथ्यं वहति। यत्र च पार्थः श्रीकृष्णसखः धनुर्धरो अर्जुनः गाण्डीवधारी तत्रैव श्रीः लक्ष्मी, तत्रैव विजयः निर्विघ्नः शत्रुजयः, तत्रैव भूतिः अविचला राज्यलक्ष्मीः, तत्रैव ध्रुवा नीतिः सुस्थिरा राजनीतिः। इयमेव मम संजयस्य मतिः इति कथयित्वा सञ्जयः विरमति।

एष चाष्टादशाध्यायो प्रपत्तियोगविस्तरः।
श्रीराघव-कृपाभाष्ये रामप्रीत्यै मयोदितः।।
यदत्र किञ्चिल्लावण्यं तद्राघवकृपाफलम्।
यदत्र किञ्चिन्वैगुण्यं तच्च मे मूर्खताफलम्।।

क्वा गीतागाम्भीर्यं क्षपितबुधधैर्यं यदुपते -
र्लसत्स्थैर्यं धूर्यं शुभविमलवेदान्तवचसाम्।
क्व चाहं पापात्मा भवनिधिनिमग्नो जडमति
स्ततः क्षन्तव्यस्ते गिरिधरसखायं गिरिधरः।।

।। इति श्री चित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्यस्वामीश्रीरामभद्राचार्य श्रीमद्भगवद्गीतासु श्रीराघवकृपाभाष्ये प्रपत्तियोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः।।

।।श्री राघवःशंतनोतु।।

•

श्रीमद्राघवो विजयते
श्रीरामानन्दाचार्याय नमः

अथ अष्टादशोऽध्यायः

मंगलाचरणं

श्रीसीताप्रीतिपुष्यत्कमनकमलिनीवल्लभं वन्दिताभं
भास्वद्भाभानुमन्तं गुणगणमहसा भासयन्तं दिगन्तम् ।
कौसल्यादित्यमोघानघसुकृतजनिं दिव्यतेजोनिधानं
रामं सत्कोकलोकप्रभवमथ नुमो भानुवंशाब्जभानुम् ।।१।।

श्रीसीतारूप प्रेम से विकसित सुन्दर कमलिनी के प्राणवल्लभ तथा परमपूज्य प्रकाशवाले देदीप्यमान, प्रकाशमय किरणों से सुशोभित, अपने गुणगणों के तेज से दिगन्त को अलङ्कृत करते हुए, सज्जन रूप चकवो को आनन्द देनेवाले ऐसे सूर्यकुलरूप कमल के सूर्य भगवान श्रीराम को हम नमस्कार करते हैं—

श्रीकृष्णं कृष्णकृष्णाहृदयशुचिसरो रोचिषा रोचयन्तं
श्याम लोकाभिरामं व्रजपुररमणीहृन्मणिं मञ्जुमूर्तिम् ।
देवं देवेशसेव्यं विजयसखमहं शीलवात्सल्यवार्धिं
वन्दे वन्दारुकल्पद्रुममथ सगुणं ब्रह्मसंगीतगीतम् ।। २ ।।

श्री अर्जुन एवं श्री द्रौपदी के हृदयरूप पवित्र सरोवर को नीले कमल की भाँति अपनी कान्ति से सुशोभित करते हुए, लोक को आनन्द देनेवाले व्रजगोपियों एवं द्वारिका मथुरा की राजमहिषियों के हृदय की मणि, कोमल मधुरमूर्ति, देवताओं के सेव्य, अर्जुन के मित्र, शील और वात्सल्य के महासागर, प्रणामकरनेवालों के लिए कल्पवृक्ष के समान ऐसे भी श्रीगीता जी के गायक, सगुण ब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण को मैं वन्दन करता हूँ ।

गीतां गायाम्यहं भक्त्या गीतां ध्यायामि नित्यशः ।
गीतां नौमि भजे गीतां गीतां गीतां सदाश्रये ।। ३ ।।

मैं भक्ति पूर्वक गीता जी का गान करता हूँ, मैं निरन्तर गीता जी का ध्यान करता हूँ । और मैं गीता जी को नमन करता हूँ, मैं गीता जी का भजन करता हूँ तथा भगवान श्रीकृष्ण द्वारा गाई हुई गीता जी का मैं श्रयण करता हूँ ।

संगति—अब सम्पूर्ण गीताशास्त्र का सारर्थरूप यह अन्तिम अध्याय प्रारम्भ किया जा रहा है । उसमें सर्वप्रथम सन्यास और त्याग के विषय में अर्जुन की जिज्ञासा है । यहाँ दो श्रुतियाँ ऐसी उपलब्ध हैं, जिनमें त्याग और सन्यास ये दोनों समानार्थ दिख रहे हैं—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन । त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"
"सन्यासयोगद्यतयः शुद्धचित्ताः"

इसी प्रकार स्मति में भी त्याग और संयास शब्द समानार्थक दिख रहे हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं (गीता ४/२०)
योगसन्यस्तकर्माणम् (गीता ४/४१)

अतः अर्जुन भगवान से सन्यास और त्याग के सम्बन्ध में पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्याससस्त्य महावाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृशीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।। १८/१।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—श्री अर्जुन ने पूछा- हे महावाहो ! हे-हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! संन्यास तथा त्याग का आपसे पृथक-पृथक तत्त्व सुनने की इच्छा करता हूँ।

व्याख्या—संन्यास और त्याग दोनों समानार्थक प्रतीत होते हैं । इसलिए इनमें भ्रम होना स्वाभाविक है । यदि दोनो एक ही अर्थ को कह रहे हैं तो फिर अलग-अलग शब्दों का प्रयोग क्यों ? यदि दोनों अर्थतः भी अलग-अलग है तो इनके तत्व को पृथक-पृथक समझाइये । अर्जुन के प्रश्न का यही आशय है । यहाँ अर्जुन ने एक ही श्लोक में तीन सम्वन्ध दिये है । श्री गीता के इतिहास में ऐसा पहलीवार हो रहा है, जब एक छोटे से अनुष्टुप में जिसमें केवल बत्तीस अक्षर हो, तीन-तीन सम्बोधन आधे से केवल तीन अक्षर न्यून अर्थात् तेरह अक्षर केवल सम्बोधन में ही । कैसी लीला है लीलाधर की, ऐसा लगता है कि यहाँ अर्जुन ने भगवान के तीन सम्बोधनों से उनके तीन अशंकाओं का निराकरण किया ।

१. यहाँ भगवान अशंका करते हैं कि- अर्जुन तुम्हे गीता जी के सत्रह अध्याय सुना दिये और तुम्हारा मोह भी नष्टप्राय हो चुका है । अब तो तुम्हें युद्ध करना चाहिए तुम्हारा मन भी कभी-कभी युद्ध के लिए उत्सुक हो जाता है । अतः इस समय तुम्हारा संन्यास और त्याग के विषय में किया हुआ प्रश्न आसामयिक है । इस समय तुम्हें शस्त्र विषयक

प्रश्न करने चाहिए थे। इस पर अर्जुन कहते हैं- महाबाहो ! महन्तौ बाहू यस्य सा महाबाहुः अर्थात् आपकी भुजाएँ बहुत विशाल हैं। मुझे क्या चिनता आप सब संभाल लेंगे क्योंकि—

का चिन्ता मम जीवने यदि हरिः सारथ्यमाप्तो मम ।
का शंका मम शत्रुयूथहनने यद्यमस्ति पाता हरिः ।।

का बाधा मम संगरे यदि सखा सत्यप्रतिज्ञो भवान् ।
तस्मान्नैव विभेमि भीमरणतः कृष्णे त्वयि त्रातरि ।।

अथवा 'अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रं गीता ११/१९, महाबाहो बहुबाहूरूपादं गीता ११/१३, सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते गीता ११/४६, के अनुसार अर्जुन ने भगवान के अनेक बाहु देखे और कहे भी हैं। इस दृष्टि से भी यहाँ बहुवचनान्त विग्रह होगा। महान्तः बाहवः यस्य सा महाबाहुः तत् सम्बोधने हे महाबाहो। आपके पास अनेक बाहू हैं। आप इन असंख्य बाहुओं से मेरी रक्षा करेंगे। 'हमें चिन्ता नहीं करनी, तुम्हें चिन्ता हमारी है।' इसीलिए कहते हैं-हे महाबाहो !

फिर भगवान कहते हैं कि अर्जुन मैं तो निरायुध होकर तुम्हारी सहायता कर रहा हूँ। और दुर्योधनादि दिव्य शस्त्रों से सम्पन्न हैं, तो मैं तुम्हारी रक्षा कैसे करूँगा ? इस पर अर्जुन कहते हैं 'केशनिषूदन' केशिनं निषूदितवान् इति केशनिषूदनः। आपने निरायुध होकर ही केशी का वश किया था। अर्जुन कहते हैं कि हे प्रभु ! क्या आप भूल गये ? जब श्री वृन्दावन में घोड़े का वेश धारण करके केशी आया था तव आने अपने वाम बाहु को ही केशी के मुख में डाल दिया था और उसको बढ़ाते-बढ़ाते इतना विशाल कर दिया कि केशी के मुख के सभी दाँत टूट गये और भगवान ने उसके मुख से नाग की भाँति अपनी भुजा खींच ली और केशी की मृत्यु हो गयी। यथा—

समेधमानेन स कृष्णबाहुना निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन् ।
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः ।।

तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमाद् व्यसोरपाकृष्य भुजं महाभुजः ।
अविस्मितोऽयत्नहतारिरुत्स्मयैः प्रसूनवर्षैर्दिविषद्भिरीडितः ।।

(भागवत-१०/३७/८,९)

अर्थात् बढ़ते हुए श्रीकृष्ण की भुजा के कारण केशी का वायु रूक गया, उसका शरीर पसीने से लथफथ हो गया एवं उसकी आँखे उलट गयी तथा वह लीड़ करता हुआ निष्प्राण होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। ककड़ी के फल के समान फटे उसके निष्प्रण शरीर

से प्रभु श्रीकृष्ण ने सहजभाव से अपनी बाम भुजा खींच ली। बिना प्रयास के केशी जैसे दैत्य को मारने वाले शान्तभाव से स्थिति महाबाहु श्रीकृष्ण पर मुस्करात हुए देवता गण फूलों की वर्षा करने लगे। प्रभु के उसी महाभुज विशेषण को यहाँ महाबाहो कह रहे हैं- अर्थात् जब आपने वाल्यकाल में वाम बाहु से केशी जैसे दुर्दान्त दैत्य को मार डाला था तो यह महाभारत युद्ध क्या आप नहीं जितवा सकते ? इस समय आप दक्षिण भुजा से मेरे घोड़ों की वागडोर संभालेंगे और वाम बाहु से केशी की भांति ही इन शत्रुओं को आप मारेंगे। इसी अभिप्राय से यहाँ अर्जुन केशिनिषूदन कह रहे हैं।

३- अब भगवान फिर प्रश्न करते हैं कि- अर्जुन ! मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देने में व्यस्त हो जाउंगा और तुम सुनने में। इसी बीच दुर्योधन आदि तुम पर आक्रमण कर देंगे तो ? इस पर अर्जुन कहते हैं 'हृषीकेश' 'हृषीक' का इन्द्रिय अर्थ होता है। अर्जुन का अभिप्राय है कि आप हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के ईश्वर हैं। जब आप उपदेश में व्यस्त हो जायेगे और मैं सुनने में उस समय शत्रुओं की इन्द्रियां स्तब्ध हो जायेगी। वे मुझ पर आक्रमण ही नहीं कर सकेंगे। जैसे-अभी तक कौरव शस्त्र नहीं चला सके, उसी प्रकार इस प्रश्न के उत्तर में भी कुछ नहीं कर सकेंगे। अत: आप कृपा करके संन्यास और त्याग का पृथक-पृथक तत्व समझाइये।

संगति—इस प्रकार अर्जुन के दो प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान बोले—

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। १८/२।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया- हे अर्जुन ! सकाम कर्मों के न्यास को ही विद्वान लोग संन्यास जानते हैं। और सम्पूर्ण कर्मों के फल के त्याग को शास्त्र कुशल लोग त्याग कहते हैं।

व्याख्या—न्यास और त्याग इन दोनों में प्रारम्भ में थोड़ा अन्तर है। काम्य कर्मों को निम्न मानकर छोड़ना संन्यास है। और कर्मों को करते हुए उन सभी कर्मों के फलों को मुझे समर्पित कर देना यही त्याग हे। अर्थात् संन्यास कर्मों का होता है और त्याग फलों का। अन्ततोगत्वा दोनों ही स्थिति एक हो जाती है ॥ श्री ॥

संगति—फिर भगवान् मतान्तरों की चर्चा कर रहे हैं—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञज्ञानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ।। १८/३।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—कर्म दोष युक्त हैं इसलिए इसे छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार कुछ मनीषी कहते हैं । और यज्ञ, दान और तप रूप कर्म नहीं छोड़ना चाहिए इस प्रकार दूसरे लोग कहते हैं।

व्याख्या—'दोषवत्' यहाँ मतुप प्रत्यय हुआ है। दोष: अस्ति अस्मिन् इति दोषवत्। अथवा यहाँ मतुप् प्रत्यय नहीं किन्तु तुल्य के अर्थ में तृतीयान्तदोष शब्द से 'वति' प्रत्यय हुआ है। दोषेण तुल्यं दोषवत् तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः पा० अ० ५/१/११५ सूत्र से तुल्य के अर्थ में वतिप्रत्यय हुआ है। अर्थात् जैसे बुद्धिमान लोग दोषों को छोड़ देते हैं उसी प्रकार कर्म छोड़ देना चाहिए। ऐसा कुछ लोग कहते हैं। परन्तु सात्विक यज्ञ, सात्विक तप और सात्विक दान नहीं छोड़ना चाहिए। इस प्रकार और लोग मानते है। क्योंकि सात्विक यज्ञ, दान, तप निर्दोष होते हैं। ॥ श्री ॥

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते है कि और लोग भले विवाद करे पर इस सन्दर्भ में आप का क्या निश्चय है ? इस पर भगवान कहते हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यगो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ १८/४॥

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ सन्त अर्जुन ! उस सम्बन्ध में मेरा निश्चय सुनो। हे पुरूष श्रेष्ठ। तीन प्रकार का त्याग निश्चयपूर्वक कहा गया है।

व्याख्या—अतिशयेन सन् सत्तमः। भरतेषु सत्तमः भरतसत्तमः। तत्सम्बुद्धौ हे भरत सात्तम। तात्पर्य यह है कि भरतवंशियों में भी कुछ सन्त हैं। जिनमें तुम, पाँच पाण्डव और उस पक्ष में भीष्म, विदुर, विकर्ण। परन्तु उन सबमें तुम सर्वश्रेष्ठ हो। क्योंकि तुमने मेरी अनन्यशरणागति स्वीकारी है।

पुरूषव्याघ्र—तुम पुरूषों में व्याघ्र हो। पुरूषः व्याघ्र इव यहाँ 'उपमितं' व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे (पा. अ. २/१/५६) सूत्र से उपमित कर्मधारय समास हुआ। व्याघ्र भयंकर शत्रुओं को मार डालता है। तुम भी इस मोह गजेन्द्र को समाप्त कर दोगे तथा कौरवों की सेना-गजघटा का भी विघटन कर डालोगे। श्री।

संगति—अब भगवान तीन प्रकार के त्याग के वर्णन से प्रथम पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १८/५॥

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! सात्विक यज्ञ, सात्विक दान और सात्विक तप रूप कर्म वेदविहित होने से करना ही चाहिए । इसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए । क्योंकि यज्ञ, दान और तप मनीषियों को भी पवित्र कर देते हैं ।

व्याख्या—यद्यपि यज्ञ, दान, तप शब्द में बहुवचन है और कर्म में एकवचन । इस विषमता का एक ही तात्पर्य है कि समान वचनता का वहीं नियम हुआ करता है, जहाँ विशेष्यवाचक पदोत्तरविभक्ति की वाच्य संख्या से विरूद्ध की विवक्षा न हो । जैसे- 'वेदाः प्रमाणम्' वाक्य में विशेष्य वाचक पद है वेद, उसकी विभक्ति है जस् उसकी संख्या है बहुत्व उससे विरूद्ध एकत्व संज्ञा प्रमाणपदोत्तर सुविभक्ति द्वारा विवक्षित है । क्योंकि शब्दत्वरूप प्रमाण सम्पूर्ण वेदोंमें एक है । उसी प्रकार यज्ञ, दान, तप शब्द से उत्तर जस् विभक्ति की बहुत्व संख्या से विरूद्ध एकत्व संख्या कर्मपदोत्तर सुविभक्ति द्वारा विवक्षित है । क्योंकि यज्ञ, दान और तप इन तीनों में कर्मत्व का एकत्व समानरूप से स्वीकृत है । इसीलिए गदाधर भट्टाचार्य ने व्युत्पत्तिवाद में यह सिद्धान्त निश्चित किया, 'यत्र विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यसंख्याविरूद्ध संख्याया अविवक्षितत्वं तत्रैव विशेष्यविशेषणवाचकपदयोः समानवचनकत्वनियमः ।' यज्ञदान और तप मनीषी को भी पावन करते हैं इसीलिए श्रुति कहती है—

'तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति वेदानुवचनेन यज्ञेन, तपसानाशके ने' अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ, तप और अनाशक अर्थात् उपवास से ब्राह्मण उस परमात्मा को जानने की इच्छा करते हैं । अर्थात् ब्रह्मविविदिषा में यज्ञादि सहकारी कारण हैं । ॥ श्री ॥

संगति- अब भगवान अपना निश्चय अधिक स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं-

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ १८/६॥

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे पृथानन्दन ! ये अर्थात् यज्ञ,दान तप से अतिरिक्त नित्यनैमित्तिक कर्म भी, कर्मों में आसक्ति और उनके शुभाशुभ फलों को छोड़कर करने ही चाहिए । यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है ।

व्याख्या—'अपि' और 'च' तात्पर्य है कि नित्यविहित कर्मों के साथ नैमित्तिक कर्म भी करने चाहिए । उदाहरणार्थ-सूर्यार्घ्य नित्यकर्म है । और शनिवार को पीपल पर जल चढाना नैमित्तिक कर्म है । शनिवार को दोनों एक साथ टकरा रहे है । यहाँ यह नहीं सोचना चाहिए कि सूर्यार्घ्य देने से पीपल में जल गतार्थ हो गया । दानों ही करने होंगे । क्योंकि एक नित्य कर्म है एक नैमित्तिक । शनिवार के दिन पीपल में लक्ष्मीनारायण के

साथ सभी देवता आ जाते हैं। 'पत्रे पत्रे च ते देवा: वासुदेव नमोऽस्तुते'। मान लो- किसी ने प्रतिदिन ६० माला राममन्त्र जप करने का नियम बनाया है। और एकादशी के निमित्त, दस हजार जप अनिवार्य है तो उसको नित्यनियमवाली संख्या से नहीं जोड़ना चाहिए। अर्थात् एकादशी के दिन नित्य नियम के अतिरिक्त उसे दस हजार जप करने पड़ेगें। प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'अपि च' शब्द का यही अभिप्राय प्रतीत होता है॥ श्री॥

संगति—अब भगवान त्याग के तीन प्रकार कह रहे हैं। उनमें विपरीत होने के कारण तामस त्याग की प्रथम चर्चा करते है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ १८/७॥

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे अर्जुन! नियत कर्म का संन्यास उपपन्न नहीं होता अर्थात् किसी भी परिस्थिति में उचित नहीं माना जाता। मोहवशात् किया हुआ नियत कर्म का परित्याग तामस कहा गया है।

व्याख्या—नियत का तात्पर्य है जो श्रुति स्मृति पुराणेतिहासों में विधेय रूप में कहा गया है। जैसे-सन्ध्यावन्दन पंचयज्ञ आदि। श्री।

संगति—अब भगवान राजासत्याग की चर्चा करते हैं—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ १८/८

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन! यह कर्म दुःखप्रद है, इससे शरीर को क्लेश होगा, इस प्रकार मानकर जो व्यक्ति शरीरक्लेश के भय के कारण कर्म छोड़ता है, वह राजस त्याग करके त्याग का फल अर्थात् शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता।

व्याख्या—त्यजेत् लभेत् इन दोनों में 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा. अ० ३/१/८५) सूत्र से लट् के स्थान पर परस्मैपद प्रयोग हुआ।

संगति—अब भगवान सात्विक त्याग का वर्णन करते हैं—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥
१८/९

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— कर्म वेदविहित होने के कारण करना ही चाहिए, इस प्रकार मानकर आसक्ति और फल को छोड़कर, वर्णाश्रम से नियत जो कर्म किया जाता है, वहीं त्याग सात्विक रूप में स्वीकृत है और पूजित भी।

व्याख्या—कर्म का त्याग, त्याग नहीं है। प्रत्युत कर्म के फल का त्याग त्याग है। नियतं विशेषण कर्म का है। 'यत्' शब्द यस्मिन् के अर्थ में भी समझना चाहिए। अर्थात् जहाँ कर्तव्य बुद्धि से फल और आसक्ति छोड़कर कर्म कियाजाता है उसी त्याग को सात्विक कहते हैं और उसी त्याग की मैं पूजा करता हूँ।

संगति—अब भगवान त्याग की प्रशंसा करते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।। १८/१०

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! सत्व गुण में समाविष्ट अथवा परमात्मा के नाम रूप लीला धाम से निर्मल अपने ही चित्त में समाविष्ट, तीव्रबुद्धि से युक्त, संशयों को नष्ट कर देने वाला त्यागी, अपने अनुकूल कर्म में न तो आसक्त होता है, और न ही प्रतिकूल कर्म को द्वेष करता है।

व्याख्या—अकुशल का तात्पर्य है कि-जो भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक परिणामों का जनक है, पर त्यागी उससे द्वेष नहीं करता और अनुकूल को प्रेम नहीं करता। क्योंकि अनुकूल में आसक्त होने से भगवान का स्मरण छूट जाता है। इसीलिए श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य के सुयोग्य शिष्टसन्त श्री कबीर दास जी महाराज कहते हैं-

दुःख में सुमिरन सब करै सुख में करै न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करै दुःख काहे को होय ।। श्री ॥

संगति—अब भगवान कर्म त्याग की अपेक्षा कर्मफल के त्याग में सुगमता कह रहे हैं—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।। १८/१२

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! क्योंकि शरीर धारण करने वाले प्राणी द्वारा पूर्णरूप से कर्मों का त्याग किया ही नहीं जा सकता। इससे विपरीत जो सम्पूर्ण कर्मों के फलों का सहजतः त्याग कर देता है वहीं त्याग इस प्रकार कहा जाता है।

व्याख्या—परिणाम में संन्यास और त्याग के एक होने पर भी सन्यास की अपेक्षा त्याग श्रेष्ठ है। क्योंकि शरीर धारण करनेवाला सम्पूर्ण क्रियाओं का त्याग कर नहीं सकता। कोई कितना भी करे पर शरीर की क्रियाएँ सहजतः होंगी ही। फिर तो 'गुड़ खाओ गुलगुला छोड़ो' यही परिस्थिति बन गई। इससे विकल्प में कर्मफल सम्पूर्णतया त्यागे जा सकते

हैं । इसलिए कर्मफल का त्याग करनेवाला ही त्यागी, कहलाता है । सारांश यह है कि- सन्यास व्याप्य है और त्याग व्यापक । सन्यास कठिन है और त्याग सरल । कि बहुना- कर्म संन्यास से कर्मयोग नामक त्याग श्रेष्ठ भी है ।

संगति—अब अर्जुन प्रश्न करते हैं- हे परमेश्वर आपकी दृष्टि से परिणाम में सन्यास और त्याग एक ही है तो क्या काम्यकर्मों को छोड़कर निष्काम कर्म करते हुए सन्यासी के लिए कर्मजनित फल बन्धन में समर्थ हो पाते हैं ? यदि हाँ, तो फिर त्यागी और सन्यासी मे एकता कैसी ? यदि नहीं तो यह कैसे । क्योंकि जब कर्म किये जायेंगे तो उनसे उत्पन्न फल होंगे । जब फल होंगे तब वे बाँधेंगे भी ? अर्जुन की इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए भगवान कहते है-

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।। १८/१२

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! अनिष्ट, इष्ट और मिश्र ये तीनों कर्म के फल शरीर त्याग करने पर अत्यागी अर्थात् कर्मासक्त लोगों के लिए होते है, परन्तु सन्यासी के लिए कभी नहीं होते ।

व्याख्या—अशुभकर्म का फल अनिष्ट होता है । शुभकर्म का फल इष्ट होता है । और शुभाशुभ कर्म का फल इष्टानिष्ट । ये तीनों शरीर त्याग करने पर कमसिक्त प्राणी को बाँधते हैं, पर काम्य कर्म का त्याग करनेवाले संन्यासी को नहीं बाँधते । उसके लिए ये बन्ध्या के समान हो जाते हैं । अन्तर यही है कि संन्यासी के पास कर्मफल उपस्थित होते हैं पर बाँध नहीं पाते परन्तु त्यागी के पास तो उपस्थित होते ही नहीं । क्योंकि वह तो प्रथम ही परमात्मा के चरणों में फलों का समर्पण कर चुका होता है ।

संगति—अब कर्म में स्वतन्त्र कर्तृत्व का खण्डन करते है । अर्थात् कर्म का स्वतन्त्ररूप से कोई भी कर्ता नहीं है । बद्धजीवात्मा तो कर्त्ता न होता हुआ भी झूठा कर्तव्य का अभिमान कर लेता है । वस्तुतः प्रत्येक कर्म की सिद्धि में पांच कारण होते हैं और उनका समूह ही कर्ता है । वहां कोई एक स्वतन्त्र कर्ता नहीं है ।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।। १८/१३

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—हे महाबाहु अर्जुन । सभी कर्मों की सिद्धि के लिए सांख्य अर्थात् ज्योतिष सांख्य तथा वेदान्त सिद्धान्त में कहे हुए इन पाँच कारणों को मुझसे निश्चयपूर्वक समझो ।

व्याख्या—सर्वकर्मणाम्-ये पाँचकारण सभी वेदविहित नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित कर्मों की सिद्धि के लिए होते हैं ।

सांख्ये कृत्तान्ते—कृतान्त शब्द लोक में काल के अर्थ में प्रसिद्ध होता हुआ भी दार्शनिक भाषा में सिद्धान्त के अर्थ में प्रयुक्त होता है । फलतः सिद्धान्त को ही कृतान्त कहते हैं । दोनो का पदार्थ एक जैसा है । दर्शन में अन्त शब्द का निर्णय अर्थ होता है । सिद्धः निर्विवादः निष्पन्नः अन्तः निर्णयः यस्य स सिद्धान्तः । अर्थात् जिसका निर्णय निर्विवाद सिद्ध हो गया है वह सिद्धान्त है । ठीक इसी प्रकार कृतान्त शब्द का अर्थ है । कृतः निष्पादितः अन्तः निर्णयः यस्मिन् सः कृतान्तः अर्थात् जिसका निर्णयनिश्चित कर लिया गया है वह कृतान्त है । जिसमें काल की संख्या की जाती है उस ज्योतिष को सांख्य कहते हैं। अथवा योगाद्रूढिर्बलीयसी, योग से रूढि बली होती है इस दृष्टि से रूढ़तया यहाँ सांख्य शास्त्र ही शास्त्र का वाचक है । उस सांख्य शास्त्र में ये पाँचों कहे गये हैं। अथवा जिसमें संख्या अर्थात् बुद्धि ही पूर्ण रूप से विराज रही है ऐसे बुद्धि के विहारस्थल वेदान्तशास्त्र में ये पाँच हेतु कहे गये हैं ।

संगति—अब भगवान उन पाँचों कारणें को दो श्लोकों से गिना रहे हैं-

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ।। १८/१४-१५

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! प्राणी शरीर, वाणी तथा मन से जो भी शास्त्रीय अथवा अशास्त्रीय कर्म प्रारम्भ करता है, उसमें अधिष्ठान अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का निवासस्थान शरीर तथा शास्त्रीय कर्मों को करनेवाले जीवात्मा अनेक प्रकार के करण, विविध चेष्ठाएँ और इस शरीर में विराजमान पाँचवां दैव अर्थात् अन्तर्यामी भगवान, ये पाँचों हेतु बनते हैं ।

व्याख्या—यहाँ अधिष्ठान पद से शरीर अभिप्रेत है । क्योंकि प्राण शरीर में ही रहते हैं । शास्त्रीय कर्मों का कर्ता जीवात्मा है । इसलिए ब्रह्मसूत्र में 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' कहा गया है ।

पृथग्विधम्-करण अनेक प्रकार के हैं । शरीर के ही करणों में ब्राह्मणकरण और अन्तःकरण ये दो भेद हैं । और बहिरंग करण भी भिन्न होते हैं । चेष्टाएँ भी अनेक होती है । सबसे विलक्षण यहाँ दैव पंचम कारण है । दैव शब्द के तीन अर्थ किये जा सकते

है-शुभाशुभ कर्मों के परिणाम को भी दैव कहते हैं। पूर्वजन्म कृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते। और देवताओं के समूह को भी दैव कहते हैं। देवानां समूहः दैवम्। अर्थात् शरीर के भीतर दसों इन्द्रियों और चार अन्तःकरणों के अधिष्ठाता क्रमाशः सूर्य, दिशा, अश्विनीकुमार, वरूण, वायु, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु, प्रजापति, चन्द्र, ब्रह्मा, सूर्य तथा विष्णु हैं। इनका समूह भी कर्मसिद्धि में कारण है।

तृतीय पक्ष मे दैव शब्द अन्तर्यामी परमात्मा का वाचक है। इन तीनों में भगवान का मन्तव्य किसके पक्ष में है, यह तो वे ही जानें परन्तु उन्हीं की प्रेरणा से मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार दैव शब्द से अन्तर्यामी परमात्मा का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि पृथ्वी से लेकर आत्मा पर्यन्त तत्वों का नियन्त्रण परमात्मा ही करते हैं। यद्यपि तृतीय अध्याय में जीवात्मा के कर्तव्य का निषेध है। तथापि विहित कर्म में जीवात्मा को कर्ता मानना पड़ेगा।

शारीरिक कर्म में भले ही गुणों में गुण वर्तते हों परन्तु भगवदीय कर्म जीवात्मा को करने हैं। क्योंकि श्रुतियों के विधि निषेध परक वाक्य जड़ गुणों के लिए नहीं प्रयुक्त होंगे। हाँ यह बात अलग है कि जीवात्मा का कर्तव्य भी स्वतन्त्र नहीं है। वह भगवत्परतन्त्र है। श्री।

संगति- अब भगवान जीवात्मा के स्वतन्त्रकर्तत्व का निराकरण कर रहे हैं-

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ।। १८/१६

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! इस प्रकार अधिष्ठान आदि पाँच पाँच हेतुओं के सिद्ध हो जाने पर जो मन्द बुद्धि केवल जीवात्मा को ही स्वतन्त्र कर्ता रूप में देखता है, वह वेदान्तशास्त्र में बुद्धि का प्रवेश न होने के कारण ठीक नहीं देखता।

व्याख्या—जब पाँच पाँच कर्म कर्मसिद्धि के हेतु कह दिये गये तो केवल जीवात्मा को कर्ता कैसे माना जाय। शारीरिककर्मों का तो आत्मा कर्ता है नहीं क्योंकि वहाँ तो गुण ही गुणों में वर्तते हैं। रही बात शास्त्रीय कर्मों की वहाँ भी आत्मा का स्वतन्त्र कर्तृत्व नहीं है। क्योंकि वहाँ भी वह परमात्मा के परतन्त्र हैं। इसलिए वेदव्यास भी परात्तु तच्छ्रुतेः कहते हैं।

संगति—अब भगवान जीवात्मा के कर्तृत्वाभिमान शून्यता की प्रशंसा करते हैं-

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। १८/१७

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! जिसके मन में अहंकार भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि अशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होती, वह इस सम्पूर्ण लोक को मारकर भी न तो मरता है और न ही पापों से बद्ध होता है ।

व्याख्या—कर्तृत्व का अभिमान ही सभी अनर्थों का मूल है । उससे रहित हो जाने पर सम्पूर्ण लोक को मारकर भी व्यक्ति जीवहत्या के पाप से नहीं बँधता । जैसे-श्री हनुमान जी महाराज सुरसामुख प्रवेश, सिंहिका वध, समुद्रलंघन, गुरूनगर प्रवेश, लंकिनी प्रधर्षण, विभीषण भेदन, वनविध्वंस, लंकादहन आदि कर्मों को करके भी न ही पाप के भागी बने और न ही कर्मों से लिप्त हुए । लंका से लौटकर आने पर चूड़ामणि प्रदान के पश्चात् जब भगवान श्रीराम ने पूछा कि तुमने लंका कैसे जलाई तब हनुमान जी ने स्पष्ट कहा-लंका मैंने नहीं जलाई ।

लंका जलाई आपने, मेरे बाप ने, आपके प्रताप ने, ब्राह्मणों के परिताप ने, सीता जी के शाप ने और रावण के पाप ने ।

यथा—

कहु कपि रावन पालित लंका । केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ।।
प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना । बोला बचन बिगत अभिमाना ।।
साखामृग कै बड़ि मनुसाई । साखा तें साखा पर जाई ।।
लांघि सिन्धु हाटकपुर जारा । निसिचर गन बधि बिपिन उजारा ।।
सो सब तव प्रताप रघुराई । नाथ न कछू मोरि प्रभुताई ।।श्री ।।

संगति—इस विषय को भगवान् और स्पष्ट कर रहे हैं-

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।। १८/१८

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! जिसके द्वारा जाना जाता है ऐसी बुद्धि और जानने योग्य व्यवहार का आश्रय जगत तथा सब ओर से जानने वाला अन्तर्यामी परब्रह्म ये तीन कर्म के प्रेरक हैं । तथा करण अर्थात् कर्म के साधन, कर्ता और क्रिया ये तीनों ही कर्म के संग्राहक हैं । अर्थात् इन्हीं में कर्म संग्रहीत होता है ।

व्याख्या—यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि-एक ओर तो जीवात्मा का ईश्वराधीनकर्तृत्व सिद्ध किया जा रहा है और दूसरी ओर महर्षि पाणिनि ने कर्ता को स्वतन्त्र माना ? 'स्वतन्त्रः कर्ता' १/४/५५

उत्तर—पहली बात तो दोनों का विषय भिन्न है। पाणिनि वैयाकरण हैं ओर गीता वेदान्त की स्मृति । यदि सूत्रों का विश्वतोमुखता पक्ष माना जाय तो भी यहाँ कोई दोष नहीं है। स्वतन्त्र शब्द से व्यधिकरण बहुब्रीहि मानकर समास कर लेना चाहिए। अर्थात् स्वस्य तन्त्रः यस्मिन् सः स्वतन्त्रः। जिसमें परमात्मा का प्रेरणारूप तन्त्र है उसी को कर्ता कहते हैं।

इसलिए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

सुनु खगेस ऋषिकर नहिं दूषन ।
उर प्रेरक रघुबंस विभूषन ।। मानस ७/११३/२

यहाँ ज्ञान शब्द से बुद्धि और ज्ञेय शब्द से विषय तथा परिज्ञाता शब्द से अन्तर्यामी परमात्मा विवक्षित हैं। कर्म क्रिया के अर्थ में है। और करण से जुड़ा हुआ कर्म पद व्याकरण प्रसिद्ध कर्म का वाचक है। इन्हीं तीनों में क्रिया संगृहीत है। अर्थात् किसी कार्य के लिए व्यापार, व्यापारआश्रय और फलाश्रय ये तीन ही महत्वपूर्ण होते हैं। और इन्हीं तीनों में क्रिया संग्रहीत रहती है।

संगति—अब ज्ञान, कर्म और कर्ता, बुद्धि धृति तथा सुख इन छवों का निरूपण करने के लिए भगवान बाइस श्लोकों का प्रकरण प्रारम्भ कर रहे हैं। ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति, सुख ये छवों सात्विक, राजस, तामस भेद से तीन-तीन प्रकार से है। सर्वप्रथम ज्ञान, कर्म तथा कर्त्ता के तीन-२ भेदों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं भगवान जनार्दन।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिथैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ।। १८/१९

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! सांख्य शास्त्र में गुण, सत्वगुण रजोगुण, तमोगुण भेद से तीन प्रकार के कहे जाते हैं। उन्हें भी यथावत मुझसे सुनो।

व्याख्या—'गुण संख्याने' गुणानां संख्यानं यस्मिन् तत् गुणसंख्यानं तस्मिन् गुण संख्याने। अर्थात् जिसमें गुणों की गणना की गयी है उस सांख्य शास्त्र को 'गुण संख्यान कहते हैं। उस गुण रूप संख्यान शास्त्र में महर्षि कपिल ने ज्ञान, कर्म तथा कर्त्ता के सात्विक, राजस तामस ये तीन भेद कहे हैं। सांख्याचार्य कपिल स्वयं भगवन के अवतार हैं। उनसे वैष्णवों से कोई विरोध नहीं है। विशेषकर हमारा विशिष्टाद्वैत दर्शन बहुत अंशों में उनसे अनुप्राणित है। सांख्य के समान हम भी सत्कार्यवादी हैं तथा उन्हीं के

सदृश हम भी प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द इन्हीं तीनों को प्रमाण मानते हैं। हाँ अद्वैतवादियों का साँख्य से अकारण विरोध है, वह उनकी एक परिस्थिति है। जहाँ उन्हें अपने द्वारा कल्पित अद्वैतवाद के बालुका भवन पर विनाश की सम्भावना प्रतीत होती है वहाँ किसी से भी मित्रता कर सकते हैं। भगवान कपिल को गालियों की बौछार करने वाले शंकराचार्य सौभाग्य से गुण संख्यान शब्द की व्याख्या में और कोई गति न पाकर वैष्णव शिरोमणि भगवान कपिल के चरणों में ही झुकते हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकरण पर उन्हीं का भाष्य देखिये—

"कथ्यते गुण संख्याने कापिले शास्त्रे तदपि गुणसंख्यानशास्त्रं गुणभोक्तृ-विषये प्रमाणमेकपरमार्थब्रह्मैकत्वविषये यद्यपि विरुध्यते। तथापि तेहि कापिला गुणगौणव्यापारनिरूपणेऽभियुक्ता इति तच्छास्त्रमपि वक्ष्यमाणार्थस्तुत्यर्थ त्वेनोपादीयत इति न विरोधः।"

अर्थात् शंकराचार्य कहते हैं कि गुणभोक्ता जीवों के विषय में कपिलशास्त्र प्रमाण है। यद्यपि परमार्थ में ब्रह्मजीव की एकता में सांख्यशास्त्र का विरोध है। फिर भी गुण गौण व्यापार विषय में कापिल अर्थात् भगवान कपिल के अनुयायी हमारे अभियुक्त अर्थात् पूर्वाचार्य हैं। इसलिए उनका शास्त्र भी इस विषय में प्रमाण है। अतएव भगवान श्रीकृष्ण भी उनकी स्तुति करने के लिए गुण संख्यान शब्द का प्रयोग करते हैं। इसलिए कोई विरोध नहीं है।

अहो! प्रच्छन्न बौद्धों की अर्धजरतीय न्याय की विडम्बना देखिये जहां स्वार्थ है वहीं स्वीकृति और जहां अपने कल्पित मत का विरोध है वहां तिरस्कृति। सच ही तो कहा गया है 'स्वार्थी दोषं न पश्यति' हम श्री मदाद्य रामानन्दाचार्य की परम्परा का अनुगमन करनेवाले श्री वैष्णव श्री मद्भागवत आदि में वर्णित होने से भगवान कपिल को भगवान का अवतार ही मानते हैं। और उनपर बहुत श्रद्धा करते हैं- जैसे-

पंचमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥

अर्थ—पाँचवें अवतार में वे सिद्धों के स्वामी कपिल के रूप में प्रकट हुए और तत्वों का निर्णय करने वाले सांख्य शास्त्र का, जो समय के फेर से लुप्त हो गया था, आसुरि नामक ब्राह्मण को उपदेश किया। (भागवत १/३/१०)

तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि॥

अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः ।
गायन्ति तं स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा।।

पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैरपवर्जिताः ।
प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च ।।

अर्थ—इस प्रकार बहुत समय बीत जाने पर भगवान मधुसुदन कर्दम जी के वीर्य का आश्रय ले उसके गर्भ से इस प्रकार प्रकट हुए, जैसे काष्ठ में से अग्नि ॥

उस समय आकाश में मेघ जल बरसाते हुए गरज-गरज कर बाजे बजाने लगे, गन्धर्वगण गान करने लगे और अप्सरायें आनन्दित होकर नाचने लगी ॥

आकाश से देवताओं के बरसाये हुए दिव्य पुष्पों की वर्षा होने लगी, सब दिशाओं मे आनन्द छा गया, जलाशयों का जल निर्मल हो गया और सभी जीवों के मन प्रसन्न हो गये ॥ भाग० ३/२४/६,७,८॥

भगवन्तं परं ब्रह्म सत्वेनांशेन शत्रुहन् ।
तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट् ।।

अर्थ—शत्रुदमन विदुर जी ! स्वतः सिद्ध ज्ञान से सम्पन्न अजन्मा ब्रह्मा जी को यह मालूम हो गया था कि साक्षात परब्रह्म भगवान विष्णु सांख्यशास्त्र का उपदेश करने के लिए अपने विशुद्ध सत्वमय अंश से अवतीर्ण हुए हैं । भा० ३/२४/१०

इसलिए रामचरित मानस में श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रियनारी ।।
आदि देव प्रभु दीन दयाला। जरठ धरेउ जेहि कपिल कृपाला ।।
सांख्यशास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्व विचार निपुन भगवाना ।।

(मानस-१/१४२/५,६,७)

इसलिए हम रामानन्दीय श्री वैष्णव जो कि सीताराम विशिष्टद्वैत पथ के पथिक हैं। सांख्य अभिमत सत्कार्यवाद तथा उन्हीं के द्वारा अनुमोदित प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द जीव का बहुत्ववाद प्रकृति और पुरूष में परस्पर भेद आदि सिद्धान्तों पर श्रद्धा रखते हैं। यथावत् भगवान कहते हैं-उन सब को सुनो-अपि शब्द से बुद्धि और धृति का संग्रह समझाना चाहिए ।

संगति—अब भगवान सात्विक ज्ञान का निरूपण करते हैं-

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।। १८/२०

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— जिस ज्ञान से देव मनुष्य पशु आदि योनियों में विभक्त सम्पूर्ण प्राणियों में साधक एक मात्र अविनाशी, विभाग रहित, परब्रह्म वस्तु को देखता है अर्थात् साक्षात्कार का विषय बनाता है उस ज्ञान को तुम सात्विक जानो।

व्याख्या—यहाँ ज्ञान करण साधन हैं। यह हम कह चुके हैं कि सम्पूर्ण प्राणी अचित सम्पर्क से देहाभिमान के कारण देवता मनुष्य पशु आदि योनियों में विभक्त हैं। परन्तु उन सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप में रहने वाले परमात्मा का एक ही रूप है। इस प्रकार जिस ज्ञान से साधक देखता है वही ज्ञान सात्विक है। यहाँ ज्ञान साधन हे, ब्रह्म साध्य है और जीव साधक है। ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान राजसज्ञान का निरूपण करते हैं-

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।। १८/२१

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन! जिस ज्ञान से युक्त साधक सभी प्राणियों में वर्तमान अनेक प्रकार के नाना भावों को सम्बन्ध द्वारा परमात्मा से पृथक जानता है, अर्थात् उन्हें चिदचिद् विशिष्ट नहीं समझता तुम उस ज्ञान को राजस जानो।

व्याख्या—यदि 'ज्ञानं' शब्द अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि से समस्त है। यत् ज्ञानं यस्मिन् तत् यज्ज्ञानं। अर्थात् जिस ज्ञान से युक्त प्राणी। 'पृथक्त्वेन'-जीव परमात्मा से अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा अपृथक है। भले वह स्वरूपतः परमामा से पृथक है।।श्री।।

संगति—अब भगवान तामसज्ञान का निरूपण करते हैं-

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।। १८/२२

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— जो ज्ञान एक ही कार्य में सम्पूर्ण की भाँति आसक्त और कारण रहित, तथ्य हीन प्रयोजन वाला और तुक्ष्य है, वह ज्ञान तामस कहा गया है।

व्याख्या—'कृत्स्नवत्' जो सम्पूर्ण की भाँति दिखता है। 'अहैतुकं' जिसमें कोई हेतु नही होता। अर्थात् जहाँ एक ही शरीर में सम्पूर्णता का बोध होने लग जाता है। जैसे जब व्यक्ति अपनी ही तृप्ति में दूसरे की तृप्ति मानता है, अपने सुख में दूसरों की सुख, अपनी ही पीड़ा में दूसरों की पीड़ा वह ज्ञान तामस है। अन्तर इतना ही है कि तमोगुणी व्यक्ति आप सुखी संसार सुखी की कल्पना करता है और सात्विक इससे विपरीत। ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान कर्म के तीन भेदों का निरूपण करते हैं ।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।। १८/२३

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! कर्म फल की इच्छा रहित साधक के द्वारा रागद्वेष को छोड़कर जो असक्ति रहित वर्णाश्रम से नियत कर्म किया गया है, वह सात्विक कहा जाता है ।

व्याख्या—कर्म के फल की इच्छा से किया हुआ कर्म सात्त्विक नहीं होता । इसलिए फलेच्छा और रागद्वेष छोड़कर वर्णाश्रम से नियत कर्म करने चाहिए । व्यक्ति का किसी कर्म के प्रति राग होता है और किसी के प्रति द्वेष होता है, परन्तु सात्विक तटस्थ रहता है । ॥ श्री ॥

संगति—अब राजस् का उदाहरण देते हैं-

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।। १८/२४

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! इसके विपरीत जो कामना की इच्छा करते हुए अहंकार युक्त व्यक्ति के द्वारा बहुत प्रयास से किया जाता है, वह कर्म राजस् कहा गया है ।

व्याख्या—जब कर्म के करने में कामना और अहंकार आ जाते हैं तब वह सात्विक नहीं रह जाता । इसलिए प्रयास करना चाहिए कि कर्म मे काम के बदले राम आये और अहंकार के बदले राघवेन्द्र सरकार आयें । श्री ॥

संगति—अब भगवान तमोगुण का उदाहरण दे रहे हैं—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।। १८/२५

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! परिणाम अथवा कर्मफल, विनाश, हिंसा और पौरूष का विचार किये बिना मोहपूर्वक जो कर्म आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है ।

व्याख्या—अनुबन्ध शब्द परिणाम का बाचक है । परिणाम के विचारे बिना, क्षय, हिंसा, तथा पौरूप का विचार किये बिना प्रारम्भ किया हुआ कर्म तामस कहा जाता है । जैसे, रावण । उसने परिणाम, क्षय, हिंसा औ पौरूष का विचार नहीं किया । ॥ श्री ॥

संगति- अब भगवान तीन श्लोकों में, सात्विक, राजस तामस कर्ताओं का निरूपण करते हैं। उनमें सर्वप्रथम सात्विक कर्त्ता के सम्बन्ध में कहते हैं-

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन! जो संसार में आसक्त रहित तथा मैं ही कर्ता हूँ, इस प्रकार अहंकार वाद से दूर है। जो सात्विक धृति और उत्साह से युक्त है, ऐसा कर्म की सफलता और असफलता में निर्विकार अर्थात् हर्ष शोक रहित कर्ता सात्विक कहा जाता है।

व्याख्या—'निर्विकार:' अर्थात् जो कर्म की सफलता में प्रसन्न नहीं होता और कर्म की असफलता में जो दु:खी नही होता, वह साधक सात्विक कर्त्ता कहा जाता है।

संगति- अब भगवान राजस कर्त्ता का निरूपण कर रहे हैं।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ।। १८/२७

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन! जो संसार में रागवान तथा कर्म फल के लिए इच्छुक है तथा जो लुब्ध हिंसात्मक और अपवित्र है तथा हर्ष और शोक में एकरस रहकर अन्वित होता है ऐसा कर्त्ता राजस कहा गया है।

व्याख्या—जो मुझमें राग न रखकर संसार में राग रखता है। तथा मेरे चरणों का लोभ न करके तुच्छ कर्मफलों का लोभ करता है। हर्ष और शोक दोनों द्वन्द्वों से जुड़ जाता है वह राजस कर्त्ता है।

संगति—अब भगवान तामस कर्त्ता का निरूपण करते हैं—

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ।।१८/२८

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन! जो अयुक्त अर्थात् समत्वयोग से रहित है तथा प्राकृत ग्राम्य भोगों में ही तल्लीन रहता है, जो अभिमान युक्त सठ, तथा नैष्क्रितिक अर्थात् सभी प्रायश्चितों का पात्र है जो विषाद, शील तथा दीर्घसूत्रीय है ऐसा कर्त्ता तामस कहा जाता है।

व्याख्या—प्राकृत के भोग में रहमने वाला ही प्राकृत है। 'स्तब्ध' अर्थात् अभिमानी। 'नैष्कृतिक' प्रायश्चित को निष्कृति कहते हैं। उसके सम्बन्ध से प्रायश्चितीय को नैष्कृतिक

कहते हैं। कार्य को टालने वाले वक्ति को दीर्घसूत्री कहा जाता है। यहाँ सात्विक कर्त्ता के रूप में श्रीराम श्रीकृष्ण राजस कर्त्ता के रूप में श्री लक्ष्मण तथा बलराम और तामस कर्त्ता के रूप में शिशुपाल और रावण को समझना चाहिए।

संगति- अब भगवान बुद्धि तथा धृति के भेद वर्णन की प्रतिज्ञा करते हैं-

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।। १८/२९

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे धनंजय ! अब सत्व् रज और तम के कारण बुद्धि और धृति के अलग-अलग भेद को मेरे द्वारा पूर्णरूप से कहे जाते हुए सुनो।

व्याख्या- गुणतः शब्द में तृतीया बहुवचन में 'तसि' प्रत्यय हुआ है। अर्थात् बुद्धि और धृति भी सात्विक, राजस, और तामस भेद से पृथक-पृथक तीन प्रकार से है।

संगति- अब भगवान सात्विक बुद्धि का लक्षण कहते हैं-

प्रवित्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।
१८/३०

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्त्तव्य-अकर्तव्य भय-अभय, बंधन और मोक्ष को जानती और जनाती है वही सात्विक बुद्धि है।

व्याख्या—वास्तव में यहाँ विद् धातु अन्तर्भावित ण्यर्थक है। अर्थात् वेत्ति का अर्थ होगा वेदयति। अर्थात् जो बुद्धि विहित कर्मों में प्रवृत्ति, विकर्म से निवृत्ति, भगवद् भजन में करणीयता, संसार चिन्तन में अकरणीयता पाप से भय तथा भगवान में अभय तथा भगवत्प्रेम में बंधन और संसार में मोक्ष को बताती है। वही बुद्धि सात्विक है।

संगति—अब भगवान राजस बुद्धि का निरूपण करते हैं-

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।। १८/३१

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! जिस बुद्धि के द्वारा यह जीव धर्म और अधर्म को, कर्तव्य और अकर्तव्य को ठीक-२ नही जानता, उसी बुद्धि को राजसी कहते हैं।

व्याख्या—वेद विहित को धर्म कहते हैं और वेद से अविहित को अधर्म ।।श्री।।

संगति—अब तामसी बुद्धि का निरूपण करते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।। १८/३२

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! तम से ढँकी हुई जो बुद्धि अधर्म को ही धर्म मान लेती है और सभी अर्थों को उल्टा ही समझती है वही बुद्धि तामसी है ।

व्याख्या- श्रीराम चरित मानस में तीनों का उदाहरण है- वहाँ सात्विक बुद्धि को सुमति तथा राजसी और तामसी को कुमति कहा गया है । श्रीराम में सुमति अर्थात् सात्विक बुद्धि एवं कैकेयी राजस बुद्धि का तथा रावण तामस बुद्धि का उदाहरण है । ॥ श्री ॥

संगति- अब भगवान सात्विक धृति का निरूपण करते हैं-

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।। १८/३३

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! जिस व्याभिचार रहित धारणा से साधक मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को मेरी भक्ति योग से धारण करता है, उस धृति को सात्विक कहते हैं ।

व्याख्या—इसी धारण का श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के प्रथम और द्वितीय अध्याय में विस्तृत वर्णन हैं । यहाँ योग का भक्ति योग से तात्पर्य है । ॥ श्री ॥

संगति—अव भगवान राजसी धृति का निरूपण कर रहे हैं-

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राज़सी ।। १८/३४

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! जिस धारणा के द्वारा प्राणी कर्म फलों की आसक्ति से धर्म काम और अर्थ को धारण करता है, वही धृति राजसी धृति है ।

व्याख्या—जहाँ त्रिवर्ग को प्राणी प्रसंग अर्थात् आसक्ति से धारण करता है वह राजसी धृति है इसलिए धर्म को भगवत्कथाप्रसंग से, काम को भगवतन्नामप्रसंग से और अर्थ को भगवल्लीलाप्रसंग से धारण करना चाहिए ।

संगति—अव भगवान, तामसी धृति का निरूपण करते हैं—

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।। १८/३५

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे अर्जुन ! जिस धृति के द्वारा यह दुर्बुद्धि जीव निद्रा, भय, शोक, विषाद, और मद को नहीं छोड़ता वही घृति तामसी है ।

व्याख्या—स्वप्न का अर्थ निद्रा है, इष्ट से बिछुड़ने पर मन की प्रतिकूलता में जो क्लेश होता है वही विषाद । ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान त्रिविध सुखके वर्णन की प्रतिज्ञा करते हैं-

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।। ३६।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन ! जिस मुझ परमाता में साधक अभ्यास बल से रमण करता है । ऐसे मुझ परमात्मा के पास से इस समय तुम तीन प्रकारका सुख सुनो ।

व्याख्या—यहाँ यद्यपि वास्तविक सुखस्वरूप मैं हूँ, क्योंकि जीव मुझमें रमण करता हुआ दुःखके अन्तको प्राप्त हो जाता है । फिर भी इस समय सांसारिक दृष्टि से तीन भेदों वाला सुख सुनो । कुछ लोग 'यत्र' शब्द का अन्वय 'त्रिविध' के साथ करते हैं, उस परिस्थिति में राजस-तामस सुखमें 'अभ्यास रमणाभाव' और दुःख नाशका सामर्थ्य न होने से अव्याप्ति हो जायेगी । कुछ लोग 'अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति' इन दोनों चरणों को अग्रिम श्लोक से जोड़कर डेढ़श्लोको में सात्विक सुखका लक्षण मानने का प्रयास करते हैं । पर वह भी पक्ष ठींक नहीं है, क्योंकि आत्मबुद्धिप्रसादज सुखके सावच्छिन्नहोने से वहाँ भी दुःखका अन्त सम्भव नहीं; और-

'संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न युज्यते'

इस सिद्धान्त के अनुसार वाक्य भेद के कारण मेरा ही पक्ष ठीक है ।

अब यह प्रश्न है कि इस उत्तरार्ध से भगवान का अभिप्राय क्या रहा होगा ।

उत्तर—केवल उतना ही कि सुख के सम्बन्ध में भगवान से अधिक कोई नहीं जानता ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान सात्विक सुख का निरूपण करते हैं-

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।। १८/३७

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! वह सुख जो प्रारम्भ में विष के समान तथा परिणाम में अमृत के समन है तथा जो आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है, वही सुख सात्विक कहा गया है ।

व्याख्या- सात्विक सुख का प्रारम्भ साधना के कारण क्लेशमय होता है, परन्तु परिणाम मधुर होता है ॥ श्री ॥

संगति- अब भगवान राजस सुख का निरूपण करते हैं-

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसंस्मृतम् ।। १८/३८

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो विषयों से इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होता हे तथा प्रारम्भ में अमृत के समान तथा परिणाम कालकूट के समान होता है, वही सुख राजस कहा गया है ।

व्याख्या—जिसका प्रारम्भ आनन्ददायक तथा परिणाम कष्टदायक होता है वह राजस सुख मेरे द्वारा कहा गया है ।

संगति—अब भगवान तामस सुख की व्याख्या करते हैं—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।। १८/३९

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! जो प्रारम्भ तथा परिणाम में मन को मोहित करने वाला होता है अथवा जीवात्मा को ही मोहित कर लेता है, वही निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है ।

व्याख्या—परिणाम को अनुबन्ध कहते हैं । तामस सुख प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जीवात्मा को मोहित किये रहता है । इसलिए जीवात्मा अपने स्वरूप को भूला रहता है । अर्जुन इस प्रकार तुममे सात्विक ज्ञान, सात्विक कर्म, सात्विक कर्तृभाव, सात्विक बुद्धि, सात्विक धृति और सात्विक सुख भी है । श्री ।

संगति—अब भगवान विषय का उपसंहार कर रहे हैं—

न तद स्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।। १८/४०

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! इस पृथ्वी में, स्वर्ग में, और अंतरिक्ष म, देवताओं में, मनुष्यों में और पशु आदि योनियों में ऐसा कोई प्राणी है ही नहीं, जो मेरे द्वारा कहे हुए इन तीनों गुणों से मुक्त हो चुका हो ।

व्याख्या—मुक्त तो वही होता है जो मुझमें होता है । और मुझमें वही होता है, जो मुझे भजता है ॥ श्री ॥

संगति—अब भगवान शास्त्रार्थ का उपसंहार करते हुए चातुर्य वर्ण की समीक्षा कर रहे हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां . शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभावैर्गुणैः ।। १८/४१

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ— हे शत्रुनाशक अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके स्वभाव से उत्पन्न गुणों से ही विभक्त कर दिये गये हैं ।

व्याख्या — यहाँ 'विश' शब्द वैश्य वाचक है । ब्राह्मण क्षत्रिय 'विश' शब्द का द्वन्द्व समास हुआ है, जो लोग यह कहते है कि शूद्र वर्ण बाह्य है, इसलिए उसको पृथक् रखा गया । वास्तव में यह कहने वाले न तो शास्त्र के हितैषी है और न ही हिन्दू धर्म के और नही राष्ट्र तथा समाज के । यदि शूद्र शब्द को जोड़कर समास किया जाता तो पाद पूर्ति न होती । सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि हिन्दू धर्म की आज तक उत्तरदायित्वपूर्ण व्याख्या नही की गयी । 'शुचाद्राति इति शूद्रः' अर्थात् जो चिन्ता से दु:खी हो वह शूद्र है । इस प्रकार व्याख्या ब्रह्मसूत्र में जनश्रुति प्रकरण विशेष के लिए कही गयी है । वह व्युत्पत्ति व्याकरण के नियमानुकूल भी नही है । इसलिए शूद्र शब्द की दूसरी व्याख्या होगी । शु उ द्र 'शू' का अर्थ ब्रह्म होता है, इसीलिए श्री शुक उवाच इस शब्द में 'शु' शब्द का ब्रह्म ही अर्थ किया गया है । शुं परब्रह्म कायति इति शुक। अर्थात् जो परब्रह्मभगवान को ही गाता है उसे शुक कहते है । ठीक इसी प्रकार शु: उ निश्चयेन द्रवति यस्मिन् इति शूद्रः । अर्थात् भगवान निश्चय ही कृपा करते है उसे शूद्र कहते है । तात्पर्य यह है कि भगवान के परम कृपा पात्र होने के कारण शूद्र शब्द को समस्त न करके भगवान ने पृथक् रखा । हिन्दू धर्म कितना उदार है । शुक्ल यजुर्वेद में एक ऐसा अद्‌भुत मंत्र है, जिसको शतपथ ब्रह्मण में धूप के लिए नियुक्त किया गया है । क्योंकि ऋषि को ज्ञान हैं कि यदि इस मन्त्र का अर्थ बोध हो जायेगा तो हिन्दू धर्म की संकीर्णता दुर्गन्ध उसी प्रकार दूर हो जायेगी, जैसे धूप से घर की दूर हो जाती है। वह मंत्र निम्नांकित है — "ॐ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदे बाहू राजन्यः कृतः ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥" (शु०य०वा०भा०शा० ३१-११) यहाँ पदभ्यां के अनुरोध से सर्वत्र पंचमी की कल्पना करनी पड़ेगी और अर्थ होगा कि "उस परमात्मा के मुख से ब्रह्मण उत्पन्न हुआ तथा भुजाओं से क्षत्रिय उत्पन्न किया गया, उस परमात्मा के ऊरु से वैश्य, और चरण से शूद्र उत्पन्न हुआ । भगवान के सभी अंग आनन्द मय है इसलिए मुख से उत्पन्न हुए ब्राह्मण की अपेक्षा चरण से उत्पन्न हुआ शूद्र अपवित्र है यह कहना अत्यन्त भ्रम है । लोक व्यवहार में भी चरण अपवित्र नही है । नही तो चरण पर ही प्रणाम क्यों किया जाता ? और चरणोदक क्यों लिया जाता ? पूज्यों के लिए चरण शब्द का प्रयोग क्यों

किया जाता ? भला जिन चरणों से प्रकट हुई गंगा सारे संसार का, पवित्र कर रही हैं, उनसे जन्म लेकर शूद्र अपवित्र क्यों ? इसलिए वर्ण व्यवस्था शास्त्रीय है, वह द्वेष के लिए नही प्रत्युत सामाजिक समरसता के लिए है। प्रत्येक हिन्दू अपने-अपने आधिकार में रहता हुआ श्रेष्ठ ही है ॥ श्री ॥

संगति — अब ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण का भगवान निरूपण करते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मण के स्वभाविक कर्म हैं ।

व्याख्या — मन के निग्रह को शम कहते है । इन्द्रियों को विषय से हटाने को दम कहते हैं । सेव्य-सेवक भाव बोध को ज्ञान कहते है । भगवत तत्व के बोध को ही विज्ञान कहा गया है । लोक-परलोक पर विश्वास को आस्तिकता कहते हैं ॥ श्री ॥

संगति — अब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म का वर्णन करते हैं ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। १८/४३

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! शूरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध में न भागना, दान और ईश्वर भाव अर्थात् प्रशासन ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ।

व्याख्या — "शत्रुद्वारा न पराजित होना यहाँ तेज है, दाक्ष्य, युद्धकौशल अथवा लोक परलोक के साधन में चतुरता अभिप्रेत है ॥ श्री ॥

संगति — अब भगवान वैश्य और शूद के कर्मका निरूपण करते हैं

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।। १८/४४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ—हे अर्जुन ! कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये तीन वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं । भगवान की सेवा और (गौ-ब्राह्मण-ईश्वर में) सेव्य भाव रखना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है ।

व्याख्या — यहाँ 'परिचर्या' शब्द भगवत् सेवा के लिये अभिप्रेत है, जैसे विदुर, शबरी, रैदास, सेन कबीरदास इत्यादि, भगवान की सेवा करके ही परम पद के अधिकारी बने ॥ श्री ॥

संगति — अब चार श्लोकों से अपने-अपने वर्ण के अनुसार कर्म करने का उपदेश करते हैं —

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।। १८/४५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! अपने-अपने वर्ण के अनुसार कर्म में लगा हुआ मनुष्य मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त कर लेता है । अपने कर्म में लगा हुआ साधक जैसे सिद्धि प्राप्त करता है वह मुझसे सुनो ।

व्याख्या — यहाँ "पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा" पा. आ. ७-१-१६, इस सूत्र से स्मिन् आदेश न होने के कारण, स्वे-स्वे रूप सिद्ध हुआ । इस श्लोक में प्रयुक्त सिद्धि शब्द भगवत् प्राप्ति के ही अभिप्राय में है ॥ श्री ॥

संगति — भगवान को तो सन्तुष्ट करना ही सम्पूर्ण वेदों का अर्थ है, इस तथ्य को ही भगवान स्पष्ट करते हैं -

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। १८/४६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! जिस परमात्मा से सम्पूर्ण प्राणियों की संसार में प्रवृत्ति अर्थात् उत्पत्ति हुयी है, जिस परमात्म के द्वारा यह जड़ चेतनात्मक संसार व्याप्त है, उन्हीं प्रभु को अपने कर्मरूप पुष्प से इष्ट देव बुद्धि से अर्पित करके मनु प्रोक्त धर्म में निष्ठावान मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।

व्याख्या — उत्पत्ति और प्रवर्तन ये दो प्रवृत्ति के अर्थ हैं, "स्व कर्मणा" अपने वर्णाश्रमानुरूप कर्म से ही भगवान की पूजा करनी चाहिये ॥ श्री ॥

संगति — अब भगवान स्वधर्म निष्ठा की प्रसंशा करते हैं

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।। १८/४७

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ—अच्छी प्रकार अनुष्ठित दूसरे के धर्म से लोक की दृष्टि से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ होता है । स्वभाव से नियत कर्म करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त करता ।

व्याख्या — किल्बिष का अर्थ है पाप, भले लोक दृष्टि से शस्त्र त्याग सुन्दर हो और युद्ध निन्दित हो, परन्तु तुम्हारा स्वधर्म होने के कारण तुम्हारे लिये यही श्रेष्ठ है । यह तुम्हारे स्वभाव से नियत है, इसीलिये यह करने से तुम्हे पाप नहीं लगेगा ।

संगति — अब भगवान स्वाभाविक कर्म के त्याग का निषेध कर रहे हैं

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।। १८/४८

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ — हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! दोष युक्त होने पर भी अपने वर्ण के स्वभाव से उत्पन्न कर्म को नहीं छोड़नाा चाहिये, क्योंकि धूयें से अग्नि की भाँति सभी कर्म और कर्मफल दोष से ढके हुये हैं ।

व्याख्या — जैसे अग्नि धूयें से ढका रहता है, इसी प्रकार सभी आरम्भ अर्थात् कर्म और कर्मफल सदोष हैं, निर्दोष तो केवल मैं ही हूँ, यही श्लोकार्थ है ।

संगति — अव भगवान श्रीकृष्ण दो श्लोकों से ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति कह रहे हैं।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठाज्ञानस्य या परा ।। १८/४९-५०

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! सर्वत्र जिसकी बुद्धि आसक्ति रहित हो चुकी है, जिसने अपने मनको जीत लिया है, तथा संसार के पदार्थों से जिसकी स्पृहा समाप्त हो गयी है । ऐसा साधक काम्य कर्मों के त्याग से ही परम श्रेष्ठ नैष्कर्म्यरूप सिद्धि को प्राप्त कर लेता है । हे अर्जुन ! उस नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त हुआ साधक मुझ परब्रह्म को जैसे प्राप्त करता है, वह प्रकार भी मुझ से संक्षेप में सुनो । हे कुन्तीपुत्र ! जो ज्ञान की परमनिष्ठा मेरी प्रेम लक्षणा भक्ति है, उसे भी संक्षेप में सुनो ।

व्याख्या —यहाँ भगवान तृतीय अध्याय के चतुर्थ अध्याय में कहे हुये उस सिद्धान्त की और संकेत कर रहे हैं, जिसमें उन्होंने कहा था कि कर्मों के अनारम्भ से नैष्कर्म्य नहीं प्राप्त होता, भगवान कहते हैं कर्मों में अनासक्ति से नैष्कर्म्य प्रायृत होता है । भक्ति ज्ञान की परानिष्ठा है, क्योंकि ज्ञान वहीं टिक्ता है, जैसे श्रीराम सीताजी के हृदय में, एवं श्रीकृष्ण राधाजी के हृदय में विराजते हैं ।

''मनस्वी तद्गतमना तस्या हृदि समर्पितः''

''जानकी उर मम वास है''

संगति — अब चार श्लोकों से भगवान ज्ञाननिष्ठा की प्रकार कह रहे हैं—

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यामानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्तवा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।
१८/५१-५२-५३

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! मेरे प्रेम से भावित विशुद्ध भक्ति से युक्त हुआ साधक, सात्विक धृति से मन को नियन्त्रित करके बन्धन के कारणरूप शब्द आदि विषयों को छोड़कर उनमें वर्तमान रागद्वेष त्यागकर एकान्त देश में रहता हुआ अल्पाहार करने वाला, वाणी-शरीर और मनपर नियन्त्रण करने वाला, निरन्तर ध्यान योग में तत्पर, वैराग्य का आश्रय लेकर स्थित, अहङ्कार पशुबल, गर्व, काम, क्रोध, धन अथवा पत्नी को छोड़कर संसार के प्रति ममता रहित परम शान्त श्रीवैष्णव मुझ ब्रह्म की सामीप्य मुक्ति के लिये योग्य हो जाता है ।

व्याख्या — यहाँ 'ब्रह्मणि भूयं ब्रह्म भूयं' यह सप्तमी समास ही समझना चाहिये, इस शब्द की १४-२७ में विशेष व्याख्या की जा चुकी है ।। श्री ।।

संगति — अब भगवान ब्रह्मभूत साधक की उपलब्धि का वर्णन कर रहे हैं —

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु यद्भक्तिं लभते पराम् ।। १८/५४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! ब्रह्म के समीप निवास प्राप्त करने वाला साधक मन में प्रसन्न हो जाता है । वह किसी के प्रति शोक भी नहीं करता और किसी की इच्छा भी नहीं करता । वह सम्पूर्ण भूत प्राणियों मे समान भाव से रहता हुआ मेरी परम प्रेमलक्षणा भक्ति को प्राप्त कर लेता है ।

व्याख्या — "ब्रह्मभूत" भूत शब्द सत्ता का वाचक है, और सप्तमी का सामीप्य अर्थ है, "ब्रह्मणि भूतं, ब्रह्म समीपे निवासः यस्य स ब्रह्मभूतः" अर्थात् ब्रह्म के समीप निवास है जिसका, वही है ब्रह्मभूत । उसकी स्थिति विलक्षण हो जाती है, जैसा की सन्त श्री कबीर दास जी कहते हैं —

कबिरा मन निर्मल भया जैसे गंगा नीर ।
पाछे-पाछे हरि फिरें कहत कबीर-कबीर ।।

संगति — अव भगवान परम प्रेमलक्षणभक्ति को ही साध्यरूप में वर्णन कर रहे हैं —

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशेते तदनन्तरम् ।।
१८/५५

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! मैं जो हूँ, जिस प्रकार का हूँ, उस मुझ परमात्मा श्रीकृष्ण को भक्ति से ही 'तत्वतः' अर्थात् चिदचिद् विशिष्ट रूप में जान लेता है । इस प्रकार मुझे परमात्मा में वह प्रवेश कर लेता है, जिस प्रकार श्रीभुशुण्डी जी ने मुझ से अभिन्न श्री रामजी के उदर में प्रवेश किया था ।

व्याख्या — यहाँ अनन्तर शव्द पश्चात् वाची नहीं है, प्रत्युत "मां" का विशेषण है, अर्थात् जिसमें कोइ अन्तर अर्थात् व्यवधान नहीं है, ऐसे मुझ व्रह्म में प्रवेश कर लेता है। ॥ श्री ॥

संगति — अव भगवान अपनी प्रसन्नता का साधन कह रहे हैं —

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।। १८/५६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जन ! मेरी परम प्रेम लक्षणा भक्ति को प्राप्त करके सदैव सभी कर्मों को करता हुआ भी मुझ ही को उत्कृष्ट और अपकृष्ट सभी आश्रयों के रूप में स्वीकार कर श्रीवैष्णव साधक मेरे प्रसादसे विनाश रहित शाश्वत वैष्णव पद को प्राप्त कर लेता है ।

व्याख्या — "सर्वकर्माणि" अर्थात् मुझको ही सव कुछ मानकर मुझ में ही संसार की सभी ऊँची-नीची प्रीतियों को समेटकर साधक नित्य वैष्णव पद को प्राप्त कर लेता है । जैसे कबीरदास कहे तैं - "हरि मोर पिये मैं रामकी बहोरिया ।।

तुलसीदास जी तो नागरी की प्रीति भी वचन रचना नागर में समेना चाहते हैं-

"ज्यों सुभाय प्रिय लगती नागरी नागर नवीन को ।
त्यों मेरे मन लालसा करिये करुणानिधि पावन प्रेम पीनको ।।"

संगति — अव भगवान दो श्लोकों से अर्जुन को उनके कर्तव्य की आज्ञा देते है —

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।। १८/५७-५८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! मुझको ही परम इष्ट देवता मानकर चित्त से सम्पूर्ण कर्मो को मुझमें समर्पित करके बुद्धियोग का अधिकता से आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें चित्त लगाकर स्थित हो जाओ । इस प्रकार मुझमें चित्त लगाकर मेरी कृपा से सभी गहन संकटों को पार कर लोगे, यदि कदाचित् अहंकार से उद्धत होकर मेरी बात नहीं सुनोगे तो फिर निनष्ट हो जाओगे, अर्थात् मुझसे बहुत दूर हो जाओगे ।

व्याख्या — जब चित्त रिक्त होगा, तभी तो वह मुझमें समा सकेगा, या मैं उसमें समा सकूंगा । "मिच्चत्तः" शव्द में दो प्रकार से बहुव्रीहि होगा, "मयि चित्तं यस्य स मच्चित्तः" "अहं चित्ते यस्य स मच्चित्तः" भगवान क्रोध मुद्रा का नाट्य करते हुये कह रहे हैं, यदि मेरी बात नहीं सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे, अर्थात् तव मैं तुम्हारे रथ का सारथी नहीं रहूँगा ॥ श्री ॥

संगति — मै क्यों नष्ट हो जाउंगा ? अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान उत्तर दे रहे हैं —

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।। १८/५९

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! यदि तुम अहंकार का आश्रय लेकर गीता २-९ में कहे हुये 'न योत्स्ये' युद्ध नही करूंगा, इसीनिश्चय को मान रहे हो, तो तुम्हारा यह निश्चय भ्रम मूलक है । क्योंकि तुम्हारी क्षत्री प्रकृति तुम्हें दृढ़पूर्वक युद्ध कर्म में नियुक्त करेगी ही ।

व्याख्या — गीता २-९ में कहे हुये 'न योत्स्ये' अर्जुन के इसी वाक्य का भगवान अनुवाद कर रहे हैं, यह तुम्हारा अहंकार है ॥ श्री ॥

संगति— ऐसा क्यों होगा ? इस पर भगवान कहते हैं —

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।। १८/६०

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — क्योंकि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तुम मोहके वश होकर जो नहीं करना चाहते हो, वह भी अपने स्वभाव से उत्पन्न क्षत्रीय कर्म से बंधे हुये विवश होकर करोगे ।

व्याख्या — तुम स्वतन्त्र नहीं हो, अवश हो, "अकारः वासुदेवः तस्य वशः" अर्थात् तुम मेरे अधिन हो । मेरी इच्छा से क्षात्र कर्म तुम्हें बाँधेगा ॥ श्री ॥

संगति— अब दो श्लोकों से भगवान ईश्वर शरणागत की चर्चा कर रहे हैं — क्योंकि प्रपत्ति ही तीनों "काण्डों से युक्त गीता का सार है —

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ १८/६१-६२

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन्, यन्त्र पर आरूढ़ जीवों को माया से भ्रमाते हुये सम्पूर्ण भूतों के हृदय देश में अन्तर्यामी परमेश्वर निवास करते हैं । हे भरतवंशी अर्जुन ! सर्वभाव से उन्हीं परमात्मा के शरण मे जाओ । उनके प्रसाद से परमशान्ति और शाश्वत साकेत से अभिन्न गोलोक स्थान प्राप्त कर लोगे ।

व्याख्या — ज्ञान काण्ड में भी शरणागति से उपसंहार करके भगवान यही सिद्ध कर रहे हैं कि सम्पूर्ण गीता का ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण वेद का ही शरणागति तात्पर्य है । प्रथम षट्क के अन्त में "श्रद्धावान् भजते यो मां" द्वितीय षट्क के अन्त में "तमेव शरणं गच्छ" कहकर भगवान मुक्त कण्ठ से यही कहना चाहते हैं कि परमेश्वर की शरणागति ही वेदों का निर्विवाद शाश्वत सिद्धान्त है और यही तीनों काण्डों का पोषिचका है ॥ श्री ॥

संगति — इस प्रकार शरणागति को तीनों काण्डों का सार बताकर भगवान अर्जुन के मनोभाव की परीक्षा कर रहे हैं —

इति ते ज्ञानमाख्यतं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १८/६३

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! इस प्रकार ज्ञान काण्ड के इन छः अध्यायों में तुम्हारे लिये गोपनीय से भी अति गोपनीय प्रपत्ति पर्यन्त ज्ञान की मेरे द्वारा व्याख्या की गयी । इसको पूर्ण रूप से अपने हृदय में विचार कर फिर जैसी इच्छा करते हो वैसा करो ।

व्याख्या — यहाँ भगवान अर्जुन के मनोभाव की परीक्षा कर रहे हैं, भगवान कहते हैं कि मैंने गोपनीय से भी गोपनीय ज्ञान की व्याख्या की है, पहले इस पर विचार कर लो, फिर जो चाहते हो करो, मैं कोई हठ नहीं करत, तुम्हारे बुलाने पर आया हूँ, तुम भेज दोगे चला जाउंगा। यहाँ भगवान उदासीनता का अभिनय कर रहे हैं ॥ श्री॥

संगति — इस प्रकार कहकर प्रभु के चुप हो जाने पर अर्जुन के मन को एक आघात लगा, वे सोचने लगे हाय ! इतना समर्पण करने पर भी मैं अभी भी प्रभुका कृपापात्र नहीं बन पाया, इस प्रकार ग्लानि सागर में मग्न होते हुये अपनी अश्रुधारा से प्रभु के श्रीचरणकमलों को स्नान कराते हुये अर्जुन को देखकर प्रपन्न पारिजात प्रभु तीन श्लोकों में सर्वगुह्यतम श्रीगीता जी का निष्कर्ष प्रस्तुत कर रहे हैं —

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।। १८/६४

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! अब तुम फिर सर्व गुह्यतम मेरा परम श्रेष्ठ वचन सुनो, तुम मुझे वहुत प्रिय हो, अतः तुम्हारे लिये हितकर वचन ही कहूंगा।

व्याख्या — यह सभी गोपनीयों का गुह्यतम है, अर्थात् गीताशास्त्र गुह्य है, "ये इमं परमं गुह्यं" गीता १८/६८, ज्ञानगुह्यतर है "गुह्याद् गुह्यतरं" गीता १८/६३, पुरुषोत्तम योग गुह्यतम है "इति गुह्यतमं शास्त्रम्" १५-२० परन्तु यह शरणागति सर्वगुह्यतम है। 'परमं" यह वचन अत्यन्त आदरणीय है, आप कह क्यों रहे हैं? इस पर भगवान कहते हैं- "इष्टोऽसि" क्योंकिं तुम मेरे इष्ट देवता हो, इसीलिये जिसमें तुम्हारा हित हो वही कहूँगा ॥ श्री ॥

संगति— हे अर्जुन ! मैं असत्य नहीं बोलता, तुम्हारे समक्ष प्रतिज्ञा कर रहा हूँ—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।। १८/६५

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! तुम मुझमें मनवाले हो जाओ, अथवा अपने मन में मुझे ही विराजमान करा लो, मेरे भक्त हो जाओ, मेरा ही पूजन करो और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार करके मुझे ही प्राप्त हो जाओगे, मैं तुम्हारे समक्ष सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ तुम मुझे प्रिय हो।

व्याख्या — यहाँ भगवान चारो सिद्धान्तों का अभ्यास कर रहे हैं। "मन्मना भव" कर्मों का मुझमे समर्पण करके मेरा मनन करो, "मयि मनः यस्य स मन्मना, अहं मनसि यस्य स मन्मना" "मद्भक्तो भव" उपासना काण्ड से मेरा भजन करा"मद्याजी भव"

ज्ञानकाण्ड से मेरा यजन करो, अर्थात् संगतिकरण करके मुझमें प्रविष्ट हो जाओ। "मां नमस्कुरु" प्रपत्ति योग से मुझे नमस्कार करो, इसकी विशद व्याख्या गीता ९-३४ में की जा चुकी है ॥ श्री ॥

संगति — अव सम्पूर्ण शास्त्रार्थ के रहस्यरूप श्रीगीता का हृदयस्वरूप, सम्पूर्ण वेदान्तों का महातात्पर्य और सम्पूर्ण श्रीवैष्णवों को आननदप्रद सम्पूर्ण वैदिकवाङ्मयरूप क्षीरसागर का अमृत चरम सिद्धान्त रूप अन्तिम श्लोक प्रस्तुत कर रहे हैं सर्वसर्वेश्वर भगवान मोरमुकुटधारी गिरिधर श्रीकृष्ण —

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।। १८/६६

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! सभी कुल धर्मों, सम्प्रदाय धर्मों, जातिधर्मों, परिवार धर्मों, कुटुम्ब धर्मों तथा शरीर धर्मों को भी मुझ परमात्मा में समर्पित करके, मुझ परमात्मा के शरण में आ जाओ । मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो- तुम शोक मत करो ।

व्याख्या — यद्यपि द्वितीय अध्याय के सातवें श्लोक के भाष्य के समय मैंने इस शलसेक की व्याख्या कर दी है, फिर भी विद्वानों के आनन्द के लिये अति भक्तिपूर्ण हृदय से इस श्लोक की संक्षेप में व्याख्या करूंगा । परम कारुणिक भगवान श्री अर्जुन को श्री गीतामृत पिलाते हुये बोले, यहाँ धर्म शब्द कर्तव्य वाचक है, भगवान कहते हैं सम्पूर्ण कर्तव्यों की पहले परीक्षा करो, फिर उन्हें छोड़कर मेरी शरण में आओ । क्योंकि श्रुति कहती है । "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्रह्मणो निर्वेदमायात् " मुण्डक १-२-१२ अर्थात् कर्म से रचित लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण को वैराग्य लेना चाहिये । अथवा 'सर्वधर्म' शब्द में षष्ठी तत्पुरुष समास करना चाहिये, अर्थात् सभी वर्णों और आश्रमों के धर्मों को मुझ में समर्पित करके मेरे शरणागत हो जाओ । अथवा तुमने १-७ में कहा था "धर्म सम्मूढ़ चेताः" इसीलिये "सर्व कुटुम्बकान् धर्मान् सर्वधर्मान्" अपने सर्व कुटुम्बक धर्म को छोड़कर सर्वसमर्थ सर्वरक्षक मुझ परमात्मा को प्रपन्न हो जाओ । सम्पूर्ण गीता के चर्चा में व्यस्त होने से व्रज की चर्चा का अवसर नहीं मिला, अतः प्रभु व्रजवल्लीवल्लभ व्रज चर्चा के विना श्रीगीता को अपूर्ण मानते हुये, नामधातु विधा से व्रजकी चर्चा कर रहे हैं।

व्रज शब्द यहां व्रजाङ्गना परक है, जैसे व्रज देवियां सब कुछ छोड़कर मेरी शरण में आयीं, उसी प्रकार तुम भी जाति धर्म, कुल, धर्म सम्प्रदाय, धर्म परिवार, धर्म पति, धर्म पत्नी, धर्म भ्रातृ, धर्म पिता, धर्म देह, धर्म, गेह धर्म आदि सभी को छोड़कर मुझ

परमात्मा के शरण में आओ । मैं तुमकों "सर्व पापेभ्य:" सभी पापों से मुक्त करा दूंगा । "मा शुच:" शोक मत करो, शुच धातु यहाँ दिवादि प्रकरण मे पढ़ी हुयी पूति भावार्थक शुचि धातु है ' उसको लक्षणा से शोकार्थक माना गया है, क्योंकि यदि यहाँ 'शुच शोके' भ्वादि धातु मानी जायेगी तव तो 'लुङ् लकार में मा शोची: बन जायेगा । अत: यहाँ दिवादि शुचिर्धातु से ही लुङ् लकार मध्यम पुरुष में 'मा शुच:' बन सकेगा । क्योंकि दूरित् धातु से ही "दूरितो वा" पा. अ. ३-१-५७ सूत्र से अङ् होकर माङ् के योग में अड़ागम का निषेध करके 'मा शुच:' शव्द बनाया जा सकेगा । जो कुछ लोग "मामेकं शरणं व्रज" शव्द का मुझ अद्वितीय तत्व को रक्षक एकमात्र अद्वैततत्व निश्चित करो, ऐसा अनर्गल वमन करते हैं, वह असंगत है । क्योंकि व्रज धातु कहीं भी निश्चयार्थक नहीं सुना गया है । जो कुछ लोग दुराग्रहग्रस्त होने के कारण यह कहते हैं कि यहाँ भगवान ने प्रथम श्लोक में शरणागति की चर्चा की है, और अन्तिम श्लोक में, सन्यास योग की,' तो उन भगवद् विमुखों का यह जल्पन भी सर्वथा अन्यायपूर्ण है । क्योंकि "मामेकं शरणं व्रज" कहकर भगवान स्वयं ही अपने श्रीमुख से अन्तिम श्लोक में शरणागति को ही सिद्धान्तित कर रहे हैं ।

हे करुणाकर कृष्ण प्रणत जन हृदय विहारी
हे रुक्मिणीरमण हे चक्रसुदर्शन धारी ।
हे पारथ के सूत दूत हे देवकीनन्दन
हे कृष्णा के मीत भीत भय भूरि निकन्दन ।।
गीता भाष्य सनाथ करी मोहि शरण महँ लीजिये
रामचन्द्र आचार्य को अभय बाँह प्रभु दीजिये ।।श्री ।।

संगति — अब भगवान गीताध्याय शास्त्र का सम्प्रदाय कह रहे हैं —

"इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।। १८/६७

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! यह गीताशास्त्र तपस्याहीन को तथा मेरी भक्ति से रहित प्राणी को कभी नहीं सुनाना चाहिये । और जो गुरुजनों की सेवा शुश्रूषा नहीं करता तथा जो मेरी निन्दा करता है, उसको भी इस गीता शास्त्र का उपदेश नहीं करना चाहिए ।

व्याख्या—क्योंकि गुह्य वही समझेगा, जो तपस्वी होगा, गुह्यता वह समझेगा, जो भक्त होगा, गुह्यतम होगा, और सर्वगुह्यतम वह समण सकेगा, जो मेरी निन्दा नहीं करेगा ॥ श्री ॥

संगति — अव भगवान गीताशास्त्र की फलश्रुति कह रहे हैं —

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवेष्यत्यसंशयः ॥ १८/६८

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! जो श्री वैष्णव साधक मुझ परमात्मा में परम भक्ति करके इस परम गुह्य गीता ग्रन्थ को मेरे भक्त श्रीवेष्णवों के बीच कहेगा, वह मुझ परमात्मा कृष्ण को ही प्राप्‍ हो जायेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

व्याख्या — कुछ वस्तुयें गुह्य होकर भी पूज्य नहीं होतीं । और कुछ पूज्य होकर गुह्य नहीं होती । पर इस शास्त्र में पूज्यता और गुह्यता दोनों गुण हैं । ॥ श्री ॥

संगति — वह गीतागायक मेरा अत्यन्त प्रेम पात्र बन जाता है ये ही बात भगवान इस श्लोक में कह रहे हैं —

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ १८/६९

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! मनुष्यों में उस गीतागायक से अधिक मेरा कोइ प्रिय कार्य करने वाला नहीं है । और भविष्य में भी इस पृथ्वी पर उस गीता गायक से अधिक मेरा कोई प्रिय भी नहीं होगा ।

व्याख्या — अर्थात् गीता गायक ही मेरा सबसे अधिक प्रिय कार्य करता है, और वही मुझे सबसे अधिक प्रिय है ॥ श्री ॥

संगत्ति— भगवान पुनः फलश्रुति करह रहे हैं —

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहंमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ १८/७०

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ — हे अर्जुन ! जो कोइ भक्त हम दोनों श्रीकृष्ण और अर्जुन के धर्ममय सम्वाद इस गीताशास्त्र को "धर्मक्षेत्रे" से "ध्रुवानीतिर्मनिर्मम" पर्यन्त आनुपूर्वि से कण्ठस्थ कर लेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित होऊंगा, यही मेरी मान्यता है, अथवा ये ही मेरी पूजा है, या ये ही मेरी इच्छा है ।

व्याख्या — "अध्येष्यते" का अर्थ है कण्ठस्थ करना। "इति मे मतिः" यहाँ मति शब्द इच्छा और पूजा दोनों अर्थों मे है, भगवान कहते हैं गीता जी कण्ठस्थ करना ही मेरी पूजा है, और ये ही मेरी इच्छा का पालन भी है ॥ श्री ॥

संगति — अब भगवान गीता जी के श्रोता का पुण्य कहते हैं —

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ — भगवान कहते हैं हे अर्जुन! जो मनुष्य आस्तिक बुद्धि सम्पन्न होकर मेरी निन्दा न करते हुये, इस गीताशास्त्र का श्रवण करेगा, वह भी भवबन्धन से मुक्त होकर पुण्यकर्म करने वाले नित्य परिकर श्रीवैष्णवों के कल्याणप्रद लोकों को प्राप्त करेगा, ऐसा मेरा आशीर्वाद है।

व्याख्या — यहाँ श्रद्धा और अनसूया इन दोनों की अनिवार्यता कह रहे हैं, "प्राप्नुयात्" में भगवान का आशीर्वाद छुपा है ॥ श्री ॥

संगति — अब सम्पूर्ण गीताका श्रवण करा कर द्वारकाधीश श्रीकृष्ण प्रेम्पूर्वक अर्जुन से पूछते हैं-

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ १८/७२॥

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ— हे पृथानन्दन अर्जुन ! क्या तुमने एकाग्र चित्तसे यह गीताशास्त्र सुना ? हे धनञ्जय ! क्या तुम्हारा अज्ञानजनित यह मोह पूर्णरूप से नष्ट हो गया ?

व्याख्या—प्रथमाध्याय के पच्चीसवें श्लोक में सर्वप्रथम प्रभुने अर्जुनको पार्थ शब्द से सम्बोधित किया था, विश्राममें भी पार्थ सम्बोधन कर रहे हैं। धनञ्जय शब्द मंगलार्थक है, भगवान कहते हैं अर्जुन ! तुमने पूर्व में भी धन जीता था, और इस युद्धमें भी विजयी बनकर धनञ्जय नाम चरितार्थ कर लोगे। ॥ श्री ॥

संगति— अब अर्जुन अपने मोहको समाप्त करके सम्पूर्ण गीताशास्त्र के धारणकी सूचना देते हुये भगवान की आज्ञा पालनका महासंकल्प लेकर प्रतिज्ञा कर रहे हैं-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसदान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ १८/७३॥

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ— अर्जुन कहते हैं हे अच्युत परमात्मा श्रीकृष्ण ! आपके प्रसादसे मेरा मोह नष्ट हो गया, मेरी खोयी हुईसेवक सेव्य भावरूप नष्ट हो गया है, वह सन्देह शून्य मैं अर्जुन कुरूक्षेत्रकी भूमिमें स्थित हूँ, और आपकी आज्ञाका पालन करूँगा । यह वाक्य कहते-कहते अर्जुन ने गाण्डीव उठा लिया ।

व्याख्या— सर्व प्रथम गीता १-२१ में 'रथं सापपमेंऽच्युत' कहकर अर्जुन ने भगवान को अच्युत सम्बोधन दिया था, और अव विश्राम में भी 'मयाऽच्युत' कहकर यह कह रहे हैं कि प्रभो मैं भले ही च्युत हुआ, पर आप अच्युत ही रहें । और आज मैं भी आपका शरणागत होकर अच्युत गोत्र हो गया । मेरा मोह नष्ट हो गया है । मुझे स्मृति मिल गयी, मेरा सन्देह दूर हो गया, अव मैं स्थित हूँ, पहले कहा था 'न च शक्नोम्यवस्थातुं' आज कहते हैं "स्थितोऽस्मि" मैं स्थित हूँ । अव क्या करोगे ? इस पर कहते हैं 'करिष्ये' करूँगा, क्या करोगे ? तव कहते हैं वचनं तव 'जिसमें आपका वचन है वही करूँगा । अर्थात् आपने युद्धयस कहा है मैं युद्ध करूँगा । 'करिष्ये' यह संकल्प वाक्य है जैसे 'अहं सन्ध्यां करिष्ये' उसी प्रकार अर्जुन संकल्प करते हैं । जैसे लोग कुछ लेकर संकल्प करते हैं, उसी प्रकार अर्जुन ने गाण्डीव हाथ में लेकर संकल्प किया । ॥ श्री ॥

संगति— अव कथा प्रसंग को संगत करने के लिये सञ्जय पाँच श्लोकों मे अपना मन्तव्य कर रहे हैं-

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।। १५/७४।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ— संजय कहते हैं हे धृतराष्ट्र ! इस प्रकार से मैंने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण, तथा महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत रोमाञ्चकारी सम्वादको सुना ।

व्याख्या— संजय कहते है कि इसमें आपको अप्रामाणिकी आशंका नहीं होनी चाहिये । मैंने श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद को स्वयं सुना है । इसे सुनकर मुझे आश्चर्य भी हो रहा था, और रोंगटें भी खड़े हो रहे थे ॥ श्री ॥

संगति—तुमने दूररहकर भी कैसे सुना ? इस पर संजय कहते हैं-

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ।। १८/७५

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ— हे राजन ! मैंने व्यासदेवके प्रसाद से साक्षात् अपने श्रीमुखसे कहते हुये, योगेश्वर श्रीकृष्ण से ही इस गोपनीय योगशास्त्र श्रीगीताजी का श्रवण किया ।

व्याख्या— यहाँ संजय ने नियमपूर्वक गीताशास्त्रका श्रवण किया इसीलिये "आख्यातोपयोगे" पा० अ० १-४-२९ सूत्र से कृष्णात् शब्द से पञ्चमी हुयी ॥ श्री ॥

संगति— अब संजय दो श्लोकों से अपनी अनुभूति कह रहे हैं-

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ १८/७६॥

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ— हे राजन् ! भगवान श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के इस पवित्र उत्तम सम्वादको बार-बार सम्यक सम्पूर्णता से मरण करके मैं बारम्बार रोमाञ्चित हो रहा हूँ ।

व्याख्या— यहाँ संजय इस संवाद की आलौकिताका स्मरण कर रहे हैं, कहते हैं राजन ! मैं उसे भूल नहीं पा रहा हूँ ॥ श्री ॥

संगति— इतना ही नहीं वह विराट् रूप भी कितना अलौकिक था—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ १८/७७॥

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ— हे राजन् ! अर्जुनको दिखाये गये श्रीहरि के उस अत्यन्त अद्भुत रूपको स्मरण कर-करके मुझे महान विष्मय हो रहा है, और मैं बारम्बार रोमाञ्चित तथा प्रसन्न हो रहा हूँ ।

व्याख्या— यहाँ सञ्जय अभिप्राय यह है कि धृतराष्ट्र ! तुम्हारा यही दुर्भाग्य है कि जिसने प्रभुको देखा तुम उसे भी नहीं देख पा रहे हो । और गीता जी का एक अक्षर भी तुम नहीं समझ सके, पर मैं धन्य-धन्य हो रहा हूँ ॥ श्री ॥

संगति—अब संजय धृतराष्ट्र के प्रति अपना निर्णय कहते हैं-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुव नीतिर्मतिर्मम ॥ १८/७८॥

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ— हे राजन् ! आपकी विजयाभिलाषा आकाश पुष्पकी भाँति निरर्थक ही है, क्योंकि जिस युधीष्ठिर के पक्षमें 'योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण सारथी हैं, तथा जिस युधीष्ठिर दल में अर्जुन जैसे धनुर्धर रथी हैं । वहीं पर अखण्ड राजलक्ष्मी हैं, वहीं पर निर्विघ्न विजय है, वहीं पर अविन्चल ऐश्वर्य है, और वहीं स्थीर राजनीति है ऐसा मेरा मन्तव्य है ।

व्याख्या— योगेश्वर शब्दमें दो समास होंगे, योगानां ईश्वर, योगवतां ईश्वरः भगवान कर्मयोग भक्तियोग ज्ञानयोग और प्रपत्ति योग के ईश्वर हैं। अथवा भगवान योगियों के ईश्वर हैं, अर्थात् जहाँ भक्त और भगवान दोनो हों वहाँ विजय निर्विवाद है। यहाँ चार शब्दों से चार परिणाम कहे गये, योगश्वर से श्रीकृष्ण से विजय, पार्थ से भूति, और धनुर्धर से नीति।

श्री गिरिधर मुख चन्द्रचारुज्योत्स्ना यह गीता
गिरिधर करी सुभाष्य मण्डिता परम पुनीता ।
अष्टादशाध्याय कलित सुषमा छवि छाई
सकल शास्त्र सिद्धान्त विमल वेदान्त सुहाई ।।
रामानन्दचार्य पद कमल रेणु शिर धरि
राघव कृपा सुभाष्य यह राम भद्र आचार्य करि ।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरूरामानन्दाचार्य स्वामीरामभद्राचार्य प्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्येश्रीमद्भगवद्गीतासुअष्टादशोऽध्यायः ।

श्रीराघवः शन्तनोतु











अद्भुत ग्रन्थ गीता

श्रीमद्भागवत भगवान् श्रीकृष्ण का लीला-विग्रह है तो श्रीमद्भगवद्गीता उनकी वाणी का सरस स्निग्ध विलास। गीता साक्षात् श्रीभगवान् की दिव्य वाणी है। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता। इसकी महिमा अपार है, अपरिमित है। इसका ठीक-ठीक अशेष वर्णन शेष, महेश, गणेश के लिये भी दुष्कर है। अन्य साधनाओं से हीन व्यक्ति भी गीता का पारायण करके भव-सागर को पार कर जाता है, जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है, जो कि यह ठहरी 'भवद्वेषिणी'। भगवान् ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। वस्तुतः गीता भगवान् का साक्षात् स्वरूप है, भगवान् की वाङ्मयी वाणी साक्षात् वाङ्मयी मूर्ति है। यही कारण है कि सकल शास्त्रमयी गीता शास्त्रों से शास्त्र-समवायों से बढ़कर है, श्रेष्ठ है। "या स्वयं पद्मनाभस्य" का स्वयं शब्द इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

इतिहास-पुराण आदि गीता के गौरव-गाथा से भरे पड़े हैं। संसार की प्रायः समस्त समृद्ध भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया है। जितनी विभिन्न भाषाओं में गीता का अनुवाद हुआ है, उतनी भाषाओं में विश्व के किसी ग्रन्थ-रत्न का अनुवाद आज तक नहीं हुआ है। सारे विश्व ने मानो गीता को मुकुट-मणि बना रक्खा है। भारत में किसी भी आचार्य का ग्रन्थ तब तक प्रशस्त नहीं माना जाता जब तक कि वह गीता की व्याख्या अपने पक्ष में प्रस्तुत नहीं करता। शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य एवं वल्लभाचार्य आदि आचार्यों ने गीता की व्याख्या कर अपने-अपने मत को पुष्ट एवं प्रबल बनाने का प्रयास किया है। सच तो यह है कि गीता किसी पन्थ, संप्रदाय या मत-विशेष का पोषक ग्रन्थ नहीं है। यह सार्वभौम है, सार्वजनीन है और है प्राणिमात्र के कल्याण का साधक ग्रन्थ-रत्न। रत्न किसी एक देश के नहीं हुआ करते। गीता अपने इसी महत्त्व के कारण प्रस्थान-त्रयी में परिगणित की जाती है— गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र। यही कारण है कि भारत का कोई भी आस्तिक दर्शन तब तक महत्त्व न पा सका जब तक उसने गीता माता की अङ्गुलि पकड़ कर चलने का अभ्यास नहीं किया, गीता के स्निग्ध अञ्चल की छाया को अपनी ओढ़नी (प्रावरण) नहीं बनाया। गीता का भली-भाँति ज्ञान हो जाने पर सारे शास्त्रों का तात्त्विक ज्ञान अपने-आप हो जाता है, उसके लिये अलग से परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

गीता ज्ञान का अथाह समुद्र है। इसके अन्दर ज्ञान का अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इसका तत्त्व समझने में बड़े-बड़े दिग्विजयी विद्वान् और तत्त्वज्ञों को भी दिग्भ्रम हो जाया करता है। उनकी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है, क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं। उसके बाद कहीं इसके सङ्कलनकर्ता व्यास तथा श्रोता अर्जुन का क्रम आता है। ऐसी अगाध रहस्यमयी गीता का आशय और महत्त्व समझना सामान्य मानव के लिये ठीक वैसे ही है जैसे एक साधारण पक्षी का अनन्त आकाश का पता लगाने के लिए प्रयास करना, उड़ान भरना।

अस्तु ! प्रातः स्मरणीय, सन्त-मणिमाला के मध्यमणि जगद्गुरु स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज ने गीता की सर्वाङ्गपूर्ण भक्तिमयी व्याख्या "श्रीराघवकृपाभाष्यम्" प्रस्तुत कर विद्वानों एवं सामान्य जनों के उपकार का जो सफल प्रयास किया है इसके लिये देश और विशेषकर वैष्णव समाज उनका चिर कृतज्ञ रहेगा।

डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी

प्रकाशक— तुलसीपीठ, चित्रकूट, सतना (म०प्र०)।
मुद्रक— पाण्ड्या ऑफसेट, वैजनत्था, वाराणसी।